॥ श्री हरिः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्दी महामहोत्सव

प्रकाशन

श्रीमदखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीकृष्णावदन श्रीविरहवैश्वानरावतार

श्रीमद्वल्लभाचार्य प्रादुर्भावित

श्रीमच्चतुर्थ प्रस्थान श्रीमद्भागवत शास्त्र 'सर्गलीला' प्रतिपादक

श्रीमद् तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी

अध्याय-१ से ८

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला—द्वितीय सुमन प्रकरण

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी

प्राकट्य वि० सं० १५३५, वैशाख कृष्णा ११.

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पंजीकृत)

मानमला भवन चौपासनी मार्ग, जोधपुर (राज०)

॥ श्री हरि: ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्धी महामहोत्सव प्रकाशन

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला — द्वितीय सुमन
श्रीमदखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीकृष्णवदन विरहवैश्वानरावतार
श्री मद्वल्लभाचार्य प्रादुर्भाविता
श्रीमच्चतुर्थ प्रस्थान श्रीमद्भागवत शास्त्र सर्ग लीला

श्रीमद् तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी

हिन्दी अनुवाद सहित
भगवत्कृत सर्ग-- अधिकार सृष्टि और पुरुष सृष्टि
सहायक ग्रन्थ-- 'प्रकाश", श्री मद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

श्रीभागवत गूढार्थं प्रकाशन परायण ।
साकार ब्रह्म वादैकस्थापको वेदपारग: ॥
मायावाद निराकर्ता सर्ववादि निरासकृत् ।
भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड: स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षम: ॥
श्रीभागवत पीयूष समुद्र मथनक्षम: ।
तत्सारभूतरासस्त्री भावपूरितविग्रह: ॥
श्रीभागवत प्रतिपदमणिवर भावांशु भूषिता मुर्ति: ।
श्री वल्लभाभिधानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम् ॥

श्री मद्विट्ठलेश प्रभुः चरण

राष्ट्रभाषा अनुवादक
गो. वा. प. भ. श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण,
जोधपुर

प्रथमावृत्ति--- १०००
श्री मद्वल्लभ पञ्च शताब्धी महोत्सव
वैशाख कृष्णा ११ वि० सं० २०३५
दिनांक ३ मई १९७८

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

प्रकाशक ।
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)
मानधना भवन चौपासनी मार्ग
जोधपुर नगर (राजस्थान)

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जिकृत)

मानधना भवन चौपासनी मार्ग

जोधपुर (राजस्थान)

उद्देश्यः-जगद्गुरु श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवा कर जन साधारण निमित्त प्रकाशन करवाना।

संगीत कला, चित्रकला एवं अन्य ललित कलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्यिक सामग्रियों का शोध करवा कर उनका प्रकाशन करवाना।

(१) **सदस्यता** – विशिष्ट सहायक सदस्य गण–रू. ५०००)०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंट कर्ता। इनके शुभ नाम सब ग्रन्थमालाओं के सब सुमनों में दिये जाते हैं।

(२) **सहायक सदस्यगण**–१०००) रु. से ४९९९) रु. तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता। इनके शुभ नाम एक ग्रन्थ माला के सब पुस्तकों में प्रकाशित किये जाते हैं।

(३) **विशिष्ट सदस्य गण**–रु. ५०१)०० से ९९९) रु. तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता। इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जावेंगे।

(४) **सदस्य**–रु. १५१) से रु. ४९९) भेंटकर्त्ता—

इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सर्व सुमन (पुस्तकें) श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध के प्रथम पांच अध्याय श्री मद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट किये जाते हैं। जिनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय सुमन है। (तृतीय स्कन्ध के अध्याय १ से ८)

इस संस्था के विशिष्ट सहायक सदस्य—

(१) प. भ. गो. वा. **श्री** नन्दलाल जी मानधना जोधपुर रु. ५०००)
(२) प. भ. गो. वा. श्रीमती सौभाग्यवती जी नन्दलाल जी मानधना जोधपुर रु. ५०००)
(३) प. भ. श्री हरिलालजी हरिवल्लभ जी धर्मादा ट्रस्ट अहमदाबाद रु. ५०००)
(४) श्री वाला भाई दामोदर दास ट्रस्ट तथा बाई रुकमणी
पत्नी वकील चिमनलाल कपूर चन्द वैष्णव मंडाण ट्रस्ट अहमदाबाद रु. ५०००)
द्वारा गो. वा. सेठ साकर लाल बाला भाई।

मुद्रक:—इण्डिया प्रिण्टर्स एवं सुबोध प्रिंटिंग प्रेस, जोधपुर

॥ श्री हरि: ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पञ्चशताब्दी महामहोत्सव प्रकाशन

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथमाला----द्वितीय सुमन

तृतीय स्कन्ध अध्याय १ से ८

विषय सूची

	पृष्ठ
मुख पत्र	क
संस्था के उद्देश्य एवं विशिष्ट सहायक महानुभावों की सूची	ख
विषय सूची	ग
संरक्षक एवं द्वितीय ग्रन्थमाला के सहायक सदस्यों की सूची	घ
श्री बृन्दावनेश्वर की मुरली का महत्व	ङ
'दो शब्द' (गोस्वामी ब्रजभूषणलालजी महाराज संस्थाध्यक्ष महोदय)	च
विनम्र निवेदन (श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) मंत्री)	४०१
श्री सुबोधिनी पुष्पवाटिका की सौरभ पूर्ण कुछ कलियां (सुबोध रत्नाकर)	छ–ज
श्री तत्व दीप निबन्ध-भागवतार्थ प्रकरण	१-२७
सृष्टि विस्तार एवं ब्रह्माजी की उत्पति—सूर सरावली	२८
भूमिका	२९-३२

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
१.	उद्धवजी और विदुरजी की भेंट	१-५०
२.	उद्धवजी द्वारा भगवान् की बाल लीलाओं का वर्णन	५१-९६
३.	भगवान् की अन्य लीला चरित्रों का वर्णन	५७-१३०
४.	उद्धवजी से विदा होकर विदुरजी का मैत्रेय ऋषि के पास जाना	१३१-१८४
५.	विदुर जी के प्रश्न और मैत्रेय जी का सृष्टि क्रम वर्णन	१८५-२५६
६.	विराट् शरीर की उत्पत्ति	२५७-३०२
७.	विदुर जी के अन्य प्रश्न	३०३-३४६
८.	ब्रह्मा जी की उत्पत्ति	३४७-४००
९.	शुद्धि पत्र	४०२-४०३
१०.	श्लोकों और कारिकाओं की अनुक्रमणिका अध्याय १ से ८ तक	४०४–४०८

-: चित्र सूची :-

श्री बृन्दावनेश्वर	ङ
श्री मद्वल्लभाचार्य द्वारा श्री सुबोधिनी का आलेखन	[१]

संरक्षक महानुभाव

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्द लाल जी महाराज	नाथ द्वारा (राज.)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलाल जी महाराज	सूरत
,, श्री व्रज भूषणलाल जी महाराज	कांकरोली
,, श्री पुरुषोत्तमलाल जी महाराज	कोटा
,, श्री गोविन्दराय जी महाराज	पोरबन्दर
,, श्री रणछोड़ाचार्य जी महाराज	कोटा
,, श्री व्रजरायजी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
,, श्री घनश्यामलाल जी महाराज	कामवन
,, श्री व्रजभूषणलाल जी महाराज	चोपासनी (जोधपुर) जामनगर

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथ माला के सहायक सदस्य प्रत्येक से १००१) प्राप्त हुऐ सिवाय गोलोकवासी हर गोविन्ददास जी उगरचन्द जी भगत रिलिजस ट्रस्ट द्वारा उनके सुपुत्र प. भ. चिमनलाल जी, मोहनलाल जी और नटवरलाल जी शाह बम्बई रु० १५०१)

गो. वा प्रेमलता बाई बलदेव दास जी डागा (आत्मजा) की स्मृति में प. भ. उद्धवदास जी एवं काशी बाई मूँधड़ा कलकत्ता

गो. वा. गोकुल दास जी माया चन्द जी एवं प. भ. सरस्वती बहन की स्मृति में उनके सुपुत्र प. भ. पुरुषोत्तमदासजी गोकुलदासजी पूना

गो. वा. द्वारकादासजी श्यामदासजी की स्मृति में उनके सुपुत्र कृष्णादासजी द्वारकादासजी — दलाल पूना

गो. वा. दिल सुख राय जी राठी एवं वर्तमान श्रीमती श्यामा बाई जी की ओर से उनके सुपुत्र लक्ष्मी नारायण जी दिल्ली

प. भ कस्तूर बहन जी हरिकिशनदासजी की ओर से उनके सुपुत्र विट्ठलदासजी शाह हैदराबाद (आ. प्र.)

प. भ. ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ पूना

प. भ. रामदासजी कृष्णदासजो माडी वाले पूना

प. भ. प्रेमाबाई किशन चन्द जो भाटिया डेरेवाले कानपुर

प. भ. काशी बाई जी बिन्नाणी बम्बई

प. भ. रुक्मणी बाई जी बिन्नाणी कलकत्ता

प. भ. मुन्नी बाई जी (शांता देवी जो) एवं सुपुत्र अशोक कुमार जी शर्मा सी. ए. दिल्ली

गो. वा. श्री राधाबाईजी की ओर से उनके सुपुत्र नन्द दास जी (राम चन्द्र जी) एवं पुरुषोत्तम दास जी वर्मा जोधपुर

गो. वा. पन्ना लाल जी तथा वर्तमान सूरजबाई फूमड़ा की ओर से उनके सुपुत्र चुन्नीलाल जी फूमड़ा कलकत्ता

गो. वा. जीवन दास जी मूँधड़ा की ओर से उनके सुपुत्र ठाकुर दासजी मूँधड़ा कलकत्ता

गो. वा. पारवतीबाई जीवनदासजी मूँधड़ा की ओर से उनके सुपुत्र चेतनदास जी कलकत्ता

प. भ. सूरज बाई जी कोठारी कलकत्ता

प. भ. उद्धवदासजा काशीबाई जी मूँधड़ा कलकत्ता

प. भ. चत्रभुजदासजी कृष्णादेवीजी माहेश्वरी मुरेनामंडी

प. भ. श्रीमती निर्मलादेवी जी अरोड़ा इलाहबाद

प. भ आनन्द कुमार जी एवं श्रीमती चन्द्र कान्ताजी कर्वा उदयपुर

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

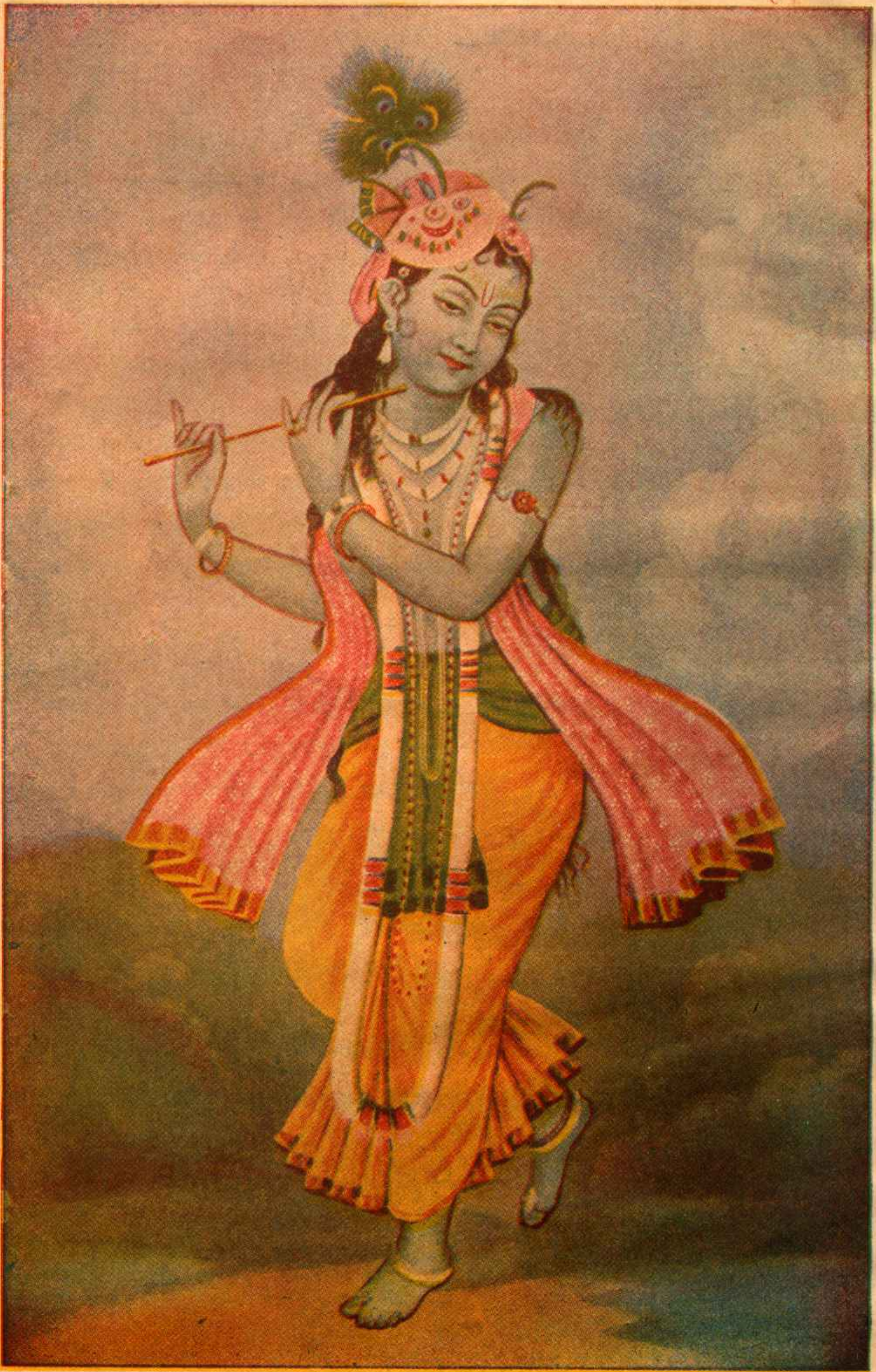

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

प्रकाशक- श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।

॥ श्री हरि: ॥

मुरली का महत्व

(१)

राग सारंग

अधर मुरली रटन लागी ।
जा रस को षट्–ऋतु तनु गार्‌यो सो रस पिवती सभागी ।।
कहाँ रही कहँ ते यह आई, कौन याहि बुलाई ।
चक्रित कहा भई व्रज वासिनि यह तौ भली न आई ।।
सावधान क्यों होति नहीं तुम, उपजी बुरी बलाय ।
सूरदास प्रभु हम पर याको कीन्हों सौति बजाय ।।

(२)

आवत ही याके ए ढंग ।
मन मोहन बस भये तुरत ही, ह्वै गये अंग त्रिभंग ।।
मैं जानो यह टोंना जानति करि है नाना रंग ।
देखौ चरित भजे हरि कैसे या मुरली के संग ।।
बातनि में कह धुनि उपजावति सिरजति तान तरंग ।
सूरदास प्रभु इन्दु वदन में पैठौ बड़ो भुजंग ।।

(३)

अधर धरि मुरली श्याम बजावत ।
सारंग गौर नाट नट करिकै, गौरी राग सुनावत ।।
आपु भरो रस बस ताहि के औरनि वश्य करावत ।
ऐसो को त्रिभुवन जल थल में जो सिर नहीं धुनावत ।।
सुभग मुकुट कुंडल मणि श्रवणनि देखत नारिन भावत ।
सूरदास प्रभु गिरिधर नागर मुरली धरन कहावत ।।

(४)

श्याम मुख मुरली अनुपम राजत ।
सुभग शिखण्डपीड़ सिर सोहत श्रवणनि कुण्डल भ्राजत ।।
नीलजलद तनु सुभग चाप सुर मन्द मन्द रव गाजत ।
पीताम्बर कटि तड़ित भाव जनु नारि विवस मन लाजत ।।
ठाड़े तरु तमाल तर सुन्दर नन्दनन्दन वनमाली ।
सूर निरखि व्रजनारि विवस भई लगी मदन की भाली ।।

॥ श्री हरिः ॥

दो शब्द

श्री मद्भागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध में इस महापुराण के वक्ता एवं श्रोता के अधिकार का वर्णन है । द्वितीय स्कन्ध में श्रद्धा पूर्वक मन लगाकर श्रवण करने की विधि बताई गई है । तृतीय से द्वादश स्कन्ध में जिन भगवान् के सम्बन्ध में श्रवण करना है उनकी दस स्कन्धों में दस प्रकार की लीलाओं (जैसे सर्ग विसर्ग इत्यादि) का वर्णन है । इस तृतीय स्कन्ध में भगवान् की 'सर्ग' लीला का वर्णन है । सर्ग लीला दो प्रकार की है—

(१) लौकिक सृष्टि जिसमें २८ तत्व, ४ भूत बीज १-काल ये कुल ३३ हैं ।

(२) अलौकिक सृष्टि जिसमें ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति ये भी ३३ हैं इनका वर्णन करने के लिए इस स्कन्ध में ३३ अध्याय है । इन दोनों प्रकार की सृष्टि के 'कारण' एवं 'कार्य' परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण ही हैं जो सब विश्व में रूप व नाम के भेद से क्रीड़ा कर रहे हैं ।

भगवान् श्री कृष्ण ने परम धाम पधारते समय मुनिवर मैत्रेय जी को आज्ञा दी कि बे भागवत धर्म विदुरजी को समझावें, अतः मैत्रेय जी ने विदुरजी को तृतीय एवं चतुर्थ स्कन्धों में दी हुई सर्ग एवं विसर्ग लीलाओं की कथा सुनाई जिससे परम ज्ञानी विदुर जी का उद्धार हो गया । तो फिर १२ स्कन्धों की सम्पूर्ण श्री मद्भागवत को संसार प्रपंच रहित होकर एकाग्रचित्त से सुनने वाले का उद्धार होना निश्चित ही है ।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण श्रीमद्भागवत का गूढार्थ समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि "भागवतसंहिता" रचने का अभिप्राय यह है कि भगवान् आत्मा हैं ऐसा ज्ञान होय जिससे इस (आत्मा) में स्नेह दृढ और सबसे अधिक होवे और भगवान् का महात्म्य ज्ञान प्राप्त होय । धर्म और ज्ञान साधन हैं । भगवान् का आविर्भाव साध्य है इस के बाद भगवान् में स्नेह होना फल है । ये सब भागवत से ही प्राप्त होते हैं इसलिए भागवत उत्तम कल्प वृक्ष है । बिना विचार और चिन्तन किए भागवत के केवल श्रवण से ही भगवान् हृदयारूढ़ हो जाते हैं, अतः हम लोगों को प्रतिदिन अपने समय का श्री मद्भागवत अध्ययन में एवं मनन में सदुपयोग करना चाहिए जिससे जीवन की सार्थकता सिद्ध हो ।

मैं वैश्वानर (महा प्रभुजी) से प्रार्थना करता हूं कि जिस प्रकार आपश्री ने श्रीमद्भागवत पीयूष मन्थन कर उसमें से गूढार्थ जन कल्याणार्थ प्रकट किया है उसी प्रकार इस कृपा का पूर्ण लाभ लेने के लिए हमें ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति का दान देने की भी अनुकम्पा आप श्री अवश्य करेंगे । हमें ऐसा दृढ़ विश्वास है क्योंकि भले ही हम अयोग्य हो क्यों न हो आखिर तो हम आपके आश्रित हैं ।

श्री मद्वल्लभ पंच शताब्दि जयन्ती
महा महोत्सव
वैशाख कृष्ण ११, वि. स. २०३५

गो. व्रजभूषणलाल
अध्यक्ष

श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका की सौरभपूर्ण कुछ कलियां

भगवत्पक्षपातिनो भगवद्विमुखैः स्थितिरनुचिता ॥३-१-६	भगवान् के पक्षपातियों (भक्तों) को जो भगवान् से विमुख हो उनके साथ रहना अनुचित है।
व्रतानिचत्वारि। एकादश्युपवासः सर्वभूतदया यथालाभसंतोषः सर्वेन्द्रियोपशमश्चे ति । एतानि भगवतोषहेतुभूतानि ॥३-१-११	चार व्रत है (१) एकादशी का उपवास (२) सब प्राणियों पर दया (३) जो मिल जाय उसमें सन्तोष करना (४) सब इन्द्रियों को बस में रखना। भगवान् को प्रसन्न करने के ये चार हेतु (साधन) है।
त्रिमदा विद्याधनाभिजनाख्याः ॥३-१-४३	तीन प्रकार के मद है (१) विद्याका (२) धन का (३) ऊँचे कुल में जन्म लेने का।
भजनीयः स एवं स्यात्. यः स्वयमभयः, सकृदपि प्रपन्नं सर्वतो भयान्मोचयति, ऐहिकामुष्मिकां च ऋद्धि मोक्षं च प्रयच्छति, भजनसंदेहेऽपि अनुषं गादपि यो मुक्ति प्रयच्छति, स्वयं च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः, अनधिकारिणोऽपि गतिं प्रयच्छति, परार्थं स्वकृत नियममपि विरुद्धं न मन्यते–एवं यः सप्तगुणो भवति, षडगसहित–भजनोपयोगिमहा गुणवान् स भजनीयः॥३-२-१८	'भजनीय' जिनका भजन किया जाय वे ही होते हैं कि जो (१) स्वयं भय रहित हो (२) एक बार भी अपनी शरण में आने वाले को सब प्रकार के भय से मुक्त करें। (३) इस लोक और परलोक की ऋद्धि और मोक्ष देवे (४) भजन का सन्देह होने पर भी जो अनुषंग से भी मुक्ति देवे (५) स्वय दोष रहित और पूर्ण गुण वाले विग्रह (शरीर) वाले होय और अधिकारी न होने पर भी उसे मोक्ष का दान देवे (७) दूसरे के लिये अपने बनाये हुये नियमों का विरोध न माने इस तरह जो सात गुणों वाले होवे छः गुणों के लिये उपयोगी महा गुणों वाला होवे वह भजनीय है।
यथा प्रथमोदगतैः सूर्यकिरणैरेव सर्वतमोनाशः सूर्यस्तु तमः पश्यत्यपि न, तथा भगवान्भक्तानाम् (दुःख नाशयति) ३-२-१८	जैसे प्रथम आये हुए सूर्य की किरणों से ही सब अंधकार का नाश होता है और सूर्य तो अन्धकार देखता ही नहीं इसी प्रकार भगवान् भक्तों के दुःखों का नाश करते हैं।
भगवत्स्वरूपं यथाकथंचिदपि संबद्धं साधनान्तरनिरपेक्षं फलं साधयति। भगवांश्च गुणानेव गृह्णाति न दोषान्। अतः परमदयालु ३ २-१६	भगवान् के स्वरूप का चाहे जैसी तरह भी संबंध होय तो यह और दूसरे किसी भी साधन की आवश्यकता बिना फल की प्राप्ति कराता है भगवान् भी गुणों को ही ग्रहण करते है: दोषों को नहीं इसलिये बहुत दयालु है।
भगवान् सर्वेषां स्वकीयानां सर्वमेव कार्यं स्वयं करोतीति भगवच्चरित्रम् ॥३-३-६	अपने निजजनों के सब ही कार्यं भगवान् स्वयं करते हैं ऐसा भगवान् का चरित्र है।
असक्त्या भोगो हि ज्ञाना विरोधी। ३-३-११	बिना आसक्ति के भोग करने से ज्ञान का विरोध नहीं होता है।

राजनीतावपि प्रभोरभिप्रेतमपि कर्तव्यं, नतावत वाक्योल्लंघनम् ॥३-३-५	राजनीति में भी प्रभु का इच्छित कार्य ही करना चाहिये जिससे आज्ञा का उल्लंनघ न हो।
महात्म्यप्रतिपादका गुणाः, कर्माणि, शक्त्यश्च, अलौकिकं च सामर्थ्यम् । एतत्सर्वं यत्र भासते तद्भागवतमिति लोके प्रसिद्धम् ॥३-४-१३	भगवान् के महात्म्य का प्रतिपादन करने वाले (१) गुण (२) कर्म (३) शक्तियां (४) अलौकिक सामर्थ्य है ये सब जिसमें नजर आवे वह भागवत है ऐसा लोक में प्रसिद्ध है।
भक्तं दृष्ट्वा भगवदनुग्रहस्य तरंगाउद्गच्छन्ति ॥ देवचरित्रं मनुष्यबुद्धयान निर्धारणशक्यम् ॥३-४-१७	भक्त को देखकर भगवान् की कृपा की लहरें उछलती हैं। देव के चरित्र का मनुष्य की नहीं हो सकता है।
स एव निवासः समीचीनः, यो यो विषयान्तराभावेन भगवत्कथयैव गच्छति ॥२-४-२७	वह ही निवास योग्य है जिसमें अन्य विषय के सिवाय भगवान् की कथा में समय जाता हो।
भगवत्कर्माणि धर्मरूपाणि………। तानि मनसा भावितानि मनोयज्ञा भवन्ति, कीर्तित नि वाग्यज्ञाः, श्रुतानि ज्ञानयज्ञाः ॥३-५-७	भगवान् के कर्म धर्म रूप है………। उनकी मन से भावना करने से मनो यज्ञ कीर्तन करने से वाणी का यज्ञ, श्रवण से ज्ञान यज्ञ होता है।
येषामभिमानस्तेषु भक्तिर्नास्तीति मुख्यः पक्षः । संसाराभिमानाभावेन केवलभगवदीयाभिमाने गौणः पाक्षिको भगवानस्तीत्यर्थः । सर्वथाभिमानाभावे सर्पथाऽस्तीति सिद्धान्तः ॥३-५-४३	जिनमें अभिमान है उनमे भक्ति नहीं होती यह मुख्य पक्ष है संसार के अभिमान बिना केवल भगवदीय होने का जिनको अभिमान है गौण या इच्छा अनुसार भगवान् होते है। या जिनमे सर्वथा अभिमान नहीं उनमे सर्वथा भगवान् है ऐसा सिद्धान्त है।
माहात्म्यज्ञानं दुर्लभमिति तदर्थं प्रयासमकृत्वा, केवलं भगवते नमन कर्तव्यम् । ………यादृशोऽसि हरे ! कृष्ण ! तादृशाय नमो नमः ॥ यादृशोऽस्मि हरे ! कृष्ण ! तादृशं मां हि पालय ॥ ३-६-४०	महात्म्य ज्ञान दुर्लभ है इसलिये उसके लिए प्रयास न करके केवल भगवान् को नमस्कार करना चाहिये "हे हरि कृष्ण आप जैसे हो" आपको नमस्कार हो हे हरि कृष्ण मैं जैसा हूँ वैसा आप पालन करो।
चरण सेवा मकरंदः । भजनानन्दः स्वतः पुरुषार्थरूपः । स्वतः पुरुषार्थसेवायां स्वभावतो या रुचिः सा सर्वमेव क्लेशं दूरीकरोति ॥ ३-७-१३	चरण सेवा मकरंद है भजनानन्द स्वतः (अपने आप) पुरुषार्थ रूप है अपने आप पुरुषार्थ रूप सेवा में स्वभाव से रुचि होय तो वह सब क्लेश को दूर करता है।
अधिकारे हि सर्वथा भगवद्बुद्धिर्नश्यात । सुतरां लोकपालाधिकारे ॥ ३-८-१	अधिकार होय तो भगवत् बुद्धि भगवान् के श्रवण कीर्तन करने की बुद्धि) का नाश होता है लोक पालन का अधिकार होय तो उस बुद्धि का सर्वथा नाश होता है।

"सुबोध रत्नाकर"

॥ श्रीहरि ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित तत्त्वार्थदीप निबन्ध

श्री भागवतार्थ प्रकरण

तृतीय स्कन्ध

हिन्दी अनुवाद सहित

श्लोक—**अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।**
स्कन्धद्वयेन शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ॥१॥

श्लोकार्थ—(पिछले स्कन्धों से संगति बनाते हुए कहा है कि) प्रथम स्कन्ध में अधिकार (वक्ता श्रोता के होन मध्यम उत्ताम अधिकार) तथा दूसरे में भागवत के श्रवण में अंग सहित विधि का भली प्रकार से निरूपण किया गया है, अब शेष १० स्कन्धों में (तृतीय से प्रारम्भ कर द्वादश तक) जो श्रवण करने का विषय है वह अब कहा जाता है ॥ १ ॥

श्लोक—**त्रयस्त्रिंशदथाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने ।**
स्वाभिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थ संयुते ॥२॥

श्लोकार्थ—तीसरे स्कन्ध में ३३ अध्यायों में सर्ग (सृष्टि) का वर्णन है। सर्ग कहते हैं 'कारणों की उत्पत्ति को' अतः सब ३३ अध्यायों में कारणों की उत्पत्ति का वर्णन है। सर्ग दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक सर्ग में २८ तत्त्व, प्राणियों के चार बीज और काल इस प्रकार तेतीस अध्यायों में सर्ग है और अलौकिक में ३३ देवता हैं (८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य इन्द्र और प्रजापति)। अतः लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार से ३३ सर्ग हैं अतः सर्ग लोला में ३३ अध्याय हैं। श्लोक में सर्ग के तीन विशेषण दिये हैं—१. स्वाभिप्रेत २. सविशेषे और ३. स्वोपयुक्तार्थ संयुते। स्वाभिप्रेत का अर्थ है "अपना चाहा हुआ" जो लौकिक और अलौकिक भेद वाला है। सविशेषे इस लिये हैं कि इसका विशेष गुण यह है कि इस सर्ग में दो भेद होते हुए भी इस सर्ग में रचे हुए सब पदार्थ भगवद्रूप है। स्वोपयुक्तार्थ संयुते इसलिए हैं कि यह सर्ग अपने उपयोगी होना चाहिये यहां तक कि मोक्ष फलदायक हो जैसा कि गृहस्थो कर्दम और

देवहूती को हुआ। भगवान् के सन्तोष से मोक्ष प्राप्त होता है, भगवत् सन्तोष भक्ति, ज्ञान, योग और आज्ञापालन से होता है यह सब सर्ग में है इसलिये स्वोपयुक्तार्थं है ॥ २ ॥

श्लोक—**लोके सर्गविसर्गौ हि यादृशौ नेह तौ मतौ ।**
किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं मतम् ॥३॥

श्लोकार्थ—दूसरे पुराणों में सर्ग और विसर्ग को एक ही मानकर मुक्ति की सामर्थ्य वाला माना है इसलिए भागघत में भी दोनों को एक ही मानना चाहिये परन्तु भागवत में तृतीय स्कन्ध में सर्ग और चतुर्थ में विसर्ग का वर्णन है यह लोक प्रसिद्धि के विरुद्ध है इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जैसा सर्ग और विसर्ग लोकों में प्रसिद्ध है वैसा यहां नहीं है क्योंकि भागवत में सर्ग और विसर्ग दोनों ही पुरुषार्थ प्राप्त कराने वाले माने गये हैं, ये दोनों भगवान् की स्वतन्त्र लीलाऐं हैं इसलिए दोनों को पृथक् पृथक् एक एक स्कन्ध में कहां है ॥ ३ ॥

श्लोक—**लीलाद्वयस्य श्रवणात्सिद्धः क्षताऽधिकारतः ।**
किं पुनः सकलश्रोतेत्य तस्तस्य कथा तता ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—इन दोनों सर्ग और विसर्ग लीलाओं में मैत्रेय और विदुर का संवाद है। इनमें विदुर श्रवण में अधिकारी था इसलिए इन दोनों लीलाओं के श्रवण से उसको मोक्ष प्राप्त हो गया तो फिर सारी भागवत दशों लीलाओं के श्रवण से मोक्ष प्राप्त हो जाय तो उसमें सन्देह ही क्या है ॥ ४॥

श्लोक—**तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा ।**
देवस्य तु द्विरूपत्वात्कारणानां त्रिरूपतः ॥ ५ ॥
पञ्चधा सा स्वतो द्वेधा बन्धमोक्षविभागतः ॥ ५½ ॥

श्लोकार्थ—भागवत स्कन्ध २ अध्याय १० श्लोक ३ में सर्ग की व्याख्या यों की गई है। "भूतमात्रेन्द्रियां जन्म सर्ग उदाहृतः। ब्रह्मणो गुणवैषम्यात्" अर्थात् ब्रह्म (परमात्मा) के गुणों में विषमता होने से पंच महाभूत, पंच तन्मात्रा, १० इन्द्रियों और बुद्धि का जन्म होता है इसको सर्ग कहते हैं। सृष्टि करने वाला रजो गुण होता है (अर्थात सृष्टि रचना रजोगुण से होती हैं) इस रजोगुण से गुणों में विषमता होती है। भगवान् में से कारण रूप और कार्य रूप दो प्रकार की सर्ग लीला हुई। प्राणियों के देहों में पंच महाभूत आदि होते हैं वे कार्य रूप होते हैं और कारण रूप महाभूत आदि होते हैं वे कारण रूप हैं, यहां सर्ग लीला में कारणरूप महाभूत आदि ही है। अतः सर्ग लीला का अर्थ हुआ रजोगुण वाले भगवान् से जगत के कारणों को जन्म देने वाली लीला कारण-जन्मदा का अर्थ हुआ कारणों अर्थात् जीवों के जन्म को (हानि) नाश करने वाली अर्थात् मोक्ष देने वाली भी एक प्रकार की सर्ग लीला है ॥ ५-५½ ॥

प्रकरणों का विभाग करते हैं—देवता दो प्रकार के गुणातीत और सगुण और कारण

जीवों के तीन प्रकार के भेद हैं इसलिए सृष्टि पांच प्रकार की है और प्रत्येक सृष्टि बन्ध और मोक्ष भेद से दो प्रकार की होतो है अतः सृष्टि के दश प्रकार हुए।

श्लोक—**गुणातीतात्सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणोऽपरा ॥ ६ ॥**
काला जीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः ॥ ६½ ॥

श्लोकार्थ—एक सृष्टि गुणातीत देव से होती है (अध्याय ५-६) दूसरी सृष्टि सगुण ब्रह्म से होती है (अध्याय ७-८-९)। तीसरी सृष्टि काल की (अध्याय १०, ११) चौथी सृष्टि जीवों की (अध्याय १२–मुक्त जीवों को सृष्टि)। पांचवीं सृष्टि नाम सृष्टि। प्रथम दो सृष्टि रचने में देव स्वतन्त्र हैं परन्तु तीसरी, चौथो और पांचवीं सृष्टि (काल, जीव और नाम) स्वतन्त्र नहीं हैं, ये तीनों सृष्टि ईश को इच्छा से ही होती है ॥ ६–६½ ॥

श्लोक—**सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुवि उद्धतिः ॥ ७ ॥**
मुक्तोऽपि जायते जीव इति शापकथा तता ॥ ७½ ॥

श्लोकार्थ—(अध्याय १८ व १९ में) भूमि के उद्धार की कथा है अर्थात् भगवान् ने वाराह अवतार लेकर और हिरण्याक्ष का वध कर भूमि का उद्धार किया। यह सर्ग सम्बन्धी कथा हैं क्योंकि भूमि का उद्धार सब प्रकार की सृष्टि में उपयोगी है क्योंकि वह सर्व सृष्टि का आधार रूप है।

मुक्त जीवों का भी जन्म होता हैं ऐसा बताने के लिये जय-विजय को सनकादि द्वारा शाप दिए जाने की कथा है (अध्याय १५) वास्तव में भगवान् के भक्त वैकुण्ठ में रहने वाले जय–विजय मुक्त ही थे परन्तु भगवान् की इच्छा से ही संसार में उनका जन्म हुआ ॥७- ७½॥

श्लोक—**उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम् ॥ ८ ॥**
मतान्तरेण हि फलं राजसत्वान्निरूप्यते ॥ ८½ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मुक्त जोवों की उत्पत्ति कही परन्तु इस प्रकार की उत्पत्ति भगवान् को अभिष्ट नहीं इसलिए उन जीवों के फल (मोक्ष) के लिए दूसरा प्रकरण अर्थात् सांख्य प्रकरण कहा। जय-विजय को शाप के कारण आसुरभाव प्राप्त हुआ फिर क्रोध करके ही भगवान् को प्राप्त हुवे इस प्रकार राजस भाव से उनको मतान्तर के अनुसार फल (मोक्ष) मिला। ॥८–८½॥

श्लोक—**फले हि नास्ति वैषम्यमितीशस्योद्भवाभिधा ॥ ९ ॥**
उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम ।
क्रिया ज्ञान विभेदेन कर्माधीनाऽन्यथाभवेत् ॥ १० ॥

मुक्त जीवों के मुक्ति पाने योग्य जीवों के फल में कोई भेद नहीं ऐसा बताने के लिये ही सांख्य प्रकरण में दो स्थानों पर भगवान् के अवतार का वर्णन हुआ है भगवान् अवतार लेकर ही दोनों को फल देते हैं। भगवान् के क्रियाशक्ति वाला अवतार "वाराहरूप" में हुआ और ज्ञान शक्ति रूप कपिल अवतार हुआ। यदि सर्ग (सृष्टि) प्रकरण में भगवान् का अवतार न हो तो यह मान लिया जावे कि जीवों का जन्म-मरण कर्मों के अधीन है परन्तु वास्तविकता यह हैं कि भगवान् की इच्छा से ही सृष्टि होती हैं ।।९-१०।।

श्लोक—**मुक्तोऽपि यदि नोत्पत्तिरूत्पन्ने मुक्तिरेव वा।**
तदा कृष्णेच्छया सृष्टिरित्यर्थो हि विरुध्यते ।। ११ ।।

श्लोकार्थ—यदि मुक्त जीवों की उत्पत्ति न हो अथवा उत्पन्न जीवों की मुक्ति न हो तो "भगवान् की इच्छा से ही सृष्टि होती हैं" यह बात झूठी हो जाय (तब तो फिर ईश्वर का ईश्वर-पना ही नहीं रहे) सृष्टि ईश्वर की इच्छा के अधीन है यह बताने के लिए ही मुक्त जीवों की उत्पत्ति और उत्पन्न जीवों की मुक्ति का वर्णन इस सर्ग लीला में हुआ है ।। ११ ।।

श्लोक—**स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात्तदर्थं सृष्टि कृद्धरिः ।।**
ऐहिकामुष्मिक फलं मोक्षं प्रीतःप्रयच्छति । १२ ।।
तस्मात्सृष्टयवतोर्णास्तु भजेत हरिमादरात् ।। १२½।।

श्लोकार्थ—इस सर्ग में स्त्री (देवहूति) और पुरुष (कर्दम) की मुक्ति का कथन किया गया है, स्त्री और पुरुष दोनों को मुक्ति प्राप्त हो इसलिए भगवान् ने सृष्टि रची है। भगवान् प्रसन्न होवे तब इस श्लोक का फल (धन, पुत्र आदि) पर लोक का फल (स्वर्ग आदि) तथा मोक्ष भी दे देते हैं। इसलिए भगवान् की रची हुई सृष्टि में जो उत्पन्न होवे उसको प्रेम से भगवान् का भजन करना चाहिये ।।१२-१२½।।

श्लोक—**सांख्येन मुक्ति कथनत्सृष्टिः सामान्यतोदिता ।। १३ ।।**
तामसी राजसी चैव सात्त्विकीति कमात्त्रिधा ।।
गुणसृष्टेरतत्वान्मतद्गोपत्वान्न विरुध्यते ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—(सामान्यतःउदिता की सन्धि सामान्यतोदिता इस प्रकार की सन्धि पाणिनी व्याकरण के अनुसार नहीं है परन्तु ऋषिवाक्य का होने से दोष नहीं है।) सामान्यतया सृष्टि का वर्णन होना ही चाहिये परन्तु सांख्यमत के अनुसार सृष्टि का वर्णन किया जाय तो उसके अनुसार मुक्ति का वर्णन होगा। तब प्रश्न उठता है कि क्या इस सृष्टि वर्णन से मुक्ति का वर्णन नहीं होता तो उत्तर है कि यहां पर सृष्टि का वर्णन हुआ है उसमें तामसी, राजसी और सात्त्विकी है तीन प्रकार की सृष्टि का वर्णन और सांख्य मत में भी गुणों से ही सृष्टि होती है इसलिये

यहां कही हुई सृष्टि गुणों से होने वाली कही गई है इसलिये यह गौण होते हुए भी सांख्यमत के विरुद्ध नहीं हैं ॥ १३-१४ ॥

श्लोक—**ज्ञानस्य पूर्वं सिद्धत्वान्मुक्तिर्भोगादिसंयुता ।**
उपवेशेन च परा चतुर्भिर्नवभिः क्रमात् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—कर्दमजी को ज्ञान पहिले ही से सिद्ध था इसलिये भोग आदि से युक्त होते हुए भी उनको मुक्ति प्राप्त हो गई परन्तु देवहूति को (कपिलदेवजी द्वारा) ज्ञानोपदेश होने से मुक्ति मिली। इसका (कर्दमजी का) वर्णन क्रम से चार (अध्याय २१ से २४ तक) तथा (देवहूति का) नौ अध्यायों (२५ से ३३ तक) में हुआ हैं ॥ १५ ॥

श्लोक—**चतुः प्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता ।**
अधिकारस्तथा सृष्टिरुत्पत्तिः फलं तथा ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—इस स्कन्ध में स्थूल रूप से चार प्रकरण हैं और सूक्ष्मरूप से दश हैं। स्थूलरूप से चार प्रकरण हैं—१. अधिकार २. सृष्टि ३. उत्पत्ति और ४. फल (अर्थात् मोक्ष)। सूक्ष्मरूप से जो दश प्रकरण हैं उनका वर्णन ऊपर ५वें श्लोक में हो चुका है और अगले १७वें श्लोक में फिर होगा। वास्तव में इन चार से ही १० सूक्ष्म प्रकरण बनते हैं ॥ १६ ॥

श्लोक—**पञ्चधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता ।**
चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टिसङ्गताः ॥ १७ ॥
अधिकारस्ततो भिन्नः स्कन्धद्वययुतः परः ॥ १७½ ॥

श्लोकार्थ- सृष्टि पांच प्रकार की होती है और तीसरी (उत्पति) दो प्रकार की होती है और चौथी (मुक्ति) तीन प्रकार की होती है इस प्रकार सृष्टि उत्पत्ति और मुक्ति दश प्रकार की हुई। अधिकार प्रकरण एक भिन्न प्रकरण है क्योंकि यह तीसरे और चौथे स्कन्धों में उपयोगी है क्योंकि ये दोनों स्कन्ध एक प्रकरण जैसे हैं। इस स्कन्ध के ३३ और चौथे स्कन्ध के ३१ मिलकर ६४ अध्याय होते हैं जिनसे भगवान् की ६४ कलाओं का निरूपण होता हैं ॥ १७-१७½ ॥

श्लोक—**प्रतिबन्धोगृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनं मता ॥ १८ ॥**
बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाऽऽभ्यान्तरी मता ।
कृष्णप्रसादयुक्तश्चेदधिकारी परः समृतः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—इस स्कन्ध के प्रथम चार अध्यायों में अधिकार की बात है। मोक्ष का अधिकारी होने के लिये चार बातें चाहिये। प्रथम तो प्रतिबन्ध हटना चाहिये, फिर बाह्य शुद्धि होनी चाहिये, तत्पश्चात् आभ्यान्तरी शुद्धि चाहिये, फिर भगवान् कृष्ण की कृपा चाहिये। घर में आसक्ति होना

बहुत बड़ा प्रतिबन्ध है इसलिये विदुरजी ने घर का त्याग कर दिया। तीर्थाटन करके विदुरजी ने बाह्य शुद्धि प्राप्त करली फिर हरि कथा सुनकर आभ्यन्तरी शुद्धि प्राप्त की और अन्त में इन तीन के कारण उन पर भगवान् की कृपा हो गई। इस प्रकार प्रथम चार अध्यायों के क्रम से इन चारों का वर्णन किया गया है। इन चारों गुणों के कारण विदुरजी अति उत्तम अधिकारी हो गये ॥१८-१९॥

श्लोक—**शतं वर्षाणि शूद्रत्वंपश्चाद्राजयन्ताऽस्यहि ॥**
त वत्क्षत्ता ततो मन्त्री तस्मात्कृष्णसभोज्यता ॥ २० ॥
अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथा युक्तं तु जीवनम् ॥ २०½ ॥

श्लोकार्थ—यमराज को १०० वर्षों तक शूद्र होने का शाप था परन्तु उसकी आयु अधिक हुई। आयु में वह धृतराष्ट्र के समान था धृतराष्ट्र के जेष्ठ पुत्र दुर्योधन के समान आयु वाला भीम था। भीम का छोटा भाई अर्जुन था जो श्री कृष्ण के समान आयु वाला था। श्री कृष्ण भूतल पर १२५ वर्ष विराजे और उनके स्वधाम गमन के कुछ समय पश्चात् तक विदुरजी जीवित रहे। अतः विदुरजी की आयु अनुमानतः १५० वर्ष की हुई जिसमें से प्रथम १०० वर्ष वे शूद्र होकर रहे। ब्रह्म-बीज (वेद व्यासजी के बीज, होने के कारण वे मुख्य शूद्र तो थे नहीं। अतः १०० वर्ष की आयु पूरी कर लेने के पश्चात् वे क्षत्रिय होकर रहे। इसी कारण से धृतराष्ट्र ने उनसे मन्त्रणा की और वे भगवान् श्री कृष्ण के साथ अपने घर पर भोजन करने लगे (म. भा. उद्योगपर्व अध्याय ९३) इस लिये वह भागवत श्रवण और मोक्ष के अधिकारी हुए। विदुरजी का जीवन काल तो युक्ति से सिद्ध है कि १०० वर्ष से अधिक था ॥ २०-२०½ ॥

श्लोक—**अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया ॥ २१ ॥**
क्षत्ता सत्सङ्गतः प्रीतः प्रश्नत्रितयकृद्धरेः ॥
सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा ॥ २२ ॥

(अब प्रथम अध्याय का अर्थ)

श्लोकार्थ - धृतराष्ट्र ने विदुर को मन्त्रणा के लिये बुलाया तब दुर्योधन ने विदुर का अपमान किया जिससे विदुर को वैराग्य हो गया। [कदाचित अपने आप वैराग्य हो तो कदाचित पीछा गृहस्थ में आ जावे] वैराग्य होने पर भी किसी दूसरे स्थान पर जावे तो कदाचित् फिर संसार में आसक्ति हो जावे अतः विदुरजी तीर्थों में गये तीर्थों में भी देवता बुद्धि हो तो तीर्थ सेवन लाभकारी होता है, विदुरजी की तीर्थों मे वैसी ही बुद्धि थी इसलिये वे विशुद्ध बुद्धि वाले अर्थात् कामना रहित हो गये इन्द्रियों पर तो विदुरजी पहले ही विजय प्राप्त कर चुके थे अब उनको तीर्थों में उद्धवजी का सत्संग प्राप्त हो गया जिससे उनको बहुत आनन्द मिला। वहां फिर उन्होंने उद्धवजी ने तीन

प्रश्न किये—१. भगवान् का विशेष कुशल प्रश्न, २. सब के कुशल के बहाने से भगवान् का सामान्य कुशल प्रश्न और ३. भगवान् के चरित सम्बन्धी प्रश्न ॥ २१-२२॥

श्लोक—**अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात् ।**
मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ—विदुरजी ने इन तीनों प्रश्नों का उत्तर क्रम से नहीं दिया परन्तु भगवान् के विशेष कुशल सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देकर बीच में भगवान् के चरित्र सम्बन्धी अन्तिम (तीसरे) प्रश्न का उत्तर दिया, क्योंकि भगवान् के चरित्र का दूसरे दो प्रश्नों के साथ सम्बन्ध है (बात यह है कि भगवान् के चरित्र का वर्णन किये बिना दूसरे दो प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता) भगवान् के चरित्र वर्णन में उनके भक्त और बन्धुजनों के वध कराने की बात आती है ऐसे वर्णन से तो दोष लगता है इस प्रकार की शंका का समाधान यों हैं कि कृष्ण तो ईश्वर हैं इसलिये भक्त और बन्धुओं के वध कराने से उनको दोष नहीं लग सकता फिर भी वध कराने से लोक दृष्टि से दोष माना जाय तो कहना होगा कि भक्तों का संसार में से उद्धार कराया इसलिये दोष की निवृति हो जाती है। २३॥

श्लोक—**सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि ।**
माहात्मयस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम् । २४ ॥
अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी । २४½ ॥

श्लोकार्थ—परीक्षित् उत्तम अधिकारी है परन्तु विदुरजी को परीक्षित् से भी श्रेष्ठ माना है प्रथम कारण तो यह हैं कि विदुरजी ने पहले भगवान् की बहुत सेवा की थी। दूसरा यह कि विदुरजी ने भगवान् की आज्ञा का पालन कर पांडवों की रक्षा की थी और तीसरा यह कि विदुरजी ने भगवान् का माहात्म्य बहुत सुना था। ये तीन गुण परीक्षित् में नहीं थे इसलिये विदुरजी परीक्षित् से भी उत्तम (श्रेष्ठ थे। परीक्षित् से भी विदुरजी का उत्तम होने की बात का यहां क्या उपयोग है यह बताने के लिए कहा है कि श्री कृष्ण में विश्वास बताने वाली विदुरजी को कथा यहां कही है क्योंकि श्री कृष्ण में विश्वास रखकर निः शंक होकर विदुरजी ने तीर्थ यात्रा की थी ॥ २४-२५½ ॥

(अब दूसरी अध्याय का अर्थ कहा जाता है)

श्लोक—**द्वितीये तु तथाऽध्याये सामान्योत्तरमुच्यते ॥ २५ ॥**
तदर्थं हरिमाहात्म्य मार्थिकं कृतमेव च । २५½ ॥

श्लोकार्थ—दूसरे अध्याय में सामान्य प्रश्न का उत्तर कहा गया है। उसमें स्वयं भगवान् का ही माहात्म्य कहा गया है। यदि यह माना जाय कि यह (सब का सामान्य कुशल) जीव संबंधी

प्रश्न था तो भगवान् का माहात्म्य भी सामान्य माहात्म्य हो जाय क्योंकि और लोगों का कुशल प्रश्न तो उनका नाम ले ले कर पूछा गया था तब तो भगवान् को दूसरों के अधीन मानना पड़ेगा। विदुर को भगवान् में विश्वास हो इसलिये उद्धव ने आरम्भ में भगवान् का माहात्मय बताया और तत्पश्चात् भगवान् का चरित्र कहा।

श्लोक—**कृतं यद्यप्युत्तराङ्ग' साम्यात्संबन्धतोऽपि तत् ॥ २६ ॥**
अत्रोक्त' फलसिद्धचर्थमुत्द्धवप्रेम चोच्यते ॥ २६½ ॥

श्लोकार्थ—यद्यपि भगवान् के किये हुए काम अर्थात् चरित्र का वर्णन तीसरे अध्याय में है परन्तु इस (दूसरे) अध्याय में कहा हुवा चरित्र इस तीसरे अध्याम में कहे हुवे चरित्र के समान हो जैसा ही है तथा उससे सम्बन्ध वाला भी है इसलिए यहां कहा गया है। विदुर जी को विश्वास हो जाय इसलिए पूतना आदि कों प्राप्त कराये गये फल का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में उद्धव में भगवान का प्रेम (भक्ति) का भी वर्णन किया गया है क्योंकि भक्त न हो तो उसके द्वारा कही गई कथा में विश्वास न होवे ॥ २६-२६½ ॥

(अब तीसरे अध्याय का वर्णन किया जाता है)

श्लोक—**षडिभस्तथैकेन पुनदशयुक् सप्तभिस्तथा ॥ २७ ॥**
दशभिश्च कमादत्र चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥
तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरित्र केवलं कृतम् ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—तीसरे अध्याय में २८ श्लोकों से चार विषयों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार से है—श्लोक १ से ६ में उद्धव का भगवान् के प्रति प्रेम।

केवल श्लोक ७ से कुशल सम्बन्धी सामान्य प्रश्न का उत्तर।

(१० और ७) श्लोक ८ से २४ तक में भगवान् के माहात्म्य का वर्णन है।

श्लोक २५ से ३४ (१० श्लोकों) में भगवान् के चरित्र का वर्णन है। २७-२८ ॥

श्लोक—**विशेषस्योत्तरं तुर्ये श्लोकाभ्यां विंशतिः पुनः ॥**
भक्तोद्धारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम् ॥ २९ ॥
द्वयोराज्ञाप्रसिद्धचर्थं पञ्च सन्देहवारणे ॥
चतुर्भिः सङ्गमश्चे ति षऽर्थाः क्रमतो दिताः ॥ ३० ॥

चौथे अध्याय के प्रथम दो श्लोकों से विदुर ने विशेष प्रश्न (यादवों का नाम लेकर पूछे गये कुशल प्रश्न) का उत्तर दिया। फिर बीस श्लोकों से (श्लोक ३ से २२ तक) भक्त और बान्धवों का संहार कराने का दोष का परिहार कराते हुए भक्तों का उद्धार करने का वर्णन किया है। उस समय जो भक्त नहीं था उस विदुर का उद्धार करने के सम्बन्ध में चार श्लोकों

(श्लोक २३ से २६ तक) में कहा है । फिर एक श्लोक से (श्लोक २७) भगवान् की आज्ञा को प्रसिद्ध करने के लिये विदुर और उद्धव का वियोग कहा है । तत्पश्चात् पांच श्लोकों से (श्लोक २८ से ३२ तक) राजा परीक्षित् के सन्देह (ब्राह्मणों के शाप से सारे यदुकुल का नाश हो गया तो उद्धव कैसे बच गया और उसका निवारण किया गया है) फिर अगले चार श्लोकों से विदुर और मैत्रेय के संगम का वर्णन किया गया है । इस प्रकार चौथे अध्याय में क्रम से छः विषयों का वर्णन हुआ है ।। २९-३० ।।

श्लोक--**मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ज्ञापनान्मतम् ।**
अत एव हरि स्तस्य सङ्गं चक्रे स्वसिद्धये ।। ३१ ।।

श्लोकार्थ—यहां तक तो विदुर का श्रवण करने का अधिकार बताया गया है । अब यह बताया जाता है कि भगवान् की लीलाओं का विदुर के लिये कहने का अधिकार मैत्रेय को कैसे प्राप्त हुवा । श्री भगवान् ने उद्धव को जो उपदेश दिया उसको मैत्रेय ने भी सुना था और भगवान् ने मैत्रेय को आज्ञा दी थी कि यह उपदेश विदुर को सुनाना । उद्धव को उपदेश देते समय मैत्रेय को भगवान् ने कार्य की सिद्धि के लिए अपने पास (संग में) रखा कि वह परमभक्त विदुर को वह उपदेश सुना देवे । भाव यह है कि भगवान् ने मैत्रेय पर कृपा करके उपदेश के समय अपने पास रखा सो बात नहीं है अपितु विदुर पर कृपा करके मैत्रेय को अपने पास रखा क्योंकि नियम यह है कि भगवान् के मार्ग में भक्त ही श्रेष्ठ होता है दूसरा कोई नहीं । इस प्रकार चार अध्यायों से अधिकार का निरूपण किया गया । अब अध्याय ५ और ६ का वर्णन किया जाता है ।। ३१ ।।

श्लोक— **अधिकारेऽथ संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूप्यते ।।**
तत्त्वकार्यविभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ - अधिकार सिद्ध हो जाने पर अब दो अध्यायों (अध्याय ५ और ६) से सृष्टि का निरूपण किया जाता है गुणातीत सृष्टि दो प्रकार की होती है-एक तो तत्व और दूसरी कार्य । पांचवें अध्याय में तत्व की और छठे में कार्य (पुरुष के शरीर) की उत्पत्ति का वर्णन है ।। ३२ ।।

श्लोक—**समष्टेः कारणत्वंहि कर्माणि प्रति वर्णिनाम् ।। ३२½ ।।**

श्लोकार्थ - (तत्वों से जगत् की उत्पत्ति हीती है इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं हैं) परन्तु समष्टि (जीव मात्र में स्थानरूप) पुरुष का स्वरूप भी जगत् का कारण है क्योंकि वर्णों के कर्म उसमें से ही उत्पन्न होते हैं ।

श्लोक **प्रश्नत्रयं तृतीये तु द्वैविध्यं प्रथमे पुनः ।। ३३ ।।**
षड्भेदा नाऽवतारे हि साधनेनोपसंहृतिः ।।

द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येक एव तु ॥ ३४ ॥
जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव च ॥ ३४½ ॥

श्लोकार्थ—अब पांचवें अध्याय में विदुरजी ने मैत्रेयजी से तीन प्रश्न पूछे। प्रथम प्रश्न यह है कि (१) मनुष्य को क्या कर्म करना चाहिये (२) भगवद् भजन भी ऐसा करना चाहिये कि जिससे भगवान् में प्रेम हो और (३) भगवान् के चरित्र सम्बन्धी । तीसरे प्रश्न में भी दो प्रकार है—एक तो भगवान् अवतार लेकर चरित्र करे और दूसरा यह कि भगवान् अवतार लिए बिना चरित्र करे। अवतार सम्बन्धी तो एक कर्म है और अनवतार सम्बन्धी कर्म के छः भेद हैं जो यों हैं—१. उत्पत्ति २, स्थिति ३. प्रलय ४. नानात्व (विचित्रपन) ५. पृथक् पृथक् तत्वों से बने हुए पृथक् २ कार्य और ६. सब कार्यों में पृथक् २ प्रकार करने का कारण । इस प्रकार अवतार चरित्र समेत सात प्रश्न हुए। इतना होने पर भी तीन ही प्रश्न रहते हैं—१. प्राणियों को क्या करना चाहिये। २. भगवद् भजन भी कर्म है सो ऐसा होना चाहिये कि जिससे भगवान् में प्रीति उत्पन्न हो। और ३. अवतार चरित्र ॥ ३३-३४-३४½ ॥

श्लोक– **हेतुक्त्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्वज्ञापनाय हि ॥ ३५ ॥**
स्वरुचिश्चापि तत्रैव षटसु सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३५½ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् के कर्मों (अवतार चरित) का प्रश्न कर लेने पर प्रथम दो प्रश्नों-का कर्म करना चाहिये और उसको किस प्रकार किया जाना चाहिये—के उत्तर की अब आवश्यकता नहीं रही इसलिए विदुरजी ने हेतु बताकर स्वयं ने ही उत्तर दे दिया । स्वयं प्रश्न करके स्वयं ही उसका उत्तर अपना भक्तपना बताने के लिये दिया क्योंकि भक्त कर्मों की असारता को जानकर भगवद् धर्मों में रमण करते हैं इसलिए भक्त के द्वारा कर्मों का प्रश्न ही उचित नहीं। फिर विदुरजी ने अपनी रुचि भी यह कह कर बताई कि मेरे लिये भगवान् के कर्म कहो। अब प्रश्न उठता है कि यहां अवतार चरित्र भी तो उत्तार में नहीं कहा है इसका कारण यह है कि अनवतार दशा के जो छः प्रश्न पूछे गये थे उनके उत्तर में अवतारदशा में किये कर्मों का समावेश हो जाता है ॥ ३५-३५½ ॥

श्लोक—**इष्टे प्रसिद्धान्यहे तोर्भगवत्प्रीणनेऽपि च ॥ ३६ ॥**
उत्तमे पथि संप्रश्न आद्यावेतौ यथोत्तरम् ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—लोक में दो बातें प्रसिद्ध हैं और जो चाही जाती हैं — सुख का होना और दुःख का न होना—- उन को प्राप्त करने के लिये और भगवान् को प्रसन्न करने के लिये कोई प्रयोजन बनाया हुआ नहीं होने से कोई दूसरा प्रयोजन ढूंढना चाहिये । इसलिये इस अध्याय के आदि में श्लोक २ और श्लोक ४ में जो प्रश्न किये गये हैं- लोकों पर उपकार करना और अपने स्वार्थ के

लिये प्रयास करना (जो मनुष्य मात्र में सामान्य है) और जो उत्तम मार्ग-भक्तिमार्ग-में करे जैसे हैं ये ही प्रश्न विदुरजी ने लोकोपकार के लिये ये प्रश्न उचित ही किये हैं और वैसा ही उनको आगे उत्तर मिलेगा ।। ३६-३६½ ॥

श्लोक—**उत्तरत्वेन कथनादुत्तारं कर्मणि स्थितम् ।। ३७ ।।**
अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तारमाद्ययोः ।। ३७½ ।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने उत्तर देना प्रारम्भ करते ही विदुरजी की प्रशंसा करते हुए कहा कि आपने लोकों पर कृपा करके ही ये प्रश्न किये हैं। तीसरे प्रश्न के उत्तर में ही प्रथम दो प्रश्नों का उत्तर आ जाता है। प्रश्नों के उत्तर में मैत्रेयजी ने विदुरजी को भगवान् का चरित्र कहा क्योंकि भगवान् की कथा सुनने से ही (१) सुख प्राप्त होता है (२) दुःख मिटता है और (३) उसी से भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है ।। ३७-३७½ ।।

श्लोक—**कार्यसृष्टौ स्वतन्त्रत्वं तेषां वारियुतं स्तुतिः ।। ३८ ।।**
विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोपि सुदुष्करम् ।
श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं किञ्चिदुक्तमिति स्थितिः ।। ३९ ।।

श्लोकार्थ—जिस प्रकार पौत्र उत्पन्न करने में पुत्र स्वतन्त्र होता है उसी प्रकार सृष्टि रचना में तत्व स्वतन्त्र नहीं है इसलिये (अध्याय ५ श्लोक ३८-५० में) तत्वों ने भगवान् की स्तुति की। जिससे भगवान् तत्वों को सृष्टि रचना की शक्ति प्रदान करे।

सामान्यतया यह माना जाता है कि तत्व ही जगत् की रचना करते है और महाभारत आदि ग्रन्थों में भी ऐसा ही कहा गया है और इससे अधिक विस्तार पूर्वक कहनेमें तो ब्रह्मा आदि भी समर्थ नहीं होते। तत्वों के द्वारा सृष्टि रचना कहने का प्रयोजन तो यह है कि यह बात चालू प्रसंग में उपयोगी है-भगवान् के गुणों का स्मरण और कीर्तन करने में यह उपयोगी है इसलिये यह बात कही गई है ।। ३८-३९ ।।

षष्ठ अध्याय

श्लोक—**सर्वावतारबीजत्वात्पुरुषेणैव तत्कथा ।।**
गुणातीतात्सृष्ठिलीला द्वयेनैवं निरूपिता ।। ४० ।।

श्लोकार्थ—पुरुष में से ही सब अवतार हुए हैं अतः सब असतारों का बीज यही पुरुष है इसलिए (छठे अध्याय में) पुरुष का निरूपण होने से सब अवतारों के कर्मों की कथा इसमें आ गई।

इस प्रकार पांचवें और छठे अध्याय में गुणातीत भगवान् की की हुई सृष्टि-लीला कही गई।

श्लोक—सगुणं तु त्रयेणाऽऽह पूर्वपक्षाधिकत्वतः ।
ततः कारणसम्भूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः ॥ ४१ ॥

एतद्विभूतिरूपत्वादन्येषां न विसर्गता ।
साधारण्येन कथनं प्रकृते नोपयुज्यते ॥ ४२ ॥

अतो विभूतिरूपेण सर्वेषां विनिरूपणम् ।
यादृशो हि विसर्गोऽत्र ए चतुर्थे विविच्यते ॥ ४३ ॥

सातवें से नवमें अध्याय तक इन तीन अध्यायों सगुण (देव) में से प्रकट हुई सृष्टि का निरूपण किया गया है (वास्तव में सगुण सृष्टि का इन अध्यायों में उपोद्घात ही किया है) और दसवें अध्ययाय से सगुण सृष्टि का निरूपण आरम्भ करेंगे। उपोद्घात में आठवें अध्याय के थोड़े ही (१३–१५ श्लोक) श्लोकों में सगुण सृष्टि कही गई है। गुणातीत सृष्टि का पांचवें और छठे अध्यायों में ही कही गई है और तीन अध्यायों में सगुण सृष्टि कहते हैं। क्योंकि इस सगुण सृष्टि में सृष्टि और भगवान् में गुणों की (सृष्टि रचने की) सत्ता कहने की है। इन प्रसिद्ध गुणों का निरूपण पूर्व पक्ष के रूप में मतांतर भाषा से सातवें अध्याय में की हुई है। इसके बाद 'कारण' की उत्पत्ति में और 'कार्य' की उत्पत्ति आठवें और नवें अध्यायों में कही गई है। इसमें ब्रह्मा 'कारण' है और सर्व जगत् 'कार्य' हैं। इस कार्य का वर्णन काल के अग के रूप में (दशवें अध्याय से आरम्भ कर) आरम्भ करने का होने से नवमें अध्याय में ब्रह्मा ने भगवान् (ब्रह्म) की, की हुई स्तुति ही कही है। यह स्तुति सफल हुई अर्थात् इस स्तुति से ब्रह्मा को जगत् रचना करने का उपाय बताया और वे जगत् की रचना कर सके। इन सातवें से नवमें तीन अध्यायों का सामान्य अर्थ (पूर्व पक्ष, कारण की उत्पत्ति और कार्य की उत्पत्ति है।

आठवें अध्याय में प्रथम सृष्टि का स्वरूप जिस में से हुवा है उस पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया है उस सगुण ब्रह्म का स्वरूप इसके बाद ब्रह्मा आदि जिनकी उत्पत्ति कही वे इस स्वरूप की विभूति हैं उस स्वरूप की) विभूति रूप है और ब्रह्मा इत्यादि का विसर्ग में भी (दूसरे पुराणों में) गणना की है अन्य पुराणों में सामान्य रीति से विसर्ग का वर्णन है जो श्री मद्भागवत में नहीं कहा गया है श्री मद्भागवत में तो सब ही पुराणों का सार निकाल कर कहा गया है और वह उत्तम अधिकार वाले के लिये है अन्य पुराणों की तरह विसर्ग का वर्णन नहीं किया है किन्तु श्री मद्भागवत में विसर्ग के विषय में कहने का है वह चौथे सर्ग में कहेंगे जो कि विभूति रूप होना सम्भव नहीं है ॥ ४१–४३ ॥

श्लोक—कृष्णोक्तं तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते ।
अयमर्थस्त्वत्यमुखान्नोद्भविष्यति कर्हिचित् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ--पुराण सब भगवान् कृष्ण के कहे हुए हैं अतः इसे भागवत कहते हैं अन्य के मुख से ऐसा अर्थ प्रकट हो ही नहीं सकता ।। ४४ ।।

भगवान् के द्वारा जो कहा जाता है उसे भागवत कहते हैं। यद्यपि गीता आदि भी भागवत ही हैं क्योंकि गीता को भी भगवान् कृष्ण ने ही कहा है परन्तु उसमें पुराणता नहीं है। अयमर्थः का अभिप्राय यह है कि भगवान् की लीला को अन्य कोई जान ही नहीं सकता अतः भगवान् ही को स्वयं कहना पड़ता है ।। ४४ ।।

शंका होती है कि परम्परा में पराशरजी से मैत्रेयजी ने अध्ययन किया था ऐसा विष्णु पुराण में कहा है और ऐसी प्रसिद्धि भी है। अतः इसको भगवान् के द्वारा कहा गया न होने से भागवत नहीं कहा जा सकता इस शका का समाधान वैष्णवादिपुराणानि निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक- वैष्णवादि पुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम् ।
सर्वतोमुखमेतद्धि तदर्थं शेषतः कथा ।। ४५ ।।
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणमिहाऽण्वपि ।। ४५½ ।।

श्लोकार्थ--वैष्णवादि पुराण इस भागवत के अंग हैं यह निश्चित है यह तो सर्वतोमुख है इसलिए शेषजी ने भागवत को कहा है। इसमें अर्थमात्र ही प्रधान है अतः इसमें अणु मात्र भी दोष नहीं है ।। ४५½ ।।

विष्णु पुराण तेबीस हजार श्लोकों का है यह पुराण भागवत से भिन्न ही है और उसे व्यास जी ने बनाया है। क्योंकि अठारह पुराण व्यासजी की कृति है। यह पराशर संहिता तो अलग ही है। पराशरजी ने भागवत को सुनकर मैत्रेयजी को उसका उपदेश दिया था। अतः उसे भागवत कहा जाये तो उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है यदि यह शंका हो कि भिन्न परम्परा होने से इसे भागवत कैसे कह सकते हैं इसका उत्तर देते हैं कि सर्वतोमुखम् । यद्यपि भगवान् का स्वरूप भगवान् को ही भागवत में कहना चाहिए। इसलिये कभी तो स्वयं भगवान् ही कहते हैं और कभी "तत्वमतः परस्य" से श्री संकर्षण वासुदेव का ही तत्व कहते हैं। शंका होती है कि भगवान् स्वयं जो कहेंगे और संकर्षण जो कहेंगे उन वाक्यों में परस्पर सादृश्य होगा, नहीं तो, फिर इनकी एकता कैसे होगी उसका उत्तर अर्थमात्र प्रधानत्वात् से दिया है। अर्थात् वाक्य परस्पर भले ही अलग-अलग हैं, किन्तु उनका अर्थ तो समान ही होगा। सर्ग आदि अर्थ जिस प्रकार से भागवत में कहे हैं वे ही पराशर की तरह कृष्ण में भी हैं इसलिए किसी तरह को कोई शंका नहीं है ।। ४५½ ।।

कुछ लोगों का कहना है कि भगवान् और ब्रह्माजी के संवाद का परम्परा से आया हुआ भागवत द्वितीय स्कन्ध मात्र ही सूक्ष्म भागवत है और दशम स्कन्ध पर्यन्त जो भागवत प्राप्त होती है वह तो स्थूल भागवत है इस पक्ष को स्थूल सूक्ष्म इस श्लोक से

दूषित करते हैं।

श्लोक—स्थूलसूक्ष्म विभेदेन केचिदाहु र्मृषैव तत् ।। ४६ ।
पञ्चमादन्यवत्कृत्वा तथा शास्त्र विरोधतः ।

श्लोकार्थ--कुछ लोगों ने (बोपदेव आदि ने) भागवत में स्थूल सूक्ष्म का भेद किया है वह झूठा है। उसी तरह जो पंचम-स्कन्ध से आगे का भागवत है वह भी मुख्य नहीं है ऐसा कहना भी शास्त्र विरुद्ध है ।। ४६$\frac{१}{२}$ ।।

पंचम स्कन्ध में जितना भी भागवत है उसे न तो पराशरजी ने कहा है और न व्यासजी ने पराशर से सुन कर पंचम स्कन्धादि कहे हैं यदि ऐसा मान लेते हैं तो "कस्मै येन पुरेति" यह श्लोक जो समाप्ति में कहा गया है वह परम्परा विरुद्ध पड़ेगा और बीच में मैत्रेयजी का प्रवेश भी व्यर्थ हो जायेगा अतः भागवत सर्वतोमुख है इस बात की प्रसिद्धि के लिए शेष कथा का निरूपण किया है यह बात निश्चित है ।। ४६$\frac{१}{२}$ ।।

इस प्रकार दूषण का समाधान कह कर 'गुणातीतात् श्लोक से प्रकरण की संगति कहते हैं।

श्लोक--गुणातीतात्सृष्टिकथा स्वत उक्ताऽति गोप्यतः ।। ४७ ।।
कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वान्न स्वतन्त्रता ।।

श्लोकार्थ--गुणातीत से ही सृष्टि होती है यह गोप्य है अतः इस कथा को स्वयं भगवान् ने ही कहा है। मैत्रेय ने जो पराशर के मुख से कथा सुनी है वह कृष्ण की आज्ञा से ही सुनी है अतः कृष्ण ही कथा के वक्ता हैं, स्वतन्त्र रूप ने पराशर उसके वक्ता नहीं है ।। ४७$\frac{१}{२}$ ।।

मैत्रेय ने इस भागवत, को पराशर के मुख से नहीं सुनी इसमें प्रमाण क्या है उसका उत्तर है 'कृष्णाज्ञयातन्मुखत्तः' कृष्ण की आज्ञा से पराशर के मुख से भागवत सुनी इससे तो यह स्पष्ट है कि मैत्रेय ने कृष्ण के मुख से ही भागवत सुनी है। भगवान् ने आदिरूप से यह भागवत ब्रह्माजी को कही और 'अवतार लेकर मैत्रेयजी तथा उद्धवजी को कही' उद्धवजी के आगे की परम्परा स्पष्ट नहीं है। मैत्रेयजी ने विदुर जी से कहा ।। ४७$\frac{१}{२}$ ।।

यह भागवत, अत्यन्तशुद्धचित्त वाले को ही सफल होती है। विदुरजी अत्यन्त शुद्धचित्त नहीं थे यह अत्यन्त शुद्धचित्तस्य इस श्लोक से कहते हैं।

श्लोक– अत्यन्तशुद्ध चित्तस्य युक्तिर्नाऽपेक्ष्यते क्वचित् ।। ४८ ।।
इति वक्तुर्न सन्देहः श्रोतुस्त्वस्तीति संशयः ।

श्लोकार्थ--जो अत्यन्त शुद्धचित्त वाला होता है उसके लिए कहीं भी मुक्ति की उपेक्षा नहीं रहती। इसलिए वक्ता (मैत्रेयजी) को तो कोई सन्देह नहीं है किन्तु श्रोता (विदुर जी) को तो सन्देह है ।। ४८$\frac{१}{२}$ ।।

उक्त कथन से भागवत बहुत हैं ऐसा जाना जाता है । जो कोई भगवदीय भगवान् से कही हुई को कहता है वही भागवत है ऐसा भागवत का सामान्य लक्षण है ॥ ४८३ ॥

युक्ति से पदार्थ का निश्चय किया जाता है वह लौकिक होता है । भागवतार्थ तो अलौकिक है इसलिए उसका निर्णय युक्ति से नहीं होता । परन्तु अधिकार के अभाव में वह अर्थ समझ में नहीं आता । इसलिए सन्देह जब होता है तो उसका निराकरण करना भी आवश्यक हैं । अतः वहां जिस तरह जो मानता है उसके लिए उसी तरह से निरूपण करना चाहिए मैत्रेयजी विदुरजी की समझ के अनुसार ही उसका समाधान करते हैं । उसमें पूर्वपक्ष और सिद्धांत को "गुणातीतात्" इस श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—गुणातीतात्सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते ॥ ४९ ॥
कार्यंकारणवं जात्याल्लोक हेतोरभावतः ।
निरूपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम् ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ--गुणातीत से सृष्टि होती है ऐसा कथन किसी भी तरह युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि गुणातीत अर्थात निर्गुण कारण से सगुण कार्य (सृष्टि) विजातीय होने से कैसे होगा इस प्रकार के कार्य कारण में लौकिक युक्ति का अभाव है । अतः निरूपाधिक रूप में दो सन्देह कहे गये हैं ॥५०॥

पुरुष की उत्पत्ति निषेक (वीर्याधान) के द्वारा होती हैं उसे बालक जैसे नहीं जानता है वह बालक तो केवल भोजन और मल-मूत्र त्याग को ही देखता है और उसे ही पुरुष की उत्पत्ति के कारण मानता है परन्तु जब वह विचार करता है तो उसे भोजन तथा मल-मूत्र त्याग से पुरुष की उत्पत्ति में सन्देह होता है तब उसे वक्ता जैसे-तैसे समझाता है परन्तु ऐसा समझाना वास्तविक नहीं होता किन्तु 'भगवानेक आसेदम्' इस श्लोक में भगवान् से ही सृष्टि होती है ऐसा कहा है अतः यही वास्तविक सिद्धांत है। विदुरजी को क्यों सन्देह हुआ । इसका कारण कार्य कारण वैजात्यात् है अर्थात् सृष्टि का कारण भगवान् है वह तो है गुण रहित और कार्य जो सृष्टि है वह है सगुण तो ऐसी कार्य और कारण की विजातीयता तो देखी नहीं है । लौकिक में सृष्टि का हेतु काम है । इस प्रकार गुणातीत में दो सन्देह होते हैं ॥ ५० ॥

गुणातीत ब्रह्म से सृष्टि मानने पर जो दो सन्देह होते थे उनके परिहार के लिए यदि ब्रह्म को सोपाधिक मानलें और सोपाधिक ब्रह्म ही जगत का कर्त्ता है ऐसा निरूपण करेंगे तो पूर्वोक्ति दोष का परिहार हो जायेगा । परन्तु वैसा हो नहीं सकता क्योंकि जो ब्रह्म पूर्ण ज्ञानवाला है उसका विशेषण सोपाधिकत्व कैसे होगा । अतः यह तृतीय दोष और ब्रह्म में आजायेगा उसे सोपाधित्वें श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**सोपाधित्वे परी हारस्तदेव न भवेदिति ।**
तृतियो ब्रह्मणः सिद्धो जीवे अप्येवम भेदतः ।। ५१ ।।

श्लोकार्थ--ब्रह्म को सोपाधिक मानकर उससे जगत् की सृष्टि होती है ऐसा मानेंगे तो भी दोष का परिहार न होगा और यह सोपाधिकत्व तृतीय दोष ब्रह्म में सिद्ध हो जायेगा और जीव ब्रह्म में अभेद होने के कारण जीव में भी यह दोष हो जायेगा ।। ५१ ।।

सोपाधिक मानने पर इस दोष का तो समाधान नहीं होगा उल्टा तीसरा दोष और हो जायेगा और वह दोष ब्रह्म में आयेगा और यही दोष जीव भावापन्न ब्रह्म में भी रहेगा ।। ५१ ।।

ब्रह्म में माया का सम्बन्ध है ऐसा निरूपण करेंगे तो ब्रह्म में दुर्भगत्वादि दोषों का भी संभव होगा इस तरह कार्य कारण का समाधान करेंगे तो जैसे माया का सम्बन्ध कारण में है उसी तरह कार्य में भी उस के सम्बन्ध का निरूपण करना पड़ेगा ।

श्लोक—**मायासम्बन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात् ।।**
प्रथमस्य परिहारः षष्ठया नित्यतयोदितः ।। ५२ ।।

श्लोकार्थ--इस तरह जीवस्वरूप और ब्रह्म स्वरूप में जो सन्देह है उनका ब्रह्म में माया का सन्देह और उस ब्रह्म के कार्य जीव में उक्त दोषों का परिहार करना चाहिए उसमें प्रथम जो ब्रह्म है उसमें तो माया का सम्बन्ध षष्ठी के द्वारा नित्य कहा गया ।। ५२ ।।

इस तरह एक शंका ब्रह्म के विषय में और दूसरी शंका जीव के विषय में होती है इस प्रकार पूर्वपक्ष का निरूपण करके सिद्धांत पक्ष का प्रथमस्य परिहारः से करते हैं । भगवान् का माया से नित्य सम्बन्ध है यह 'सेयं भगवतो माया यन्न येन विरुद्ध्येते' यहां भगवतः इस षष्ठो से निरूपित किया है ।। ५२ ।।

शंका होती है कि माया के सम्बन्ध से भगवान् सृष्टि कर सकते हैं इसमे तो भगवत्व की ही हानि होगी इस आशंका का समाधान भगवत्वाविरोधित्वं इस श्लोक से करते हैं ।

श्लोक--**भगवत्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैवच सूचितम् ।**
असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधि सम्भवः ।: ५३ ।।

श्लोकार्थ--भगवान् इस पद से ही गुणातीत के साथ कोई विरोध नहीं आता और सम्बन्ध षष्ठी तो प्रशंसापरक है 'भगवतो माया' इस प्रकार समास के बिना जो रखा गया है उससे ब्रह्म की प्रधानता सूचित होती हैं ब्रह्म के साथ माया का सम्बन्ध तो उसी प्रकार है जैसे आकाश में बहुत दूर रहने वाले सूर्य का सम्बन्ध अनेक रंग के दर्पण और जल के साथ होता है अतः ब्रह्म शुद्ध है उसमें उपाधि का सम्मव नहीं है ।। ५३ ।।

शंका होती है कि विशेषपक्ष से भी भगवत्व का अविरोध युक्तिसंगत हो सकता है उसका उत्तर देते हैं कि 'भगवतो माया' इस प्रकार के असमस्त पद से ही भगवत्व का अविरोध हो जायेगा असमस्त (अलग-अलग) होने से ही एकार्थता नहीं होगी। इसलिए भगवान् माया विशिष्ट नहीं है किन्तु माया भगवान् से अलग है और वह दासी की तरह आज्ञाकारिणी होकर रहती है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार भगवान् में दोष का परिहार कह कर जीव में दोष का परिहार द्वितीयस्य इस श्लोक से कहते हैं--

श्लोक--द्वितियस्य परिहारे विरोधात्कार्य बाधनम् ।
विरोधमात्र माहोस्विदाद्ये सेयं दृशिर्यत: ॥ ५४ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् में माया सम्बन्ध के दोष का परिहार करके द्वितीय अर्थात् जीव में जब विरोध का परिहार किया जायेगा उस समय दो विकल्प होते हैं कामना के द्वारा ही कर्त्तव्य आता है ब्रह्म तो गुणातीत है तो उस में कामना के अभाव से ब्रह्म से कार्य (जगत्) की उत्पत्ति कैसे हुई। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि कार्य तो दृश्यमान है तो कार्य बिना कर्त्ता के हो नहीं सकता तब उसका कर्त्ता अवश्य है और कर्त्ता जब है तो उसे कार्य करने की कामना (इच्छा) अवश्य होनी ही चाहिए और ब्रह्म में कर्त्तव्य तो मानते हैं किन्तु कामना का अभाव भी मानते हैं तो ये दोनों साथ कैसे रह सकते हैं। उसमें प्रथम विकल्प का उत्तार सेयं दृशिर्यत: से दिया, अर्थात् कार्य (जगत) जब प्रत्यक्ष दीखता है तो नियम के बल मे कर्त्तव्य तो आ ही जायेगा और अब रहा कामना का अभाव कैसे उसका उत्तर है यह कर्त्तृता ऐसी है कि जिस में कामना का अभाव होते हुए भी कर्त्तृता है ॥ ५४॥

भगवतो माया इन दो पदों के अलग-अलग होने से प्रथम (ब्रह्म के दोष का तो) परिहार हो गया। अब द्वितीय (जगत्) पक्ष में दो विकल्प होते हैं पहला-विरोध होने से कार्य का नहीं होना अथवा कार्य में विरोध मात्रका कथन। प्रथम विकल्प का समाधान तो सेयं दृशिर्यत: से किया जाता है कार्य का बोध तो कर नहीं सकते क्योंकि संसार असिद्ध है। यदि कहें कि संसार असिद्ध क्यों है तो उसका कारण यह है कि भगवान् की माया से ही उसकी उत्पत्ति होती है ॥ ५४ ॥

तथापि युक्ति बिरोध होगा इसलिए द्वितीय पक्ष में द्वितीये भूषणं इस श्लोक से समाधान करते है:--

श्लोक--द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।
विरुद्धकार्य सम्बन्ध स्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ॥ ५५ ॥

श्लोकार्थ--कर्त्तव्य होते हुए भी कामना का अभाव इनकी सहस्थिति जिसको दूषण बताया था वह तो वास्तव में भूषण है। इससे तो स्वभाव का उत्कर्ष तथा सामर्थ्य विशेष का बोध होता

है। माया विरुद्ध कार्य करने वाली है. अतः माया के द्वारा विरुद्ध कार्य का सम्बन्ध जीव में वर्णित है ॥ ५५ ॥

ऐसा कथन भूषण कैसे है उसका उत्तर विशेष कार्य सम्बन्ध से देते हैं। माया से विरुद्ध कार्य देखे जाते हैं जैसे सिर काट देते हैं और जीवित रहता है। आंतं निकाल ली जाती हैं फिर भी स्वरूप रहता है ॥ ५५ ॥

शंका होती है कि इस में युक्ति क्या है उसका उत्तर विरोधऽपि प्रतीत्यैव आदि श्लोक से देते हैं—

श्लोक—विरोधोऽपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत् ।
दर्शनं ज्ञानिनोप्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे ॥ ५६ ॥
इति दृष्टान्ततस्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः ।
तन्निवृत्तिप्रतिकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ—विरोध जो दिखाई देता है वह भी प्रतीतिमात्र से ही है वस्तु में नहीं है क्योंकि जीव भी तो ब्रह्म ही है जो ज्ञानी जीव में जीव स्वरूप को जानता है। जीव का स्वरूप सभी अवस्था में भासित होता ही है केवल ईश्वर का स्वरूप भासित नहीं होता है। स्वप्न के दृष्टान्त से सत्य जो भगवत्स्वरूप है उससे देह का भेद निरूपित किया है। इस अनर्थ को निवृति दुर्लभ है अतः उस का उपाय कहा जा रहा है ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार ब्रह्म सर्वरूप हो सकता है माया जो भगवान् का रूप है वह भी सर्व रूप हो सकती है। यह आत्मविपर्यय कार्पण्य आदि ईश्वर के स्वरूप को जान लेने पर नहीं होंगे इस आशंका के लिए दर्शनज्ञानिनोऽप्येवम् यह कहा जो ज्ञानी जीव में जीव के स्वरूप का अभिज्ञ (अजानकार) है उसके लिए जीव का स्वरूप सभी अवस्था में भासित होता ही है। केवल ईश्वर का स्वरूप ही भासित नहीं होता है। इसीलिए स्वप्न के द्दष्टा भगवान् ही हैं उन भगवान् के साथ अपना अभेद ज्ञान है इसलिए स्वशिरश्छेद स्वप्न में भासित होता है। वास्तव में तो जीव के स्वप्न शरीर का शिरश्छेद ईश्वर को दीखता है किन्तु ईश्वर के साथ अभेद होने से स्वयं को भी वह शिरश्छेद दीखता है भेद तो सुषुप्ति और उत्क्रांति में ही दीखता है। शरीर आत्मा प्राज्ञ आत्मा से मिला हुआ है इसलिए उनका भेद से निरूपण है। और ब्रह्मज्ञानी को वहां भेद से ही अनुभव होता है ब्रह्मवेत्ता से अतिरिक्त को उसका भेदज्ञान नहीं होता। स्वप्न दृष्टान्त से सत्य भगवत्स्वरूप में देह से भेद का निरूपण किया है। वहां द्रष्टा भगवान् ही हैं। तब सिर जीव का है इसमें क्या प्रमाण है वहां द्वितोय दृष्टान्त जल में चन्द्रमा का देते हैं। जैसे जल में हिलता हुआ चन्द्रबिम्ब दीखता है तो वह कम्पन आकाश में स्थित चन्द्र में नहीं है किन्तु कम्पन तो जल में है उसी तरह यह अहन्ता देहादिरूप संसार में है। इसलिए

ब्रह्म के साथ जीव का अभेद होने पर भी वह सिर जीव ही का है। इस अनर्थ की निवृत्ति स्वतः तो हो नहीं सकती इसलिए उसकी निवृत्ति का उपाय तन्निवृत्ति प्रतीकार इस पद से कही हैं।

॥ ५६-५७ ॥

अनर्थ की निवृत्ति भक्तिमार्ग और ज्ञान मार्ग इन दोनों से होती है। मैत्रेयजी का अभिप्राय यह है कि भक्तिमार्ग से अनर्थ का तिरोभाव शनैः शनैः होता है। सब का तिरोभाव तो भगवत्साक्षातकार से होता है। उस समय स्वप्न दर्शन नहीं होता एवं जाग्रत् अवस्था में भी देह आदि में आत्म बुद्धि नहीं होती किन्तु सुषुप्ति की तरह सर्वदा ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है।

श्लोक—**निवर्शनं सुलभं साधनं च गूढ़ा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः ।**
तदुक्तं वै दर्शनं यत्र भेद्यं सेवा हेतुः शास्त्रनिष्ठेय माद्या ।। ५८ ।।

श्लोकार्थ--मैत्रेयजी 'अशेषसंक्लेशशमंविधत्ते गुणानुवाद श्रवणं मुरारेः' इसश्लोक से भक्ति मार्ग में मुक्ति कहनी चाहिए इस का कैमुत्तिक न्याय से कहते हैं। इसमें दृष्टान्त भी सुलभ है और साधन भी सुलभ है। सब के अनर्थ की निवृत्ति तो इसलिए नहीं होती कि भगवच्चरित्र का कथन गुप्त है इसलिए भगवान् सब के लिए प्रकट नहीं है अतएव सब की मुक्ति नहीं होती। भक्ति मार्ग के दुर्लभ होने से ज्ञान मार्ग कहा। परन्तु ज्ञान मार्ग से भी आत्मा का भेद ज्ञात न हो सका। इसलिए दोनों मार्गों में सेवा को ही हेतु बताया वह सेवा भी शास्त्र (पंचरात्र) के द्वारा बताई हुई ही पहले करनी चाहिए ॥ ५८ ॥

प्रथमपक्ष में मुक्ति कहनी चाहिए इसलिए मैत्रेयजी ने कैमुक्तिकन्याय से 'अशेष संक्लेशशमम्' इस श्लोक से उसका निरूपण किया। इसमें दृष्टान्त भी सुलभ है। भगवद्गुणानुवाद में सभी को परमानन्द का अनुभव होता है। साधन भी सुलभ है कारण कि सर्वत्र भगवद्भक्त भगवान् के गुणों का कीर्त्तन करते ही हैं इसमें किसी देश विशेष की अपेक्षा नहीं है। जब साधन सुलभ है तो सब के अनर्थों की निवृत्ति क्यों नहीं होती। उसका कारण यह है कि भगवच्चरित्र की उक्ति उत्तम है परन्तु गुप्त है और भगवच्चरित्रोक्ति से ही भगवान् प्रकाश में आते हैं किन्तु भगवच्चरित्रोक्ति के गूढ होने से सब की मुक्ति दुर्लभ है। इसीलिए भक्ति मार्ग दुर्लभ है ऐसा कहा। ज्ञान मार्ग कहा परन्तु उसमें भी आत्मा का भेद समझ में नहीं आता। इस तरह दोनों ही मार्ग में सेवा ही को हेतु (कारण) माना है भगवत्सेवा से दोनों की प्राप्ति होती है। वह सेवा भी शास्त्र (पंचरात्र) में बताई हुई रीति से करनी चाहिए। अपनी इच्छा के अनुसार जैसे तैसे नहीं करनी। सबसे पहले सेवा ही करनी चाहिए, बाद में जब भगवान् की प्रसन्नता होगी तो भगवान् के द्वारा बताये हुए प्रकार से अपनी इच्छा से भी सेवा हो सकती है ॥५८॥

यह सिद्धांत जानना चाहिए ऐसा सोच कर ही सब प्रश्न किये हैं।

श्लोक—तदर्थं मेब सकलं पृष्टं दुर्लभ संङ्गतः ।
अतोऽपि न विसर्गत्वमन्यक्षेषाद्यवीयसाम् ।। ५६ ।।

श्लोकार्थ—सर्ग के लिए ही पूछा था क्योंकि ऐसा सर्ग बहुत दुर्लभ है । इस से भी ब्रह्मा आदि में बिसर्गत्ता नहीं है क्योंकि ब्रह्मा आदि भगवान् के विभूत्तिरूप हैं ।

उक्त कथन से तो सर्ग लीला का कथन है विसर्ग का नहीं । ब्रह्मा आदि तो सृष्टि कर्त्ता भगवान् के विभूतिशेष हैं । इस प्रकार पूर्व पक्ष के अध्याय में विभूत्तिज्ञान के लिए ही प्रश्न था इसका समर्थन है ।। ५६ ।।

विभूतिज्ञान भागवत से ही होता है । उसकी प्रस्तावना श्री भागवत मेवात्र यह श्लोक है—

श्लोक—श्री भागवत मेवाऽत्र श्रोतव्यं नान्यदस्ति हि ।
स्वज्ञानख्यापनार्थं हि तदुपाख्यान मीरितम् ।। ६० ।।

श्लोकार्थ—विभूति का ज्ञान करने के लिए अन्य कोई श्रवणीय नहीं है, भागवत ही सुनना चाहिए । अपने ज्ञान को कहने के लिए उसका उपाख्यान यहां कहा गया है ।।६०।।

पुराणांतरों से विभूतिज्ञान नहीं हो सकता इसलिए उनको नहीं सुनना चाहिए ।

ब्रह्मा विभूतिरूप कैसे हैं. इस आशंका के समाधान के लिए तदुद्भवस्तदाज्ञप्तः श्लोक कहा है—

श्लोक—तदुद्भवस्तदाऽऽज्ञप्तस्तपसा तोषिते हरौ ।
स्तुते सम्प्रार्थिते चैवं बोधितः सर्वमेव हि ।। ६१ ।।
चतुरमुखश्चकारेदं यथापूर्वं तदाज्ञया ।
इति दर्शयितुं पृष्ट उपोद्धातं त्रिभिर्जगौ ।। ६२ ।।

श्लोकार्थ—चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् से है । उन्होंने तपस्या से भगवान् को प्रसन्न किया तो भगवान् ने उनको सृष्टि की आज्ञा दी । ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति की और प्रार्थना की, तब भगवान् ने ब्रह्माजी को सब बात समझाई । तब चतुर्मुख ब्रह्मा ने भगवान् की आज्ञा से यथापूर्व सृष्टि की, इसे बताने के लिए पूछा था उसका उपोद्घात तीन अध्यायों से कहा है ।।६१–६२।।

सात प्रकार से जो भगवत्सम्बन्धी होता है वह भगवान् का विभूति होती है । किन्हीं का कहना है कि जो सात प्रकार से भगवत्सम्बन्धी होता है वह आवेशी होता है । इस सृष्टि प्रकरण में गुणातीत से सृष्टि कही अब सगुण से सृष्टि कही जायेगी वह भी ‘विरिञ्चोऽपितथाचक्रे’ ब्रह्मा ने भी वैसी ही सृष्टि की, यह दशमाध्याय में कही जायेगी । बीच में सगुण से सृष्टि कैसे हुई, ऐसी आशंका की । उसके निरूपण में तीन अध्यायों से उपोद्घात किया । इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्मा

विभूति रूप है, इसका निरूपण विस्तार से किया और ब्रह्मा से होने वाली सृष्टि का निरूपण अष्टमाध्याय के केवल दो श्लोकों से ही किया है ।।६१-६२।।

पद्मकल्प का विशेष रूप से जो वर्णन है उसमें क्या हेतु है यह पद्मकल्पः इस श्लोक से कहते हैं -

श्लोक—पद्मकल्पः सात्विकानां श्रेष्ठस्तं तत उक्तवान् ।
पूर्वस्य प्रलयं शिष्टं हेतुं चाह विशुद्धये ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ--पद्मकल्प सात्विकों का है, अतः श्रेष्ठ होने से उसे कहा । पद्मकल्प से पूर्व का कल्प था उसका प्रलय और उसमें बचे हुए शेषशायी भगवान् उनको अग्रिम (पाद्म) कल्प का हेतु बताया इससे पद्मकल्प अत्यन्त शुद्ध है, ऐसा सिद्ध होता है ।।६३।।

पद्मकल्प से पहला कल्प तामस हो सकता है । इसलिए उसके प्रलय का निरूपण है । उस कल्प में बचे हुए शेषशायी भगवान् वे ही आगे के कल्प के हेतु हैं इसलिए उनका निरूपण है । इसलिए पद्मकल्प अत्यन्त शुद्ध है ।।६३।।

यहां कल्प भेदों में पदार्थों में जो अन्यथात्व है वह दोषयुक्त नहीं है, इसे बताने के लिए जघनाब्जपृथग्रूपैः इस श्लोक से पृथ्वी के तीन रूप कहे हैं-

श्लोक— जघनाब्जपृथग्रूपैस्त्रिधा भूमेर्निरूपणम् ।
ब्राह्मे पाद्मे वराहे च तेन नाऽन्योन्य दूषणम् ॥ ६४ ॥

श्लोकार्थ--ब्राह्मकल्प में भूमि का निरूपण जघन रूप से पाद्मकल्प में नाभिपद्मरूप से और वाराह कल्प में प्रथग्रूप से किया है इसलिए इनके पृथक-पृथक होने पर भी कल्प भेद के कारण कोई दोष नहीं है ।।६४।।

ब्रह्म कल्प में पृथ्वी विराट् प्रभु के जघनरूप थी । पाद्मकल्प में उसी विराट् प्रभु के नाभिपद्मरूप थी । और वाराह कल्प मे तो उस बिराट् प्रभु से अलग रूप वाली थी । वहां भी आदि वाराह कल्प में ब्रह्म ने अतल आदि पांच लोकों का हाथ से उद्धार किया था और कमल पत्र पर उन्हें स्थापित किये थे वही पृथ्वी फिर डूब गई थी उसका भगवान् ने वाराह कल्प में उद्धार किया यह तो श्वेत वाराह कल्प है यह तो उससे भी अलग है इसलिए इस में जो कोई दृष्ट अथवा श्रुत है उस में विरोध नहीं मानना चाहिए ।। ६४ ।।

शंका होती है कि बहुत से कल्प जब विद्यमान हैं तो भागवत में केवल इन तीन ही कल्पों का वर्णन क्यों है उसका समाधान प्राकृतं त्रयमेतत् इस श्लोक से करते है ।

श्लोक—**प्राकृतं त्रयमेतत्स्यादन्येष्वेकं यथोचितम् ।**
अतस्त्रिधा भागवते भुवो रूप निरूपणम् ॥ ६५ ॥

श्लोकार्थ—ब्राह्म, पाद्म और वाराह में तीन कल्प ही प्राकृत (मुख्य) हैं अन्य कल्पों में पृथ्वी का रूप इन्हीं तीन कल्पों में वर्णित में से कोई हो जाता हैं। अतएव भागवत में पृथ्वी के तीन प्रकार के रूपों का निरूपण किया है ।। ६५ ॥

अन्य कल्प इन तीन कल्पों के विकार रूप हैं इसलिए इन कल्पों में इनमें से कोई एक रूप पृथ्वी आदि का होता है । इसी बात को बताने के लिए 'अतस्त्रिधा भागवते' ऐसा कहा है अर्थात् भागवत में पृथ्वी के इन तीन रूपों का ही वर्णन है ।। ६५ ।।

उन कल्पों में अन्य धर्मों का विवेचन पुरुषावयवैः इस श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**पुरुषावयवैः सर्वं यदा तस्य पृथङ् न हि ।**
पृथिवी वा समुद्रा वा परिखामध्यवत्पुरम् ॥ ६६ ॥
तदा सर्वं हरिर्मानी न मानीत्यपरे विदुः ॥ ६६½ ॥

श्लोकार्थ—ब्राह्म कल्प में विराट् पुरुष के अवयवों से सब की उत्पत्ति होती है अतः पृथ्वी आदि अलग नहीं रहते। यह पृथ्वी ये समुद्र सब परिखा (खाई) के अन्दर जैसे नगर होता है उस तरह से रहते हैं उस समय सब भगवत्रूप ही होता है । अन्य विद्वान ऐसा जानते हैं कि ये भगवान् के अवयव रूप नहीं हैं ।। ६६–६६½ ॥

यह ब्रह्म कल्प की व्यवस्था है । उस समय भगवान् से पृथ्वी आदि अलग नहीं रहते ब्रह्म कल्प में एक ही विराट् रूप आवरण जल के मध्य में परिखा (खाई) के मध्य में रहने वाले नगर की तरह स्थित रहता है । उस कल्प में सब का सब भगवत शरीर रूप होने से हरि ही रहता है ऐसा मानते हैं। दूसरे कहते हैं कि विराट् शरीर को भगवान् नारायण ने लीला के लिए करण (असाधारण कारण) के रूप में ग्रहण किया था उस पक्ष में यह विश्व भगवान् का क्रीड़ा भाण्ड था भगवत्स्वरूप नहीं था । ब्रह्म समवाय सम्बन्ध से कारण होते हुए भी कामधेनु आदि के दृष्टान्तों से वहां आत्मस्फूर्ति नहीं मानते हैं किन्तु वास्तव में तो यह विश्व आत्मीयत्व रूप से ही स्फुरित होता है ।। ६६½ ।।

ब्रह्मकल्प में होने वाली विराट् व्यवस्था को कह कर अब द्वितीय पक्ष (पद्म कल्प) की व्यवस्था को कहते हैं ।

श्लोक—**यदा पद्मात्सर्वमिदं तदा पूर्वकथा न हि ।। ६७ ।।**
जलं च मध्यतः सृष्टमथवाऽण्डस्य मध्यगम् ।। ६७½ ।।

श्लोकार्थ—जिस समय पद्म कल्प में सृष्टि हुई थी उस समय यह सब कुछ नहीं था। अर्थात

प्रलय का जल भी नहीं था जल की भी सृष्टि कमल के मध्य में की अथवा अण्ड के मध्य में की ।
॥ ६७½ ।

पद्मकल्प में प्रलय जल भी नहीं था । किन्तु तिरोहित नारायण थे और स्थल कमल की तरह केवल नाभि कमल हो था । जल की भी उस कमल के मध्य में बाद में सृष्टि की । अथवा अण्ड के मध्य में सृष्टि के विराट् तो तिरोहित थे और कमल मात्र ही प्रकट था । उस समय कमल से ही सब सृष्टि हुई उस कल्प में सभी भगवान् के अंश थे और भगवान् की माया के सहित थे ।। ६७½ ॥

कदाचिज्जलवद्भूमिः, इस श्लोक से तृतीय कल्प का वर्णन करते हैं ।

श्लोक--**कदाचिज्जलवद्भूमिः पृथगेव विनिर्मिता ।। ६८ ।।**
कटाहमूले गमनं तदा तस्या निरूप्यते ।
न समुद्रास्तदा सप्त न तथा विस्तृता च भूः ।। ६९ ।।

श्लोकार्थ—पद्म कल्प में जैसे जल का निर्माण किया था उसी तरह वाराह कल्प में भूमि का अलग से निर्माण किया । वह भूमि कटाहमूल (रसातल) में चली गई थी उसका निरूपण है । उस समय न तो सात समुद्र थे और न उस समय पृथ्वी भी इस प्रकार विस्तृत थी ॥ ६८-६९ ।।

जिस तरह पद्म कल्प में जल का निर्माण किया उसी तरह वाराह कल्प में पृथ्वी का निर्माण किया कटाह मूल का अर्थ यहां रसातल है । उस समय सात समुद्र थे इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता । पचास करोड़ के विस्तार वाली यह पृथ्वी थी ऐसा कथन अप्रमाणिक है इस में ज्योतिष शास्त्र से विरोध आता है ।। ६९ ।।

न शेते इस श्लोक से वाराह कल्प में और भी विलक्षणता है उसे कहते हैं ।

श्लोक--**न शेते प्रथमे कल्पे तिरोभावस्तु तस्य हि ।**
द्वितीये शयनं तस्य तृतीयेपि क्वचिद्भवेत् ।। ७० ।।

श्लोकार्थ—पहला जो ब्रह्म कल्प था उसमें विराट के शयन का वर्णन नहीं है क्योंकि उस समय भूगोल ऊपर था अतः उस समय नारायण के तिरोभाव का ही वर्णन है। द्वितीय जो पद्मकल्प है उस में नारायण के शयन का वर्णन है और तृतीय वाराह कल्प में भी कहीं शयन होता है ।।७०॥

ब्राह्म कल्प से अतिरिक्त कल्पों में यह सारा जगत् भग्नमूलक कैसे था इसका उत्तर तदुद्धारात्त श्लोक से देते हैं ।

श्लोक--**तदुद्धारात्तदाधारात्तन्मूलं सर्वमत्र हि ।**
अयं नारायणः शेते पूर्वं सृष्टं निपीय तु ।। ७१ ।।

श्लोकार्थ उस पृथ्वी का उद्धार नारायण ने किया है और पृथ्वी का आधार भी वही है अर्थात इस पृथ्वी आदि का सब कुछ मूल भगवान् ही है और यह नारायण पूर्व की सृष्टि (जल) को पीकर सोंते हैं ॥ ७१ ॥

भगवान् ने ही पृथ्वो का उद्धार किया है पद्मकल्प में पद्म का आधार वे ही भगवान् हैं। इसलिए इसके मूल वे ही हैं। इस प्रकार कल्प भेद से विरोध का परिहार कर 'उदप्लुतं विश्वमिदम्' इससे किसी के शयन का निरूपण है। वहां पूर्व पक्ष के परिहार के लिए ये नारायण सोते हैं ऐसा कहा। विराट् का शयन कैसा हो सकता है इस शंका का समाधान यह है कि उस समय गोल तिरछा था इस (वाराह) कल्प के पहले पाद्म कल्प हो था क्योंकि 'अनेनलोकान् प्राग्लीनान्' इससे यह स्पष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

स्वाधारे इस श्लोक से शयन का स्थान कहा है।

श्लोक--**स्वाधारेऽण्डकटाहे वा जलमध्ये तु तत्स्थितिः।**
उदरस्थ जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते ॥ ७२ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् की उस समय अपने ही आधार में स्थिति थी अथवा अण्डकटाह में या जलमध्य में ही स्थिति थी और रज रूप से सारा जगत् उनके उदर में स्थित था ॥ ७२ ॥

अपने ही अन्दर जल की कल्पना करके उसमें आप शयन करते हैं दैनंदिन प्रलय वैसा भो होता है। अन्यथा नारायण का शयन सम्भव नहीं हो सकता। अथवा जैसा सुना है उसी के अनुरोध से पक्षान्तर की कल्पना कर लेनी चाहिये अर्थात् अण्डकटाह में उनने शयन किया उस समय जो तीनों लोकों का प्रलय हुआ था वह निद्रा के कारण हुआ था। उस समय नारायण तो केवल दृष्टा थे और वे उस समय अलग ही थे। या तो पूर्वोक्त पुरुष से वे भिन्न थे अथवा अन्तर्यामो रूप से थे! दोनों ही स्थिति में जल के मध्य में ही स्थिति थी। जितना जिनका सम्भव है उन सब पदार्थों का नाश और उत्पत्ति करनी है इसमें विरोध की आशंका करके फिर 'उदरम्थु' जगत्सर्वं' इससे इस शंका का परिहार करते हैं। पहले तो यह निरूपण किया कि यह सारा जगत् जल में डूबा हुआ था इसका निरूपण कर फिर 'अन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्म' इससे फिर अन्तः जगत् का निरूपण किया है। उसमें आधिभौतिक तो नष्ट हो गया है और आध्यात्मिक को अन्तः प्रविष्ट कर दिये ऐसी व्यवस्था की उसी को जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते से कहा है॥ ७२॥

न मूढ़ं न प्रकाश इस श्लोक से राजसत्व में हेतु देते हैं—

श्लोक--**न मूढं न प्रकाशं च कृष्णदृष्ट्या तदुद्गमः।**
शङ्कोचश्च विकाशश्च नाऽन्यथेति तथोद्गमः ॥ ७३ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् के उदर में जगत् थित था वह तामस अथवा सात्विक न था उस

जगत् का भगवान् के विचार से उद्गम हुआ। उद्गम में राजसत्व ही कारण हैं अन्यथा इस जगत् का संकोच विकास नहीं होता ॥ ७३ ॥

जगत् के निर्गमन में कृष्णदृष्टि भगवद्विचार को ही हेतु माना है विचारात्मक दृष्टि में भी संकोच विकास हेतु हैं। अन्यथा संकोच विकास नहीं हो सकता।

इस कल्प में तत्वों का नियम नहीं है इसको बताने के लिए विश्व की जिससे अभिव्यक्ति होती है उस की उत्पत्ति को कहते हैं—

श्लोक—प्रथमे तु महत्तत्त्वं यथा पद्मं तथाऽपरे ।
परिपालकरूपेण प्रविष्टो वेदरूपतः ॥ ७४ ॥
ब्रह्मा स्वयमभूद् द्वेधा स्वयमर्थोन्तरः पृथक् ।
अनन्तर्दृष्टितो भ्रान्तस्तद्दृष्ट्यातस्य दर्शनम् ॥ ७५ ॥

श्लोकार्थ—पूर्व कल्प में जैसे महतत्व था उसी तरह इस कल्प में पद्म था भगवान् ने वेद रूप से परिपालक रूप ब्रह्मा में प्रवेश किया और ब्रह्मा ने अपने रूप के दो विभाग किये उस में एक तो अर्थरूप स्वयं चतुर्मुख हुए और द्वितीय शब्द ब्रह्म रूप हुए। अन्तर्दृष्टि न होने से ब्रह्माजी को भ्रम हुआ और जब उनकी अन्तर्दृष्टि हो गई तो उनको भगवान् के दर्शन हो गये ॥ ७४–७५ ॥

इस कल्प में महत्तत्व के स्थान में पद्म था वही पद्म जगत् का आधार था उस पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति कैसे हुई ऐसी आशंका करके उसका समाधान करते हैं कि भगवान् ने ही वहां प्रवेश किया और ब्रह्मा के रूप में उत्पन्न हुए। परन्तु ब्रह्मा में भगवान् ने शब्द (वेद) रूप से प्रवेश किया था इसलिए ब्रह्मा के पुरुष स्थानोय होते हुए भी इनको भगवान् से न्यून रूप वाला कहते हैं। पद्म कल्प में ये ब्रह्मा ही विराट के स्थानापन्न हैं। ब्रह्मा जो शब्द ब्रह्मात्मक रूप हैं उनके दो कार्यों की सिद्धि के लिए दो रूप हो गये। उनमें एक तो अर्थरूप था वह तो स्वयं चतुर्मुख ही हुआ जिससे यह रूप प्रपञ्च (जगत) उत्पन्न होता है। दूसरा शब्द ब्रह्मरूप हुआ उससे वेदों की उत्पत्ति हुई। यद्यपि दोनों एक ही हैं। परन्तु अर्थ से शब्दात्मक अलग है। कमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्माजी तो महान् हैं फिर उन्हें क्यों अपना कारण ढूंढने में भ्रम हुआ। उसका समाधान करते हैं कि ब्रह्माजी की जब अन्तर्दृष्टि नहीं थी उस समय उनको भ्रम हुआ और जब उनकी अन्तर्दृष्टि हो गई तो उन्हें अपने कारण का दर्शन हो गया ॥ ७४–७५ ॥

ब्रह्माजी ने अन्तर्दृष्टि से जैसा देखा था ब्रह्म का स्वरूप वैसा ही है उसी को कहते हैं।

श्लोक—साकारमेव तद् ब्रह्म कारणं च तदेव हि ।
इति तद्वर्णनं स्तोत्रं तद्ब्रह्मत्वाय वर्ण्यते ॥ ७६ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने अन्तर्दृष्टि से देखा तो उन्हें साकार ब्रह्म के दर्शन हुए वह साकार

ब्रह्म ही सब का कारण है ब्रह्माजी ने उसी ब्रह्म का वर्णन किया तथा उसकी स्तुति की उसमें ब्रह्म का ही वर्णन है ।। ७६ ।।

इस कल्प में कमल तथा ब्रह्मा ही थे इसके अतिरिक्त और कोई नहीं था। इसका जो कारण है वह यदि साकार है तो वह ब्रह्म ही हैं। कारण को ढूंढने वाले को कारण ही दिखाई देता हैं। इसलिए वह ही कारण है ऐसा जानकर भगवान् का वर्णन तथा स्तुति की। इस स्तुति में भगवान् के स्वरूप का निर्णय है ।। ७६ ।।

।। अष्टम् अध्याय सम्पूर्ण ।।

❀ नवमा अध्याय ❀

स्तोत्र के श्लोकों की संख्या पच्चीस है वो भी ब्रह्मत्व के निर्णय के लिए हैं—

श्लोक--एकविंशतिभिर्नित्यं भजनं जन्मनः फलम् ।
चतुर्भिः प्रार्थ्यते तावत्संसारे तद्धि दुर्लभम् ॥ ७७ ॥

श्लोकार्थ—इक्कीस श्लोकों से नित्य भजन करना चाहिए इस का वर्णन है और चार श्लोकों से फल की प्रार्थना हैं वह फल संसार में दुर्लभ है ।। ७७ ।।

इक्कीसवां पुरुष होता है दस उसके हाथ की उंगलियां हैं और दस पैर की और आत्मा यह इक्कीसवां इससे क्या सिद्ध होता है इसकी आकांक्षा होगी उसका समाधान है नित्य भजन और वही जन्म का फलम् उस फल की चार श्लोकों से प्रार्थना है वास्तव में तो भगवान् की प्रसन्नता ही प्रार्थनीय है। उस प्रसन्नता का भी यह कारण है इसलिये प्रार्थना की जाती है। यही तो संसार में दुर्लभ है। भजन की सिद्धि के लिए उसमें चार अर्थो की प्रार्थना की है। उसी से भजन की सिद्धि होती है ।। ७७ ।।

उन्हीं चार प्रयोजनों को गिनाते हैं-

श्लोक--सत्विकत्वं गुणासक्तिर्वाचकाविस्मृतिस्तथा ।
अनुद्वेगश्च सर्वत्र कृष्णतस्तद्धि नाऽन्यथा ॥ ७८ ॥

श्लोकार्थ--(१) सात्विकता (२) गुणासक्ति (३) वाचकाविस्मृत्ति (४) सर्वत्र अनुद्वेग, ये चार कृष्ण के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। अन्य प्रकार से नहीं ।। ७८ ।।

शंका हो सकती है कि इन चार का साधन प्रमाण से ही करना चाहिए उसका उत्तर है कि नहीं, ये कृष्ण के द्वारा प्राप्त होते हैं ।। ७८ ।।

शंका होती है कि जब प्रार्थना की तो सिद्ध की तरह फल क्यों नहीं दे दिया साधन का उपदेश क्यों किया उसका उत्तर देते हैं।

श्लोक--प्रेम्णा न सेवनं यस्मादुपदेशस्ततः कृतः ।
आद्ये तपस्ततो ज्ञानं तेनाऽन्य स्तत्फलं ततः ॥ ७९ ॥
द्विरूपं हृदयोत्साहस्तेर्नवाऽविस्मृतिस्ततः ॥ ७९½ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने प्रेम से सेवा नहीं की थी इसलिए उपदेश किया था सात्विकता की प्राप्ति के लिए तप आवश्यक है और उसके द्वारा उनको ज्ञान प्राप्त हुआ और उस ज्ञान के द्वारा भगवद्गुणों में आसक्ति हुई और उसके द्वारा वेदों का स्मरण और उसके अनन्तर उसका फल अनुद्वेग सिद्ध होता है और भगवल्लीला का परिज्ञान यह अन्यफल भी इनके द्वारा होता है। ये सब जब सिद्धहोंगे हृदय में उत्साह और वेद का अविस्मरण ये दोनों ही सिद्ध होंगे ॥ ७९½ ॥

भगवान् ने प्रार्थना के अनुसार तो उत्तर नहीं दिया किन्तु 'तुम फिर तप करो' ऐसा भिन्न ही उपदेश दिया इसका क्या कारण है और इस आशंका का उत्तर आद्येतयः से दिया है उपदेश तो साधन का ही दिया जाता है सात्विकत्त्व तप के द्वारा ही होता है और भगवद्गुणों में आसक्ति ज्ञान से होती है और ज्ञान के द्वारा हीं वाचका स्मृति (वेदों को नहीं भूलना) होती है। जब ये तीनों हो जाते हैं तो उनका फल अनुद्वेग सिद्ध होगा। और भी फल जैसे भगवल्लीला का परिज्ञान यह भी सिद्ध होता है उसके सिद्ध होने पर हृदय में उत्साह और वेदों की अविस्मृति भी ठीक तरह से सिद्ध हो जायेगी ॥ ७९½ ॥

अनुद्वेग में दूसरा हेतु भी देते हैं।

श्लोक--कृष्णासत्तया त्वनुद्वेगः प्रीतो भक्ते हरिः सदा ॥ ८० ॥
अतोऽष्टभिर्वचस्तेन तिरो भावाच्च नित्यता ॥ ८० ½ ॥

श्लोकार्थ--कृष्ण में जब आसक्ति होती है और भगवान् भक्ति से जब प्रसन्न हो जाते हैं तो अनुद्वेग प्रसन्नता होती है इसे आठ श्लोकों से कहा है और उसी रूप से भगवान् का तिरोभाव होने से नित्यता भी है ॥ ८०½ ॥

यदि भगवान् में आसक्ति हो और उनकी यदि प्राप्ति न हो तो और उद्वेग होगा उद्वेग की निवृति कैसे होगी इसके लिए कहा है कि भगवान् भक्ति से सदा प्रसन्न रहते हैं तो उनकी अप्राप्ति का कोई कारण नहीं है इसलिए प्रीतियुक्त भक्ति से भगवान् प्रसन्न होकर अनुद्वेग (प्रसन्नता) को देते हैं। इसी बात को बताने के लिए आठ श्लोकों से भगवान् के वचन का निरूपण है और उसी रूप से तिरोहित होने से उनकी नित्यता भी है। इस तरह नवम् अध्याय से ब्रह्मा के पिता की ब्रह्मरूपता सिद्ध की है ॥ ८० ½ ॥

राग काफी

अविगत, आदि, अनंत, अनूपम, अलख, पुरुष अविनासी ।
पूरण ब्रह्म, प्रगट पुरुषोत्तम, नित निज लोक विलासी ॥ १ ॥
जहां वृंदावन आदि अजर, जहां कुंज-लता विस्तार ।
तहां बिहरत प्रिया-पीतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार ॥ २ ॥
रतन जटित कालिंदी को तट, अति पुनीत जहां नीर ।
सारस-हंस-चकोर-मोर खग, कूजत कोकिल-नीर ॥ ३ ॥
जहां गोबर्धन परबत मनिमै, सघन कंदरा सार ।
गोपिन मंडल मध्य विराजत, निसि-दिन करत बिहार ॥ ४ ॥

सृष्टि विस्तार

खेलत-खेलत चित में आई, सृष्टि करन विस्तार ।
अपने आप करि प्रगट कियौ है, हरी पुरुष अवतार ॥ ५ ॥
माया कियौ छोभ बहु विधि कर, काल-पुरुष के अंग ।
राजस-तामस सात्विक त्रिगुन, प्रकृति-पुरुष कौ संग ॥ ६ ॥
कीन्हें तत्व प्रगट तेही छिन, सबै अष्ट अरु बीस ।
तिनके नाम कहत 'कवि सूरज', निर्गुण सब के ईस ॥ ७ ॥
प्रथिवी, अप, तेज, वायु, नभ संज्ञा, सब्द, परस अरु गंध ।
रस और रूप और मन-बुधि-चित, अहंकार मति अंध ॥ ८ ॥
पान, अपान, व्यान, उद्दान और कहियत प्रान समान ।
तछक, धनजंय पुन देवदत्त और पौंड्रक संख द्युमान ॥ ९ ॥
राजस-तामस सात्विक तीनों, जीव-ब्रह्म सुख-धाम ।
अट्ठाईस तत्व यह कहियत, सो 'कवि सूरज' नाम ॥ १० ॥

ब्रह्मा की उत्पत्ति

नाभि कमल नारायण की, सो वेद गरम अवतार ।
नाभि कमल में बहुतहिं भटक्यौ, तऊ न पायो पार ॥ ११ ॥
तब आज्ञा भई यह हरि को, नभ करो परम तप आप ।
तब ब्रह्मा तप कियौ वर्ष सत, दूर भये सब पाप ॥ १२ ॥
तब दरसन दीनौं करुनाकर, परम धाम निज लोक ।
ताकौ दरसन देखि, भयौ अज सब बातन निःसोक ॥ १३ ॥
जहां आदि निज लोक महा निधि, रमा सहस संजूत ।
आडोलन झूलत करुनानिधि, रमा सुखद अति पूत ॥ १४ ॥
अस्तुति करी विविध नाना करि, परम पुरुष आनंद ।
जै-जै-जै श्रुति गीत गायकै, पढ़तहिं नाना छंद ॥ १५ ॥
आज्ञा करि नाथ चतुरानन, करौ सृष्टि-विस्तार ।
होरी खेलन की विधि नीकी, रचना रचौ अपार ॥ १६ ॥

(सूर सारा वली)

॥ श्री हरि ॥

भूमिका

श्रीमद्भागवत महापुराण के तीसरे स्कन्ध में सर्ग लीला का वर्णन ३३ अध्यायों में हैं। सर्ग से अभिप्राय लौकिक और अलौकिक दो प्रकार की सृष्टि के कारणों के एकत्रित होने से है। पहले अध्याय में कथा इस प्रकार से आरम्भ होती है कि. विदुरजी ने महाराजा धृतराष्ट्र को समझाया कि पाण्डवों को उनके राज्य का भाग आप दे देवें इसी में हित है, किन्तु उनकी यह बात सुनते ही कर्ण दुःशासन और दुर्योधन, शकुनी बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने विदुरजी को अपमानित करते हुए कहा कि इस कुटिलदासी पुत्र को तुरन्त नगर से बाहर निकाल दो इन अत्यन्त कठोर वचनों से मर्माहत होकर भी विदुरजी ने कुछ बुरा न माना और भगवान् की माया को प्रबल समझ कर अपना धनुष राज-द्वार पर रख वे हस्तिनापुर से चल दिये। वे अवधूत वेष से स्वच्छन्दता पूर्वक भू-मण्डल में तीर्थपाद भगवान् के क्षेत्रों में विचरने लगे इस प्रकार वे प्रभास क्षेत्र में पहुँचे तब तक कौरवों की हार हो चुकी थी, जिनके विनाश के समाचार उन्होंने सुने। वहां से चलकर कुछ दिनों में वे यमुना तट पर पहुँचे तो वहां उन्हें परम भागवत उद्धवजी मिले। विदुरजी ने उन्हें देखकर प्रेम पूर्वक अपने हृदय से लगा लिया और उनसे अपने आराध्य भगवान् श्री कृष्ण और उनके आश्रित अपने स्वजनों के कुशल समाचार पूछे। जब विदुरजी ने उद्धवजी से उनके प्रियतम श्री कृष्ण के सम्बन्ध रखने वाली बातें पूछी तो उन्हें अपने स्वामी का स्मरण हो आया और हृदय भर आने के कारण वे कुछ उत्तर नहीं दे सके कुछ समय बाद उन्होंने अपने नेत्रों को पौंछकर भगवत् लीलाओं का स्मरण हो आने से विस्मित हो विदुरजी को इस प्रकार कहने लगे:--

विदुरजी ! श्री कृष्ण रूप सूर्य के छिप जाने से हमारे घरों को काल रूप अजगर ने खा डाला है वे श्री हीन हो गये हैं। अब उनकी क्या कुशल सुनाऊँ, और यह मनुष्य लोक बड़ा ही अभागा है इसमें भी यादव तो नितान्त भाग्यहीन हैं कि जिन्होंने अपने साथ रहने वाले श्री कृष्ण को नहीं पहचाना और उन्हें एक श्रेष्ठ यादव ही समझा, अब भगवान् श्री कृष्ण अपने त्रिभुवनमोहन श्री विग्रह को छिपाकर अर्न्तधान हो गये हैं। श्री कृष्ण का दिव्य एवं सुन्दर विग्रह देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था किन्तु वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। उनके प्रेम पूर्ण हास्य विनोद और लीला में चितवन से सम्मानित होने पर बृज-बालाओं की आंखें उन्हीं की ओर लग

जाती थी, और वे जड़ पुतलियों की तरह खड़ी रह जाती थी। भगवान् अजन्मा होने पर भी करुणावश अपने अंश बलदेवजी के सहित इस प्रकार प्रकट हो गये जैसे काष्ट से अग्नि उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रकट होकर ऋषि-मुनियों को दुःख देने वाले दानवों को नष्ट किया और इस तरह पृथ्वी का सारा भार उतारा।

विदुरजी! वे भगवान् श्री कृष्ण राजसिंहासन पर बैठे हुए राजा उग्रसेन के सामने खड़े होकर निवेदन करते थे "देव ! हमारी प्रार्थना सुनिये" उनके सेवा भाव की याद आते ही चित्त अत्यन्त व्यथित हो जाता है कितनी विलक्षण बात है कि उस पापिनी पूतना ने अपने स्तनों पर हलाहल विष लगाकर श्री कृष्ण को मार डालने की नीयत से उन्हें दूध पिलाया था उसको भी भगवान् ने वह परम गति दी जो धाय को मिलनी चाहिए वह उसे दी। उन भगवान् श्री कृष्ण से बढ़कर और कौन दयालु है जिसकी शरण में जायें। बृज में रहते समय वे ग्वाल-बालों के साथ बछड़े चराते हुए यमुना तट की निकुंजों में खेला करते थे, इसी समय जब कंस ने उन्हें मारने के लिए बहुत से राक्षस भेजे तब उनको खेल ही खेल में भगवान् ने ऐसे मार डाला जैसे बालक खिलौनों को तोड़-फोड़ डालता है। इस प्रकार भगवान् ने बृजवासियों को अनेक आपत्तियों से बचाकर बहुत सुख दिया।

इसके बाद श्री कृष्ण अपनी माता देवकी व पिता वसुदेवजी को सुख देने के लिए मथुरा पधारे और कंस को सिंहासन से नीचे पटककर उसकी लाश को बड़ी जोर से पृथ्वी पर घसीटा फिर विद्याध्ययन के लिए उज्जैन जाकर अपने गुरुवर से एक ही बार सुनने पर सब वेद शास्त्रों को कण्ठस्थ कर लिया उसके बाद भगवान् श्री कृष्ण ने रूक्मणी जी का हरण कर द्वारका में लाकर वरण किया इसी प्रकार सत्या, जाम्बवती सत्यभामा इत्यादि कन्याओं से अपना विवाह किया। एक बार भगवान् विषयी पुरुषों की सी लीला करते हुए अपनी प्राण प्रिया सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए स्वर्ग से कल्पवृक्ष ले आये। भगवान् ने पृथ्वी के पुत्र भोमासुर को मार कर उस के पुत्र भगदत्त को उसका बचा हुआ राज्य देकर उसके महल में प्रवेश किया जहां भोमासुर द्वारा हरकर लाई हुई बहुत सी राज कन्याऐं थीं, जिन्होंने भगवान् के सुन्दर स्वरूप के दर्शन कर उनको पति रूप से ग्रहण किया। भगवान् ने मुचुकुन्द भीम आदि निजजनों को अपनी ही अलौकिक शक्ति देकर उनसे कई दुष्ट राजाओं को नष्ट करवाया। कौरव और पाण्डवों के महाभारत के युद्ध में पांडवों का पक्ष लेकर उनकी विजय करवाई फिर विचारने लगे कि इस युद्ध में १८ अक्षोहिणी सेना का संहार हो भी गया तो इससे पृथ्वी का कितना भार हल्का हुआ अभी तो मेरे अंश रूप पुत्रों आदि के बल से बढ़े हुए यादवों का दल बना ही हुआ है, ऐसा सोचकर भगवान् श्री कृष्ण ने यदुवंशियों को आपस में ही लड़ाकर नष्ट करवा दिया, फिर भगवान् श्री कृष्ण अपनी माया की उस विचित्र गति को देखकर प्रभास क्षेत्र में सरस्वती के जल से आचमन कर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये, उसी समय

मैत्रेयजी लोकों में विचरते हुए वहाँ आ पहुँचे उनके सामने ही मुझे कहा कि उद्धव संसार में तुम्हारा यह अंतिम जन्म है क्योंकि इसमें तुमने मेरा अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। मैंने भगवान् से निवेदन किया कि अपने स्वरूप का गूढ़ रहस्य प्रकट करने वाला जो श्रेष्ठ एवं समग्र ज्ञान जो आपने ब्रह्माजी को सुनाया था यदि मेरे समझने योग्य हो तो मुझे भी सुनाइयें जिससे मैं भी संसार दुःख को सुगमता से पार कर जाऊं तब कमल नेत्र भगवान् श्री कृष्ण ने मुझे अपने स्वरूप को परमस्थिति का उपदेश दिया इस प्रकार भगवान् से आत्म तत्व की उपलब्धि का साधन सुनकर तथा उनके चरणों की वन्दना और प्रभु की परिक्रमा कर मैं यहां आया हूं और अब मैं उनकी ही आज्ञा से बद्रिकाश्रम जा रहा हूँ। इसप्रकार उद्धवजी के मुख से अपने प्रिय बन्धुओं के विनाश का समाचार सुनकर परमज्ञानी विदुरजी ने अपने शोक को विवेक द्वारा शांत कर दिया, और कहने लगे कि उद्धवजी भगवान् श्री कृष्ण ने अपने स्वरूप के गूढ़ रहस्य को प्रकट करने वाला जो परम ज्ञान आपसे कहा था वह आप मुझे भी सुनाइये तब उद्धवजी बोले कि इस मृत्यु लोक को छोड़ते समय मेरे सामने स्वय भगवान् ने ही आपको उपदेश करने के लिए मुनिवर मैत्रेयजी को आज्ञा दी थी, इसलिए आप उनके पास जाकर उनकी सेवा करो।

परम ज्ञानी मैत्रेयजी हरिद्वार क्षेत्र में बिराजमान थे कुरुश्रेष्ठ विदुरजी उनके पास जा पहुँचे और उनके साधुस्वभाव से सन्तुष्ट होकर उन्होंने पूछा।

विदुरजी बोले, भगवन्, संसार में सब लोग सुख के लिए कर्म करते हैं, परन्तु उनसे न तो उन्हें सुख ही मिलता है और न ही उनका दुःख दूर होता है बल्कि उसमें भी उनका दुःख बढ़ता ही है, इसलिए इस विषय में क्या करना उचित है? आप मुझे उस शांतिप्रद साधन का उपदेश दीजिए। त्रिलोकी के नियन्ता और आत्मतन्त्र श्री हरि अवतार लेकर जो-जो लीलाएँ करते हैं जिसप्रकार अकर्ता होकर भी कल्प के आरम्भ में इस सृष्टि की रचना की, और वे जगत् के जीवों की आजीविका का विधान करते हैं फिर जिस प्रकार इसे हृदय-आकाश में लीन कर वृत्तिशून्य हो योगमाया का आश्रय लेकर शयन करते है। भगवन्! मैंने ऊँच-नीच वर्णों के धर्म तो कई बार सुने हैं किन्तु अब श्री कृष्ण कथामृत के प्रभाव को छोड़कर अन्य स्वल्प सुख दायक धर्मों से तो मेरा चित्त ऊब गया है। उन तीर्थपाद श्री हरि के गुणानुवाद से तृप्त हो भी कौन सकता है? भगवच्चरणों के निरन्तर चिन्तन से हृदय में आनन्द भरने से मानव के सभी दुःखों का तत्काल अन्त हो जाता है। उस सर्वेश्वर ने संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने के लिए अपनी महाशक्ति को स्वीकार कर राम-कृष्णादि अवतारों के द्वारा जो २ अनेकों लीलाएँ की हैं वे सब मुझे सुनाइये। मैत्रेयजी बोले, साधु स्वभाव विदुरजी आपने सब जीवों पर बहुत कृपा करके यह बड़ी अच्छी बात पूछी है अब मैं जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय के लिए योगमाया से विकसित हुई भगवान् की विभिन्न लीलाओं का क्रमशः वर्णन करता हूँ। सम्पूर्ण जीवों के अन्तरात्मा परमात्मा

स्वरूप सृष्टि के पहले अकेले ही थे उन साक्षी स्वरूप परमात्मा की सद्रूपा माया शक्ति है जिससे कि उन्होंने सब सृष्टि की रचना की है, जब यह त्रिगुणमयी माया क्षोभ को प्राप्त हुई तब भगवान् ने अपने अंश स्वरूप पुरुष रूप मे बीज रूप स्थापित किया अव्यक्त माया से महतत्व प्रकट हुआ, वह मिथ्या अज्ञान नाशक के होने के कारण विज्ञान स्वरूप और अपने सूक्ष्मरूप से स्थित प्रपंच की अभिव्यक्ति करने वाला था। महतत्व के विकृत होने पर अहकार की उत्पत्ति हुई, जो कार्य (अधिभूत) कारण (अध्यात्म) और कर्त्ता (आधिदेव) रूप होने के कारण भूत, इन्द्रिय और मन का कारण है। वह अहंकार सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का है। इस प्रकार सारी सृष्टि की रचना की। इसके बाद मैत्रेयजी ने विराट् शरीर की उत्पत्ति के सम्ब्रन्ध में विदुरजी को सब बात समझाई। विदुरजी ने यह सब भाषण सुनकर मैत्रेयजी को जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये तब भगवत् चर्चा के लिए प्रश्न किये जाने के कारण मैत्रेयजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीमद्भागवत्पुराण प्रारम्भ किया जिसे स्वयं श्री संकरषण भगवान् ने सनकादि ऋषियों को सुनाया था। भगवान् ने सम्पूर्ण प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को अपने शरीर में लीन करके अपने आधार भूत, जल में शयन किया उन्हें सृष्टि काल आने पर योग निद्रा से जगाने के लिए केवल काल शक्ति जाग्रत थी। जब भगवान् के द्वारा नियुक्त उनकी काल शक्ति ने उन्हें जीवों के कर्मों की प्रवृत्ति के लिए प्रेरित किया तब उन्होंने अपने शरीर में लीन हुए अनन्त लोक देखे, जिस समय भगवान् की दृष्टि अपने में निहित लिंगशरीरादि सूक्ष्म तत्व पर पड़ी तब वह कालाश्रित रजोगुण से क्षुभित होकर सृष्टि रचना के निमित्त उनके नाभि देह से बाहर निकला, कर्म शक्ति को जाग्रत करने वाले काल के द्वारा भगवान् की नाभि से प्रगट हुआ वह सूक्ष्म तत्व कमलकोष के रूप में सहसा ऊपर उठा और उसने सूर्य के समान अपन तेज से उस अपार जलराशि को देदिप्यमान कर दिया सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित करने वाले उस सर्व लोकमय कमल में भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हो गये, तब उसमें से बिना पढाये ही स्वय सम्पूर्ण वेदों को जानने वाले साक्षात् वेद मूर्ति श्री ब्रह्माजी प्रकट हुए। जिन्हें लोग स्वयंभू कहते हैं। ब्रह्माजी को जब कोई लोक दिखाई नहीं दिया तब वे चारों तरफ देखने लगे इसलिए उनके चारों दिशाओं में चार मुख हो गये। ब्रह्माजो उस कमल नाल के छिद्रों में से जल में घुमे परन्तु उस नाल के आधार को न पा सके अन्त में वे फिर अपने आधार भूत कमल पर बैठकर धीरे-धीरे समाधि में स्थित हो गये। १०० वर्ष तक अच्छी तरह योगाभ्यास करने पर ब्रह्माजी को ज्ञान हुआ, और उनको अपने अन्तःकरण में ही उन पुरुष श्रेष्ठ के दर्शन हुए. अब विश्व रचना के इच्छा वाले लोक विधाता ब्रह्माजी ने भगवान् के नाभि सरोवर से उत्पन्न हुआ वह कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर यह पांच पदार्थ हो देखे तब श्री हरि में चित्त लगाकर उन परम पूजनीय प्रभु की स्तुति करने लगे।

॥ प्रस्तुत ग्रन्थ में दिये गये तृतीय स्कन्ध के १ से ८ अध्यायों की भूमिका सम्पूर्ण ॥

* श्री सुबोधिनी *

प० भ०
श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ०
श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ०
श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

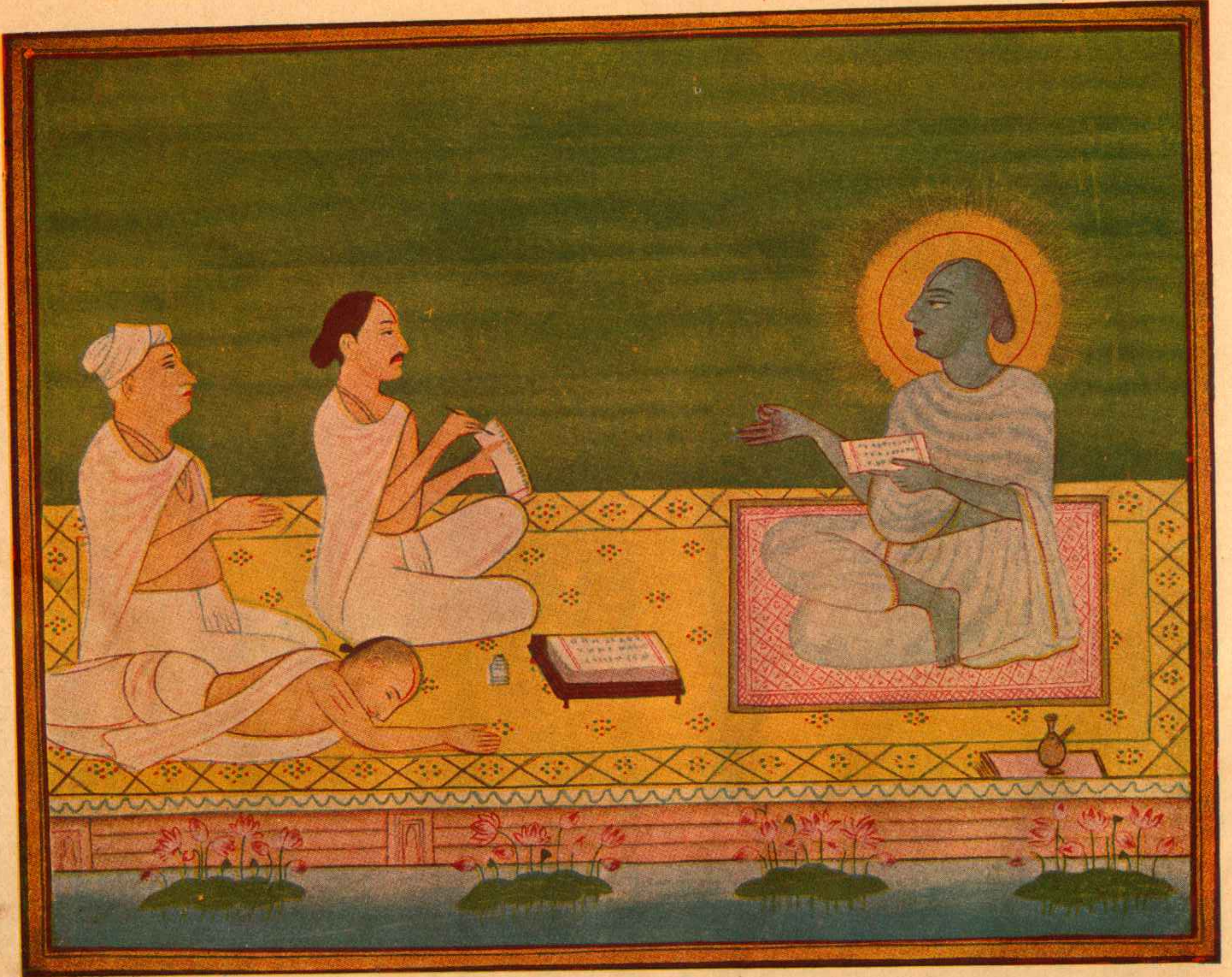

अखण्ड भूमण्डलाचार्य
चक्र चूडामणी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्रीमहाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ. श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी–टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

अधिकार प्रकरण

'अध्याय–" १

उद्धव और विदुर की भेंट

कारिका—**अधिकारिषु साङ्गं हि श्रवणं सुनिरूपितम् ।**
स्कन्धद्वयेन, शेषेषु क्रियते विषयाभिधा ॥१॥

कारिकार्थ—प्रथम स्कन्ध में कहा, कि अधिकारी तीन प्रकार के हीन, मध्यम और उत्तम हैं। द्वितीय स्कन्ध में (श्रद्धा) अंग सहित श्रवण का निरूपण किया गया है शेष दस स्कन्धों में तीसरे से द्वादश तक में सर्गादि विषयों को कहा है ॥१॥

कारिका—**त्रयस्त्रिंशदथाऽध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने ।**
स्वाभिप्रेते सविशेषे हरेर्माहात्म्यसूचके ॥२॥

कारिकार्थ—तीसरे स्कन्ध में तैंतीस अध्याय हैं जिनमें हरि का माहात्म्य प्रकट करनेवाले शुक तथा व्यास के हृदय में जचा हुआ विशेष गुणवाला सर्ग वर्णन का विषय निरूपण किया है। जिस विशेष गुण का वर्णन १२-७-११ में भगवद्दत्तेन कहा है ॥२॥

कारिका—**लोके सर्गविसर्गौ हि यद्दृशो नेह तौ मतौ ।**
किन्तु तौ लीलया वाच्यौ तेन स्कन्धद्वयं ततम् ॥३॥

कारिकार्थ—लोक में जिस प्रकार के सर्ग और विसर्ग का अर्थ उत्पत्ति होती है, उस प्रकार के सर्ग विसर्ग का वर्णन यहाँ नहीं है, यहाँ तो दोनों सर्ग और विसर्ग वे हैं जो पृथक् लीला से हुए हैं उनका वर्णन है, यद्यपि सर्ग, विसर्ग दोनों का अर्थ उत्पत्ति है किन्तु यह उत्पत्ति भगवान ने लीला

द्वारा पृथक्-पृथक् प्रकार से की है अतः एक (सर्ग) लीला का वर्णन तीसरे स्कन्ध में और दूसरी (विसर्ग) लीला का वर्णन चतुर्थ स्कन्ध में विस्तार से किया है ॥३॥

कारिका—**भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः ।**
ब्रह्मणो गुणवैषम्यादिति सर्गस्य लक्षणम् ॥४॥

कारिकार्थ—इस कारिका में सर्ग का लक्षण बताते हैं, महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ और बुद्धि के जन्म को सर्ग कहते हैं, यह सर्ग, ब्रह्म के गुणों में विषमता आने पर होता है, अर्थात् जब गुणों में विषमता होती है तब महाभूतादि की उत्पत्ति होती है ॥४॥

कारिका—**अत्रार्थौ द्विविधोऽप्यस्ति विवक्षित इति स्फुटः ।**
ब्रह्मतो जायते सर्गो ब्राह्मार्थं क्रियते परः ॥५॥

कारिकार्थ—यहाँ दो प्रकार के अर्थ (सृष्टि) के कहने की इच्छा है, एक जो प्रसिद्ध सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न मानी गयी है और दूसरी सृष्टि जो ब्रह्म के लिये उत्पन्न हुई है ॥५॥

कारिका—**अतोऽत्र द्विविधः सर्गः श्रुतिसाङ्ख्यानुसारतः ।**
भूतमात्रेन्द्रियधियः प्रथमे त्रिविधा मताः ॥६॥

कारिकार्थ—इसलिये ये दो प्रकार की सृष्टि, श्रुति और सांख्य के अनुसार वर्णित है, प्रथम सर्ग, जिसमें भगवान् उपादान कारण है महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रियाँ और बुद्धि की वह सृष्टि तीन प्रकार की है ॥६॥

कारिका—**अधिकारे हरौ कार्ये सत्त्वादिगुणभेदतः ।**
अतश्चतुर्णामुत्पत्तौ द्वादशाध्यायवर्णनम् ॥७॥

कारिकार्थ—यह सृष्टि जिनका उपादान कारण हरि (भगवान्) है वह तीन प्रकार की कैसे हुई ? जिसको इस कारिका में समझाते हैं कि अधिकार, हरि (पुरुष शरीर) और कार्य, (भौतिक सृष्टि) इनमें सात्विकादि गुणों के भेद के कारण ही यह महाभूतादि सृष्टि तीन प्रकार की हुई है, इसलिये इन चारों की उत्पत्ति के वर्णन में १२ अध्याय हैं ॥७॥

कारिका—**ततोऽत्र युक्तरूपस्य ब्रह्मणो विनिरूपणम् ।**
गुणवैषम्यकथनं षडध्याय्या निरूप्यते ॥८॥

कारिकार्थ—१३ वें अध्याय में योग्य रूपवाले ब्रह्म का निरूपण किया है अर्थात् क्रिया शक्ति युक्त वराह भगवान् का वर्णन किया है, बाद में छः अध्यायों में गुणों की विषमता (असमानता) का निरूपण किया है ॥८॥

कारिका—**कर्मादिमार्गा वेदोक्ताः फलतस्ते यदि स्थिराः ।**
सर्गोऽत्र नैव जायेत ततस्तन्नाश उच्यते ॥९॥

कारिकार्थ—कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीन मार्ग मोक्ष देने वाले हैं, ये यदि स्थिर रहें तो यहाँ सृष्टि ही न हो (न रहे), इसलिये इनकी स्थिरता नहीं रहती है इनका भी नाश हो जाता है, जिससे सृष्टि होती रहती है ॥९॥

कारिका—**कामेन कर्मनाशः स्यात् क्रोधेन ज्ञाननाशनम् ।**
लोभेनापि च भक्तेर्हि धर्मिज्ञानीश्वरैः कृताः ॥१०॥

कारिकार्थ—काम से कर्म का, क्रोध से ज्ञान का और लोभ से भक्ति का नाश होता है, जिसका प्रमाण (सबूत) देते हैं कि कर्म करनेवाले (कश्यपजी), ज्ञानी (सनत्कुमारों) अधिकारियों (जय विजय) ने अपने कर्म, ज्ञान और भक्ति का नाश किया, जैसे कश्यपजी ने कामवश हो अपने कर्म का नाश किया, सनत्कुमारों ने क्रोध कर अपने ज्ञान का नाश किया, जय विजय ने अधिकार का लोभ होने से गर्व (घमण्ड) किया तो उनकी भक्ति नष्ट हुई ॥१०॥

कारिका—**ततो गुणानां वैषम्यं तमःसत्त्वरजस्त्वतः ।**
एवमेकोनविंशत्या हरिकर्तृक ईरितः ॥११॥

कारिकार्थ—पश्चात् तम, सत्व और रजपन के कारण गुणों में असमानता दिखाई गई है, इसी प्रकार १९ अध्यायों से हरिकृत सर्ग का वर्णन किया गया है ॥११॥

कारिका—**चतुर्दशभिरध्यायैर्हरये सर्ग उच्यते ।**
गुणवैषम्यमेकेन भगवद्भोगसिद्धये ॥१२॥

भूतमात्रेन्द्रियाधियां जन्म भोगाय देहतः ।
चतुर्भिरुच्यतेऽध्यायैर्नवभिश्च गुणास्त्रयः ॥१३॥

कारिकार्थ—अब १४ अध्यायों से हरि के लिये किए गए सर्ग का वर्णन करते हैं, भगवद्भोग की सिद्धि के लिये १ अध्याय में गुणों की असमानता का वर्णन है, भोग हो सके इसलिये महाभूत तन्मात्रा, इन्द्रिय और बुद्धि का देह से जन्म ४ अध्यायों में कहा है, ९ अध्यायों में तीन गुणों का वर्णन है ॥१२-१३॥

कारिका—**यादृशैर्भगवद्भोगस्तेषां सर्गो निरूप्यते ।**
कथायां त्वधिकारोऽत्र चतुर्भिः करणं परैः ॥१४॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार महाभूतादि और गुणों से भगवान् का भोग सिद्ध हो, उनके सर्ग का यहाँ वर्णन है, चार अध्यायों से यहाँ श्री सुबोधिनी जी में कथा सम्बन्धी अधिकार का वर्णन है, पर अध्यायों से साधन कहे हैं ॥१४॥

कारिका—**सर्गस्य सविभूतेश्च सर्वत्र वानुवर्णनम् ।**
उत्तमे त्वधिकारे हि लीलामात्रं फलाय वै ॥१५॥

कारिकार्थ—सर्वत्र विभूति वाले सर्ग का वर्णन है, उत्तम अधिकार हो तो केवल लीला मात्र से ही फल हो जाता है ॥१५॥

कारिका—**किं पुनर्दशधा लीलेत्येवं वैदुरिकी कथा ।**
तत्राऽधिकारे प्रथमे देहवैशिष्ट्यकारणम् ॥१६॥

कारिकार्थ—यदि उत्तम अधिकार होने पर लीला मात्र से फल मिल जाता है तो दस प्रकार की लीला से फल की प्राप्ति होगी, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अधिकार प्रकरण के प्रथम अध्याय में देह की विशिष्टता होने का कारण[1] कहा है ॥१६॥

कारिका—**भूतानां संस्कृतानां हि त्रेधा सर्गो निरूप्यते ।**
तीर्थसङ्गगुणस्मृत्या पञ्चधा वा निरूप्यते ॥१७॥

कारिकार्थ—पंस्कृत अर्थात् सत्त्व मे शुद्ध हुए महाभूतों का सर्ग भी तीन प्रकार का निरूपण किया जाता है, अथवा तीर्थों का संघ, भगवदुगण स्मरण से, इस तरह के (संस्कार प्राप्त) महाभूतों का वर्णन किया है ॥१७॥

कारिका—**तीर्थद्वयेन हरिणा भक्तैस्तत्कथयाऽपि च ।**
अस्मिन् भागवते शास्त्रे पूर्वदेहस्य नाशनम् ।
नापेक्ष्यते यतः सर्वे भक्तिमार्गाधिकारिणः ॥१८३॥

कारिकार्थ—ऊपर की कारिका में १—तीर्थसंग, २—भगवद्गुण ·मरण और इस कारिका में हरि भक्त एवं उनकी कथाएँ इस तरह पांच प्रकार से संस्कार प्राप्त महाभूतों के सर्ग का कहा है इस भागवत शास्त्र में पहले देह के नाश की अपेक्षा नहीं है कारण कि भक्तिमार्ग में सर्व अधिकारी है ॥१८३॥

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते 'तद्वोऽभिधास्ये शृणुत' इत्युक्तम् । शुकोऽपि सर्गे विदुरकथैव युक्तेति तत्कथाक्षेपणार्थं विदुरेणैवं प्रश्नः कृत इत्याह श्लोकद्वयेन—

आभासार्थ—इसी प्रकार पूर्वाध्याय अर्थात् (दूसरे स्कन्ध के दसवें अध्याय के अन्त में) कहा कि, 'तद्वोऽभिधास्ये शृणुत' तुमको कहूँगा, सुनिये ऐसा कहकर शुक देव ने समझा कि 'सर्ग' के विषय में विदुर की कथा बताना ही उचित है, अतः उस कथा को कहने के लिये ही शुकदेवजी ने कहा है कि 'विदुरेणैवं प्रश्नः कृतः' विदुर ने भी इसी तरह का ही प्रश्न किया था वह निम्न दो श्लोकों से कहते हैं—

श्री शुक उवाच-श्लोक—**एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान्किल ।**
क्षत्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि अपने समृद्धिवाले गृह का त्यागकर वन में गये हुए क्षत्रा ने भगवान् मैत्रेयजी से इसी प्रकार यही प्रश्न किया था ॥१॥

---

[1] —विदुर देह उत्तम है जिससे अनुमान होता है कि उनके उत्तम कारण है ।

सुबोधिनी—**एवमिति** । यथा त्वया बहवः प्रश्नः कृता पूर्वपक्षपुरस्सरम् । **एतत् सर्वमग्रे** वक्ष्यमाणम् । एवमेव विदुरेण पृष्टो मैत्रेय आहेति नोच्यते । नहि सर्वे पदार्थाः पृष्टा वक्तव्याः । यदेव तस्योपकारि भवति तदेव वक्तव्यमिति भावः । कियतीं भगवत्कथां श्रुत्वा तस्यां हृदयं गतायां तद्दार्ढ्यार्थं विशेषं पृच्छति सर्वोऽपीति कार्यसिद्धिः श्रोतुर्निरूप्यते । अन्यथा व्युत्थितस्य शङ्कया न वक्तव्यं स्यात् । भगवत्त्वमत्र शास्त्रे द्विविधम्, नित्यं कार्यं च । तद्भगवति नित्यम् । तत्प्रसाद-विषयेषु कार्यम् । तस्याऽधिकारार्थमुपदेशादिषु गुरुत्वज्ञानित्वादिसिद्ध्यर्थमिहोच्यते । अतो मैत्रेयस्यापि प्रेमयसञ्चारणसामर्थ्यार्थं सर्वसंदेहवारण-सामर्थ्यार्थं च भगवत्त्वं निरूप्यते । मित्रायाः पुत्र इति जन्मत एव तस्य सर्वोपकारित्वं सूचितम् । अग्रे भगवच्छब्दाच्च न तथा दूषणम् । **किलेति** प्रसिद्धिरुभयत्र, भगवत्त्वे प्रश्ने च । अन्यथा स्वस्य तदन्वयप्रवेशाभावात् कथनमयुक्तं स्यात् । क्षता नाम अन्तःपुराध्यक्षः सर्वथा जितेन्द्रियः । ताहशाभावे नपुंसकोऽपि क्रियते । अतो विदुरस्य जितेन्द्रियत्वं वक्तुं क्षतृत्वमाह—**क्षत्रेति** । **वन प्रविष्टेनेति** ताहशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकवनस्थितिः, प्रश्नाधिकारो निरूपितः । वनस्यैवेप्सितत्वात् कर्मत्वम् । प्रकर्षस्तत्रैव देहत्यागविवक्षया । त्याज्यस्योत्कृष्टत्वमधिकारसूचकमिति तदाह—**स्वगृहमृद्धिमदिति** : अनन्याधीनत्वं सर्वसम्पत्तिश्च उमेगाभावाय । चित्तोद्वेगेन यत् क्रियते कर्त्तव्यत्वसहितेनाऽपि न तत्फलायेति ॥१॥

व्याख्या—जिस प्रकार तुमने पूर्व पक्ष सहित बहुत प्रश्न किये, वे सब आगे कहे जाएँगे, उसी तरह विदुरजी ने भी पूछा और उनका उत्तर मैत्रेयजी ने दिया हो यों नहीं कहा जा सकता है, कारण कि जो भी प्रश्न किये जाते हैं उन सब का उत्तर नहीं दिया जाता है केवल जितने उत्तर से उनका हित होता है उतना ही उत्तर दिया जाता है । यों कहने का भावार्थ है ।

श्रोता, कितनी भगवत्कथा सुनकर, फिर भी विशेष प्रश्न इसीलिये करते हैं कि वह सुनी हुई कथा हृदय में दृढ़ हो के स्थिर रहे, यों करने से श्रोता विदुरजी के कार्य की पूर्णतः सिद्धि हुई यों निरूपण किया जाता है यदि कार्य की सिद्धि नहीं हुई हो तो, गृह का त्याग शंका से हुआ है, यों कहना उचित नहीं है ।

शास्त्र में 'भगवान्' विशेषण दो स्थानों पर दिया जाता है १-जहाँ 'नित्य' भगवत्त्व रहता हो जैसे भगवान् हरि में नित्य हैं और दूसरा जहाँ (जिस व्यक्ति में) भगवान् की कृपा से भगवत्त्व यानि भगवान् गुण कार्य करने के लिये ही प्रकट हुए हैं—जैसे मैत्रेय नारदादि में भगवत्त्व कार्यार्थ ही है वह नित्य नहीं है, जिसमें इस प्रकार का भगवत्त्व, कार्यार्थ उत्पन्न होता है उसको उपदेश देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है जैसे यहाँ मैत्रेयजी को प्राप्त हुआ है, अतः मैत्रेयजी में गुरुत्व, ज्ञानित्व आदि धर्म सिद्ध हुए हैं, अतः मैत्रेयजी को प्रेम संचार करने की सामर्थ्य के लिये और सर्व संदेह निवृत्त करने की सामथ्य के लिये ही भगवत्व की प्राप्ति हुई है यह निरूपण किया जाता है, इनका नाम 'मैत्रेय इसलिये है कि यह मित्रा के पुत्र हैं, मित्रा माता के सम्बन्ध से इनमें जन्म से ही सर्वोपकार करने का गुण है यह सूचित किया है, मैत्रेयजी को भगवान् भी कहा है, इससे उनको सर्वोपकारी एवं मित्रा का पुत्र कहने में कोई दोष नहीं है श्लोक में 'किल' पद देकर यह सूचित किया है कि इनकी दोनों स्थानों पर अर्थात् '**भगवत्त्व में** और उनसे प्रश्न हुवे है' इनमें प्रसिद्धि है, यों न होवे तो अर्थात् मैत्रेयजी स्वयं (खुद) का उससे (विदुर से) संबंध व मिलाप नहीं हुआ हो तो उसको यों उत्तर दिये यह कहना ही अनुचित हो जाये ।

'क्षत्ता' उसे कहते हैं जो अन्तःपुर का अध्यक्ष हो एवं सर्व प्रकार जितेन्द्रिय हो, यदि जितेन्द्रिय न मिले तो नपुंसक को अध्यक्ष किया जाता है। इसलिये ही विदुरजी का जितेन्द्रियपन सिद्ध करने के लिये 'क्षत्ता' पद दिया है, 'वनं प्रविष्टेन' पद से यह सूचित किया है कि विदुरजी सर्वत्यागकर, वन में आकर रहे हैं अतः उनको इन गुणों से प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त हो गया है यह निरूपण किया है, 'वनं' यह द्वितीया विभक्ति कर्म में देने का भावार्थ यह है कि विदुरजी को वन में निवास इष्ट था, और 'प्रविष्ट' में प्र उपसर्ग से यह सूचित किया है कि विदुरजी को वन में रहकर वहाँ ही देह त्याग करने की इच्छा थी. 'त्याग' जिस पदार्थ का किया है वह साधारण नहीं किन्तु बहुत उत्कृष्ट (उत्तम) है जिससे विदुरजी अधिकारी हैं यह सूचित किया है, वह स्पष्ट करके बताते हैं कि 'स्वगृहमृद्धिमत्' अपना गृह था दूसरे का उसमें किसी प्रकार का अधिकार नहीं था और वह घर साधारण भी नहीं था, किन्तु सर्वप्रकार सम्पत्तिवाला था, जिससे उद्वेग (चिन्ता से चंचल मन) का अभाव था, यों कहने का आशय यह है कि विदुरजी ने गृहत्याग उद्वेग नहीं किया है, उद्वेग से जो त्याग किया जाता है, वह कर्त्तव्य (धम) के साथ किया गया हो तो भी उससे फल सिद्धि नहीं होती है ॥१॥

आभास—ननु ज्ञानमार्ग एव परित्यागोऽङ्गम्, गृहस्य तद्विरोधित्वात् भक्तिमार्गे तु गृहस्योत्कृष्टत्वकथनादुद्वेगादेव तस्य गमनमाशङ्क्य निवारयति,

आभासार्थ—गृहादिका त्याग ज्ञान मार्ग का अंग है अतः ज्ञान मार्ग में गृह त्याग करना चाहिये क्योंकि गृह ज्ञान का विरोधी है, भक्तिमार्ग में गृह को उत्कृष्ट (उत्तम) माना गया है क्योंकि गृह में भगवत्सेवादि कर्म हो सकता है, अतः समझा जाता है कि विदुरजी ने उद्वेग से ही गृह का त्याग किया है–जिस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक 'यद्वा अयं' में करते हैं।

श्लोक—**यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः ।**
पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥२॥

श्लोकार्थ—इस आपके दूत, अखिलेश्वर भगवान् ने, उत्तम पौरवेन्द्र के गृह (कौरवों के महल) का त्याग कर, विदुरजी के गृह को अपनाकर जिसमें प्रवेश किया, (ऐसे उत्कृष्ट गृह का विदुरजी ने त्याग किया है,) ॥२॥

सुबोधिनी—यद्वा अयमिति । यद् गृहं भगवता आत्मसात्कृतम् । भगवान् विदुरगृहं स्वगृहं लोकप्रतीत्या मन्यते । न केवलमभिमतिमात्रम्, किन्तु व्यवहारोऽपि तत्र भगवदीय एवेत्याह **प्रविवेशेति** । हेत्वन्तराणि निवारयति **पौरवेन्द्रगृहं हित्वेति** । दुःशासनगृहं भगवत्स्थित्यर्थमिन्द्रगृहादप्युत्तमं तैः प्रार्थ्यमानमपि हित्वा । उचितं च दुःशासनगृहे गन्तुं मन्त्रार्थमागतस्य । तत्रापि भक्तानां कार्यसाधकस्य, तत्रापि भगवतः सर्वोत्कृष्टपूर्णगुणवतः, उत्कृष्ट एव स्थाने स्थातुमुचितम् । किञ्च । अभक्तत्वदैत्यवादि धर्मा न शङ्कनीयाः, यतो**ऽयमखिलेश्वरः** सर्वस्यापि स्वामी सवनियन्ता अतो यथा भगवद्गृहे देवालयादौ स्थितिरुचिता, तथा तस्य स्वगृहेऽपि । तथापि गृहमिति त्यक्तव्यमेव । गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण, किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा; अन्यथा न स्थातव्यमिति स्थितिः ॥२॥

व्याख्या—जिस घर को भगवान् ने अपना बना दिया, भगवान् विदुरजी के घर को लोक की प्रतीति से अपना घर मानते हैं, यों केवल मान्यता है यों नहीं, किन्तु भगवान् का व्यवहार ही ऐसा था जैसा अपने घर के लिये किया जाता है, अपना साधारण घर हो तो भी दूसरे के उत्कृष्ट (उत्तम) घर में न रहकर अपने ही घर में निवास किया जाता है, भगवान् ने इसलिये ही विदुरजी के घर को अपना घर समझ पौरवेन्द्र (दुर्योधन) के प्रार्थना करने पर भी सर्व प्रकार से उत्कृष्ट गृह का, त्याग कर दिया हालांकि आप मन्त्रणा करने के लिये आये थे वहाँ रहना उचित था। भक्तों के कार्यसिद्धि करने आये थे और आप सबसे उत्कृष्ट गुणों से पूर्ण भगवान् हैं अतः उत्कृष्ट स्थान में रहना योग्य था, यों भी मत कहना कि वह दुःशासन अभक्त और दैत्य धर्मवाला था इसलिये उसके घर में न रहे, क्योंकि आप सबके ईश्वर हैं अर्थात् स्वामी हैं तथा सबके नियन्ता हैं, अतः उसके (दुःशासन के) गृह में रहना उचित था क्योंकि वह घर भी स्वामी और सर्व नियन्ता होने के सम्बन्ध से आपका अपना ही था, तो भी आप दुःशासन के घर में न रहकर, विदुरजी के घर में प्रविष्ट होकर उसको अपना घर बनाया, ऐसे गृह का त्याग विदुरजी को न करना चाहिये था, जैसे भगवान् के गृह देवालय में रहना उचित है वैसे ही अपने गृह में भी उनको रहना उचित था, यों होते हुए भी 'गृह' घर ही तो है उसका त्याग ही करना चाहिये, गृह में स्थिति की उत्कृष्टता (श्रेष्ठता) केवल भगवदीत्व के कारण नहीं है, किन्तु भगवान् के साथ रहने से है, अथवा भगवत् कार्य के लिये रहना चाहिये, यों न हो तो वहाँ नहीं रहना चाहिये यों स्थिति है ॥२॥

आभास—प्रश्ने कृते तूत्तरं देयम्, न त्वन्यस्यं वचनं तत्र वक्तव्यमित्याशङ्क्य तत्रत्यौ देशकालावुत्कृष्टौ भविष्यत इति तौ पृच्छति—

आभासार्थ—परीक्षित के प्रश्न का श्री शुकदेवजी को उत्तर देना चाहिये था, वह न देकर, दूसरों का वचन उस विषय में बताना उचित नहीं, ऐसी शङ्का होने पर, परीक्षित उस (शंका) का निराकरण यों समझकर कर लेते हैं कि उस संवाद के देश और काल उत्तम होंगे इसलिये शुकदेवजी ने विदुर-मैत्रेयी के संवाद को यहाँ लाए हैं, अतः परीक्षित उनके सम्बन्ध का प्रश्न करता है।

राजोवाच–श्लोक—**कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणाऽऽस संगमः ।**
कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ! ॥३॥

श्लोकार्थ—राजा कहने लगा कि, क्षत्ता का भगवान् मैत्रेय के साथ मिलाप कहाँ हुआ ? और संवाद कब हुआ ? हे प्रभु ! वह हमको बताइये ॥३॥

सुबोधिनी—कुत्रेति । अनुवादे पूर्वोक्तपदानां कीर्तनम् । तदुक्तार्थपरिज्ञानबोधकम् । प्रश्ने हि सङ्गमोऽपेक्ष्यते । महतां सङ्गमनिमित्तो देश उत्कृष्ट एव भवतीति **आस सङ्गम** इति । **समागम** इति पाठेऽपि अस्तीत्यादिप्रयोगः सिद्ध एव । **कदा वेति** कालस्यानादरणीयत्वम् । **सह संवाद** इति साक्षात् राज्ञा बहुपृष्टमिति प्रश्नक्रमेणैवोत्तरं वक्तव्यमित्याशङ्क्य:–**एतद्वर्णयेति** । **न** इत्यस्मभ्यमुपकारित्वात् **प्रभो** इति सामर्थ्यं पूर्वोत्तरमत्रैव सङ्क्रामयितुम् । अनेनैव वा तत्सन्देहनिवारणं कर्तुं सूचितम् ॥३॥

व्याख्या—फिर जब वही बात कही जाती है तब पहले कहे हुए पदों के दोहराने का आशय यह है कि, उसके अर्थ का पूर्णतया ज्ञान हो जावे। प्रश्न तब हो सकता है जब आपस में मिलें अतः प्रश्न के लिये मिलाप की अपेक्षा (जरूरत) रहती है। जहाँ महापुरुषों का संगम होता है, वह देश श्रेष्ठ ही होता है इसलिये पूछा है कि, कहाँ संगम हुआ ? 'आस संगमः' समागम पाठ में भी 'अस्ति' (है) इत्यादि प्रयोग सिद्ध ही है, अर्थात् वहाँ न दिया हो तो भी समझ लेना चाहिये कि 'अस्ति' आदि पद है, 'कदा वा' यों प्रश्न से समय का कोई आदर नहीं है अर्थात् वह समय, हमारे (शुक-परीक्षित के) संवाद के लिये नहीं है अतः हमको उपयोगी न होने से उसका हम आदर नहीं करते हैं, 'यह संवाद' पद से सूचित किया है कि राजा स्वयं ने (खुद ने) बहुत से प्रश्न किए हैं, इसलिये प्रश्नों के क्रमानुसार उत्तर देना चाहिये, यों शङ्का कर उसका निराकरण करते हैं कि, 'एतद्वर्णय' यह ही वर्णन करो अर्थात् विदुर-मैत्रेय के संवाद का ही वर्णन करो, क्योंकि वह ही हमारे लिये उपकार करनेवाला है हे प्रभो ! संबोधन से यह सूचित किया है कि आप सर्व समर्थ होने से यह जानते हैं, कि प्रश्नों का उत्तर इस संवाद श्रवण से ही प्राप्त हो जाएगा, इस संवाद से ही मेरे संदेह दूर हो जाएंगे यह मुझे निश्चय हो गया है ॥३॥

आभास—पूर्वापेक्षयाऽपि मुख्यतयैतच्छ्रवणे हेतुमाह–

आभासार्थ—मेरे प्रश्नों के उत्तर मिलें, उनकी अपेक्षा भी इस संवाद के श्रवण में मुख्य हेतु कहते हैं।

श्लोक—**न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्याऽमलात्मनः ।**
तस्मिन्वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ॥४॥

श्लोकार्थ—निर्मल अन्तःकरण वाले विदुरजी ने जो प्रश्न, उत्तम पुरुष (मैत्रेयजी) से किया है और जिसका अनुमोदन सज्जनों ने किया है, वह स्वल्प फल देने वाला नहीं हो सकता है ॥४॥

सुबोधिनी—न ह्यल्पार्थोदय इति। खण्डशः पदार्थश्रवणं खण्डमेव फलं जनयति। इदं तु खण्डमपि अखण्डमेव फलं जनयिष्यति; संबन्धि-वैशिष्ट्यात्; देशकालपात्रविशेषे जलादिदानवत्। तदाह–अल्पस्याऽर्थस्य उदयो यत्र। तादृशः स प्रश्नो न भवतीति हीत्यनेन तादृशस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति युक्तिरुक्ता। संबन्धिनो वैशिष्ट्यमाह-**विदुरस्याऽमलात्मन** इति। परमनीतिज्ञस्य निर्मलान्तःकरणस्येत्यर्थः। वयं त्वनीतिज्ञाः शापादिना च न शुद्धान्तःकरणाः। अतो यत् किञ्चित् पृच्छाम इति भावः। ततोऽपि तद्गुरुरुत्कृष्ट इत्याह-**वरीयसीति**। **साधुवादोपबृंहित** इति। अन्तरुत्साहो हेतुरुक्तः फलावश्यंभावाय। अत एव तेन उपबृंहितोऽधिकः पुष्टः कृत इति ॥४॥

व्याख्या—यह नियम है कि खण्ड-खण्ड (अलग २ टुकड़ों के) विषय श्रवण से फल भी खण्ड ही अर्थात् स्वल्प ही मिलता है, परन्तु यह तो जो खण्ड श्रवण हो तो भी अखण्ड (सम्पूर्ण) ही फल देगा, कारण कि इसके संबंधी प्रश्नकर्त्ता विदुरजी, उत्तर दाता मैत्रेयजी दोनों विशिष्ट पुरुष हैं,

उनकी विशिष्टता के कारण खण्ड भी अखण्ड फल देनेवाला बन जाता है, जैसे उत्तम देश में, उत्तम काल में और उत्तम पात्र में स्वल्प भी जलदान किया जावे तो वह उत्तम और सम्पूर्ण फल देता है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिससे खण्ड फल मिले, 'हि' पद से यह सूचित किया है कि स्वल्प कार्य को जो सिद्ध करे वह प्रश्न ही व्यर्थ है, इसकी पुष्टि में यही युक्ति दी है।

संबंधी की उत्तमता कहते हैं–'विदुरस्यामलात्मनः' प्रश्नकर्त्ता विदुरजी कैसे थे ? जिसके लिये 'अमलात्मनः' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि वह निर्मल (शुद्ध) अन्तःकरणवाले एवं परम नीतिज्ञ थे राजा परीक्षित इससे यह बताना चाहता है कि हम प्रश्नकर्त्ता तो नीति जानते नहीं और शापादि से हमारा अन्तःकरण भी अशुद्ध है, अतः जो कुछ समझ में आता है वैसे ही व्यर्थ प्रश्न भी कर लेते हैं, उस प्रश्नकर्त्ता से भी उसका गुरु जिससे प्रश्न किया है वह उत्तम है, इसलिये 'वरीयसि' पद दिया है जिसका भावार्थ है कि वे श्रेष्ठ व उत्तम थे, 'साधुवादोपबृंहितः' पद से यह बताया कि उनका अनुमोदन बड़ों ने किया है, यह मैत्रेयजी के भीतर के उत्साह में हेतु कहा इससे यह सूचित किया कि पूर्णफल अवश्यमेव होनेवाला है, इसलिये ही मैत्रेयजी ने इसको विशेष पुष्ट किया है ॥४॥

आभास––अत्र देशकालपरित्यागहेतवस्त्रयः पृष्टाः, तत्र प्राथमिकत्वात्परित्यागहेतुर्वक्तव्यः। स च साक्षाद्भगवत्कथारूपो न भवतीति शुकेनाऽवर्णनीयत्वमाशङ्क्य तादृशवर्णनायां हेतुमाह सूतः–

आभासार्थ—यहाँ देश, काल और त्याग के हेतु पूछे हैं इनमें त्याग के कारण की प्राथमिकता होने से वह कहना चाहिये वह कारण तो साक्षात् भगवत्कथा रूप नहीं है, इसलिये शुकदेवजी उसका वर्णन नहीं करेंगे, इस शङ्का को दूर करने के लिये सूतजी निम्न श्लोक 'स एवं' में उसके वर्णन करने का हेतु बताते हैं।

सूत उवाच–श्लोक––**स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता।**
प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥५॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहने लगे कि, राजापरीक्षित ने इस प्रकार प्रश्न किया, जिसका उत्तर बहुत जाननेवाले इस ऋषि श्रेष्ठ ने प्रसन्न अन्तःकरण से दिया कि सुनिये ॥५॥

सुबोधिनी—**स एवमिति।** ऋषयो हि मन्त्रद्रष्टारः। येन मन्त्रेण भगवदङ्गानां मध्ये उत्कृष्टेन शीघ्रमस्य हृदयं शुद्धं भविष्यतीति तदुपकारार्थं शुकप्रवृत्तिं बोधयति। **वर्यपदेन** स्वहानिर्निवारिता। **अयमिति** पुरःस्थितत्वेन तस्य भगवत्त्वं फलं जातमिति परोपकारनिरतत्वं सूचितम्। **राज्ञेति** लोके तत्प्रश्नोत्तरमावश्यकम्। **परीक्षितेति** तस्य बीजसंस्कारः सूचितः। अत इदं तदुपकारीति **प्रत्याह**। सर्वतत्त्वपरिज्ञापनार्थं **सुबहुविदिति**। मुख्यभगवत्त्वेनोपस्थितत्वात् **प्रीतात्मा**। अत्रापि शङ्कान्तरं न कर्तव्यमिति **श्रूयतामित्याह** ॥५॥

व्याख्या ऋषि वे होते हैं जिन्होंने मन्त्रों के दर्शन किये हैं, मन्त्र भगवान् के अंग हैं, भगवान् के अंगरूप मन्त्रों में जो उत्तम मन्त्र है जिससे परीक्षित का हृदय शीघ्र शुद्ध होगा, उसे शुकदेवजी जानते हैं इसलिये उसके (राजा के) उपकारार्थं शुक ने श्रवण कराने की प्रवृत्ति की, यों सूतजी जानते हैं, शुकदेवजी को केवल ऋषि न कहकर 'वर्य' विशेषण दिया जिससे यह बताया है कि श्रवण कराने से उनके तपोबल की हानि नहीं होगी, 'अयम्' पद से यह सूचित किया है कि शुकदेवजी को भगवत्त्व फल की प्राप्ति हो गई, अर्थात् शुकदेवजी ब्रह्म रूप (भगवद्रुप) हो गए हैं, इसलिये परोपकार करने में निरत रहते हैं, 'राज्ञा' प्रश्न करने वाला राजा है अतः इसके प्रश्नों का उत्तर देना उचित होने से आवश्यक है, 'परीक्षित' नाम से यह सूचित किया है कि वह शुद्ध है क्योंकि उसका गर्भ में संस्कार हुआ है। अतः यह संवाद इसका उपकार करनेवाला है इसलिये कहा कि, शुकदेवजी बहुत जानने वाले हैं, जिससे राजा को सर्व तत्वों का ज्ञान करा सकेंगे, 'प्रीतात्मा' पद से यह भाव प्रकट किया है कि शुकदेवजी अब गुणातीत होने से ब्रह्मरूप हो गये हैं, और इस भगवद्रूप से उपस्थित हुए हैं इसलिये जो कुछ कहा जाय उसमें शङ्का नहीं करें इसलिये कहा है कि 'श्रूयताम्' सुनिये, अर्थात् पूछिये नहीं ॥५॥

आभास—अस्य परित्यागो भगवन्निमित्त भगवतैव कृत इति निरूपयितुम्, भगवत्पक्षपातिनो भगवद्विमुखैः सह स्थितिरनुचितेति वक्तुम् कौरवाणां भगवद्विमुखत्वमाह चतुर्भिः।

आभासार्थ—विदुर ने भगवान् के लिये ही परित्याग किया अथवा भगवान् ने विदुर को परित्याग की प्रेरणा की जिससे विदुर ने त्याग किया, यों निरूपण करने के लिये श्री शुकदेवजी कहते हैं कि जो भगवान् के पक्षवाले हैं अर्थात् भक्त हैं, उनको भगवान् से जो विमुख हैं उनके साथ रहना उचित नहीं है, यों कहने के लिये चार श्लोकों से कौरवों की भगवद्विमुखता बताते हैं—

श्री शुक उवाच–श्लोक—**यदा तु राजा स्वसुतानसाधून्पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः।**
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान्विबन्धून्प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, जब, अपने दुष्ट पुत्रों को भी धृतराष्ट्र पालने लगा इस अधर्म से जिसकी अन्तर की दृष्टि भी नष्ट हो गई है जिससे छोटे भाई के बिना पिता के पुत्रों को लाक्षाभवन में प्रवेश कराके जलाया ॥६॥

कारिका—**विदुरस्य गृहत्यागे दशभिर्हेतुरूच्यते**
चतुर्भिरपराधोक्तिरेकेन हि समागमः।
त्रिभिर्मन्त्रोक्तिरपरे निषेधकनिवारणे ॥१॥

कारिकार्थ—विदुर के गृह त्याग में हेतु (कारण) दश श्लोकों से कहा जाता है उनमें से चार श्लोकों में धृतराष्ट्र के अपराधों को कहा है, एक श्लोक में धृतराष्ट्र से विदुरजी का मिलाप कहा है, तीन श्लोकों में विदुरजी ने धृतराष्ट्र को उपदेश दिया है शेष दो श्लोकों में उसको (विदुरजी को) बोलने से रोकना और निकाल देने का वर्णन है ॥१॥

सुबोधिनी—यदा त्विति। धर्मशास्त्रविरुद्धं लोकशास्त्रविरुद्धं नीतिविरुद्धमीश्वर वचनोल्लङ्घनमित्यपराधाः । यद्यपि धृतराष्ट्रेणैवं न कृतम, तथापि '**अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति**' इति न्यायादपराधित्वं भवति, प्रयोजकत्वात् । स एव कथ्यते । नैमित्तिकत्वाच्च निमित्तपरित्यागकथनं न दोषाय । अत्र मुख्यापराधो भगवद्वाक्योल्लङ्घनम्, तत्स्वभावतो जीवस्य न घटत इति दोषत्रयसंनिपातस्तद्धेतुत्वेन वक्तव्यः । न हि संनिपाताभावे कश्चिद्भगवद्वाक्यं न मन्यते । तत्र प्रथमं तामसं दोषमाह–**यदेति** । **राजे**त्यदीर्घदर्शित्वम् । **तु**शब्दो विदुरस्य पूर्वस्नेहव्यावृत्तिसूचकः । **स्वसुतानिति** औरसत्वादत्यागः । असाधुसंवर्द्धनं दोषायेति तदधर्मेण सुतरामन्तर्दृष्टिरपि गता तदाह–**विनष्टदृष्टिरिति** । **भ्रातुर्यविष्ठस्येति** संबन्धकृतधर्मोऽपि नास्तीति सूचितम् । **विबन्धूनिति** सर्वथा दयाभावः । कनिष्ठभ्रातुः पाण्डोः पुत्रान् पाण्डवान् राज्यस्पर्द्धादिशङ्कारहितान् स्ववशान् पितृहीनान् सर्वथा परिपालनीयान् लाक्षाभवने प्रवेश्य विश्वासघातं कृत्वा ददाहेत्यर्थः अनेनाऽस्य क्रिया संपूर्णेति पाण्डवानाममरणेऽपि वधदोषो जात एवेति भावः ।।६।।

व्याख्या—धृतराष्ट्र के १–धर्मशास्त्र विरुद्ध, २–लोकशास्त्र विरुद्ध ३–नीति विरुद्ध और ४–ईश्वर के वचनों का उल्लंघन ये मुख्य चार अपराध हैं, यद्यपि (हालांकि) ये अपराध, स्वयं धृतराष्ट्र ने नहीं किये हैं, तो भी अपराधी वही है, क्योंकि नीति शास्त्र कहता है कि कोई भी मनुष्य बुरा कर्म करे यदि उसको रोका, नहीं जावे तो, न रोकनेवाला भी दोषी है। अतः ऐसे कुकृत्य करनेवाले को सहायता देने से राजा भी दोषी है, गृह त्याग निमित्त से हुआ है, अतः निमित्त से गृह परित्याग कहने में कोई दोष नहीं है, इन ४ अपराधों में से मुख्य अपराध, भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन है, यह अपराध, जीव, स्वभाव से नहीं कर सकता है क्योंकि भगवदाज्ञा का उल्लंघन तब करता है जब उसको (जीव को) त्रिदोष का संन्निपात हो जाए, कारण कि सन्निपात ही इस प्रकार का कर्म कराता है, सन्निपात न होवे तो कोई भी भगवदाज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता है। अतः वे दोष बताते हैं जिनमें से पहले तामस दोष बताते हैं। 'राजा' पद से कहते हैं कि इसमें दीर्घ दृष्टि नहीं है, और 'तु' पद से यह सूचित किया है कि उसका (धृतराष्ट्र का) जो विदुर पर पहले प्रेम था वह अब नहीं रहा है। 'स्वसुतान्' पद से यह भाव प्रकट किया है कि ये सुत अपनी धर्मपत्नी से स्वयं ने उत्पन्न किये हैं अतः ये औरस (सगे) पुत्र हैं इसलिये इनका त्याग नहीं कर सकता है। दुष्टों का पोषण करना दोष (अधर्म) है, उस अधर्म से धृतराष्ट्र की अन्दर (ज्ञान) की दृष्टि भी नष्ट हो गई है। इसलिये छोटे भ्राता के पुत्रों की रक्षा आदि धर्म, जो धर्म सम्बन्ध कृत है वह भी इसमें न रहा है पितादि सम्बन्धियों से विहीनों की रक्षा नहीं करने से इसमें दया का अभाव प्रकट हो रहा है, फिर वे भतीजे कैसे जिनसे राज्यस्पर्द्धा आदि का लेशमात्र भी भय नहीं, अपने आधीन, पितृहीन अतः सर्वथा पालन के योग्य उनको लाक्षाभवन में प्रवेश कराके जलाया, यह कृत्य विश्वासघात का है, इससे इसका सम्पूर्ण कार्य अधार्मिक होने से अपराध ही है, हालांकि पांडव (जलने से बच गये) मरे नहीं तो भी मारने का दोष इसको लग ही गया है, यों भाव है ।।६।।

आभास—राजसं दोषमाह,

आभासार्थ – 'यदा सभायां' श्लोक में धृतराष्ट्र के राजस् दोष को कहते हैं।

श्लोक—यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः केशावमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः स्वास्त्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—जब राजा धृतराष्ट्र ने, अपने आंसुओं से कुचकुङ्कुम को धोती हुई पुत्र वधु कुरुदेव की रानी के केशों को खेंचने के निन्द्य कर्म करने से अपने पुत्र को रोका नहीं ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—**यदेति** । भगवता संरक्षितानां तेषां राजसूयेन राजत्वयुक्तानां राज्याकाङ्क्षां परित्यज्य तूष्णीं स्थितानां बलादपराधकरणं सर्वनाशकम् । युधिष्ठिरस्य कुरुदेवत्वात् राजपत्नी-केशाकर्षणं सर्वनाशायेति जानन्नपि न वारयामास । **सभायामिति** परलोकनाशोऽपि सूचितः । **'सभां वा न प्रवेष्टव्यम्'** इति स्मृतेः । **अवमर्श** आकर्षणम् । उत्पादकस्य परिपालनमावश्यकमिति सुतपदम् ; परलोकसाधकत्वाभावात् न पुत्रपदम् । **कर्मेति** । दुरदृष्टजनकम् । **गर्ह्यमिति** लोकेऽपि निन्दाजनकम् । "**ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः । स्रवते ब्रह्म तस्याऽपि भिन्नभाण्डात्पयो यथा**" इति । सम्बन्धरहितानां ब्राह्मणानामप्येतदुचितम् । तदपि न कृतवानित्याह-न वारयामासेति । अनेन क्षत्रत्वं तस्य गतमिति सूचितम् । नृप इति सामर्थ्यम् । स्नुषाया इत्यतिलोकविरोधः । **अस्त्रैः कुचकुङ्कुमानि हरन्त्या इति** दयाहेतुत्वममङ्गलत्वं च सूचितम् । **स्व**शब्देनास्त्राणामलौकिकसामर्थ्यं सूचितम् । **कुचकुङ्कुमानीत्युपरि** वस्त्राभावः । कुङ्कुमानामपि गमनेऽतिलज्जा । इतररागाभावार्थं तथा करणम् । एवं प्रत्यक्षतोऽपि क्रौर्यं निरूपितम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—भगवान् जिनकी पूरी तरह से रक्षा कर रहे हैं, जिन्होंने राजसूय यज्ञ कर राजापन को भी प्राप्त कर लिया है, तो भी राज्य की आकांक्षा का परित्याग कर जो मौन धारण कर रहे हैं, ऐसों का बलपूर्वक अपराध करने से सर्वनाश होता है, राजा धृतराष्ट्र जानता था कि युधिष्ठिर अब कुरुदेव है अतः उसकी पत्नी राजपत्नी (रानी) हुई है उसके केशों के खींचने से सर्वनाश होगा फिर भी पुत्र को रोका नहीं । रानो के केशों को खींचने का निन्द्य कर्म 'सभा' में हो रहा था जिसको राजा होते हुए भी धतराष्ट्र ने रोका नहीं, जिससे परलोक के नाश की भी सूचना हुई है, क्योंकि स्मृति-शास्त्र में कहा है कि 'सभां न प्रवेष्टव्यं' जहां अधर्म होता हो ऐसा सभी में प्रवेश ही न करना चाहिये जो प्रविष्ट हो तो जो अधर्म को रोके नहीं तो पापी होता है, यह तो साधारण व्यक्ति के लिए हैं किन्तु धृतराष्ट्र राजगद्दी पर बैठकर अधर्म को न रोके तो उसका परलोक तो अवश्य नष्ट ही होगा । 'अवमर्श' पद का तात्पर्य है 'खींचना' 'सुत' पद से यह सूचित किया है कि, पैदा करनेवाले (पिता) को उत्पादित (सुत) का पालन आवश्यक है, 'पुत्र' पद न देकर 'सुत' पद क्यों दिया ? जिसका भावार्थ बताते है कि 'पुत्र' उसको कहा जाता है जो पिता का परलोक सुधारे अर्थात् ऐसे सत्कर्मादि करे जिनसे पिता नरकादि में न जाकर परम पद को प्राप्त हो ऐसी योग्यता दुर्योधन में न होने से उसको 'सुत' कहा है, 'सुत का कर्म' इस कर्म पद से यह बताया है, कि यह निंद्य कर्म, खराब प्रारब्ध बताने वाला है, 'गर्ह्यम्' पद से यह सूचित किया है कि, यह कुकर्म, लोक में भी,

निन्दा जनक है, 'ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः । स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा' ब्राह्मण समदृष्टि वाला और शान्तचित्त हो किन्तु यदि वह दीनों पर दया न करे एवं उनकी उपेक्षा करे तो उस ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व ऐसे बह जाता है जैसे टूटे हुए घड़े से पानी निकल जाता है । अतः सम्बन्ध रहित ब्राह्मणों को इस निन्द्य कर्म को रोकना उचित था अर्थात् धृतराष्ट्र को इस कर्म को ब्राह्मणों द्वारा रुकवाना चाहिये था, यों भी नहीं किया, इससे यह सूचित किया कि उसका क्षत्रियत्व नष्ट हो गया, 'नृप' पद से जताया है कि इसमें यों करने की सामर्थ्य थी, 'स्नुषायाः' पद से यह सूचित किया है कि यह कर्म लोक से भी बिल्कुल विरुद्ध है, 'आँसुओं से स्तनों के कुंकुम को धोती हुई' इस पद से दो भाव प्रकट किये है (१) आँसुओं को देख दया आनी चाहिये, आँसू बहना दया का हेतु है, (२) अमङ्गल का चिन्ह है, 'स्म' पद कहकर यह सूचना दी है कि 'आँसूओं में दया उत्पन्न करने की अलौकिक सामर्थ्य है, तो भी इसको (धृतराष्ट्र को) दया न आई, 'कुचकुङ्कुम पद से यह बताया कि उस समय रानी की छाती वस्त्र रहित थी फिर आँसुओं से कुङ्कुम बह जाने से तो छाती स्पष्ट नग्न दीखने में आने लगी, जिससे रानी अति लज्जा वाली हो गई थी, धृतराष्ट्र का पुत्र में ही प्रेम था जिससे दूसरे के दुःख को न देख यों करने दिया, इस तरह प्रत्यक्ष में भी राजा की अति क्रूरता निरूपण की है ।। ७ ।।

आभास—सात्त्विकं दोषमाह,

आभासार्थ— 'द्यूते त्वधर्मेण' श्लोक में धृतराष्ट्र का सात्विक दोष बताते हैं ।

श्लोक—**द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः सत्यावलम्बस्य वनागतस्य ।**
न याचतोऽदात्समयेन दायं तमो जुषाणो यदजातशत्रोः ।।८।।

श्लोकार्थ—द्यूत में (जुआ खेलने में) अधर्म से, साधु, सत्यनिष्ठ अजातशत्रु को जीतकर वन भेजा गया, वह जब वन से लौट कर अपना राज्य दिये हुए वचन के अनुसार मांगने लगा, तब सुत के मोह के अधीन हो राज्य नहीं लौटाया ।। ८ ।।

सुबोधिनी—द्यूते त्विति । तुशब्देन अस्मिन् कृते पूर्वं कृता अपराधा अपि अकृता भवन्तीति सूचितम् । पूर्वं तेषां राज्यापहरणं केवलमधर्मेणैव तदपि सोढ्वा महद्दुःखमनुभूय स्वकीयं **दायं** शास्त्रतो लोकतश्चाविरुद्धं **समयेन** मर्यादया **याचतो** याचयतः । याचमानाय वा, पदव्यत्ययश्छान्दसः । अदाने हेतुस्**तमो जुषाण** इति मोहं जुषाणः । **अजातशत्रोरिति** विपरीतशङ्काभावः । स्वकृतनियमोल्लङ्घनान्मोहः ।।८।।

व्याख्या—'तु' शब्द से यह बताया है कि अब, राज्य लौटाकर न देने का अपराध किया, उससे आगे के अपराध मानो किये ही नहीं थे, अर्थात् इस अपराध की महत्ता में वे कुछ नहीं हैं,

इनका राज्य लेना केवल अधर्म से ही था, किन्तु वह भी सहन कर बनवास के महद्दुःख को भोगकर जब लौट आये तब अपना भाग जो शास्त्र और लोक के अनुसार योग्य थ। और जैसा वचन उस समय दिया था तदनुसार मांगने लगे, 'याचमानाय' के स्थान पर 'याचतः' पद दिया है, यह वैदिक प्रयोग समझना चाहिये, क्यों न दिया ? जिसका कारण बताते हैं कि 'तमो जुषाणः' मोहाधीन हो गया था, क्यों मोहाधीन हुआ जिसके उत्तर में कहते हैं, कि अपने किये हुए करार के उल्लंघन करने से धृतराष्ट्र को मोह हुआ, युधिष्ठिर को अजातशत्रु कहकर यह सूचना दी कि युधिष्ठिर के संबंध में विपरीत शङ्का का सर्वथा अभाव ही है ॥८॥

आभास—एवं त्रिदोषव्याप्तो भगवद्वाक्यं नाङ्गीकृतवानित्याह,

आभासार्थ इस त्रिदोष ग्रस्त धृतराष्ट्र ने भगवान् के वचन को माना नहीं। जिसका वर्णन 'यदा च पार्थप्रहितः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**यदा च पार्थप्रहितः सभायां जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः ।**
न तानि पुंसाममृतायनानि राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः ॥९॥

श्लोकार्थ—जब युधिष्ठिर भेजे हुए जगद्गुरु श्रीकृष्ण के सभा में कहे हुए वे वचन जिनको प्रत्येक अमृतमय जानता है, उन वचनों को धृतराष्ट्र ने माना नहीं, क्योंकि उसके सब पुण्य नष्ट हो गये थे ॥९॥

सुबोधिनी—**यदा च पार्थेति**। पृथासम्बन्धात्प्रेषणं नात्यन्तानुचितम्। स्वतो न दत्तवानेव। यदा च न दत्तवान् तदा **पार्थेन** युधिष्ठिरेण **प्रहितः** प्रेषितः (सः) **भगवान् यानि जगाद तानि नोरु मेन इति** सम्बन्धः। **सभायामित्युक्ते** र्लोकप्रतीत्याऽपि नाऽन्यथाकथनम्। **जगद्गुरुरिति** सर्वेषां हितोपदेशकर्तृत्वात् परमार्थतोऽपि नान्यथाकरणम्। **यानि जगादेति**। सन्ध्यनुगुणतया अविरोधवाक्यानि जगद्गुरुत्वप्रतिपादनार्थं धर्मान्तरेणान्यथावचनव्यावृत्त्यर्थम्। सर्वेषामेव तानि वाक्यानि सर्वदुःखनिवर्त्तकानीत्याह-**अमृतायनानीति**। अमृतस्य अयनानि स्थानभूतानि अमृतकुण्डिका इत्यर्थः। यथा क्षीरसागरं मथित्वाऽमृतकलशमुद्धृतवानेवं सर्वशास्त्राणि मथित्वा तानि वाक्यान्युद्धृत्य व्याहृतवानित्यर्थः। राजत्वादज्ञानपोषः। पूर्वं जीवनसुकृतम्, राज्यभोगसुकृतम्, जीवत्पुत्रसुकृतं चेति लेशत्रयं स्थितम्। तन्मध्ये क्षताः पुण्यलेशा यस्य स तथोक्तः। उरुसंमाननायां न कश्चनापकारो भवेदिति भावः। जीवनं विद्यमानमपि गतप्रायं सूचितम्, पुण्यांशस्य गतत्वात्। केवलं पापांशेन जीवतीति भावः ॥९॥

व्याख्या—पृथा के सम्बन्ध से युधिष्ठिर ने श्री कृष्ण को धृतराष्ट्र के पास भेजा यह कार्य अत्यन्त अनुचित तो नहीं है, उसने (धृतराष्ट्र ने) स्वयं तो समय पर दिये हुए बचन के अनुसार राज्य नहीं लौटाया, तब युधिष्ठिर ने भले के लिये उस (धृतराष्ट्र) को समझाने के लिये भेजा, उस

भगवान् कृष्ण ने जो कुछ कहा उस राजा धृतराष्ट्र ने अच्छा नहीं समझा अर्थात् माना नहीं, 'सभायाँ' पद देकर यह बताया है कि भगवान् ने जो वचन कहे वे लोक प्रतीति से भी उचित थे, अर्थात् सभासदों ने भी उन वचनों को हितकारी समझा, 'जगद्गुरु' पद देने का आशय है कि आप जगत् के अन्धकार के नाशकर्ता होने से सबको हितकारी उपदेश ही देते हैं, परमार्थ से भी आप कभी भी अहित नहीं करते हैं, यानि जगाद' जो वचन कहे वे सब सन्धि के अनुरूप ही थे, उसके (सन्धि के) विरुद्ध नहीं थे, ऐसे वचन अपना जगद्गुरुत्व सिद्ध करने के लिए ही कहे हैं, आप युधिष्ठिर के भेजे हुए हैं इसलिये अन्यथा वचन (धृतराष्ट्र के अहित में) भी न कहे इसको अपने कहे हुए वचनों से सिद्ध किया है, ये वचन सबके दुःखों को मिटाने वाले हैं यों सिद्ध करने के लिये 'अमृतायनानि' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है अमृत के स्थान हैं अर्थात् उन वचनों में अमृत भरा पड़ा है जैसे क्षीर सागर के मन्थन से अमृत निकला है वैसे आपने शास्त्ररूपी क्षीरसागरका मन्थन कर ये अमृत वाक्य निकालकर बाँटे हैं, राजा होने से अज्ञान से पुष्ट था, जिससे पहले जो, जीने का पुण्य, राज्य भोग का पुण्य, और पुत्र जीते रहे वे पुण्य थे, किन्तु पहले किये तीन दोषों से उनके पुण्य प्रायः नष्ट हो गये, राजा धृतराष्ट्र यदि भगवान् के वचनों का आदर करता तो उसका किसी प्रकार अपकार (हानि) न होता था, यद्यपि जीते हैं किन्तु वह जीना मरने के समान है कारण पुण्यांश नष्ट हो गया है । अतः अब केवल पापाँश से जीते हैं ॥९॥

आभास—एवं पुत्रस्नेहेन भगवद्वाक्योल्लङ्घने कृते, तत्प्रभृति स्वतस्तद्गृहे अगच्छन्नपि यदा उपहूत आकारितस्तदा भवनं प्रविष्ट इत्याह—

आभासार्थ—धृतराष्ट्र ने जब से पुत्र स्नेह के कारण भगवान् के वाक्यों का उल्लङ्घन किया तब से विदुरजी ने स्वतः उसके घर जाना छोड़ दिया था जब राजा ने बुलाया तब गए--जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाऽऽह तं मन्त्रजुषां वरीयान् यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥१०॥

श्लोकार्थ—जब बड़े भाई ने बुलाया तब विदुर उसके घर गया, वहां उससे (विदुर से) सलाह ली गई, मन्त्र को जानने वालों में श्रेष्ठ, जिसको मन्त्रीगण 'वैदुरिक' कहता है, उस विदुर ने बड़े भाई को सलाह दी ॥१०॥

सुबोधिनी—यदेति । तदनन्तरं मन्त्रार्थं पृष्टः **किलेति** वचनं स्वस्य तथाऽनुसन्धाने व्यर्थगूढार्थभावकत्वात् अनात्मवित्त्वं स्यादिति तन्निराकरणार्थमुक्तम् । **पूर्वजेनेति** कथनावश्यकत्वम् । तथा भिन्नक्रमेणोक्तवानित्याह **अथाहेति** । सम्बन्धादिकमनपेक्ष्य भयादिकमप्यनपेक्ष्य **अथ** स्वतन्त्रतया आह । तस्य मन्त्रस्य प्रसिद्धिमाह—**तमिति** । तादृशकथने हेतुः—**मन्त्रदृशां वरीयानिति** । यथा वेदे **'स एतं मन्त्रमपश्यत्'** इति बृहस्पतिप्रभृतयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति, तथा नीतिशास्त्रेऽपि ये मन्त्रद्रष्टार तेषां मध्ये वरीयान् । किञ्च । अस्य मन्त्रस्य सर्वलोकप्रसिद्धिरस्तीत्याह-**यन्मन्त्रिण** इति विदुरेण प्रोक्तं **वैदुरिकमिति** । तेन प्राक्तमित्यधिकारसिद्धत्वात् सर्वजनीनप्रसिद्धिः ॥१०॥

व्याख्या—विदुर जी के आ जाने के अनन्तर धृतराष्ट्र ने विदुरजी से सलाह पूछी, शुकदेवजी को मन्त्रणा का अनुसन्धान रहे तो वे, व्यर्थ गूढ़ अर्थ का चिन्तन कर्त्ता होने से, यों जानने में आ जाये कि ये आत्मा को नहीं जानते हैं, इस प्रकार की शंका के निराकरणार्थ 'किल' पद दिया है।

मन्त्र (सलाह) पूछने वाले बड़े भाई हैं अतः सलाह देनी आवश्यक है, यों विदुर ने समझा, अतः भिन्न प्रकार से कहने लगे कि 'अथाह' 'अथ' पद का भावार्थ है कि विदुरजी ने मन्त्र देने के वक्त सम्बन्ध आदि की परवाह नहीं की, किसी प्रकार का भय भी मन में न लाए, निडर हो स्वतन्त्रता पूर्वक कहने लगे। उस मन्त्र की प्रसिद्धि को 'तं' पद से कही है, ऐसा कहने में हेतु कहते हैं 'मन्त्रजुषां (दृशां) 'वरीयान्' विदुरजी मन्त्र कहने वालों में (राजनीति जाननेवालों में) उत्तम हैं जैसे वेद में 'स एतं मन्त्रमपश्यत्' उसने इस मन्त्र को देखा, अतः वृहस्पति आदि मन्त्र दृष्टा हैं, वैसे ही नीति शास्त्र में भी जो मन्त्रदृष्टा हैं उनमें ये (विदुर) उत्तम हैं, और विशेष इस मन्त्र की सर्व लोक में प्रसिद्धि है, इसलिये कहा है, 'यन्मन्त्रिणः' जिसको मन्त्री वैदुरिक अर्थात् विदुर का कहा हुआ मन्त्र वैदुरिक है, इससे विदुरजी का मन्त्र कहने में अधिकार सिद्ध है जिससे इसकी सर्वत्र जगत् में प्रसिद्धि है ॥ १० ॥

आभास—मन्त्रमेवाऽऽह—

आभासार्थ—इस 'अजातशत्रोः' श्लोक से 'मन्त्र' (सलाह) कहते हैं।

श्लोक—अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं तितिक्षतो दुर्विषहं तवाऽऽगः ।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः श्वसन्रूषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—तेरे असह्य अपराध को सहन करने वाले, अजातशत्रु को उसका भाग (राज्य) दे दे, उसके पास उसके छोटे भ्राताओं में क्रोध से सर्प की तरह फुत्कार करने वाला वृकोदर सर्प है, जिससे तुम बहुत डरते हो ॥ ११ ॥

सुबोधिनी— अजातशत्रोरिति । इति उपायचतुष्टयमध्ये दानमेव मन्त्रः । **दायमिति** न हीनता **अजातशत्रोरिति** विपरीतशङ्काभावः । तस्याजातशत्रुत्वं न केवलं नामतः, किन्तु कार्यतोऽपीत्याह अन्यैर्दुर्विषहमपराधं सहत इति । अजातशत्रुत्वादेवाऽदानमस्त्वित्याशङ्क्य भीममुपस्थापयति । **सहानुज** इति अनुजैः सह वर्तत इति । सादेशा भ वः । अर्जुनादीनामपि क्रूरत्वं सूचितम् । **यत्र** यस्य राज्ञो निकटे **रुषा श्वसन्** वृकोदरनामा अहिरस्ति । न हि सर्पवैरं कार्यमकृत्वा निवर्त्तते । तस्मात्तत्सन्तोषार्थं दायं देयमित्यर्थः । ननु ते चत्वारः किं करिष्यन्ति, मम तादृशाः शतं पुत्राः सन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—**यत्त्वमलं विभेषीति** । यस्मात् भीमादेकस्मादपि त्वमलं बिभेषि । आकाशवाणीश्रवणादेक एव भीमः सर्वान्मारयिष्यतीति शतमप्यप्रयोजकम् । विपरीतशङ्काऽपि निवारिता । आस्त इत्यर्थात् । अनेन भेदो दण्डश्च निवारितः । दायत्वाच्च अदाने न साम ॥ ११ ॥

व्याख्या—नीति शास्त्र में जो शत्रु को वश करने के चार (साम, दान, भेद और दंड) उपाय कहे हैं उनमें से दान (राज्य देना) ही मेरा मन्त्र (सलाह) है, राज्य भाग देने से आपकी हीनता न

होगी, 'युधिष्ठिर' अजातशत्रु है उसका अजातशत्रुपन नाम मात्र नहीं है, किन्तु कार्य से भी उसने अपना अजातशत्रुपन सिद्ध कर दिखाया है, जैसे कि तुमने जो उसको दुःख दिये वे असह्य थे इसके स्थान पर दूसरा कोई होता तो सहन नहीं करता किन्तु इसने शान्तिपूर्वक सहन किये हैं, यदि कहो कि, यों है तो राज्य भाग न दिया जावे तो वह भी सहन कर लेगा, फिर मैं पुत्र को नाराज कर इसको राज्य क्यों दूं ? जिस पर कहते हैं कि 'सहानुजः' यह अकेला नहीं है, इसके साथ अन्य भ्राता भी हैं, और वे इसके समान शान्त नहीं हैं, उनमें क्रूरता है, अर्जुनादि भी क्रूर हैं किन्तु उनमें से क्रोध मे सर्पसम फुत्कार करने वाला वृकोदर (भीमसेन) नामवाला भाई तो सर्प है, सर्प अपने वैर का बदला लिए बिना शान्त नहीं होता है, इसके कारण उनके सन्तोषार्थ भाग देना चाहिये, यदि कहो कि वे चार हैं, मेरे वैसे बली सौ बेटे हैं उनको ये चार क्या कर सकेंगे ? चार की बात तो छोड़ दीजिये तुम तो एक भीम से ही डर रहे हो क्योंकि आकाशवाणी श्रवण से आपको मालुम है कि एक भीम ही सबको मारेगा, इसलिये सौ की संख्या किसी अर्थ (मतलब) की नहीं है, यों कहने से यह भी बता दिया कि कौरव पाण्डवों को मार नहीं सकेंगे, अतः 'भेद' और 'दण्ड' भी व्यर्थ हैं उनका 'भाग' है अतः 'साम' भी न होगा ॥११॥

आभास—सहायाभावमाशङ्क्य एकसहायेनैव त्रैलोक्यजयसामर्थ्यं भवतीति तं विशिनष्टि—

आभासार्थ—वे चार ही हैं, उनकी सहायता करनेवाला कोई राजादि नहीं है, इस शंका पर कहते हैं कि ये पाण्डव, एक की सहायता से ही तीन लोक को जीतने की सामर्थ्यवाले हैं, इस एक का 'पार्थांस्तु' श्लोक में स्पष्टीकरण करते हैं ।

श्लोक—**पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो गृहीतवान् स क्षितिदेवदेवः ।**
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥१२॥

श्लोकार्थ—पाण्डवों को तो, भगवान् मुकुन्ददेव ने अपना कर लिया, वे भगवान् भू-देवों (ब्राह्मणों) के देव हैं, यादवों के देव हैं और सब राजाओं के भी देव हैं क्योंकि उन सबको जीत लिया है, वैसे प्रभु अपने भक्तों की पुरी में ही रहते हैं ॥१२॥

सुबोधिनी - **पार्थांस्तु देव** इति । सहायार्थं प्रार्थनापि नापेक्ष्यते । तु पुनः स्वयमेव गृहीतवान् । **पार्थानिति** सम्बन्धेन बहुवचनन च सर्वथा तदुद्योगो लक्ष्यते । न हि बहून् स्वकीयान् गृहीत्वा कश्चित्तूष्णीं तिष्ठति । देवत्वान्न मानुषैर्जेतुं शक्यः । अत एव दुर्योधनस्य दैत्यत्वान्मारणमपि गम्यते । देवदैत्यानामजेयत्वाय **भगवानिति** । अनेन प्रारब्धकर्मापि चोद्विपरीतं भवेत्, तदप्यन्यथा कुर्यादिति सूचितम् । कालजयाय **मुकुन्द** इति । अन्येषामपि दुःखं दूरीकृत्य मोक्षदातु कालजयः किं वक्तव्य इत्यर्थः । अनेन राज्यदानं चावश्यकमिति ज्ञापितम् । किञ्च । **स भगवान् क्षितिदेवदेव** इति । क्षितिदेवा ब्राह्मणास्तेषामपि देवस्तद्धितकर्तृत्वात् । अतो यत्र भगवांस्तत्रैव ब्राह्मणा इति अपि न सहायाः । किञ्च । **आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेव** इति यो भगवान् स्मृतो ध्यातो वा सर्वमनिष्टं निवार्य राज्यादिकं प्रयच्छति । तत्र साक्षादेव भक्तानां हितार्थे भक्तपुर्यामास्ते । किञ्च

यदुदेवा यादवा यदोर्वंशे उत्पन्ना देवा इति तेषामपि देव इति यत्र भगवांस्तत्रैव यादवा इति। तव बन्धुसहायोऽपि नास्तीत्युक्तम्। किञ्च। **विनिर्जिताशेषनृदेवदेव** इति। नृदवा राजानस्ते सर्वे विशेषेण निर्जिता येन। तमपि विजिगीषत इति जरानन्धादिजेतृत्वेन सर्वे राजानस्तद्वश्याः। अतस्तव राजसहायोऽपि नास्तीत्युक्तम्। नृदेवदवा जरासन्धादयस्ते वा निर्जिता येन। अतो निर्बलस्य तव जये कः प्रयास इति भावः ॥१२॥

व्याख्या—पांडवों को अपनी सहायता के लिये प्रार्थना करने की भी आवश्यकता नहीं है, कारण कि इनको भगवान् ने स्वतः अपना लिया है, 'पार्थान्' पद से एक सम्बन्ध बताया है जिससे और बहुवचन से यह सूचित किया है कि इनकी रक्षा आदि कार्य के लिये स्वयं भगवान् उद्यमशील हैं, कारण कि बहुतों को अपना लेने के बाद कोई चुप चाप नहीं बैठता है, आप देव हैं अतः इनको मनुष्यादि कोई भी जीत नहीं सकता है, इस कारण से यों भी समझा जाता है कि दुर्योधन दैत्य है उसको मारेंगे ही, 'भगवान्' पद से यह बताया है देव अथवा दैत्य कोई भी इनको जीतने में समर्थ नहीं है, इससे (भगवान् पद से) यह भी बताया है कि यदि पाण्डवों का प्रारब्ध जीतने के विपरीत हो अर्थात् हार जाने का हो तो उसको भी पलट सकते हैं, 'मुकुन्द' नाम से बताया है कि काल पर विजय करना इनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है, क्योंकि जो दूसरों के भी दुःख दूर कर, उनको मोक्ष दे देते हैं, उनके लिये काल पर विजय क्या वस्तु है? कुछ नहीं, इससे धृतराष्ट्र को सूचित किया कि पाण्डवों को राज्य देना आवश्यक है। वे भगवान्, साधारण अनित्य नहीं हैं किन्तु जिसमें नित्य भगवत्व रहता है वे हैं अतः कहा है 'क्षितिदेवदेवः' पृथ्वी के देव अर्थात् ब्राह्मण उनके भी देव हैं क्योंकि उनका हित करने वाले हैं, अतः जिस पक्ष में भगवान् हैं उसमें ही ब्राह्मण रहेंगे अतः तुमको ब्राह्मण भी सहायता नहीं करेंगे, वे भगवान् यादवों के देव अपनी पुरी में (भक्तों के पास) ही रहते हैं, अतः उनके ध्यान व स्मरण आदि की भी पाँडवों को आवश्यकना नहीं है, यह आवश्यकता अन्यों के लिये है, अन्य, जब भगवान् का ध्यान करें एवं स्मरण करें तब उनका सर्व अनिष्ट दूर कर उनको राज्यादि देते हैं, किन्तु पुरी में तो भक्तों का स्वतः स्वयं हित करने के लिये रहे हैं, यदु के वंश में उत्पन्न देव यादव हैं उनके भी आप देव हैं इसलिये जिस पक्ष में भगवान् हैं उस पक्ष में यादव भी जायगे, इससे तुमको बन्धन भी सहायता नहीं करेंगे, एवं अन्य राजा लोग भी सहायता नहीं करेंगे, क्योंकि सब राजाओं को कृष्ण ने जीत लिया है, अतः जरासन्ध आदि को जीतने से सब राजा उनके (भगवान् के) आधीन हो गए हैं, इस कारण से तुम राजा लोगों के सहायता की आशा भी न करो। बड़े-२ जरासन्ध आदि जिसने जीत लिये हैं ऐसे बलवान् का पक्ष त्याग कर निर्बल की जय कराने में कौन प्रयास करेगा? अथवा जिस प्रभु ने जरासन्धादि महान् शूरवीरों को जीत लिया है उनको तुझे जीतने में कौन सा प्रयाम करना पड़ेगा ॥१२॥

आभास—दुर्योधनो न मन्यत इति चेत्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यदि कहो हम क्या करें? दुर्योधन नहीं मानता है, इस पर 'स एष' ये दो श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या।**
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्रीस्त्यजाश्वशु चैनं कुलकौशलाय ॥१३॥

इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥१४॥

श्लोकार्थ—तुम्हारे घरों में प्रविष्ट पुरुष का द्वेषी जो दोष है वह यह है कि तुम श्रीकृष्ण से विमुख हुए हो, जिससे तुम्हारी 'श्री' भी जाने वाली ही है, ऐसे तुम उसको अपत्य (आपत्ति में रक्षा) समझ पोष (पालन कर) रहे हो, ऐसे दोषरूप को तो कुल के कल्याण के लिये त्याग दे ॥१३॥

जब विदुरजी ने यों कहा तब जिसके शील की सब सत्पुरुष इच्छा करते हैं ऐसे क्षत्ता (विदुरजी) का सुयोधन ने जिसके होठ क्रोध के कारण कांप रहे हैं विदुरजी का कर्ण, दुःशासन और शकुनि से मिलकर अपमान किया ॥१४॥

सुबोधिनी—स एष दोष इति । **स प्रसिद्धस्त्रि**दोषोऽयमेव । **दोष** इति वचनात् तदनङ्गीकारो न बाधकः । दोषः सर्वैरूपायैस्त्याज्यो न तु दोषानुरोधेन औषधं त्याज्यमिति भावः । तस्य दोषत्वे हेतुमाह—**पुरुषद्विडिति** । यः पुरुषं द्वेष्टि स दोषः । अन्हथा तस्यैव शरीरे तन्नियम्ये स्वयं स्थितः कथं तं द्वेष्टि । यस्य राज्ये ग्रामेऽपि स्थितस्तं न द्वेष्टि, तत्र तच्छरीरे विद्यमानो रोगमृते कथं द्विष्यात् अतः पुरुषद्वेषद्दोष इत्यवसीयते । तत्त्याग उपपत्तिरूपो निदानमित्यर्थः । **आस्त** इति शीघ्रं तस्य प्रतीकारः कर्त्तव्यः । सम्प्रतं स्वकार्यमकृत्वैव दूष्णीं तिष्ठति । उपेक्षितस्तु कुलमेव नाशयिष्यतीति भावः । क्वाऽस्तीत्याकाङ्क्षायामाह-सर्वत्रैव तव—**गृहान् प्रविष्ट** आस्ते । ममत्त्वात्सर्वगृहप्रवेशने निवारणाशक्तिः । अयमिति दूरे स्थितमङ्गुल्या निर्दिशति । तथाप्यन्धत्वात्तं न द्रक्ष्यतीति प्रकारान्तरेण बोधयति यम**पत्यमत्या त्वं पुष्णासि** । आपद्भ्यस्त्रायत इत्यपत्यम् । तन्मतिरेव । किञ्च । त्वं च कृष्णाद्विमुखः, यतः पुष्णासि । अत एव गतश्रीश्च भविष्यसि । तस्मादस्य सर्वानर्थमूलत्वात् '**त्यजेदेकं कुलस्यार्थे**' इति न्यान्यात् **एनं त्यज** । चकारात्कृष्णवैमुख्यं च त्यजेत्यर्थः । यदा एवमाक्रोशपूर्वकमाज्ञारूपेणोक्तवान् । तदा **असत्कृत इत्यूचिवानिति** सम्बन्धः । इत्यूचिवानिति वा भिन्नम् । तत्र स्थाने आगतेन भ्रातुरन्तिके वा । **सुयोधन** इति तस्यापकर्षार्थं वचनम् । ननु पितृव्यतिरस्कारं कथं कृतवानित्याशङ्क्य अन्तः क्रोधेन, बहिर्दुष्टैराक्रान्तत्वादिति तृतीयान्तं विशेषणद्वयम् । **प्रवृद्धो** यः कोपस्तेन स्फुरितमधरं यस्य । अनेन क्रोधेन, लोभ एव स्फुरित इति तदुक्तो दानरूप उपायोऽप्यसंमत इति सूचितम् । असत्कारो धिक्कारः, अग्रे वक्तव्यो वा । एवमप्रियकथनं धर्मनीतिविरुद्धम् '**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रयात्**' इति स्मृतेः । प्रधानपरित्यागश्च नीतिविरुद्धः । सोऽपि सन्मानेनैव बोधनीयो भवति । तथाप्येवं वचनं परित्यागार्थमेव, भगवद्विमुखैः सह स्थातुमयुक्तत्वात् । स्नेहश्च न स्थापनीयः । चित्तस्याऽतिदुष्टत्वात् सर्वथा परित्यागमपि न सहते । अत एवं वचनमेतदभिसन्धायाऽऽह—**सत्स्पृहणीयेति** । सद्भिः पृहणीयं शीलं यस्य एवमेवासद्भिः सह स्थितौ तत्परित्यागार्थमेव कर्त्तव्यमिति सत्स्पृहणीयता । **क्षत्तेति** विश्वासपात्रत्वं सूचितम् । दुष्टचतुष्टयमध्ये दुर्योधनो मुख्यः । कर्णदुःशासनशकुनयस्तु सहायाः । तदाह तैः सहित इति । अथवा । ननु मन्त्रस्य स्वहितत्वादङ्गीकारमेव कथं न कृतवानित्याहसद्भिरेव स्पृहणीयं शीलं यस्येति । तस्य सपरिवारस्यासत्त्वादिति भावः ॥१३–१४॥

व्याख्या—वह प्रसिद्ध त्रिदोष यह (दुर्योधन) ही है, दुर्योधन दोष रूप हैं, यों कहकर यह सूचना दी है कि, इसके अंगीकार न करने में किसी प्रकार कोई बाधक नहीं है, अर्थात् यदि इस दोष रूप दुर्योधन को निकाल दिया जाए तो किसी तरह का दुःख नहीं होगा कारण कि दोष को सर्व प्रकार के उपायों से निकालना चाहिये, न कि दोष के सन्मान के लिये औषध (उपाय) ही छोड़ दिया जावे, वह दोष रूप है, इसमें हेतु बताते हैं कि, 'पुरुषद्विट्' "पुरुष का द्वेषी है", जो दोष रूप न होवे तो, उसके आधीन होते हुए उसके ही शरीर में रहकर उससे द्वेष कैसे करें ? लोक में भी जिसके राज्य में वा जिसके गांव आदि में जो रहनेवाला है वह उससे द्वेष नहीं करता है, तो उसके शरीर में रहनेवाला रोग के सिवाय कौन है ? जो उससे द्वेष करे ? कोई नहीं, अतः पुरुष से द्वेष करने से समझा जाता है कि यह दोष रूप है, उसका त्याग ही निदान[1] है, 'अस्ति' पद से यह सूचना की है कि इसका प्रतीकार (उपाय) शीघ्र करना चाहिये, क्योंकि घर में प्रछिन्न शत्रु की तरह घुसा हुआ है। अब तो अपना कार्य पूर्णतः पूरा किए बिना चुप होकर बैठा है, यदि इसकी उपेक्षा लापरवाही की जाएगी तो समग्र (सारे) कुल का नाश कर देगा, यदि कहो कि वह है कहाँ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि तुम्हारे घरों में सर्वत्र वह घुसा हुआ है ममता के कारण तुम उसे रोक नहीं सकते हो 'अयं' पद से कहते हैं कि यह तुम्हारे सामने ही खड़ा है तो भी चक्षुओं के न होने से देख नहीं सकोगे, अतः दूसरे प्रकार से दिखाते हैं, जिसे आप अपना अपत्य (जो आपदाओं से बचावे) समझ रहे हो उसे ऐसा समझकर पाल रहे हो, इस कारण ही तुम कृष्ण से विमुख हो रहे हो, जिससे तुम्हारी 'श्री' भी जाने वाली है अतः यह ही सर्व अनर्थों की जड़ है 'त्यजेरेकं कुलस्यार्थे' कुल के कल्याण के लिये एक का त्याग करना चाहिये, इसलिये इसका त्याग कर 'च' पद से यह भी बता दिया कि श्री कृष्ण की विमुखता को भी छोड़ दे जब विदुर ने यों चिल्लाकर आज्ञारूप से कहा 'तदा असत्कृत 'इत्यचिवानिति सम्बन्धः' तब दुर्योधन उनका अपमान कर कहने लगा, यों वाक्य का अन्वय है अथवा 'इत्यूचिवान् वा मित्रम्' विदुर ने इस प्रकार कहा यह वाक्य भिन्न है। उस स्थान पर अथवा भाई के पास आये हुए विदुरजी का सुयोधन ने अपमान किया, दुर्योधन के बदले में सुयोधन पद देकर उसका ओछापन दिखाया है, चाचे का अपमान कैसे किया ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि 'अन्तः क्रोधेन'। चाचे के वचन सुनकर, और बाहर दुष्टों के संग से भीतर का क्रोध बाहर निकल आया जिससे उसके ओष्ठ (होठ) काँपने लगे, इस कम्पन से लोभाधर प्रकट हो गया अर्थात् लोभ बढ़ गया, जिससे चाचे (काके) के बताये हुए दान रूप उपाय से सम्मत नहीं हुआ, अतएव यहां तृतीय विभक्ति के ही दो[2] विशेषण दिये हैं अपमान किया यों कहने का आशय है उसको धिक्कारा वह आगे कहा जाएगा। इस प्रकार अप्रिय कहना भी धर्म और नीति के विरुद्ध है, जैसे कि स्मृति में कहा है 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' सत्य कहना परन्तु वह प्रिय होना चाहिये, श्रोता को जिससे दुःख न हो, जो वचन आगे दुर्योधन कहने वाला है वह नीति विरुद्ध है और उसमें प्रधान (धर्म)[3] का त्याग है, वह भी नीति और धर्म सम्मत नहीं है। यदि उसका कहना अपने को मान्य न होवे तो भी उसको सम्मानपूर्वक समझना चाहिये, यों नीति होते हुए भी दुर्योधन ने यों न कर उसका तिरस्कार किया जिसका आशय यह है कि दुर्योधन के विदुर को अपने घर से निकालना ही था।

१—रोग से नाश करने का मुख्य उपाय है।

२—(१) प्रवृद्ध को यस्फुरिता धरेण (२) सकर्णानुज सौ बलेन सुयोधनेन।

३—धर्म मार्ग बताने वाले मन्त्री का त्याग।

विदुर का भगवद्विमुखों के साथ रहना अनुचित होने से ही दुर्योधन के मुख से ऐसे तिरस्कार के वचन **भगवान्** ने ही निकलवाये हैं, एवं दुर्योधन की यह भी इच्छा थी कि धृतराष्ट्र आदि से इसका स्नेह भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि पिता इसके कहने से राज्य लौटाकर न दे देवें यों होते हुए भी चित्त अति दुष्ट एवं चंचल होने से दुर्योधन विदुर का सर्वथा परित्याग भी न चाहता था, क्योंकि उसके मन में यह भी भीति (भय) थी कि विदुरजी विपक्ष को सहायता न दे दें, इतना होते हुए भी भगवदिच्छा से ऐसे तिरस्कार के वचन उसके मुख से निकलने ही लगे। विदुरजी के वचन और व्यवहार को तो सत्पुरुष ही चाहते हैं, असत् पुरुषों के साथ रहने का अवसर हो जाय तब उनका त्याग करने के लिये इस प्रकार ही करना चाहिये, यह ही सत्पुरुषों की इच्छा होती है, 'क्षत्ता' पद से यह बताया है कि वह **'विश्वास पात्र'** है कर्ण दुःशासन, शकुनि और दुर्योधन ये चार दुष्ट हैं, इनमें मुख्य दुष्ट 'दुर्योधन' है शेष तीन उसके सहायक हैं। इसलिये 'तैः सहितः' पद दिया है, अर्थात् उन तीनों के साथ यह भी मिला हुआ है, जब विदुर का बताया हुआ मन्त्र (सलाह) अपना हितकर था तो फिर अङ्गीकार क्यों न किया ? इस पर कहते हैं कि उसकी (विदुर की) सलाह सत्पुरुष ही मानते हैं, यह सारा परिवार असत् होने से मन्त्र हितकर होते हुए भी मानते नहीं ॥१३-१४॥

श्लोक—**क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः ।**
तस्मिन्प्रतीपः परकृत्य आस्ते निर्वास्यतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥१५॥

श्लोकार्थ—इस कुटिल दासी के पुत्र को किसने बुलाया है ? जिस अन्न को खाकर पुष्ट हुआ है, उसके ही विरुद्ध बोल रहा है, शत्रुओं का कार्य सिद्ध कर रहा है, अतः इसको अब ही जीते हुए नगर से बाहर निकाल दो ॥१५॥

सुबोधिमी क एनमिति । लोकोक्त्या अधिक्षेपः । पित्रा समाहूतत्वं ज्ञात्वा अयुक्तकरणात्तमप्याक्षिपतीति ज्ञायते । स्वभावजातिक्रियादुष्टस्य मन्त्रानर्हत्वात् । अयं तु तादृश इति विशेषणत्रयम् द्वयं सिद्धम्, क्रियैवं तृतीया । **जिह्मः** कुटिलश्छिद्रान्वेषी । मया कापठ्येन स्थातव्यम्, विश्वासं जनयता स्वावसरेऽपकर्तव्यमिति जिह्मलक्षणम् । तदद्य विदुरे स्पष्टं जातम् । स्वाधिकारानुसारेण भगवान् सर्वत्र तथा स्फुरतीति सत्त्वादीनामापेक्षिकत्वं ज्ञापितम् । **दास्याः सुतमिति** जातिदोषः । क्रियादोषं वक्तुं कृतघ्नतामाह—**यद्बलिनैव पुष्टस्तस्मिन् प्रतीप** इति । यथा आश्रितत्वाच्चण्डालादिभ्यो बलिर्दीयते तथाऽयमपि पतितः । ब्रह्मबीजस्य शूद्रायां जातत्वात् । अत एवैवकारः । बलिपुष्टाश्च काका एवमेव भवन्तीति ज्ञापितम् । पोष एव तथाभावे हेतुः । परेषां शत्रूणां कृत्ये आस्त इति क्रियादोषः । दण्डो **निर्वास्यतामिति । आश्विति** यावच्छ्विते तदुक्तं न प्रविशति । तेषामपि तेनाऽपि बधस्यानुक्तत्वात् परित्यागस्यैवोक्तत्वात् निर्वासनं दण्डः । **श्वासानः** प्राणमात्रावशेषः । असतां दृष्ट्या प्राणहरणापेक्षया ऽधिकोऽयं दण्डः । **श्मशान** इति पाठे यत्र स्थास्यति तेषाममङ्गलं भविष्यतीत्यर्थः । यमत्वेन मृतोपजीवित्वाद्वा । अत एव पुरान्निर्वास्य इति केवलं वचनमुक्तवान् । एवं दशभिः श्लोकैः पूर्वावस्थापरित्यागहेतुरुक्तः । अनेन पूर्वदेहसंबन्धिनोऽपि त्यक्ता इव ॥१५॥

व्याख्या—लोकमतानुसार विदुर जी का अपमान करता है, पिताजी ने बुलाया है, यों जान कर भी, कहता है कि पिताजी ने यह कार्य उचित नहीं किया है, क्योंकि जो पुरुष, स्वभाव, जाति

और क्रिया तीन दोषों वाला हो वह मन्त्र (सलाह) देने योग्य नहीं है अतः ऐसे अयोग्य को बुलाने से पिता ने भी एक अयोग्य कार्य किया है, इस उक्ति से दुर्योधन ने पिता का भी अपमान किया है।

यह विदुर तो तीनों दोषोंवाला है, इसलिये उसके तीन विशेषण दिये हैं, दो तो स्पष्ट सिद्ध ही हैं. तीसरी उसकी कृति मे सिद्ध हो रहा है, प्रथम विशेषण 'जिह्म' से बताया है कि, वह कुटिल और छिद्रान्वेषी है, 'जिह्म' उसे कहते हैं जो जिस किसी के पास भी रहता है तो पाखण्ड से रहता है अर्थात् ऊपर से. मधुर२ शब्द बोल उसको प्रसन्न करता है इस प्रकार विश्वास जमा लेता है फिर जब अवसर आता है तब उसकी बुराई करता है वह जिह्मता आज विदुर में स्पष्ट देखने में आ रही है, जिसका जैसा अधिकार है उसको भगवान् सर्वत्र वैसे ही स्फुरित है, इससे दुर्योधन (१) सत् असत् और उदासीनता आदि गुणों की अपेक्षा आवश्यक है यों बताता है (२) दोष 'दास्याः सुतं' दासी के पुत्र होने से जाति दोष दिखाया है, (३) दोष, क्रिया दोष दिखाने के लिये उसकी कृतघ्नता सिद्ध करता है कि 'यद्बलिनैव पुष्टः तस्मिन् प्रतीपः' जिसके अन्नादि से पुष्ट हुआ उसके ही विरोध में बोल रहा है, जैसे आश्रित होने से चाण्डालादि को बलि (भोजन) दी जाती है वैसे ही इसको भी, दी जाती है, अतः यह चाण्डाल समान पतित ही है, कारण कि, ब्रह्मबीज द्वारा शुद्रा से उत्पन्न हुवा है, इसलिये 'एव' पद देकर इसके पतितपन की निश्चितता बताई है। बलि से पुष्ट अथवा चांडाल भी वैसे ही होते हैं ऐसे होने में कारण, उसका पोषण कर्ता ही है, ऐसे (व्यक्ति) तो शत्रुओं का कार्य सिद्ध करने के लिये ही छद्म (कपठ) वेश से यहाँ रह अपना पोषण करते हैं यह इसमें क्रिया दोष है, इसका दण्ड यह है कि 'निकाल दो' देरी मत करो, अब ही निकाल दो, देरी करने से इसका मन्त्र धृतराष्ट्र के चित्त में स्थिर न हो जावे? अतः शीघ्र ही निकाल दो, जैसा दण्ड विदुर ने दुर्योधन के लिये धृतराष्ट्र को बताया था वैसे ही दण्ड की दुर्योधन ने विदुर के लिये आज्ञा दी है, असत् पुरुषों की दृष्टि में बध (मार) का देने से भी यह दण्ड विशेष है, 'श्वसानः' के स्थान पर यदि 'शमशानः' पाठ लिया जावे तो उसका भावार्थ है कि यह जहाँ होगा वहाँ अकुशल ही होगा. अतः जल्दी अब ही निकाल दो तो हम अपने अमङ्गल से बच जावें, अथवा 'शमशान' पद देने का यह भाव है कि यह यम है अतः मुर्दों पर ही इसका निर्वाह (गुजारा) है, इसलिये इसको तुरन्त नगर से बाहर निकाल दो, इतना ही वचन कहा है, इसी तरह दश श्लोकों से विदुर की पहली स्थिति के त्याग का हेतु बताया, इससे यह यह भी सूचित किया है कि, पहले के देह सम्बन्धी जो कौरव थे उनका भी त्याग किया, ॥१५॥

आभास—परित्यागमाह।

आभासार्थ—परित्याग का वर्णन इस 'स इत्थमत्युल्बण' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणैर्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि।**
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥१६॥

श्लोकार्थ—इसी तरह भ्राता के सामने (रूबरू) तीव्र (तेज) कान के द्वारा भीतर जाने वाले बहुत कठोर शब्द रुपी बाणों से उसके (विदुर के) मर्म स्थानों पर प्रहार

किया गया, तो भी धनुष को द्वार के आगे धर, माया (भगवदिच्छा) का बहुत आग्रह करते हुए दुःख रहित हो स्वयं भाई के नगर से बाहर चला गया ॥१६॥

सुबोधिनी—स इत्थमिति । अत्युल्बणत्वं शीघ्रकार्यकरणात् । दशैते बाणाः कर्णद्वारा हृदयं प्रविष्टाः । दशप्राणस्थानेषु **मर्मसु ताडितोऽपि । भ्रातुः पुर** इति मृत्युसन्निधाविव बाणानां प्राणहारकत्वं दृष्टान्तीकृतम् । **ताडितोऽपिगतव्यथः** । तत्रहेतु–**माया**मधिकं **मानयानः** । **धनुर्द्वारि निधायेति** प्रतिपक्षगमनशङ्का निवर्तिता । निःसारणात्पूर्वमेव अयात्, स्वकर्तृकस्यैव परित्यागस्य हेतुत्वात्, अन्यथा '**सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्**' इति विरोधः स्यात् ॥१६॥

व्याख्या—ये शब्द बाण, बहुत तीव्र (तेज) थे, कारण कि अपना कार्य शीघ्र सिद्ध कर लेते थे । ये दश, शब्द रूप बाण कान के द्वारा हृदय में घुसे, और जाकर उन्होंने (विदरजी के) दश प्राणों के स्थान, जो मर्म स्थान हैं उन पर प्रवाह (हमला) किया । ये बाण प्राणहारक थे, क्योंकि '.भ्राता के 'पुर' के समक्ष पद से यह सूचित किया है वि मानो मृत्यु के निकठ आ गए हैं । प्रवाह होते हुए भी (विदुरजी) दुःख रहित थे कारण कि माया को (भगवदिच्छा) को बहुत मान देते थे अर्थात् जो कुछ होता था उसको सिद्धान्त रूप से भगवदिच्छा ही मानते थे और उसमें ही कल्याण समाया हुआ है, इससे उनको कभी भी दुःख नहीं होता था । धनुष को द्वार के समीप धर दिया, जिससे दुर्योधनादि की यह शङ्का कि शत्रु पक्ष में जाकर मिलेगा, वह भी मिटा दी, दुर्योधन वा उसके साथी, जब तक (विदुरजी को) निकाले, उससे पूर्व ही स्वयं निकल गऐ, क्योंकि सत्य त्याग वह है जो स्वयं किया जाता है अन्यथा जो बल करने (जबर्दस्ती) से कार्य किऐ जाते हैं वे न करने के समान हैं, यो मनुजी ने कहा है, स्वयं त्याग न करे तो इस शास्त्र का त्याग ररने में विरोध आवे ॥१६॥

आभास—एवमपमानतो निर्विण्णस्य तीर्थादिजनितसुकृतपरिपाकेन पृथिवीजलयोः संस्कृतत्वादधिकारिदेहे द्वयसम्पत्तिं निरूप्य तेजोनिरूपणार्थं सत्सङ्गो जात इत्याह-स निर्गत इत्यष्टभि.

आभासार्थ—इस प्रकार अपमान से, खेद प्राप्त विदुरजी ने तीर्थों पर जाकर पवित्र पृथ्वी तथा जल से संस्कृत (शुद्ध) हो के अधिकारी देह की प्राप्ति की, जिससे इनको दो सम्पत्ति प्राप्त हो गई, शेष तीसरी सम्पत्ति 'तेज' रही सो उसकी प्राप्ति का निरूपण करते हुए कहते हैं कि जिस (कार्य) से तेज की प्राप्ति हो वह सत्संग भी मिल गया । यह 'स निर्गतो' श्लोक से आठ श्लोकों में कहते हैं ।

कारिका—**चतुर्भि र्भूमिसंस्कारस्तथा ऽन्यैश्च जलस्य च ।**
उत्तरोत्तर शेषत्वात्ताच्छेषो ऽप्युच्यते स्फुटः ॥१॥

पुण्य देशार्थ गमनं पुण्यदेशे तथैव च ।
तदङ्गानि फलं चेति चतुर्द्धा भूमिसत्क्रिय ॥२॥

जले सामान्य मम्बन्धो विशेषश्चापि तद्गतः ।
साधनं च फलं चेति जलोक्तिश्च चतुर्विधा ॥३॥

कारिकार्थ—चार श्लोकों से भूमि द्वारा हुए संस्कार कहे हैं और इतने ही अन्य चार श्लोकों से जलद्वारा हुए संस्कार कहे हैं, उत्तरोत्तर शेष होने से उसका शेष भी स्पष्ट कहा हुआ[1] है ॥१॥

पुण्य (पवित्र) देशों के लिये गमन करना, और वैसे ही पुण्य देशों में घूमना, उसके अङ्ग (पवित्र रहना और एकान्तवास आदि) और फल (स्वशरीर के संस्कारार्थ प्रयत्न करना, भूमि देव सम्बन्ध वाली हो ऐसा फल) इसी तरह चार प्रकार से भूमि से होने वाला संस्कार कहा है ॥२॥

जल में सामान्य सम्बन्ध सरस्वती का है, और विशेष प्रकार का सम्बन्ध भी सरस्वती का ही है और '**साधन**' साधारण तीर्थों का सेवन है । और '**फल**' भगवदीयों का सङ्ग है । यों जल का सम्बन्ध चार प्रकार से कहा है ॥३॥

विदुर जी, मन्त्र भवन (जहां धृतराष्ट्र ने मन्त्र (सलाह) पूछने के लिये बुलाये थे) से निकल कर घर न जाके नगर से बहार चले गए, यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्यां स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ॥१७॥

श्लोकार्थ—कौरवों के पुण्य से प्राप्त विदुर जी हस्तिनापुर से निकल गये, पृथ्वी पर जिन स्थानों में सहस्त्र मुर्ति भगवान् विराजते हैं उन तीर्थ स्थानों में पुण्य प्राप्त करने की इच्छा से फिरने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—स निर्गत इति । **कौरवपुण्यलब्ध** इति पूर्वजोपार्जितसुकृतेन प्राप्तो निर्गतश्च वंशस्थापकसुकृतमेव तद्द्वारा निर्गतमिति सूचितम् । पुण्यलब्धत्वं भगवत्स्थानगमनेऽपि हेतुः । सर्वतीर्थानि पादे यस्येति । तस्य स्थानेष्विति तीर्थेष्वपि विशेषः, वैष्णवस्थानेष्वेव गत इत्यर्थः । **अन्वाक्रमत्** मध्ये स्थानानतिक्रमेणाऽऽक्रान्तवान् । राजनिवेशनवन्न स्थानमात्रम्, किन्तु नानामूर्त्या अभिमानेनाऽनुभावं प्रदर्शयन् स्वयमधिष्ठाय येषु स्थितः तानि तीर्थानीति पूर्वेण सम्बन्धः । **पुण्यचिकीर्षयेति** तत्त्वाज्ञानादुक्तम्, परमेश्वरप्राप्तिसाधनत्वाद्वा । अथवा । उर्व्यां पुण्यचिकीर्षया पुण्येन पृथिवीं संस्कर्तुमिति । दैत्याधिष्ठिते स संस्कारो न भविष्यतीति, उर्व्यां यानि सहस्रमूर्तिर्भगवानधिष्ठाय स्थित इत्युक्तम् । अनेन संस्कृते देवाधिष्ठानात्पश्चाग्निविद्यावद्भगवन्मूर्त्तिष्वेव तस्य संस्कारः प्रदर्शितः ॥१७॥

१—पृथ्वी, जल और तेज इनमें पहला (पृथ्वी) दूसरे (जल) पर आधारित है अतः पृथ्वी का आधार अर्थात् संस्कार करने वाला जल है, जल का आधार यानि संस्कार करने वाला तेज है सो स्पष्ट हो गया है ।

व्याख्या—विदुर जी कौरवों के पुण्य से ही इस वंश में उत्पन्न हुए थे, इस कहने का आशय यह है कि विदुरजी के निकल जाने से वंशस्थापक कौरवों का पुण्य भी निकल गया, यों कहने का यह भी भाव है कि पुण्य से जन्म लिया है अतः भगवान् के स्थानों में फिरने की बुद्धि उत्पन्न हुई है, सब तीर्थ जिन भगवान के चरण में हैं उन भगवान् के स्थानों में फिरने लगे, तीर्थों में भी विशेषतः वैष्णव स्थानों में ही गऐ, जाते समय किसी भी तीर्थ स्थान को छोड़ा नहीं क्रमशः सर्व तीर्थों में फिरे, ये तीर्थ स्थान राजाओं की छावनी के समान नहीं थे अर्थात् राजा लोग तो छावनी में स्वल्प समय रहकर चले जाते हैं किन्तु भगवान् यहां पृथक२ आनन्दस्वरुप से सदैव विराजते हुए अपने प्रभाव से उन स्थानों का महात्म्य स्थिर कर रहे हैं, उन तीर्थो का पूर्व से सम्बन्ध है, 'पुण्य चिकीर्षया' पुण्य प्राप्ति की इच्छा से विदुर जी गए, इस वाक्य से यों बताया है कि विदुरजी को तत्व ज्ञान नहीं था अतः उस ज्ञान की प्राप्ति के लिये, अथवा परमेश्वर की प्राप्ति के साधन होने से अथवा पुण्य प्राप्त कर पृथ्वी को संस्कृत (पवित्र) करने (क्षेत्र के समान बनाने) के लिये, तीर्थो पर गए दैत्यों से घिरी हुइ पृथ्वी पर, वह संस्कार न हो सकेगा । अतः जहां सहस्त्र मूर्ति भगवान् सदैव स्थिति कर रहते हैं ऐसे तीर्थों में गए, पञ्चाग्नि की तरह संस्कृत स्थान में ही देव रहते हैं जिन तीर्थ स्थानों में भगवत्स्वरूप थे उनमें ही विदुरजी का संस्कार हुआ है इससे यों दिखाया है ॥१७॥

आभास—विशेषमाह ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक 'पुरेषु' में तीर्थों की विशेषता बताते हैं—

श्लोक—**पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जेष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरस्सु ।**
अनन्तलिङ्गैः समलंकृतेषु चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥१८॥

श्लोकार्था—भगवान् के चिन्हों से अलंकृत तीर्थों के स्थानों में, पवित्र उपवन पर्वत और कुँजों में, कीचड़ रहित जल वाले नदी और तालाबों में, वे विदुरजी अकेले ही फिरे ॥१८॥

सुबोधिनी—**पुरेष्विति** । मथुरादिनगरेषु, परमेश्वरक्रीडास्थानत्वात् । गोकुलनिकटवृन्दावनानि **उपवनानि** । अद्रिर्गोवर्द्धनादिः । **कुञ्जानि** । लतागृहाः । सर्वाण्येतानि भगवत्सम्बन्धात्पुण्यजनकान्यपि भक्तिजनकानि । **अपङ्कतोयेष्विति** कृष्ण जलक्रीडादियोग्येषु । **सरितां सरस्सु** कालियादिह्रदेषु । तेषु पर्यटने निमित्तम्, अनन्तमूर्तेः रासादिक्रीडाचिह्नैः सम्यगलङ्कृतेषु । जलस्थल-प्रधानेषु एकाकी चरति स्मेत्यर्थः । अनन्यो भक्तो वा । अनेन पञ्चगुणा पृथिवी संस्कृतेति ज्ञापितम् । तत्र पृथिवी द्विविधा मृत्पाषाणभेदेन, पुरेष्वद्रिष्विति । उपवनेन गन्धः, कुञ्जेषु स्पर्शः, सरस्सु रसः, अनन्तलिङ्गसमलङ्कृतत्वेन रूपम्; कुञ्जेषु वा शब्दः, अपङ्कतोयेष्विति रसः, सरस्सु इति स्पर्शः । अनन्यत्वेनैव मौनं सिद्धम्, तेन वा शब्दः संस्कृतः ॥१८॥

व्याख्या—मथुरा आदि नगरों में, कारण कि, वे नगर, भगवान् की क्रीड़ा के स्थान हैं, उपवनों में (गोकुल के समीप वृन्दावन आदि वन उपवन हैं। गोवर्द्धन आदि प्रर्वतों में लताओं से स्वयं बने हुए घरो को 'कुंज' कहते हैं, उनमें फिरते रहे, क्योंकि ये सब भगवान् के सम्बन्ध से पुण्य जनक होते हुए भी भक्तिजनक हैं, इनमें फिरने से भक्त विदुर जी के शरीर में विशेष भक्ति के योग्य उत्तमता आने लगी, कीचड़ रहित जलों में, ऐसे जल श्री कृष्ण के क्रीडा के योग्य हैं, वे जल नदियों के दहों में होते हैं, जैसे कालीयादि दहो में भगवान् ने कालीय दमन करते हुए क्रीड़ा की है, ऐसे स्थानों में भी विदुर जी फिरे, क्यों फिरे ? जिसके उत्तर मैं कहते हैं कि 'अनन्तमूर्तिः रासादि क्रीड़ा चिन्हैः समङ्कतेषु' वे स्थान, अनन्त मूर्ति भगवान् की रासलीला आदि क्रीड़ाओं के चिन्हों से सुशोभित हैं। अतः जल और स्थल के जो मुख्य स्थल थे उनमें वह अकेले ही फिरने लगे 'अनन्य' पद का अर्थ अकेले अथवा अनन्य भक्त होने से वहाँ फिरते थे, यों कहने से यह सूचना दी है कि विदुर जी ने पांचगुणों वाली पृथ्वी का संस्कार किया है, इसमें पृथ्वी मिट्टी और पाषाण भेद से दो तरह की है, 'पुरुष' नगरों में कहने से पृथ्वी के मिट्टी का स्वरुप कहा है, 'अद्रिषु' पहाड़ों में कहने से पृथ्वी का पाषाण रूप बताया है। उपवन से गन्ध का, कुंजों में स्पर्श का, दहों में रसका, अनन्त भगवान् के चिन्हों से समलङ्कृत से रूप का संस्कार हुआ, अथवा कुञ्जों में शब्द का, कीचड़ रहित जल में रसका, दहों में स्पर्श का संस्कार[1] हुआ, विदुरजी अकेले थे इसलिये मौन सिद्ध कहने का कारण यह है कि (गन्ध, स्पर्श, रस और रूप) इनके संस्कार साथ में हो सके, किन्तु शब्द का संस्कार साथ में नहीं हो सकता है क्योंकि उनको ग्रहण करने और उत्पन्न करने वानी इन्द्रियां पृथक हैं सिद्ध हो गया, अथवा उस (मौन) में ही शब्द का भी संस्कार हो गया ॥१८॥

आभास—साधनान्याह,

आभासार्थ—निम्न श्लोक में साधन बताते हैं—

श्लोक—**गां पयटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः सदाऽऽप्लुतोऽधः शयनोऽवधूतः ।**
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो व्रतानि चेरे हरितोषणानि ॥१९॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी पर घूमते रहते थे, जहाँ पवित्र एकान्त स्थल देखते वहाँ विश्रामार्थ रहते जल में (नदी आदि में) स्नान करते, पृथ्वी पर सोते थे जिससे अपने सम्बन्धी भी नहीं पहचानते, कृत्रिम (बनावटी) भेष धारण कर लिया था, जिन व्रतों से भगवान् प्रसन्न हो वे व्रत करते थे ॥१९॥

---

[1] —यहाँ पाँच प्रकार की पृथ्वी के संस्कार कहे हैं, महभूतों के पीछे कहे जायेंगे।

सुबोधिनी—गां पर्यटन्निति । एते सप्तत्वगादिधातुसंस्काराः । व्रतान्यन्तःकरणसंस्कारकारिणि एकाकिपरिभ्रमणं भगवच्चरित्रस्याऽतिगोप्यत्वात् । एवं दर्शनेन किञ्चिद्भक्त्युत्पत्तेः कृष्णप्राप्त्यभावाद्विरहेण तत्प्राप्तय एव व्रतानि कृतवान् । अत्रैवं क्रमः । अन्वेषणार्थं प्रथमं पर्यटनम्, ततोऽन्तर्बहिर्नियमाः ततोऽपि व्रतानि । तत्र मेध्ये एकान्ते ध्यानाद्यर्थमुपवेशनादिरूपा स्थितिर्यस्येति पवित्रैकरात्रान्तरिताऽऽहारादिजीविका यस्येति वा । त्रिकालस्नानभूशयनाभ्यङ्गवर्जनादयस्त्रयो गुणा दोषत्रयनिवारकाः । नन्वेवंकरणे बन्धुभिः कथं न बद्धः ? तत्राऽऽह–**अलक्षितः स्वैरिति** । तत्र हेतुः–**अवधूतवेषः** कृत्रिमवेषधारी । व्रतानि चत्वारि; एकादश्युपवासः, सर्वभूतदया, यथा–लाभसन्तोषः, सर्वेन्द्रियोपशमश्चेति । एतानि भगत्तोषहेतुभूतानि ॥१९॥

व्याख्या—ये संस्कार, सात 'त्वक्' आदि धातुओं के कहे हैं, व्रत अन्तःकरण के संस्कार करने वाले हैं अर्थात् व्रत पालन से अन्तःकरण पवित्र होता है भगवान् के चरित्र अति गोप्य (गुप्त) हैं अतः उनके दर्शनार्थ स्वयं अकेले ही फिरते थे, इस प्रकार घूमने से कदाचित् दर्शन हो जाने से कुछ भक्ति की उत्पत्ति हो जावे, भक्ति उत्पन्न होने से कृष्ण प्राप्ति के लिये विरह होगा, विरह होने से चित्त में प्रभु प्राप्ति की प्रबल इच्छा होने लगेगी, जिसको दृढ़ करने के लिये ही व्रत करने लगे व्रतों के करने में इस प्रकार क्रम है । प्रभु को ढूंढने के लिये पहला कार्य लीला स्थलों में घूमना है, पश्चात् भीतर और बाहर के नियमों का पालन करना, अनन्तर व्रत करने, पवित्र एकान्त स्थान में भगवान् का ध्यानादि करने के लिये स्थिति करना, एक रात्रि बीच में डाल दूसरे दिन पवित्र आहारादि करना । तीन समय स्नान, पृथ्वी पर सोना, तैल आदि का उबटन न करना ये तीन कर्म तीन दोषों को नाश करते हैं इस प्रकार रहने पर बान्धवों ने क्यों नहीं रोका ? जिसके उत्तर में कहा है कि उनको बान्धव पहचान ही नहीं सकते थे । कारण कि कृत्रिम वेष धारण कर 'अवधूत' बने हुए थे । चार व्रत हैं १-एकादशी का उपवास २–प्राणिमात्र पर दया ३–जो कुछ मिले उसमें सन्तोष और ४– सर्व इन्द्रियों को अपने वश में रखना, ये चार व्रत भगवान् की प्रसन्नता में कारण है ॥१९॥

आभास––फलमाह

आभासार्थ—'इत्थं व्रजन्' श्लोक में फल कहते हैं—

श्लोक––**इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं कालेन यावद्गतवान् प्रभासम् ।**
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रामेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥२०॥

श्लोकार्थ––बहुत समय, भारतवर्ष में ही इस प्रकार फिरते हुए, जब प्रभास में आए तब सब अन्यथा देखा, पृथ्वी पर एक ही सेना एक ही राज्य छत्र, अर्थात् एक ही राजा का सैन्य देश की रक्षा करता था, अतः एक ही राजा राज्यासन को शोभित करता था । और वह राजा अजित बन गया था जिसको कोई जीतने वाला नहीं था । ऐसा वह राजा 'पार्थ' युधिष्ठर था ॥२०॥

सुबोधिनी—इत्थमिति। शुद्धो हि देवदेशे तिष्ठतीति पूर्वकामनाऽपि संपूर्णा। ज्ञापकं चैतत्फलस्य। यथा असदधिष्ठानं भूमौ गतम्, तथा शरीरेऽपीति। पुण्याधिक्याद्भारत एव पर्यटनं बहुनाऽपि कालेन। यावत्प्रभासपर्यन्त गतवांस्तावदन्यथा सर्वमासीदित्याह—**तावदिति**। एकस्य चक्रं सैन्यं यस्याम्। सैन्यं वा, राजचिह्नं वा अन्यस्य नास्तीत्यर्थः। भारतमेव वर्षं यावत्प्रभासं तावच्छब्देनोच्यते। तावदित्यर्थविशेषे वा। अस्य तीर्थपर्यटनमेव भगवद्भक्तानां भगवता राज्योपलम्भने हेतुः। **अजितेनेति** सामर्थ्यम्। **पार्थ** इति हेतुः ॥२०॥

व्याख्या—जो सर्वथा शुद्ध (पवित्र) होता है वह ही देवदेश में रह सकता है विदुर जी की पहले से ही देवदेश में रहने की इच्छा थी, वह कामना अब सफल हुई, यह इस फल का जताने वाला है जैसे दुष्ट का स्थान पृथ्वी पर से गया वैसे शरीर से भी गया, विदुर जी के पुण्य बहुत थे इसीलिये बहुत समय तक भारतवर्ष में ही फिरे, आप बहुत समय के बाद बाहर से फिरकर प्रभास आए, तब तक यहाँ सब कुछ अन्यथा ही हो गया था, भारतवर्ष में एक का ही सैन्य रहा, वह सैन्य ही देश की रक्षा करता था और सारा भारत एक छत्र के नीचे आ गया था, दुसरे किसी का भारत पर शासन नहीं था। जहाँ तक प्रभास है वहाँ तक भारतवर्ष है, 'तावत्' शब्द विशेष अर्थ में है, अर्थात् विदुर जी का तीर्थों में फिरना भी ऐसे राज्य हो जाने से हितावह हुआ, भगवद्भक्तों को राज्य मिलने में भगवान् की इच्छा ही कारण है अर्थात सर्व प्रकार भगवत्सेवा[1] के लिये ही भगवान् भक्तों को राज्य देते हैं, 'अजित' पद से यह बताया है कि भगवान् की ही राज्य प्राप्ति कराने वाली शक्ति उसमें स्थापित हुई है अतः 'पार्थ' (युधिष्ठिर) अजित हो जाने से राज्य लेकर चला सके हैं इससे राज्य मिलने का मूल कारण बताने के लिये 'पार्थ' कहा है ॥२०॥

आभास—एतत्तु पूर्वं जातमप्यसम्भावनया जिज्ञासाभावान्न ज्ञातवान्। प्रभासे तु, अधिकारिणो देहपरित्यागार्थं तत् स्थानमिति, तत्र गतो बहिश्चित इव जातः। ततः शुश्रावेत्याह—

आभासार्थ—यह तो पहले ही हो गया था तो भी इससे उसके जानने की इच्छा भी न होने से जाना नहीं, प्रभास में तो अधिकारी ही देह त्याग के लिये आते हैं, क्योंकि वह स्थान ही ऐसा है जहाँ अधिकारी देह त्याग जन्म मरण के चक्कर से छूट जाते हैं, ऐसे स्थान पर आने से उनका चित्त अस्थिरसा हो गया, बाद में जो सुना उसका वर्णन 'तत्राथ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तत्राऽथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम।**
संस्पर्धया दग्धमथाऽनुशोचन् सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—अनन्तर वहाँ उनने अपने सम्बन्धियों के नाश का समाचार सुना, जिस वन में बाँस के पेड़ होते हैं वह वन, आपस के संघर्ष से उत्पन्न अग्नि से जैसे

---

[1] भगवान् की बनाई हुई सृष्टि की सेवार्थ।

जलकर भस्म हो जाता है वैसे ये भी डाह के कारण आपस में संघर्ष करते हुए नष्ट हुए हैं, यों जानकर चुप होकर शोक करते हुए वहाँ से सरस्वती के प्रवाह के सामने गए ॥२१॥

सुबोधिनी—तत्राथेति । अथेति भिन्नक्रमे । सुहृदां विनष्टिं श्रुतवान् । तस्य शोकहेतुत्वाय विशेषणम् । सुहृद्विनष्टि मेव निरूपयति—**संस्पर्द्धया दग्धमिति** । अनुवादे धर्मप्राधान्यम्, निरूपणे धर्मिण इति वैपरीत्यमवस्थाभेदेन । औदासीन्यशोकनिरूपणार्थं उपपादन एव विशेषणम् । **वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयमिति** । वेणुजो वह्निः सम्यगाश्रयो यस्य, सम्यक् श्रयते यमिति वा अर्थः । संस्पर्द्धया दग्धमित्यन्यायनाशः **तत्र प्रभासे** । संस्पर्द्धिनां भवतु नाशः, तत्संबन्धात्सर्वेऽपि सुहृदो नष्टा इति शोकः । नाशे दृष्टान्तः वेणुभ्यां जातो वन्हिर्न तावन्मात्रं नाशयति, किन्तु वनमेव सर्वम् । तद्वत् **कौरवपाण्डवसंस्पर्द्धयेति** नाशे हेतुः । अनेनाऽनुपयोगनाशः सूचितः । अत एवाऽनुशोकः ॥२१॥

व्याख्या—'अथ' पद से पृथक क्रम बताया है, सम्बन्धियों का नाश सुना, नाश सुनने से शोक हुआ, क्योंकि, सम्बन्धियों का नाश हुआ था, सुनने से शोक का कारण बनाने के लिये श्लोक में "सुहृत" विशेषण दिया है, परस्पर सगे होते हुए भी क्यों यों नष्ट हुए ? इस पर कहते हैं कि 'संस्पर्द्धया दग्धमिति' ईर्ष्या (डाह) के कारण जले (नष्ट हो गये) मनुष्यों ने जो नाश होने का समाचार सुनाया, जिसमें 'धर्म' (गुण) की प्रधानता है, और स्पष्ट रीति से निरूपण करने में धर्मी की मुख्यता है। इस प्रकार धर्मी से पहले धर्म का कहना असंगत जचता है। इस असंगतजंचता की निवृति के लिये कहते हैं कि यह विपरीतता (असंगति) अवस्था के भेद से है। अर्थात् विदुरजी तो यों ही कौरवों से उदासीन तो थे ही, अतः सगों का नाश सुन कर केवल उदासीन ही हुए, परन्तु जब वन का दृष्टान्त सुन उनका उसी प्रकार नाश जैसे हुआ जैसे बांस के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि से वन का होता है वैसे ये भी आपस के डाह से नष्ट हुए तब विदुरजी को शोक हुवा इस तरह अवस्था भेद के कारण असंगति नहीं है। प्रभास में डाह-वालों का नाश भले हो किन्तु उनके सम्बन्ध से सब सगे नाश हो गए, इसलिये विदुरजी को शोक हुआ, नाश में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे दो बासों के संघर्ष (रगड़) से उत्पन्न अग्नि समग्र वन को भस्म करती है वैसे ही कौरव पाण्ड्वों का डाह इनके नाश में हेतु है, यो कहकर यह सिद्ध किया है कि, यह नाश, उपयोगी नही हुआ है, इस कारण से ही उदासीनता के बाद शोक हुआ।

कारिका—**सरस्वती धर्म हेतु र्जन संस्कार रूपिणी ।**
भक्ति हेतुस्तु यमुना सत्सङ्गात्तजसी स्मृता ।
ज्ञान हेतुस्तु गङ्गा स्यात् बुद्धि संस्कारत्वतः ॥१॥

प्रत्यक स्रोतोऽभमुखम् । तुष्णीं शोचन्नित्यप्रकटत्वाय ।
द्वारकागमनाभावायवैमुक्तम् ॥२॥

कारिकार्थ—जल से होने वाले संस्कारों के रूपवाली सरस्वती धर्म का हेतु है। भक्ति उत्पन्न कराने में कारण श्री यमुना जी है और वह सत्सङ्ग से तेज वाली कही गई है। गङ्गा बुद्धि को संस्कृत कर ज्ञान उत्पन्न करने वाली है ॥१॥

विदुरजी मन में ही गुप्त शोक करते थे, क्योंकि अन्यों को शोक का ज्ञान न हो, अनन्तर सरस्वती के प्रवाह के सामने जाने लगे, अर्थात् प्रभास से द्वारका न जाने का ज्ञान कराने के लिये वहाँ जाने लगे, यों कहा है ॥२॥

आभास—ननु भगवद्वासभूतद्वारकात्यागेन वृथाऽन्यत्र गत इत्याशङ्क्य, तत्र कृष्ण-स्मारकाणि बहूनि सन्तीत्याह। तस्यामिति द्वयेन—

आभासार्थ—भगवान् के निवास स्थान द्वारका को छोड़ अन्यत्र जाना तो वृथा है इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जहाँ वह गए हैं वहाँ कृष्ण के स्मारक स्थान बहुत ही हैं, यों 'तस्यां' श्लोक और 'अन्यानि' श्लोक में वर्णन कर बताते हैं—

श्लोक—**तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः।**
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥२२॥

श्लोकार्थ—उस पर, अर्थात् जिस सरस्वती के प्रवाह के सामने गए। उस सरस्वती पर, त्रितकूप का शुक्र का, स्वायम्भूमनु का, पृथुका तथा अग्नि का, आसित ऋषि का, वासुदेव का, सुदासराजा का गौओं का, कुमार और वैवस्वतमनु का स्थान है। इनका उस (विदुर) ने सेवन किया ॥२२॥

सुबोधिनी—**तस्यां** सरस्वत्यामेकादशतीर्थानि प्रसिद्धानि। अत्र व्युत्क्रमो जलप्राधान्याज्जलक्रमानुरोधेन। तत्र सरस्वत्यामेव त्रितकूपमस्ति, । तत्प्रथमं निर्दिशति, कूप्यानामेवाऽपांप्राथम्यात्। एवमन्यान्यपि ज्ञातव्यानि। उशनसादीनां (?) तपःस्थानानि तानि। **मनुः** स्वायम्भुवः। पृथुर्वैन्यः तीर्थचतुष्टये सेविते शोकादयः सर्वेव्यावृत्ताः। त्रितस्तु कूपे पतितस्तस्मात्सङ्कटान्निस्तीर्णः, तथाऽयमपि शोकसङ्कटान्निस्तीर्णः। उशनास्तत्र मृतसञ्जीविनीं विद्यां प्राप्तवान्, तथाऽयं मृतो जीवितः। मनोस्त्विष्टसिद्धिर्ज्ञानरूपा, अस्याऽपि शोकनिवृत्तिर्ज्ञानोत्पत्तिस्तत्र। पृथुस्तु पूर्वजात-सर्वदोषनिवर्तकः। एवं चतुर्भिः पूर्वावस्था गता, तेन प्राप्ता। अतः परमथ भिन्नक्रमणे विशोकस्तीर्थानि कृतवानित्याह-**अग्नेरिति**। **असित** ऋषिः वायुर्देवता, **सुदासो** राजा, **गवाम्** गोसत्रस्थानं **गुहः** कुमारः, **श्राद्धदेवो** वैवस्वतमनुः। एतानि सप्ततीर्थान्यवश्यं सप्तधातुशोधकानि ॥२२॥

व्याख्या—उस सरस्वती के तट पर ग्यारह प्रसिद्ध तीर्थ है, इसमें जो क्रम का अभाव है जिसका कारण जल की प्रधानता है जैसे जल का क्रम है वैसे ही तीर्थो का क्रम कहा है। उस सरस्वती में ही १-त्रित का कूप' है उसको पहले कहा, जिसका कारण यह है कि कूपों का जल ही उत्तम होता है अन्यों की तुलना में भी यों ही समझना चाहिये। २–दूसरे तीर्थ-स्थान वे हैं जहाँ शुक्र आदि ने तपस्या की है। ३–तीर्थ-स्थान वह है जहाँ स्वयम्भू मनु निवास

करते थे, ४–तीर्थ स्थान वह है जहाँ वेन से उत्पन्न पृथु का वास था। इन ४ तीर्थों के सेवन करने से विदुरजी के शोक आदि सर्व दुःख निवृत्त हो गये, जैसे त्रित, कूप में गिरा हुआ सङ्कट भोग रहा था उससे (वहाँ) निकला, वैसे ही ये विदुरजी भी शोक सङ्कट से निकल आए, शुक्र ने यहां ही मृतसंजीविनी विद्या प्राप्त की थी, वेसे यह विदुरजी भी मृत्यु से छूट कर जीवित हो गए, स्वायम्भू मनु को जिस ज्ञानरूप शक्ति की इच्छा थी वह यहाँ ही उसको प्राप्त हुई थी वैसे इनने भी शोक से छूट, ज्ञान की प्राप्ति की, पृथु तो पहले उत्पन्न सर्व दोषों को दूर करनेवाले थे, यों चार तीर्थ करने से इन विदुर जी की पहले की अवस्था जाकर जो शोकादि वाली हुई थी वह नष्ट हो के फिर पहली अवस्था इनने प्राप्त करली, 'अथ' पद से बताया कि अब दूसरा क्रम प्रारम्भ होता है कि, विदुरजी शोक रहित हो तीर्थ करने लगे, अग्नि का, असितऋषि का, वायुदेव का, सुदास राजा का, गोसत्र तीर्थ कार्त्तिकेय तीर्थ और श्राद्धदेव अर्थात् वैवस्वत मनु का तीर्थ इस प्रकार ये सात तीर्थ किये, ये सात तीर्थ शरीर के सात धातुओं को पवित्र करने वाले हैं अर्थात् इन ७ तीर्थों के करने से विदुर जी के शरीर के सात ही धातु पवित्र हो गए ॥२२॥

आभास—अन्यानि प्रकीर्णकानि प्लक्षजापर्यन्तं निरन्तरं कृतानि सर्वशोधकानि जातानीत्याह—

आभासार्थ—विदुर जी सरस्वती जहाँ से निकली थी वहाँ तक बिना रूकावट के दूसरे भी प्रकीर्ण तीर्थ करते हुऐ पहुँच गए जिनसे उनके शरीर के सर्व अवयव भी शुद्ध हो गए यह इस निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः कृतानि नानाऽऽयतनानि विष्णोः ।**
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥२३॥

श्लोकार्थ—ऊपर के श्लोक में कहे हुए तीर्थों के सिवाय जो पृथक् पृथक तीर्थ ब्राह्मण और देवों ने बनाये हैं जिनमें विष्णु के मुख्य आयुधों के चिन्हवाले मन्दिर हैं, जिनके दर्शन से श्री कृष्ण का स्मरण हो आता है उन तीर्थों पर गए अर्थात् उनको सेवन कर अपने को पूर्ण पवित्र किया ॥२३॥

सुबोधिनी—**अन्यानि चेति**। एतानि तपःकरणाल्लोके तथा ख्यातानि नित्यान्येव । अन्यानि तु **द्विजदेवैर्ब्राह्मणैर्देवैश्च** कृतानि, अत एव **नानाऽऽयतनानि** नानास्थानानि येषु तीर्थेषु । किञ्च । तेष्वायतनेषु विष्णोः **प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि** सन्ति । प्रत्यङ्गान्यायुधानि, तेषु मुख्यं सुदर्शनम् । चक्राङ्कितानि चक्रेणोपरिचिह्नितानि भगवन्मन्दिराणी भवन्ति । कि तावतेत्यत आह–**यद्दर्शनात् कृष्णमनुस्मरन्तीति** । भगवत्स्मरणं बहुजन्मसुकृतेन भवति । तदत्र चिह्नदर्शनेनैव भवतीति तीर्थानामाधिक्यम् । साङ्गस्य भगवतस्तत्र स्थितिरित्यपि । अनेन स्मारकदर्शनाच्चिरं स्थित्वा तत्र तत्र गत इति लक्ष्यते । अत एव कालविलम्बात् यदुकुलनिवृत्तिरपि जाता ॥२३॥

व्याख्या—ऊपर के श्लोक में कहे हुए तीर्थ तपस्या करने से हुए हैं अतः लोक में **प्रसिद्ध** हैं एवं नित्य हैं, दूसरे तो ब्राह्मण और देवों के बनाये हुए तीर्थ हैं, जिनमें अनेक प्रकार के **स्थान**

(मंदिर) हैं, उन मन्दिरों में विष्णु के (प्रत्यङ्गमुख्याङ्कित मन्दिराणि सन्ति) प्रत्येक आयुध विराजमान हैं जिनमें मुख्य सुदर्शन है इस मुख्य सुदर्शन चक्र का मन्दिरों के ऊपर चिन्ह है चिन्ह हुआ तो क्या हुआ ? इसके उत्तर में कहा है कि 'यद्दर्शनात् कृष्णमनुस्मरन्ति' जिसके केवल दर्शन से ही कृष्ण का स्मरण करने लगते हैं। भगवान् का स्मरण तब होता है जब बहुत जन्मों में सुकृत किए हों, वह स्मरण यहां केवल चक्र के दर्शन से होता है। इसलिये तीर्थों की विशेषता कही जाती है इससे यह भी बता दिया है कि वहाँ भगवान् स्वरुप धारण कर विराजते हैं। भगवान का स्मरण कराने वाले यहां चिन्ह हैं इसलिए वहां बहुत समय रहकर प्रत्येक तीर्थ में जाते थे यों समझ में आता है। इससे विदुर जी को बहुत समय लगने से काल विलम्ब हुआ जिससे उस समय में यदुकुल की भी पृथ्वी से निवृति हो गई ।२३।

आभास—एवं तीरगमनेनैव सर्वे देशा अतिक्रान्ता इत्याह–

आभासार्थ—इस प्रकार सरस्वती के तट पर से चलते हुए सर्व देशों का अतिक्रमण हुआ यों 'ततस्त्वतिव्रज्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥२४॥

श्लोकार्थ—वहाँ से विदुर जी समृद्ध सौराष्ट्र, मत्स्य, और कुरुजांगल देशों से होकर कितने समय में यमुना के पास पहुंचे, जहाँ इनको भगवान् के भक्त उद्धवजी के दर्शन हुए ॥२४॥

सुबोधिनी—ततस्त्वतिव्रज्येति । ऋद्धमित्यनेन तत्र भगवानस्तीति ज्ञापितम् । **सौवीरदेशो** गुर्जरदेशः, **मत्स्यास्ततो**ऽर्वाक् । **कुरुजाङ्गलदेशः** कुरुक्षेत्रदेशः । सर्वत्र ग्रामैकरात्रविधिना समागमने षट्त्रिंशद्वर्षा जाताः । तदाह–**कालेन तावदिति** । यावत्कालं भगवान् स्थितिः, **मौशलं** च जातम् **तावद्यमुनामुपेत्य** तावता कालेन यमुनां गतस्तत्रोद्धवं **ददर्शेति** संबन्धः । दर्शने हेतुः–**भागवतमिति** इदं दर्शनं प्रत्ययजनकम् । यावतोद्धवः प्राप्तस्तावता स्वयमपि तत्र गत इति ॥२४॥

व्याख्या 'ऋद्धं' अर्थात् समृद्ध, इस पद से सूचित किया है कि वहाँ (सौराष्ट्र देश में भगवांन विराजते हैं, 'सौर्वार' देश से गुजरात देश कहा है इसके बाद 'मत्स्य' देश और कुरूजाङ्गल देश अर्थात् कुरुक्षेत्र का प्रदेश, प्रत्येक ग्राम में एक एक रात्रि रहने की विधि अनुसार विदुरजी को यात्रा में ३६ छत्तीस वर्ष लग गए कौरव नाश के बाद भी छत्तीस वर्षों तक भगवान् विराजे थे, उसी समय में मूसल की उत्पत्ति भी हुई, उस समय यमुना पर पहुंच गए और वहाँ उद्धवजी के दर्शन हुए । दर्शन में कारण 'भागवतं' भगवान् के सेवक थे, यह दर्शन विश्वास जनक थे जितने में वहां उद्धवजी प्राप्त हुए उतने में वे (वितुर जी) भी वहाँ आ पहुँचे ॥२४॥

आभास—अतःपरं सत्सङ्गेन अग्निसंयोगवत् स्वस्याऽपि तेजःप्राप्तिरिति तं विशिनष्टि

आभासार्थ—जैसे अग्नि के सम्बन्ध से प्रकाश होता है वैसे ही सत्सङ्ग से विदुरजी में भी तेज का प्रकाश हुआ, यह सूचित करने के लिये श्री शुकदेवजी उद्धव जी का वर्णन 'सवासुदेवानुचर' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**स वासुदेवानुचरं प्रशान्त बृहस्पतेः प्राप्तनयं प्रतीतम् ।**
आलिङ्गच गाढं प्रणयेन भद्रं स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—परिचित, बृहस्पति से नीति शास्त्र पढ़े हुए, शान्त और वासुदेव के सेवक (उद्धवजी) का विदुर जी प्रेम पूर्वक दृढ़ आलिङ्गन कर, भगवान् की प्रजा रूप अपने सम्बन्धियों का कुशल समाचार पूछने लगे ॥२५॥

सुबोधिनी—**स वासुदेवानुचरमिति** । भगवद्भक्तत्वेऽपि सेवकत्वं विशेषः । वासुदेवसेवकत्वान्मोक्षोपयोगित्वं तद्दर्शनस्य । अनेन संभाषणीयत्वं सूचितम् । प्रकटेऽपि नीतिज्ञत्वादन्यं न बोधयिष्यतीति विषेशणम् । **बृहस्पतेः प्राप्तनयमिति** । बृहस्पतेः सकाशात् प्राप्तो नयो नीतिशास्त्रं येन । **प्राक्तनयमिति** पाठे पूर्वमुद्धवः पुत्रत्वेन स्थित इति देवगुह्याभिज्ञः । **प्रशान्तत्वान्न** स्वयमासज्जते । **प्रतीतत्वान्न** परिहारः सम्भवति । **आलिङ्गय गाढमित्युभयोर्भगवदीयत्वात्** पूर्वस्नेहः सूचितः । **प्रणयेनेत्युभयत्र** । स्वानां **भद्रत्वे** हेतुः **-भगवत्प्रजानामिति** । भगवत्परिपाल्यानाम्, भगवतांशावतारेणोत्पादितानां वा । तस्मिन् दृष्टे स्वयमपि भगवत्संबन्धी जात इति, तदीयानां स्मरणेन पञ्चभूतेषु वायुः संस्कृतः ॥२५॥

व्याख्या—भगवद्भक्तपन से भी भगवत्सेवकपन विशेष है । उद्धवजी वासुदेव के सेवक होने से भक्तोत्तम थे, अतः इनका दर्शन मोक्ष में उपयोगी है, इससे सम्भाषण के योग्य हैं। यों सूचित किया है विदुरजी अवधूत वेष में होने से पहचाने नहीं जाते, किन्तु उद्धवजी के सामने स्वयं प्रकट हुए क्योंकि उद्धवजी नीतिज्ञ हैं वे दूसरों को न बतायेंगे कि यह विदुर है । इसलिये ही बृहस्पतेः प्राप्तनयं' उद्धवजी को विशेषण दिया है । जिनने बृहस्पतिजी से नीतिशास्त्र पढ़ा है । यदि 'प्राप्तनयं' के स्थान पर 'प्राक्तनयं' पाठ लिया जावे तो इसका अर्थ होगा, पहले उद्धव जी बृहस्पति जी के पुत्रवत से रहते थे इसलिये देवों के गुह्यविषय को भी जानते थे । 'प्रशान्त' पद से यह सूचित किया है कि वह (उद्धवजी) स्वयं किसी से मिलना ही नहीं चाहते थे क्योंकि शान्ति में रुकावट पड़ेगी, किन्तु विदुरजी पूर्व से ही परिचित थे । अतः विदुरजी से मिलने में परिहार (त्याग) की सम्भावना नहीं है । विदुरजी और उद्धवजी मिले तब विदुरजी ने गाढ आलिङ्गन किया क्योंकि दोनों भगवदीय थे इससे इनमें पूर्व से ही परस्पर स्नेह था यह सूचित किया । 'प्रणयेन' अर्थात् प्रेम से, इस शब्द से सूचित किया कि, प्रश्न और आलिङ्गन दोनों प्रेमपूर्वक हुए, अपने सम्बन्धियों के कुशल पूछने में हेतु विदुरजी का लौकिक मोह नहीं था, किन्तु वे सम्बन्धी भगवान् की प्रजा थे, भगवान् से सर्व प्रकार पालन योग्य, अथवा भगवान् ने अपने अंश से ही उनको उत्पन्न किया है, उनके दर्शन से स्वयं भी भगवत्सम्बन्धी थे । इस प्रकार तदीयों के स्मरण से पांच भूतों में से प्राणरूप वायु संस्कृत हुआ ॥२५॥

आभास—भगवदीयानां कुशलं द्विविधम् सामान्यविशेषरूपेण । तत्र सामान्यं भगवत्पोष्याणां कुशलं भगवत्स्थितिसाध्यमिति प्रथमं हेतुभूतां भगवत्स्थितिं पृच्छति—

आभासार्थ—भगवदियों का कुशल, सामान्य और विशेषरूप से दो प्रकार के होते हैं उनमें भगवान् ही जिनका पोषण करते हैं ऐसे भगवदियों का कुशल भगवान् की स्थिति होने पर ही सिद्ध होता है, इसलिये इसमें हेतुभूत भगवान् की स्थिति निम्न श्लोक में पूछते हैं—

श्लोक—**कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्यपाद्मानुवृत्त्येह किलाऽवतीर्णौ ।**
आसातउर्व्याः कुशलं विधाय कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ।।२६।।

श्लोकार्थ—निःसंदेह अपनी नाभि से उत्पन्न कमल से जन्म लेने वाले (ब्रह्मा) की प्रार्थना से, जो दो पुराण पुरुष प्रकट हुवे हैं, वे पृथ्वी का कुशल कर, सबको अपने आनन्द का अवसर देने वाले, वसुदेव के घर में कुशलपूर्वक विराजें हैं न ? ।।२६।।

सुबोधिनी—कच्चिदिति । अवतारावेशाभिप्रायेण द्विवचनम्, स्वगतभदाभावाद्भगवन्मूर्तीनाम् । **पुराणाविति** पुरुषौत्तमौ । जीववैलक्षण्यायोक्तम् । अविशेषेण कार्यमाह—नाभौ भवे पद्मे आविर्भूतो ब्रह्मा **स्वनाभ्यपाद्मः**, तस्या**नुवृत्तिः** प्रार्थना । **किलेति** पुराणादौ तथा प्रसिद्धत्वात् । भूम्याः कुशलं भारावतरणं कृत्वा, सर्वेषां कुशलं यथा भपति तथा दत्तावसरौ **कृतक्षणौ**, निश्चिन्ततया स्वानन्दानुभवे निर्मितक्षणौ वा । वसुदेवगृहे किमासाते ? इति प्रश्नः । अनेन सर्वेषां साधारणं कुशलं पृष्टम् ।।२६।।

व्याख्या—'पुराणौ-पुरुषौ' द्विवचन देने का भावार्थ बताते हैं कि एक स्वरूप अवतार हैं और दूसरे आवेश स्वरूप हैं, भगवत्स्वरूपों में स्वागत भेद होता ही नहीं है । यों कहकर[1] इनमें जीवों से विलक्षणता बताई है 'स्वनाभ्यपद्म' का अर्थ है अपनी नाभि में (भगवान् की नाभि में) उत्पन्न कमल, से प्रादुर्भूत ब्रह्मा, उसकी 'अनुवृत्या' प्रार्थना से अवतार लिये हैं, 'किल' पद से इन्होंने अवतार लिया है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, क्योंकि पुराण आदि शास्त्रों में इनकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं, पृथ्वी का भार उतार कर उसका कुशल कर, सबको आनन्द लेने का अवसर (मौका) दिया है, अथवा बिना चिन्ता अपने आनन्द के अनुभव अवसर देनेवाले; वसुदेवजी के घर में विराजे हैं, इस प्रश्न से सबका साधारण कुशल पूछा है ।।२६।।

आभास—विशेषं पृच्छति ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में विशेष पूछता है—

---

[1] "पुराणौ–पुरुषौ" कह कर सूचित किया है कि ये दो पुरुषोत्तमस्वरूप होने से जीवों के समान नहीं हैं ।

श्लोक--**कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो भामः स आस्ते सुखमङ्ग ! शौरिः ।**
यो वै स्वसॄणां पितृवद्ददाति वरान् वदान्यो वरतर्पणेन ।।२७।।

श्लोकार्थ—हे ऊद्धव ! जो अपनी बहिनों को उदारता से पिता के तुल्य इच्छित पदार्थ देते हैं और अपनी बहिनों के पतियों को भी अभीष्ट देकर प्रसन्न करते हैं एवं जो कौरवों का परम मित्र हमारे बहनोई वसुदेवजी प्रसन्न है न ? ।।२७।।

सुबोधिनी—**कच्चित्कुरूणामिति** । प्रथमं वसुदेवकुशलप्रश्ने हेतुः-कुरूणां सुहृत् नो भामश्च । **'भामस्तु भगिनीपतिः'** । प्रतिविवाहसम्भावनया देवक्यपि स्वभगिनीत्यभिप्रायेणोक्तम् । कौरवगृहेवा तस्याऽन्यो विवाहः । पृथापेक्षया वसुदेवस्य ज्येष्ठत्वात् देशन्यायेन कनिष्ठभगिनीभर्ता शालक इति भावुकत्वम् । किञ्च । न सम्बन्धमात्रं वसुदेवे, किन्तु उपजीव्य इत्याह-**यो वै स्वसॄणामिति** । शूरः श्वशुरो ददात्येव, स्वयमपि भगिनीनां ददाति । **वरान**भिलषितार्थान् । आविहितत्वान्न चतुर्थी । अधिकदाने हेतुः-**वदान्य** इति । भगिनीनां भर्तृतर्पणमपि कृत्वा ।।२७।।

व्याख्या—पहले ही वसुदेव जी के कुशल प्रश्न करने का कारण कहते हैं, 'कुरूणां सुहृत् नो भामश्च' कौरवों के मित्र और हमारे बहनोई हैं, संस्कृत में बहनोई को 'भामः' कहते हैं, परस्पर विवाह की सम्भावना के कारण देवकीजी भी अपनी (विदुर) बहिन है इस अभिप्राय से 'भामः' कहा है। वसुदेव जी का दूसरा विवाह कौरवों के यहां हुआ था, पृथा (कुन्ती) से वसुदेवजी बड़े थे, अतः देश की पृथा के अनुसार छोटी बहन का पति साला होता है इसलिये वसुदेव जी बहनोई लगते हैं। और विशेष में वसुदेव जी के साथ केवल सम्बन्ध ही नहीं था, किन्तु वे उपकारक भी थे, जैसे कि कहा है 'यो वै स्वसॄणां' शूरसेनजी स्वशुर तो देते हैं किन्तु वसुदेव जी भी बहिनों को, जो कुछ वे चाहती थी वो देते थे, इस प्रकार देने की शास्त्र में आज्ञा नहीं है तो भी वसुदेवजी देते हैं इसके लिये श्लोक में 'स्वसृभ्यः' चतुर्थी विभक्ति नहीं दी है व्याकरण नियमानुसार जिसको दिया जाता है वह पद चतुर्थी में देना चाहिये, वह न देकर 'स्वसॄणाँ' षष्ठी विभक्ति में देकर यह सूचित किया है कि यह देना शास्त्र-विहित नहीं है। अधिक दान में कारण बताया है कि वसुदेव जी 'वदान्यः' उदार है। केवल बहिनों को नहीं दिया किन्तु बहनोइयों को भी खूब देकर तृप्त किया ।।२७।।

आभास—यादवानां मध्ये सर्वत उत्तमं प्रद्युम्नं पृच्छति--

आभासार्थ--इस 'कच्चिद्वरूथाधिपति' श्लोक में यादवों में सवसे उत्ताम प्रद्युम्न का कुशल पूछते हैं—

श्लोक--**कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग ! वीरः ।**
यं रुक्मिणी भगवत्तोऽभिलेभे आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे ।।२८।।

श्लोकार्थ--हे उद्धव ! रुक्मिणीजी ने विप्रों को पूजादि से प्रसन्न कर, भगवान् से जिनको प्राप्त किया, और जो पूर्व में सृष्टिकर्त्ता कामदेव था, वह यादवों का सेनापति वीर प्रद्युम्न प्रसन्न है न ? ।।२८।।

सुबोधिनी—कच्चिददिति । वरूथाधिपतिः सेनापतिः । यदूनां मध्ये वीरः । यदूनां वा वरूथाधिपतिः । स्वतो वीरः, सेनातो जन्मपरम्परया च । तदाह्–**प्रद्युम्न** इति । **प्रकृष्ट**धनात्मकः । अतो राजापेक्षया प्रथमं पृष्टः । किञ्च । स पूर्वं सर्गहेतुः कामः । यं रुक्मिणी भगवन्तं प्रार्थयित्वा, वंशजननार्थं विप्रानाराध्य, धर्मसिद्धयर्थं तपः कृत्वा (रुक्मिणी तं) लेभे । **आराध्य विप्रानिति**त दर्थं शक्त्यतिशयाधानं कृतं गम्यते । **भगवत्त** इति पुत्रार्थमेव यत्नः ॥२८॥

व्याख्या––'वरूथाधिपतिः' सेनापति, यादवों में वीर, अथवा यादवों की सेना का पति होने से 'सेनापति' कहा जाता है, यादवों में वीर होने से ही प्रघुम्न को, अपनी सेना का पति अर्थात् सेनापति बनाया गया था व प्रद्युम्न स्वतः वीर था सेना से अर्थात् सेनापति बनने से और जन्म परम्परा से प्रसिद्धि में आए हैं अतः कहते हैं 'प्रद्युम्न' उत्तमधनरूप होने से यह (प्रद्युम्न) नाम दिया है, अतः राजापेक्षा से भी पहले इसका प्रश्न किया गया है । इसके अलावा यह पहले, सृष्टि की उत्पत्ति का हेतु कामदेव था ।

जिसको रुक्मिणी ने भगवान् की प्रार्थना कर, वंश वृद्धि के लिये विप्रों की आराधना कर, धर्मसिद्धि के लिये तपस्या कर, प्राप्त किया है । रुक्मिणी जी ने विप्रों की आराधना का प्रयास कर भगवान् से शक्तिशाली पुत्र प्राप्त किया, जिससे प्रभु ने इसमें ऐसी विशेष शक्ति स्थापित की जिससे इसका शङ्कर भी पराभव न कर सके ॥२८॥

श्लोक—**कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोजदाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।**
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥२९॥

श्लोकार्थ––जिसने, दूरसे अर्थात् पुत्र पौत्र द्वारा भी राज्य मिलने का नहीं यों समझ राज्यासन की आशा त्यार दी थी, किन्तु कमल नेत्र भगवान् ने कृपा कर जिसका राज्याभिषेक किया, वह सात्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्हों का अधिपति उग्रसेन कुशल ही है न ? ॥२९॥

सुबोधिनी कच्चित्सुखमिति । राज्ञो राज्यं तु काकतालीयन्यायेनाऽऽगतमित्याह-**यमभ्यषिञ्चदिति** । मृतपुत्रस्य दुःखाभावेन राज्यस्वीकारे हेतुः–**शतपत्रनेत्र इति** । दृष्ट्यैव सर्वतापहारी कमलनयनः **दूरादिति** पुत्रपौत्रद्वाराऽपि ॥२९॥

व्याख्या—अग्रसेन राजा को राज्य तो काकतालीय न्याय के अनुसार स्वतः मिल गया, पुत्र मरने के दुःख को भूल कर राज्य कैसे स्वीकार किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'यमभ्यविश्चच्छतपत्रनेत्रः' जिसका राज्याभिषेक कमल नयन भगवान् ने किया है, अर्थात् कमल नेत्र भगवान् की दृष्टि पड़ते ही दुःख की निवृत्ति हो गई है, और उसकी ऐसी इच्छा होने से ही राज्य स्वीकार करना पड़ा, अन्यथा तो, वे पुत्र पौत्र द्वारा भी यह राज्य प्राप्त होगा ऐसी आशा छोड़ बैठे थे ॥२९॥

आभास––निरतिशयस्वरूपसामर्थ्यसद्भावात्साम्बादीन् माहात्म्यस्वरूपे वदन् पृच्छति

आभासार्थ—साम्ब आदि में असीम स्वरूप तथा शक्ति के होने से, उनके माहात्म्य स्वरूप को कहते हुए तत्सम्बन्धा प्रश्नों का पूछना निम्न श्लोक से आरम्भ करते हैं —

श्लोक—**कच्चिद्धरेः सौम्य ! सुतः सदृक्ष आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।**
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥३०॥

श्लोक—हे श्रेष्ठ ! जिसको अनेक व्रत करने वाली जाम्बवती ने जन्म दिया है और जिस देव कार्त्तिकेय को पहले अंबिका ने गर्भ में धारण किया, उस हरि के समान (उसका) पुत्र, रथियों का नायक सांब कुशल तो है न ? ॥३०॥

सुबोधिनी कच्चिद्धरेरिति । संबोधनानि तत्र तत्र कथने हेतुभूतानि । **हरेरेव सदृक्षो रथिनामग्रणी साधु आस्त** इति । **साम्बपदेन** च पार्वत्या सहितो महादेव एदाऽवतीर्ण इति ज्ञायते अत एव तस्य जननं न प्राकृततया शक्यमित्याह—**असूत यं जाम्बवती व्रताढ्येति** । जाम्बवान् बले भगवत्तुल्यो भक्तश्च, तस्य कन्या ततोऽपिव्रताढ्या तस्य स्वरूपतः साशर्थ्यमाह—**देवं गुहमिति** । गुहस्य देवत्वमुत्कर्षो भूतगणमध्यपातित्वाभावाय । **अम्बिकया** अग्निपत्न्यामन्तर्भूतया । अयमपि तस्योत्कर्षः ॥३०॥

व्याख्या—संबोधनों वहाँ वहाँ (जहाँ जहाँ प्रश्नों के उत्तर देने हैं) कारणरूप हैं। हरि के ही समान रथियों के नायक (साम्ब) कुशल है न ? 'साम्ब' पद से यह भाव सूचित होता है कि पार्वती सहित महादेव ने ही इस रूप से अवतार धारण किया है। इससे इसका जन्म प्राकृत हो ऐसी संभावना ही नही है। 'असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या' क्योंकि जिसको बहुत व्रत करने वाली जाम्बवती ने जन्म दिया है। जाम्बवान् बल में भगवान् के समान था और भक्त भी था, उसकी (जाम्बवान् की) कन्या उससे भी विशेष थी कारण कि भगवान् के लिये अधिक व्रत करती थी, उसके (साम्बके) स्वरुप से सामर्थ्य ये है कि वह कार्तिकेय देव था, कार्त्तिकेय की उत्कर्षता इसलिये है कि, उसकी गणना भूतगणों में नहीं होती है कारण कि उसमें देव पन है अतः वह उत्तम है। दूसरा उसका यह भी उत्कर्ष है कि, उसको अग्नियत्नियों में जिसकी गणना होती है उस अंबिका (पार्वती) ने इसको अपने गर्भ में धारण किया है ॥३०॥

आभास—शूरानुक्त्वा शूरभक्तमाह ।

आभासार्थ—शूरवीरों मे सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न कर अब 'कच्चिधद्दु:' श्लोक, से शूरवीर भक्तों का चरित्र पूछते हैं—

श्लोक—**क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।**
लेभेऽञ्जसाऽधोक्षजसेवयैव गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—जिसने अर्जुन से धनुर्विद्या का रहस्य प्राप्त किया है जो गति सन्यासियों को नहीं मिलती है। वैसी परमभक्ति रूप भगवदीय गति, भगवत्सेवा से सरलता से प्राप्त की है। वह युयुधान (सात्यकि) कुशल है ? ॥३१॥

सुबोधिनी—क्षेमं स कच्चिदिति। **युयुधानः** सात्यकिरर्जुनशिष्यः **गतिं** परमभक्ति फलरूपाम्। तत्र साधनं भगवत्सेवैव, न तु ज्ञानमपीत्याह—**यतिभिर्दुरापामिति** ॥३१॥

व्याख्या—युयुधान भी सात्ककि का नाम है जो अर्जुन का शिष्य है, उसने 'गति' फलरूपा परम भक्ति प्राप्त की ऐसी गति के प्राप्त करने का साधन 'भगवत्सेवा' ही है न कि ज्ञान भी है अर्थात् ज्ञान से यह फलरूपा परमभक्ति नहीं मिलती है। अतः कहा है कि 'यतिभिर्दुरापां' जो सन्यास ले ज्ञानी (ज्ञान मार्ग पर चलते हैं) बने हैं उनको यह गति (फलरूपा-परमभक्ति) प्राप्त नहीं होती है ॥३१॥

आभास—परमभक्तमाह।

आभासार्थ—'कच्चिद्बुधः' श्लोक में भगवद्भक्त के लिये प्रश्न करता है—

श्लोक—**कच्चिद बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते श्वपल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः।**
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसुष्वचेष्टत प्रेमबिभिन्नधैर्यः ॥३२॥

श्लोकार्थ—प्रेम के कारण अधीर बन कर जो, श्री कृष्णचन्द्र के चरणों से अङ्कित मार्ग की रज में लोटपोट हो रहा है और जिसने भगवान् की शरण ले ली है। इस कारण ही वह बुध कहा गया है। 'अनमीवः' और जो नीरोग है अर्थात् जो पापरहित है। ऐसा श्वफल्कक का पुत्र (अक्रूर) कुशल है न ? ॥३२॥

सुबोधिनी—**कच्चिद् बुध इति।** अत एव बुधः। **अनमीवो** नीरोगः। कृष्णसेवायोग्यत्वाय तथा प्रश्नः। **श्वफल्कपुत्रोऽक्रूरः भगवत्प्रपन्न** शरणागतः। तस्य भक्तिर्लोके प्रसिद्धेत्याह—**यः कृष्णपादाङ्कितेति।** मार्गपांसुरत्यन्तमपवित्रः सोऽपि कृष्णपादाङ्कित इति गङ्गापेक्षया तस्योत्तमत्वं मत्वा तत्र लोटनं कृतवान्। **अचेष्टतेति** भक्त्यावेशेन लौकिकपदार्थज्ञानाभावः सूचितः। प्रबोधितोऽपि भक्त्याविष्टो न प्रबुद्ध इत्याह—**प्रेमविभिन्नधैर्य इति।** धीरो हि सर्वग्रहणे समर्थः ॥३२॥

व्याख्या—भगवच्छरण लेने से ही वह बुद्धिमान था। 'अनमीवः, विशेषण से यह प्रश्न किया है कि, वह नीरोग[१] है न ? जिससे उसमें कृष्ण सेवा करने की योग्यता का ज्ञान होगा। श्वफल्क का पुत्र अर्थात अक्रूर, 'भगवत्प्रपन्नः' भगवच्छरणागत, उसकी भक्ति लोक में प्रसिद्ध है।

---

[१]—पाप के कारण रोग होता है अतः वह निष्पापी तो है ?

इसलिये कहते हैं कि 'कृष्ण पदाङ्कित मार्गपांसुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः' श्रीकृष्ण के दर्शन होने तक भी जो धैर्य धारण न कर सका, अतः भगवान् के चरणाङ्कित रजों में लोटपोट होने लगा, मार्ग की रज अत्यन्त अपवित्र होती है, तो भी उसको कृष्णचरणों से अङ्कित देख गङ्गा से भी उसको उत्तम मानकर उसमें लोटने लगा, 'अचेष्टत' क्रिया से यह सूचित किया कि उसमें उस समय ऐसा भक्ति का आवेश था, जिससे यह लौकिक पदार्थ है ऐसा ज्ञान ही नहीं रहा, 'प्रेमविभिन्न धैर्यः' पद से यह कहा है कि प्रेम के कारण धैर्य न रहने से एवं भक्ति के आवेष से उसकी ऐसी स्थिति थी जो, प्रबोध कराते हुए भी जगता नहीं था, कारण कि धैयै छूट जाने के अनन्तर समझ शक्ति रहती नहीं है ।।३२।।

आभास—यद्भक्त्या पुत्रत्वमपि प्राप्तो हरिः, तामतिभक्तां पृच्छति ।

आभासार्थ—'कच्चिच्छिवं' श्लोक में जिसकी भक्ति से हरि, पुत्र होकर आये उस बड़ी भक्ता (देवकी) का कुशल पूछता है—

श्लोक—**कच्चिच्छिवं देवक भोजपुत्र्या विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।**
या वै स्वगर्भेण दधार देवं त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—जिस तरह वेदत्रयी, यज्ञों के विस्तार को करने वाले अर्थ को धारण करते हैं और जिसका विष्णु (वामन) पुत्र हुआ ऐसी देवमाता (अदिति) की तरह अर्थात् जैसे अदिति ने विष्णु (वामन) को गर्भ में धारण किया उसी तरह जिसने अपने गर्भ में भगवान् को धारण किया है, वह भोजवंशोत्पन्न देवक की पुत्री देवकी कुशल है न ? ।।३३।।

सुबोधिनी—कच्चिच्छिवमिति । भोजेति वंशनाम् । देवक एव भोजः । पुत्रत्वमघटमानमाशङ्क्य द्रष्टान्तः अदितिर्यथा वामनमाता विष्णुरेवप्रजा यस्याः । देवानां मामेति सर्वदेवास्तस्यामाविर्भूता इति भगवानपि स्वयमाविर्भूतः । पुत्रत्वं च गर्भस्थितिमात्रेण, न जननात् । तदाह—**या वै स्वगर्भेण दधार देवमिति** । धारणमपि सर्वलोकार्थं तदाह—**त्रयी यथेति** । गर्भस्थितिमात्रेण जनकत्वं वारयन्माहात्म्यमुक्त भवति । **अर्थमिति** सहजसम्बन्धरूपत्वादन्तर्यामितया विद्यमान एव प्रादुर्भूत इति सूचितम् ।।३३।।

व्याख्या—'भोज यादवों में एक वंश का नाम है, अतः देवक ही भोज है अर्थात् देवक और भोज पृथक दो नहीं हैं, देवक के वंश परिचय के लिये भोज कहा है । भगवान् किसके पुत्र होते नहीं अतः दृष्टान्त देकर इस शङ्का का निवारण किया है । जैसे 'अदिति' वामन की माता है, जिसकी सन्तति विष्णु ही हुआ है । वह (अदिति) देवो की माता होने से सर्वदेव उसमें से उत्पन्न हुए हैं, भगवान् भी स्वयं आविर्भूत हुवे हैं, पुत्र पन तो केवल गर्भ में स्थिति करने के कारण माना जाता

है, न कि पैदा[1] करने से भगवान् पुत्र हैं। वह कहते हैं कि 'या वै स्वगर्भेण दधार देवं जिसने देव को अपने गर्भ में धारण किया है। इन शब्दों से यह स्पष्ट किया है कि भगवान् देवकी के पुत्र इसलिये कहलाये हैं कि उसने भगवान् को केवल गर्भ में विराजमान किया था। वह धारण भी सर्वलोक हितार्थ था, जिसमें अन्य दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'त्रयी यथा यक्षवितानमर्थम् जैसे वेदत्रयी, यज्ञ के विस्तार करने के लिये अर्थ को धारण करता है जैसे अर्थ, शब्द का सहज साथी है, वैसे अन्तर्यामी भी भीतर सदैव विराजते ही हैं, वह विद्यमान ही बाहर आये हैं, यों सूचित किया है ॥३३॥

आभास—अनिरुद्धे जीवस्योत्कर्षाभावेनाऽऽविष्टस्य भगवत एव महात्म्यं वदन स्तौति

आभासार्थ—अनिरुद्ध में भगवदावेशस्वरूप हैं। कि उत्कृष्ट जीवन हैं। अतः इस 'अपिस्विदास्ते' श्लोक में भगवान् का ही माहात्म्य कहते हुए अनिरुद्ध की स्तुति करते हैं—

श्लोक—**अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।**
यमामनन्ति स्म ह शब्दयोनि मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—जो, आप वैष्णवों की सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। जो मनोमय अंतःकरण का चतुर्थ तत्व है। इसलिये ही जिसको शब्द का प्रसिद्ध कारण माना जाता है। वह भगवान् अनिरुद्ध प्रसन्न है न ? ॥३४॥

सुबोधिनी—**अपीति** । **भगवाननिरुद्धः** । **सात्वतां** वैष्णवानां सर्वकामपूरकः । अनिरुद्ध एव हि पालकः । सहि मनसोऽधिष्ठात्री देवता । अत एव **यं शब्दयोनिमामनन्ति** । **स्मेति** प्रसिद्धे । **'मनः पूर्वरूपंवागुतररूपम्'** इति श्रुतेः । हेत्याश्चर्यम्, तादृशस्याऽवतार इति । यतोऽयं मनोमयः, तद्देवतात्वेनैव प्रसिद्धः, अत एव न केनाऽपि रोद्धुं शक्यत इत्यनिरुद्धः । किञ्च । **सत्त्वस्याऽन्तःकरणस्य तुरीयं** यन्मनस्तस्य परमार्थतत्त्वम् । अनेन सर्वात्मत्वं तस्य लोकसिद्धमपीत्युक्तम् ॥३४॥

व्याख्या—भगवान् अनिरूद्ध वैष्णवों की सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं, क्योंकि अनिरुद्ध ही पालन करनेवाले हैं। वहा मनका अधिष्ठाता देव है इसलिये ही इसको शब्द का कारण मानते हैं। 'स्म' पद से बताया है कि, श्रुति में 'मन' को पूर्वरुप वाणी को पीछे का रूप' कहा है, यह प्रसिद्ध है, 'ह' शब्द से आश्चर्य प्रकट किया है कि ऐसे अनिरुद्धजी का अवतार हुआ है। क्योंकि यह मनोमय है अतः मन के देवता हैं यों प्रसिद्ध है इस कारण से इनको कोई रोक नहीं सकता है जिससे ही इनका नाम 'अनिरुद्ध' है। किञ्च अन्तःकरण का चतुर्थ रूप जो मन है उसका यह (अनिरूद्ध) वास्तविक तत्व है। इससे यह सर्वरूप है यों लोक से भी सिद्ध ही है ॥३४॥

---

१ - उदर में से बाहर निकालने से।

२ मनः पूर्वरूप वागुत्तररूपम इति श्रुते।

आभास—एवं कतिपयान् विशेषेण पृष्ट्वा, अन्यान् सर्वानेकेन पृच्छति—

आभासार्थ—इस प्रकार कितनों ही का विशेष रीति से पूछकर, अब सबका साथ में एक ही श्लोक 'अपिस्विदन्ये' से पूछते हैं—

श्लोक—**अपिस्विदन्ये च निजात्मदैवमनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।**
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्णगदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! हृदीक, सत्या के पुत्र, चारुदेष्ण और गद आदि अन्य, जो अपने आत्म देव की अनन्यवृत्ति से भक्ति करते है वे भी कुशल से रहते हैं न?।३५।

सुबोधिनी—**अपि स्विदन्ये चेति** । **निजश्वासावात्मा** च चैतन्यरूपः, तस्याऽपि यो **देवस्तादृशम्** **अनन्य** वृत्त्या सर्वभावेन ये तदेकनिष्ठा **हृदीकादयः** । **सत्यात्मजाः** सत्यभामापुत्राः **चारुदेष्णः** प्रद्युम्नभ्राता **गदादयो** भ्रात्रादयः । **आदिशब्देन** सर्वे संगृहीताः । तेषां चरित्रमापि किं समीचीनमिति प्रश्नः ॥३५॥

व्याख्या—अपनी जो चैतन्यरूप आत्मा उसके भी जो देव, भगवान् हैं उसकी अनन्य वृत्ति अर्थात् सर्वभाव से उस एकाकी ही भक्ति जो हृदीक आदि करते हैं उनका चरित्र तो श्रेष्ठ है न ? वैसे ही सत्यभाम के पुत्र, 'चारूदिष्णु' प्रद्युम्न का भ्राता गद आदि भगवान् के भाई, आदि शब्द अन्य सर्व का ग्रहण किया है । उनका चरित्र भी अच्छा है न ? ॥३५॥

आभास—युधिष्ठरस्य कुशलं पृच्छति ।

आभासार्थ—'अपिस्वदोर्भ्यां' श्लोक से युधिष्ठिर का कुशल पूछता है—

श्लोक—**अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।**
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥३६॥

श्लोकार्थ—विजयों की परम्परावाली साम्राज्यलक्ष्मी के कारण, दुर्योधन, जिसकी सभा में दुःखी होने लगा, वह धर्म (युधिष्ठिर) अर्जुन और श्री कृष्ण की सहायता से और अपनी भुजाओं से धर्ममर्यादा का पूर्ण रीति से पालन करता है न ? ॥३६॥

सुबोधिनी—**अपि स्वदोर्भ्यामिति** । असाध्यसाधने हेतुः–**विजयाच्युताभ्यामिति** । तौ हि नरनारायणौ, अनिरुद्धांशौ धर्मरक्षकौ । राजा च **धर्मः** । बाहुभ्यां चाऽऽत्मा रक्ष्यते, अत उक्तं **स्वदोर्भ्यामिति** । **विजयोऽर्जुनः** । **अच्युतो** भगवान् **सेतुं** मर्यादां परम्परागताम् । **धर्मेण** विहितप्रकारेण । किं परिपालयतीति प्रश्नः धर्मत्वेन धर्मतः परिपालनं सिद्धमेव, किमिति पुनः पृच्छ्यत इत्याशङ्क्य सिंहासनस्याऽनर्थहेतुत्वमाह–**दुर्योधन इति** । विविधो जयो **विजयस्तस्य** परम्परा यस्याम्, तादृशलक्ष्म्या । **विजयोऽर्जुनस्तदनुवृत्त्या** सेवया **साम्राज्यलक्ष्म्या च** यत्सभायां **दुर्योधनोऽतप्यतेति** भिन्नं वा । **राज्ञस्तु** गुणद्वयमधिकमस्तीति सुतरां तापः सम्भवतीति भावः ॥३६॥

व्याख्या—धर्म मर्यादा का सम्पूर्ण रीति से पालन करना असाध्य है। जिसका भी पालन किया, तो उसके पालन में कौन सा हेतु है, वह हेतु 'विजयाच्युताभ्यां' पद से बताया है। क्योंकि वे, दो, नर–नारायण ऐसे धर्म रक्षक अंश हैं जिनको, इस कर्म करने से कोई शक्ति रोक नहीं सकती है, राजा स्वयं धर्म है। भुजाओं से अपनी रक्षा की जा सकती है। इसलिये कहा है 'स्वदोर्भ्यां' अपनी दो भुजाओं से, विजय (अर्जुन) अच्युत (भगवान्) 'सेतुम्' परम्परा से आई हुई मर्यादा को, शास्त्रोक्त प्रकार से क्या पालन करते हैं? यों प्रश्न है। राजा स्वयं धर्म है तो धर्म से ही पालन करेंगे तो फिर ऐसा प्रश्न क्यों? जिसके उत्तर में कहते हैं कि सिंहासन अनर्थ का मूल है, विजय का अर्थ है, जिसमें अनेक जय रही है ऐसी राज्य लक्ष्मी जिसके कारण अर्जुन की सेना और साम्राज्य लक्ष्मी के कारण, जिसकी सभा में दुर्योधन दुःखी हुआ है, अथवा यह वाक्य पृथक् है, राजा में तो दो गुण (राजसूय यज्ञ से प्राप्त साम्राज्य की लक्ष्मी और अर्जुन की की हुई सेवा) विशेष थे, जिनसे दुर्योधन को दुःख होने की विशेष सम्भावना है, यों भाव है ॥३६॥

आभास—भीमं पृच्छति।

आभासार्थ—'किंवा' श्लोक में भीम बनिस्बत पूछता है—

श्लोक—किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत्।
यस्याऽङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—गदा को अनेक प्रकार फिराने वाले जिस भीम के चरण प्रहार को कठिन भूमि भी सहन नहीं कर सकती थी, और जो भीम अपराधी के अपराध को सर्पवत् क्षमा नहीं करता है उस भीम ने बहुत समय से विचारित वैर का त्याग किया वा नहीं? ॥३७॥

सुबोधिनी—किं वेति कृतापराधेषु **अमर्षी भीमोऽघमतिः**। **किमिति** प्रश्नः। अघमत्या अमर्षी किमिति वा **अघमतिः** पापमतिर्मारक इत्यर्थः। **अघमत्या** मारयिष्यामीति बुद्धया। **अघमपराधं** दण्डरूपम्, **अत्यमर्ष** भीम इति वा। अत्यमर्षित्वे दृष्टान्तः। **दीर्घतमं** दीर्घकालचिन्तितम्, **पुत्रा**दिपरम्पराविषयमपि वा अनेन प्रतीज्ञा भीमेन पालिता न वा, अर्जुनेन वा ते मारिताः? इति प्रश्नः। अशक्यं तु तस्य नास्तीत्याह**यस्येति यस्य भीमस्याङ्घ्रिपातं रणभूः** कर्कशाऽपि **न सेहे** सोढुमशक्ता। अङ्घ्रेः पात उत्प्लुत्य पतनात्मकः। तस्याऽवसरमाह-**मार्गं** गदायाश्चरत इति। गदाया विवधशिक्षाप्रकारं कर्तुं चरतः। गदायुद्ध एव उत्प्लुत्यादिप्रकाराः ॥३७॥

व्याख्या—अपराधियों को क्षमा न करने वाला भीम, उनका बुरा विचार रहा है क्या? अथवा उनका बुरा विचारने से उनके अपराधों का सहन नहीं कर सकता है, अथवा 'अघमति' पद का भाव यह है कि भीम पाप मति है क्योंकि अनिष्ट का ही विचार उसकी बुद्धि में है और मारने वाला है। 'अघमत्या' मारूंगा इस बुद्धि से 'अघं' दण्डरूप अपराध का त्याग न करने वाला अर्थात् क्षमा न करने वाले भीम ने वैर छोड़ा कि नहीं? स्वल्प भी क्षमा न करने में सर्प का दृष्टान्त दिया

है। 'दीर्घतमम्' पदसे यह कहा है कि यह बैर अबका नहीं है किन्तु बहुत समय से विचारित है अथवा पुत्रादि परम्परा विषयक भी है। ऐसी प्रतिज्ञा का पालन भीमसेन ने किया वा नहीं ? अथवा अर्जुन ने उनको मारा ? उनको मारना भीम के लिये अशक्य तो था ही नहीं, कारण कि जिस भीम के चरण का प्रहार कठिन भूमि भी सहन नहीं कर सकती थी, क्योंकि भीम कूद कूद कर पृथ्वी पर चरण धरता था जिससे वह कूदना पृथ्वी सहन कैसे कर सकेगी ? भीम गदा को अनेक प्रकार से फिराता हुआ और कूदता हुआ चलता था, गदा का युद्ध ही कूद कर प्रहार करने के प्रकार का होता है ॥३७॥

आभास—अर्जुनं पृच्छति ।

आभासार्थ—'कच्चिद्यशोधा' श्लोक में अर्जुन विषयक प्रश्न करता है -

श्लोक—**कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।**
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥३८॥

श्लोकार्थ—माया से भील रुप बने शङ्कर, जिसके बाणों के समूहों से आच्छन्न होने के कारण जिस पर प्रसन्न हुए थे, रथों के समूहों के पालकों की कीर्ति को स्वयं धारण करने वाले, गांडीव धनुषधारी अर्जुन ने अपने शत्रुओं को नाश, कर वह शत्रुरहित हुआ वा नहीं ? ॥३८॥

सुबोधिनी—कच्चिददिति । रथयूथपानां यशोधा यशोधारकः । **यशोहेति पाठे सर्वेषां यशो दूरीकरोतीति** तत्र सामर्थ्यं—**गाण्डीवधन्वेति । यशोधाः** कीर्तिधारी । सर्वेषां कीर्ति मन्मारणेन स्वयमेव विभर्त्तीति तथा तन्मध्ये वा । अनेन स्वतः परतश्च सामर्थ्यं सूचितम् । **गाण्डीवधन्वेति** तस्य त्रिषु लोकेष्वप्यरीणां विद्यमानत्वात् । उपरतारिर्जातो न वेति प्रश्नः । सामर्थ्यमाह—**अलक्षित इति** युद्धसम्बन्धार्थम् । **मायाकिरातः** अत एवाऽलक्षितः । अत एव यच्छरकूटेन आच्छन्नः । एतादृशसामर्थ्यवतो जये विलम्बकारणं नास्ति, प्रतियोगिप्राप्तप्रभावव्यतिरेकेण । अतः सन्देहः, किं सर्वे प्रतियोगिनः प्राप्ता न वेति ? ॥३८॥

व्याख्या—रथ समूहों के पालकों की समग्र कीर्ति को स्वयं धारण करने वाले अर्जुन 'यशोहा पाठ लिया जाय तो, अर्थ किया जाएगा, सबके यश को दूर फेंकने वाले अर्थात् सबको जीत उनके यश को नाश कर स्वयं यशस्वी बने हुए अर्जुन की यों करने में सामर्थ्य है। गाण्डीवधनुष का धारण करने से 'यशोधाः' कीर्तिधारी हुवे हैं, सबकी कीर्ति को, उनको मारने से स्वयं ने ही धारण करली हैं, अथवा उनमें से आप ही यशस्वी हैं, इससे यह बताया है कि अर्जुन को शत्रुओं से विशेष सामर्थ्य स्वतः अर्थात् अपने से ही है। 'गाण्डीवधनुषधारी' पद से यह सूचना दी है कि उसके तीनों लोकों में भी शत्रु हैं अब बताइये कि उनको नाश कर शत्रुरहित हुए हैं वा नहीं ?

सामर्थ्य बताते हैं, अर्जुन युद्ध में शामिल हो इसलिये माया से भील का रूप धारण कर शिवजी युद्ध में खड़े हुए जिनको अर्जुन पहचान न सके, अतः उनको अपने बाणों से आच्छादित कर दिया ऐसे सामर्थ्यवाले का जय होने में विलम्ब होने का अन्य कोई कारण नहीं है सिवाय शत्रुओं के अभाव के, इसलिये संदेह कर पूछता है कि इसके जो भी शत्रु हैं वे सब लड़ कर मरने के लिये आये वा नहीं ? ।।३८।।

आभास—'यमौ पृच्छति,

आभासार्थ – 'यमावुतस्वित्तनयौ' श्लोक में नकुल सहदेव के विषय पूछते हैं—

श्लोक—**यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः पृथैर्वृतौ दक्ष्मभिरक्षिणीव ।**
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ।।३९।।

श्लोकार्थ—जैसे नेत्र बरौनियों (पलकों) से रक्षित हैं, वैसे पार्थों से रहित पृथा के दो जोड़वे पुत्र, जैसे दो गरूडों ने इन्द्र के मुख से अमृत छीन लिया वैसे युद्ध में शत्रुओं से अपना भाग छीन कर आनन्द कर रहे हैं न ? ।।३९।।

सुबोधिनी—यमाविति । मातृभ्रातृसंमानन-शत्रुजयसन्देहाभावेऽपि स्वतो रमणमस्ति नवेति सन्देहात्पृच्छति । माद्रीपुत्रावपि पृथायां समर्पणात्तत्पुत्रौ । **परात् उद्दाय** आच्छिद्य । **सुपर्णाविवेति** सम्भावनया गुरुडदृष्टान्तः **वज्रिवक्त्रादिति** पीर्थमानमप्यमृतमाच्छिद्य नेतुं समर्थौ, यथा गरुडौ । **परादिति** वैकल्पिकः, छान्दसो वा । तेन शत्रुं जित्वा अजित्वा वा धनमानयत इति ज्ञापितम् ।।३९।।

व्याख्या—माता और भ्राताओं से सन्मान और शत्रु जय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, तो भी स्वतः आनन्द में रमण करते हैं कि नहीं ? इस प्रकार के सन्देह होने से पूछते हैं, ये (नकुल और सहदेव) माद्री के पुत्र होते हुए भी माद्री ने पृथा को समर्पण कर दिए अतः पृथा के ही पुत्र हैं जैसे गरूड़ों ने इन्द्र[1] से अमृत छीना वैसे अपना भाग शत्रु से बल से (जबर्दस्ती) छीन लिया कि नहीं ? 'परात्' पद का अर्थ शत्रु से होता है । किन्तु इन्द्र गरुड़ों का शत्रु नहीं था, अतः 'परात्' पद का प्रयोग शङ्का वाला है अथवा वैदिक है, यों कहने का भादार्थ यह है कि शत्रु को जीतकर वा बिना जीते दोनों धन लाए ।।३९।।

आभास—कुन्ती पृच्छति ।

आभासार्थ – 'अहो पृथाऽपि' श्लोक में कुन्ती के विषय में पूछते हैं—

श्लोक—**अहो पृथाऽपि ध्रियतेऽर्भकार्थे राजर्षिवर्येण विनाऽपि तेन ।**
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ।।४०।।

---

[1] —इन्द्र के मुख से अर्थात् इन्द्र अमृत मुख पर घर पी रहा था वहाँ से छीनने में समर्थ गरूड़ों ने ।

श्लोकार्थ—आश्चर्य है कि, जिसका सहायक केवल अपना धनुष ही है ऐसे वीर, सब रथियों से अधिक बलवान् जिसने अकेले ही चार दिशाएँ जीत ली, उस उत्तम राजर्षि के बिना पुत्रों के लिये ही कुन्ती प्राण धारण कर रही है ? ।।४०।।

सुबोधिनी—**अहो इति । पृथाऽपि ध्रियते** अर्थात् प्राणान् । अथवा, अर्भकश्च अर्थश्च **अर्भकार्थे** । छान्द से नपुंसकभावः । **तेन राजर्षिवर्येण** पाण्डुना **विनाऽपि** । भर्त्रा सहितावेव धनपुत्रौ रक्षणीयौ, तदभावेऽपि रक्षणादाश्चर्यम् । तस्य सामर्थ्यमाह–**यस्त्वेकवीर इति** । यस्य सहायापेक्षाऽपि नास्ति शत्रुजये । **वीर इति** स्वयमेव युद्धकर्ता । **अधिरथ इति** रथवद्भ्यः सर्वेभ्य एवाऽधिकः । **चतस्रः ककुभो विजिग्ये** विजितवान् । सहायो धनुरेव, अन्यथा मन्त्रादिना सिद्धया वा जयः सिद्धो भवेत्, तच्च नाश्चर्यकारि । अत उक्तं **धनुर्द्वितीय इति** ।।४०।।

व्याख्या—क्या ? पृथा (कुन्ती) भी प्राणों को धारण कर रही है पुत्र और धन की रक्षा के लिये जीवन धारण कर रही है 'अर्भकार्थे' नपुंसक लिंग होने से यह वैदिक प्रयोग है, उस राजर्षि वर्य पाण्डु के (अपने पति के) बिना जिन्दी रही है ? पति के होते हुए ही धन और पुत्र की रक्षा करने योग्य हैं, पति न होने पर भी उनकी रक्षा कर रही है यह आश्चर्य है; उस (पाण्डु) का सामर्थ्य बताते हैं, जिसको शत्रुओ को जीतने के लिये अन्य की सहायता की आवश्यकता नहीं थी कारण कि वह आप एक ही असामान्य वीर था, 'वीर' शब्द का तात्पर्य है कि स्वयं ही लड़नेवाला था, जितने रथी थे उन सबसे यह विशेष बलवान् था, अतः चारों दिशाएँ जीत ली, अर्थात् पृथ्वी के सब राजाओं को जीत लिया, सहायता करने वाला केवल धनुष ही था, अन्यथा बिना धनुष के जो जीत होती है वह मन्त्रादि से वा सिद्धि से होती है । वह जय, आश्चर्यकारी नहीं होती है । इसलिये कहा कि इसके पास मन्त्रादि व सिद्धि नहीं थी, किन्तु केवल धनुष ही था ।।४०।।

आभास—एतावता कालेन पूर्वं येषु येष्वनुरागः स्थितः स सर्वोऽप्युक्तः । साम्प्रतं द्वेषमनुवदति । तत्र प्रथमं धृतराष्ट्रं शोचति—

आभासार्थ—अब तक विदरजी के अपने प्रेमियां की विषय में पूछा, अब द्वेषियों का वृत्तान्त पूछते हैं—उनमें से पहले श्लोक में धृतराष्ट्र का पूछते हैं—

श्लोक—**सौम्याऽनुशोचे तमधः पतन्तं भ्रात्रे परेताय च दुद्रुहे यः ।**
निर्यापितो येन सुहृत् स्वपुर्या अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! जिसने मरे हुए भ्राता से द्रोह किया और पुत्रों के कहने पर चलकर मुझ मित्र को अपने नगर से भी निकाला, अपना अधःपतनकरने वाले धृतराष्ट्र का मैं शोक करता हूं ।।४१।।

सुबोधिनी—सौम्यानुशोच इति। सौम्येति संबोधनं मित्रत्वज्ञापनाय। अन्यस्य स्थाने अवक्तव्यं न वक्तव्यमिति, स एव स्वयमधः पतन् शोचति। तमन्वहममि शोचामि। शोके हेतुः–**अधः पतन्तमिति**। पाते हेतुः–**भ्रात्रे परेताय च दुद्रुह इति**। जीवदशायामप्यपकृतः। मरणानन्तरमपि तत्पुत्रद्रोहेणाऽपकृतः जीवन् भ्राताऽहमप्यपकृत इत्याह–**निर्यापित इति**। मया त्वपकारो न कृत इत्याह–**सुहृदिति**। स्वनगरादेवाऽहं निर्यापितः। पुत्रद्वाराऽपि कृतं स्वकृतमेव, यतः पुत्रान् स्वयमनुसृतः। एवं जीवन्मृतभ्रातृद्रोहादधःपातः **शोचे** इतीदानीमपि शोचामि। तत्र कारणमस्ति नवेति प्रश्नः। एवमपकृतगृहे स्थित्वा जीवतीति ॥४१॥

व्याख्या –हे सौम्य ! यह संबोधन उद्धव से अपनी मित्रता जताने के लिये दिया है। जो बात कहने जैसी न हो वह दूसरों के स्थान पर न करनी चाहिये, वह धृतराष्ट्र स्वयं अपने अधः–पतन का शोक कर रहा है, शोक का कारण यह है कि उसका अधःपतन हो रहा है। अधःपतन होने का कारण 'भ्रात्रे परेताय बुद्रहे' मरे हुए भ्राता का द्रोह करना है, उस भ्राता पाण्डु को जीवित दशा में भी दुःख दिए मरने के बाद भी उसके पुत्रों से द्रोह कर उनका अपकार (बुरा) किया है। मैं जो जीवित भाई हूं उसको भी नगर से निकालकर बुराई की है। मैंने तो किसी प्रकार बुराई नहीं की हैं बल्कि 'सुहृत्' मित्र हूं, तो भी निकाल दिया, यदि कहो कि उसके पुत्रों ने निकाला उसने तो नहीं निकाला, फिर उस पर दोषारोपण क्यों ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'पुत्र द्वारा पिकृतंस्वकृतमेव यतः पुत्रान् स्वयमनुवृत्तः' पुत्रों द्वारा किया हुआ वह पिता कृत ही माना जाता है क्योंकि आप अपने पुत्रों का अनुसरण कर रहा है इस प्रकार जीवित और मरे हुए भ्राता का अपकार करने से इसका 'अधःपात हुआ है। जिसका मुझे अब तक शोक हो रहा है, अब तक शोक होने का कोई कारण है ? अथवा नहीं है; इसका उत्तर देते हैं कि, वह यह कि, 'जिनका बुरा किया उनके गृह में रहकर जीवन व्यतीत कर रहा है ॥४१॥

आभास—ननु यथा पुत्रापराधेन समर्थोपेक्षया धृतराष्ट्रस्याऽपराधित्वम्, तथा तवाऽप्युपेक्षादोषाद्दुष्टत्वामित्याशङ्क्य धृतराष्ट्रभीष्मद्रोणादीनां वशुदेवमोहितानां प्रतिपक्षशङ्कया स्वहितमेव कृतवानहमित्याह–

आभासार्थ––जैसे धृतराष्ट्र, पुत्रापराध के कारण शक्तिमान् की अपेक्षा करने से अपराधी है, वैसे तुझमें भी उपेक्षा दोष से दुष्टपन है, ऐसी शङ्का पर निम्न 'सोऽहं' श्लोक में कहता है कि, वासुदेव ने जिनको मोह में डाल दिया है, ऐसे धृतराष्ट्र भीष्म द्रोणादि को यह भय था कि मैं शत्रु पक्ष में जाकर मिलूंगा, इस शंङ्का को दूर करने के लिये जो कुछ मैंने किया, उससे अपना हित ही किया है––

१—मूल श्लोक में (स्वपुत्रान्) पद का अर्थ यों भी किसी ने किया है कि "स्व-अपुत्रान्" अतिदुष्टान् यदि अति दुष्ट न होते तो पिता से ऐसे कर्म कराके उसका अधःपात न कराते।

श्लोक—**सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन दृशो नृणां चालयितुर्विधातुः ।**
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादाच्चराभि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र ॥४२॥

श्लोकार्थ—वह मैं, मनुष्याकृति के अनुकरण से मनुष्यों की दृष्टियों (चित्तवृत्तियों) को भ्रमित कराने वाले विधाता हरि की कृपा से, इस विषय में विस्मित न होता हुआ फिर रहा हूं, अवधूत वेष के कारण मुझे कोई पहचान भी नहीं सकता है इस प्रकार मैं, उसकी प्राप्ति का उपाय करता हुआ घूम रहा हूं ॥४२॥

सुबोधिनी—सोऽहमिति । सोऽहमेवं धृतराष्ट्रादिभिरपकृतो **विधातुः प्रसादात् गतविस्मय एव चरामि** । अत्राप्यर्थे संदेहः, किं युक्तमयुक्तमिति । सर्वदुःखहर्ता भगवान् । स हि यथासुखं सर्वानभ्युदयनिःश्रेयसादिषु योजयति । तत्र ये प्रवृत्त्या सुखाधिकारिणो निवृत्त्या सुखमिच्छन्ति, तान् व्यामोहयति भगवान् । **नृणां** संबन्धियत् **मर्त्यं** देहस्तस्य **विडम्बनेन** अनुकरणेन **नृणां विधातुरिति** वा । कपटमानुषचेष्टया **नृणां दृशश्चालयितुः** । यदि न व्यामोहयेत् तदा तेषां सृष्टि कथं कुर्यात् ? पुनः पुनः **सृष्टचर्थं** तान् व्यामोहयतीत्यर्थः । यथा भगवान् केनाऽपि न ज्ञातस्तथाऽहमपि नाऽन्योपलक्ष्यः । अत एव तत्प्रसादो मय्यस्तीति ज्ञायते । अन्तस्तत्प्रसादसूचको विस्मयाभावः बहिस्तत्प्रसादसूचको लोके ज्ञानाभावः । अत एवाऽन्ये बद्धा मारिताः, अहं विचरामीति । **नृणां** भीष्मादीनामन्तःकरणवृत्तीर्भ्रामयतः । प्रसादात्कृतमप्यपराधादिकं **तदिच्छयेति** जनान् गताभिमानस्तत्प्राप्त्युपायतीर्थाटनं करोमीत्यर्थः ॥४२॥

व्याख्या—धृतराष्ट्र आदि से इस प्रकार तिरस्कृत होते हुए भी मैं, विधाता की कृपा से विस्मित न होकर फिर रहा हूँ, इस प्रकार का यह मेरा कार्य योग्य है वा अयोग्य है ? इस विषय में संदेह है । भगवान् 'हरि' हैं, अतः सबके दुःखों को हरनेवाले हैं, किस तरह ? वह बताते हैं कि 'स हि यथासुखं सर्वानभ्युदयनिःश्रेयसादिषु योजयति' वे (भगवान्) ही, सुखपूर्वक सबकी उन्नति एवं मोक्ष आदि हों इसलिये उनकी प्राप्ति के कर्मों में लगा देते हैं, जिनसे मनुष्य उनकी प्राप्ति करें, इसमें जो प्रवृत्ति मार्ग से सुखादि प्राप्ति के अधिकारी हैं, वे यदि निवृत्ति से सुख प्राप्ति चाहते हैं तो उनको भगवान् विशेष मोह में डालते हैं । कैसे डालते हैं ? वह बताते हैं । मनुष्यों की सी देह का अनुकरण कर अर्थात् आपकी आकृति ऐसी न होते हुए भी मनुष्य की देह के समान दिखावा कर मनुष्यों की दृष्टि को अर्थात् चित्तवृत्ति को भ्रम में डाल देते हैं, यदि इस प्रकार व्यामोह (भ्रम) उत्पन्न न करे तो मनुष्य सृष्टि कैसे बढ़े ? फिर फिर सृष्टि होती रही इसलिये इनको भ्रमाते हैं, जैसे भगवान् को कोई पहचानता या जानता नहीं है वैसे ही मुझे भी इस कृत्रिम (बनावटी) वेष के कारण कोई नहीं पहचानता है, इस कारण ही समझा जा सकता है कि प्रभु की मुझ पर कृपा है । मुझे विस्मय नहीं होता है इससे उनकी कृपा भीतर की है यों निश्चय होता है । वैसे बाहर भी उनकी कृपा है जिसका सूचक, लोक का मुझे न पहचानना है, इस कारण ही दूसरे बान्धव गये ?

व मारे गये, मैं तो निःशङ्क घूम रहा हूं। भीष्म आदि मनुष्यों के अन्तःकरण की वृत्तियों को जो प्रभु भ्रम में डाल रहे हैं, उन प्रभु की कृपा से मेरा अहङ्कार नष्ट हो गया है अतः मैं समझ रहा हूँ कि मुझसे जो अपराधादि हुवे वे उनकी इच्छा से ही हुए हैं, अतः चिन्ता रहित होकर उनकी इच्छा मानता हुआ निरभिमान हो उनकी प्राप्ति का उपाय तीर्थाटन भी उनकी इच्छा से ही कर रहा हूँ ॥४२॥

आभास—ननु सर्वसमर्थः परमेश्वरः कथमुपेक्षितवानित्यत आह–

आभासार्थ—सर्व प्रकार समर्थ परमेश्वर ने कौरवों की उपेक्षा क्यों की ? जिसका उत्तर 'नूनं नृपाणां' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः ।**
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशोऽप्युपैक्षताऽघं भगवान्कुरूणाम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—निश्चय से, तीन मदों के कारण उलटे मार्ग पर चलने वाले, भूमि को बार-बार सैन्यों से कम्पायमान करने वाले राजाओं का वध, शरणागतों के दुःखों को हरण करने की इच्छा वाले, भगवान् ने शक्तिमान् होते हुए भी कौरवों के दुःखों की उपेक्षा की ॥४५॥

सुबोधिनी—**नूनमिति** । यद्यपि भगवान् दुष्टनाशार्थमेवाऽवतीर्णः, तथापि यत् दुर्योधनादीन् न हतवांस्तत्**प्रपन्नार्तिजिहीर्षया** । शरणागतभीमादिप्रतिज्ञापूरणार्थमित्यर्थः । **त्रिमदा** विद्याधनाभिजनाख्याः । '**विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनो मदः**' इति । तेन त्रिमदेनोत्पथानां **नृपाणां वधात्** । ल्यब्लोपे पञ्चमी । वधं कृत्वाऽपि कुरूणां वधादुपेक्षां कृतवान् । यत **ईशः**, भक्तद्वाराऽपि मारयितु समर्थः ॥४३॥

व्याख्या—हालांकि भगवान् दुष्टों के नाशार्थ ही अवतरे हैं। तो भी दुर्योधनादि को न मारा, जिसका कारण शरणागत भीमादि की प्रतिज्ञा पूर्ण करना है। लोक में तीन प्रसिद्ध मद हैं १–विद्यामद धनमद और कुटुम्बमद, इन तीन मदों से उलटे मार्ग पर चलने वालों का वध करके भी कौरवों की उपेक्षा की, क्योंकि 'ईशः' स्वामी है उनका वध भक्त द्वारा कराना था, यों कराने में समर्थ हैं, अतः इनकी उपेक्षा की। ४३॥

आभास—एवं भगवच्चरित्र सर्वमेवाऽहं तत्प्रसादाज्जानामीति स्वज्ञान निरूप्य, भगवत्स्वरूपमपि जानामीत्याह–

आभासार्थ—उन (भगवान्) की कृपा से सब भगवच्चरित्र जानता हूँ, यों चरित्र विषयक अपना ज्ञान निरूपण कर, इस 'अजस्य' श्लोक से कहते हैं कि मैं भगवत्स्वरूप को भी जानता हूं।

श्लोक—**अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम् ।**
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं परो गुणानामपि कर्मतन्त्रम् ।।४४।।

श्लोकार्थ—अजन्मा भगवान् का जन्म, उलटे मार्ग पर चलने वालों के नाशार्थ है, कर्म न करने वाला होते हुए भी जो भगवान् कर्म करते हैं। जिसका कारण मनुष्यों को शिक्षा देना है। यदि यों न होवे तो, जो, गुणों से भी परे हो, वह कर्माधीन देह से सम्बन्ध कैसे करे ? ।।४४।।

सुबोधिनी—अजस्येति। अजन्य **अकर्तुश्च जन्मानि कर्माणि** च उत्पथानां दुष्टानां **नाशाय**, सतां शिक्षणाय च। न हि सूर्योत्पत्तिव्यतिरेकेणाऽन्धकारो नश्यति, न हि भगवदाचरणव्यतिरेकेण कश्चिद्धर्ममाचरति। अतो दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनार्थं भगवतो जन्मानि कर्माणि विरुद्धान्यपि जायन्ते, अन्यथा कर्मपारतन्त्र्यरहितः कथं जन्म स्वीकुर्यात्। अनेन साधारणपक्षो ज्ञायते, स्वेच्छया जनिते देहे अग्निवद्भगवदावेश इति। **गुणानामपि** पर इत्यनेन गुणजनितकर्मपरतन्त्रः कथं भवेदिति महद्वैलक्षण्यं सूचितम्। देहमात्रस्यैव कर्मपरतन्त्रत्वं मन्यते। यथा सर्वमेव काष्ठमनित्यम्। **तत्र** प्रविष्टोऽग्निरपि सुतरामनित्याविर्भावो भवतीति भावः। यथा वा भार्यादेहा भार्तृवशोऽपि भार्याजीवाधीन एव, तथेश्वरपरिगृहीतोऽपि देहः कर्माधीन एवेति केषांचिन्मतम्। तथाऽयमपि मन्यते तदग्रे दूषयिष्यत्युद्धवः ।।४४।।

अजन्मा और अकर्ता का जन्म और कर्म उलटे मार्ग पर चलने वाले दुष्टों के नाश के लिये और सत्पुरुषों को ज्ञान देने के लिये है कारण कि, सूर्योदय के बिना अन्धकार नाश नहीं होता है। भगवान् के सदाचरण किए बिना कोई सदाचारी नहीं हो सकता है, अतः दुष्टों के नाशार्थ, सुज्ञों के सम्पूर्णतः पालन करने के लिये, भगवान् के जन्म और कर्म, उनके सहज धर्मों के विरुद्ध होने पर भी होते हैं, अन्यथा जो भगवान् कर्म की परतन्त्रता से परे हैं, वह जन्म लेना कैसे स्वीकार करे ? अपनी इच्छा से उत्पन्न की हुई देह में अग्नि की तरह भगवदावेश है। यह साधारण सिद्धान्त विदुर जी जानते हैं। जो गुणों से परे हैं वह गुण जनित कर्मों के अधीन कैसे रहे ? यों महती विलक्षणता सूचित की है। विदुरजी देह मात्र को कर्माधीन मानते हैं, जैसे सब काष्ठ अनित्य हैं वैसे उसमें प्रविष्ट अग्नि का भी सुतराम् अनित्य आविर्भाव होता है, यों भाव है अथवा जैसे स्त्री की देह पति के आधीन होते हुए भी पत्नी के जीव के ही आधीन है। वैसे ही ईश्वरस्वीकृत देह भी कर्माधीन ही हैं। यों किसी का मत है। वैसे ही यह (विदुर) भी मानता है। इस मत को उद्धवजी आगे दूषित करेंगे ।।४४।।

आभास—एवं स्वस्यसर्वबुद्धिमुक्त्वा, तेनाऽधिकारिदेहहेतुभूतवायुसंस्कारं निरूप्य, संस्कृताकाशसिद्ध्यर्थं भगवच्चरित्रं पृच्छ—

आभासार्थ—इस प्रकार अपने को जितना ज्ञान था वह कहकर, उससे अधिकारी देह के हेतुभूत वायु के संस्कार हो जाने का निरूपण कर हृदयाकाश भी संस्कार वाला हो, जिसके लिये 'तस्य प्रपन्नाखिल' श्लोक से 'भगवच्चरित्र' पूछता है—

श्लोक—तस्य प्रपन्नाखिललोकपानामवस्थितानामनुशासने स्वे ।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य वार्तां सखे ! कीर्तय तीर्थकीर्तेः ।।४५।।

श्लोकार्थ—हे मित्र ! शरणागत और इन्द्रादि सर्व लोकपाल, जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं । उनके कार्य पूर्ण करने के लिये यादवों में जन्म लेनेवाले तथा अजन्मा, तीर्थ रूप कीर्ति वाले भगवान् का चरित्र वर्णन कीजिये ।।४५।।

सुबोधिनी—तस्येति । प्रपन्नाखिललोकपानाम् । प्रपन्नाश्च ते अखिललोकपाश्च, सर्वे हीन्द्रादयो भगवत्प्रपन्नास्तदाज्ञाकारिणश्च । अतस्तेषां कार्यार्थमाविर्भूतस्य यदुकुले, वस्तुतो जन्मरहितस्य । वार्तां कथयेति तृतीयः प्रश्नः । तीर्थयात्रार्थं कृतसङ्कल्पः कथमन्यच्छ्रोष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–**तीर्थकीर्तेरिति** । तीर्थरूपा कीर्तिर्यस्य । **सखे !** इति संबोधनं युक्तमयुक्तं वा पृष्टं वक्तव्यमेवेति ज्ञापनार्थम् । एवं भगवच्चरित्रे भगवदीयानां चरित्रे शुश्रूषुः, प्राप्तसत्सङ्गः तीर्थायतनैः कृतपुण्यपुञ्जः योग्यं देहं प्राप्याऽधिकारी भवति-इति भगवदधिकारसर्गे भूतसर्गो निरूपित : ।।४५।।

व्याख्या—सब इन्द्रादि लोकपाल भगवान् के शरण में आए हुए हैं अतः उनके आज्ञानुकारी हैं, वास्तविक जिसका जन्म नहीं, वे भगवान् उनके कार्य करने के लिए यदुकुल में आविर्भूत हुए हैं, जिनके चरित्रों को कहिए, यह शङ्का हो कि तुमने तीर्थ यात्रा करने का सङ्कल्प किया है फिर अन्य वार्ता क्यों पूछता है ? जिसके उत्तर में कहता है 'तीर्थ कीर्त्तेः' जिनकी कीर्त्ति तीर्थरूप है ऐसे भगवान् हैं ।

हे मित्र ! सम्बोधन देने का अभिप्राय यह है कि, मैं योग्य अथवा अयोग्य जो भी पूछूँ वह बताना चाहिये, इस प्रकार विदुरजी को भगवच्चरित्र और भगवदियों का चरित्र सुनने की इच्छा हुई तो सत्सङ्ग प्राप्त हो गया, तीर्थ और देवस्वरूपों के दर्शनादि से पुण्य समूह प्राप्त किया है । योग्य देह प्राप्त कर अधिकारी बने, इसी प्रकार भगवान् की प्राप्ति के अधिकार सर्ग में भूतसर्ग अर्थात् भूतों की उत्पत्ति का निरूपण किया ।।४५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित

अधिकार प्रकरण

"अध्याय—" २

उद्धवजी द्वारा भगवान् की बाल-लीलाओं का वर्णन

कारिका—**अधिकारार्थसर्गे हि भूतसर्गो निरूपितः ।**
मात्राणामेव सर्गोऽत्र द्वितीये विनिरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थ—प्रथम तथा द्वितीय अध्याय को परस्पर संगति दिखाने के लिये इस प्रथम कारिका में दोनों अध्यायों का अर्थ कहा है—जैसे कि प्रथम अध्याय, अधिकारार्थ सर्ग का है अतः उसमें भूत सर्ग का निरूपण किया । द्वितीय अध्याय में मात्राओ के सर्ग का निरूपण करते हैं ।।१।।

मुख्याधिकारिणो भक्तौ क्रियाज्ञानविभेदतः ।
अलौकिकचरित्रेण माहात्म्यं विषयो मतः ।।२।।

क्रिया और ज्ञान के भेद से भगवान् ने जो जो अलौकिक चरित्र किए हैं उनके माहात्म्य का ज्ञान ही मुख्य अधिकारी को भक्ति प्राप्त होने में विषय (मात्रा सर्ग) का कारण[1] माना है ।।२।।

१—द्वितीय अध्याय में मात्रा सर्ग का वर्णन होगा ऐसा कहा है, किन्तु यहाँ तो उद्धव चरित्र और भगवत् वार्ता ही कही हुई है, उद्धवजी का चरित्र तो लौकिक जैसा दिखता है अतः वहाँ उसको मात्रासर्ग कैसे कहा जाए ? इस शंका के निवारण के लिए दूसरी कारिका में 'मुख्याधिकारिणः' पद दिया है, इस प्रकार वैसे चरित्र के प्रयोजक उस समय ऐसी अवस्था होने से विदुर के अनुभूत माहात्म्य की रूपपन से ही विषमता है । इसलिये "मात्रासर्ग" उस रूप से हुआ है यह भावार्थ है—

क्रिया तु भगवत्येव नाऽन्यत्रेति निरूप्यते ।
षड्भिस्तु मनसा तानि षटकर्माणीन्द्रियैर्यतः ॥३॥

क्रिया तो भगवान् में ही है दूसरे स्थान पर कहीं भी नहीं है तन्मात्राओं[1] का संस्कार छः श्लोकों[2] से कहा है क्योंकि इनका संस्कार कर्मेन्द्रियों से होता है। मन सहित कर्मेन्द्रियाँ छः हैं ॥३॥

षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो भगवानेक एव सः ।
सप्ताधिकेन विंशत्या तावन्तो भगवद्गुणाः ॥४½॥
तत्त्वतो विषयाः प्रोक्तास्ते देवाः सर्व एव हि ।

छः गुणों के ऐश्वर्य वाले भगवान् एक ही हैं, आठ श्लोकों से भगवान् के माहात्म्य का वर्णन किया है, बीस श्लोकों से भगवान् के गुणों को कहा है। तत्व से वे विषय कहे हैं क्यों कि वे सर्व देव[3] ही है, ॥४½॥

कथायां त्रिभिरध्यायैरधुनोत्तरमुच्यते ॥५॥
सामान्यकुशले त्वत्र त्रेधाऽप्युत्तरमुच्यते ।
लोकद्वये च भक्तौ च दुर्भाग्या यादवा इति ॥६॥

अत्र तीन अध्यायों से कथा कह कर, उत्तर[4] देते हैं, यहाँ सामान्य कुशल के प्रश्नों में तीन तरह से उत्तर[5] कहा जाता है यादव दोनों श्लोकों में तथा भक्ति में के तीन प्रकार के दुर्भाग्य वाले है ॥४½–६॥

१—तन्मात्राओं की सृष्टि में उद्धवजी के माहात्म्य का वर्णन किया है, पहले भगवान् के माहात्म्य को कहा जिसका विरोध होता है, इस शंका के मिटाने के लिये 'क्रिया तु' कारिका कही है, जिसका भावार्थ है कि यहाँ जो उद्धव का माहात्म्य कहा है उसमें भगवान् की क्रिया शक्ति का ही प्रतिपादन है, जिसमें उद्धव के माहात्म्य से भगवान् के ही माहात्म्य को कहा है अतः विरोध नहीं है ।

२—पाँच तन्मात्राओं को छः श्लोकों से वर्णन कैसे ? जिसका उत्तर है कि तन्मात्राओं का संस्कार करने वाली इन्द्रियाँ छः है अतः छः श्लोकों से निरूपण किया है ।

३—छः श्लोकों से जब तन्मात्राओं की सृष्टि का वर्णन कहां है, तो फिर २८ श्लोकों से कहने का क्या प्रयोजन ? इस शंका के निवारणार्थ यह "षड्गुणैश्वर्य' कारिका कही है, जिसमें बताया है कि ८ श्लोकों से भगवान् का और २० श्लोकों से उनके गुणों का निरूपण किया है । अर्थात् जिन संस्कृतों का ज्ञान होने वाला है वे सब यादव संस्कृत देव हैं, अतः संस्कार करने वाले और जिनका संस्कार होता है उनका ज्ञान कराने के लिये यह यहां है ।

४—ऊपर शुक तथा व्यास का आशय कहा, इस कथा की विदुर और उद्धत के संवाद में संगति समझाते हैं, इस प्रश्नोत्तर रूप संवाद में चार अध्याय हैं ये सामान्य संगति है ।

५—सामान्य कुशल के प्रश्न का उत्तर तीन तरह से २८ श्लोकों से दिया है । शेष दश श्लोक चरित्र विषयक तीसरे प्रश्न के उत्तर में कहे हैं,

आभास—तत्र प्रथमं विदुरेण पृष्ट उद्धवो नोत्तरमुक्तवानित्याह षड्भिः ।

आभासार्थ—वहां पहले विदुरजी ने उद्धवजी से प्रश्न किए किन्तु उद्धवजी ने उत्तर नहीं दिये । जिसका कारण इन निम्न २ कारिकाओं में देते है—

कारिका— **भक्त्युद्रेकोद्धवे षड्भिस्तादृशोक्तं फलाय हि ।**
अशक्तिभक्तिलिङ्गं हि हेतूक्त्या तस्य साधनम् ॥१॥
सर्वव्यापारराहित्यं भक्तिलिङ्गस्य दर्शनम् ।
तथापि कृष्णमाहात्म्यकथनाय समुद्यमः ॥२॥

कारिकार्थ—द्वितीय अध्याय के छः श्लोकों से द्धवजी में भक्ति का उद्रेक (विशेष वृद्धि) हो जाने से यह सूचित किया कि ऐसी दशा होने पर ही फल प्राप्ति होती है। उद्धव विदुर को उत्तर। देने में असमर्थ हुए जिसका कारण भक्ति का उद्रेक है, जब भक्ति बढ़ती है तब यों हो जाता है, यह भक्ति बढ़जाने का चिन्ह है। अशक्ति के कारण उद्धवजी का स्वभाव वर्णन किया, वह ही उसका साधन है ॥१॥

सर्व प्रकार की क्रियाओं से रहित हो जाना, भक्ति के चिन्ह का दर्शन है। ऐसी दशा होते हुए भी उद्धवजी ने श्री कृष्ण के महात्म्य कहने के लिये उद्यम किया ॥२॥

इस प्रसंग को एक श्लोक में शुकदेवजी उसकी अशक्ति कहते हैं।

श्री शुक उवाच-श्लोक—इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार विदुरजी ने प्रिय के आश्रय वाली कथा भक्त उद्धवजी से पूछी तो भी भगवान् का स्मरण हो जाने से, उनसे मिलने की लालसा से उत्तर देने के लिये उत्साहित नहीं हुए ॥१॥

सुबोधिनी—इति भागवत इति । इतिशब्देन पूर्वाध्यायार्थः प्रकारविशेषादवक्तव्यत्वाय संगृहीतः । तत्र हेतुः–**भागवत इति** । एतादृशीं कथामन्यो वक्तुं शक्तः, न तु भागवतः । तथापि पृष्टश्च द्भगवानिव स्वयमप्यन्तर्हितशक्तिरेव भवति । तत्राप्यज्ञेन कुशलेन पृष्टः । तदाह–**पृष्ट क्षत्त्रेति** सा हि वार्ता प्रियाश्रिता, उत्तरे तु निराश्रया, न हि निराश्रया केनचिद्वक्तुं शक्या । तदाह–**प्रियाश्रायां प्रतिवक्तुं नोत्सेह इति** । चकारान्निषेधेऽप्यशक्तो न प्रष्टव्य इति । इन्द्रियसामर्थ्ये विद्यमानेऽपि ज्ञानांशसहायेऽपि क्रियांशं मन उत्साहात्मकं तत्र न जातमिति नोत्सेह इत्युक्तम् । प्रत्युत कथाश्रयान्वेषणार्थं प्रवृत्तं चित्तं भगवन्तं स्मारयितुमुत्कण्ठामुत्पादितवत् । अनेन भक्तिर्वचनप्रतिबन्धिका जातेत्युक्तं भवति । ईश्वरत्वाच्च न प्राणोद्गमः ॥१॥

व्याख्या—"इति" शब्द देने का तात्पर्य यह है कि, प्रथम अध्याय का अर्थं, विशेष प्रकार का होने से नहीं कहा जा सकता है। न कहने का कारण "भागवत:" उद्धव भक्त है अतः वह कह नहीं सके, दूसरे होते तो कह सकते थे। ऐसी अवस्था में भी यदि भक्त से पूछा जाए तो भगवान् की तरह, उसकी शक्ति भी अन्तर्हित हो जाती है। इस पर भी उद्धव जी से उस कुशल से प्रश्न किया गया हैं जो जानता नहीं है, अर्थात् जानने की इच्छा से ही जानने वाले से पूछा है वह कहते हैं कि "घृष्ट: क्षत्रा:" वह विषय क्षत्रा ने पूछा है, जो वार्त्ता पूछी है वह वार्त्ता प्रिय के आश्रयवाली है, अर्थात् उस कथा में प्रीतम विराजमान हैं, उत्तर दने पर वह प्रियाश्रय रहित हो जाएगी फिर निराश्रय कथा कोई नहीं कह सकता, अतः कहते हैं कि 'प्रियाश्रयां (कथां) प्रतिवक्तुं नोत्सह इति' प्रिय के आश्रयवाली कथा के उत्तर देने का उत्साह नहीं हुआ 'च' पद का भावार्थ यह है कि उद्धवजी विदुर को यों कहने के लिये भी शक्तिमान न हुए ? कि 'यह कथा मत पूछो' उद्धव जी को उत्तर देने का उत्साह क्यों न हुआ ? क्या उनकी इन्द्रियों में सामर्थ्यं नहीं थी ? वा ज्ञान नहीं था जिसके लिये कहते हैं कि इन्द्रियों में सामर्थ्यं थी और ज्ञानांश भी उत्तर देने में सहायता कर सकता था, किन्तु क्रिया करनेवाला जो मन है उसमें उत्साह नहीं था अतः उद्धवजी को उत्साह नहीं हुआ बल्कि, कथा के आश्रय (भगवान्) को ढूढने के लिए प्रवृत्त चित्त ने भगवान् का स्मरण करने के लिए उत्कण्ठा (लालसा) पैदा की, इससे यह सूचना दी कि भक्ति ही वाणी के प्रतिबंध करने में कारण बनी, और ईश्वर का भाव (भक्ति) होने से प्राण न निकले ॥१॥

आभास—एवमशक्ति निरूप्य तस्या भक्तिलिङ्गत्वं बदन् हेतूक्त्या तां साधयति द्वाभ्याम्

आभासार्थ—उद्धवजी का कहने में अशक्त होना भक्ति का चिन्ह है दो श्लोकों से भक्ति के हेतु कह कर उद्धवजी भक्त हैं वह सिद्ध करते हैं—

श्लोक—यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्या बाललीलया ॥२॥

श्लोकार्थ—जो पांच वर्ष की आयु में बाल क्रीड़ा में भी जिसकी सेवा करते हुए उसमें ऐसे मग्न हो जाते, जो माता प्रातः भोजन के लिए बुलाती तो भी नहीं आते ॥२॥

सुबोधिनी—यः पञ्चहायन इति । पञ्चवार्षिको हि सेवायामधिकारी । बालस्य प्रातर्भोजनं संपूर्णदिवसे बलजनकम्, मात्रा लालनमुत्साहजनकम्, तद्द्वयं तस्य पूर्वमेव नासीत् । बलं तु सपर्ययैव । उत्साहस्तु लीलयैव । बालत्वं तु तदानीन्तनं कीर्तितम् । तदुभयमिदानी नास्तीति न

बलम्, न प्रोत्साहः । अत एवाऽशक्तिर्भक्तिलिङ्गम् । अनेन हस्तव्यापारो भगवत्येवेति निरूपितम् । मनोव्यापारस्तु प्रथमे स्पष्टः । **मात्रा याचित इति** । लौकिकवैदिकधर्मापेक्षाऽपि निराकृता । इच्छाभावेन भगवदीयानां पदार्थानां लौकिकापेक्षया अतिबलीयस्त्वं निरूपितम् । **यस्येति** कृष्णस्य । **सपर्या** परिचर्या । क्रीडार्थं भगवदधिष्ठानं पारिकल्प्य तत्र राजोपचारैः क्रीडनं बाललीला ॥२॥

व्याख्या—पांच वर्ष का होते ही सेवा का अधिकारी होता है । बालक को सवेरे का भोजन सारा दिन बलदायक है, माता का प्यार उसमें उत्साह पैदा करता है, वे दो ही इसमें पहले ही नहीं थे । बल तो भगवत् सेवा से ही प्राप्त था, उत्साह तो क्रीड़ा से ही होता था, इस समय उद्धवजी बालक नहीं थे यह बालकपन जो कहा वह उस समय का वर्णन है । वे दो ही अब नहीं अतः न बल है और न उत्साह है । इसलिए ही[1] अशक्ति भक्ति का चिन्ह है, इसमें यह बताया है कि इसके हस्त की क्रिया भगवान् में ही निरूपित थी मन की क्रिया तो प्रथम श्लोक में स्पष्ट बताई है । 'मात्रायाचितः माता ने भोजन करने के लिए बुलाया तो उसकी उपेक्षा की उसमें यह सूचित किया है कि उद्धवजी ने "लौकिक[2] और वैदिक दोनों धर्मों की परवाह नहीं की है, भोजन की इच्छा न करने से यह सूचित किया हैं कि लौकिक पदार्थों से भगवदीय पदार्थ अति बलवान है, उद्धवजी बाल्यावस्था में बालकों की तरह अन्य क्रीड़ा न कर, भगवत्सेवा को ही अपनी क्रीड़ा समझते थे खेलने के लिए पहले भगवान् के विराजने के लिये यह स्थान बनाते थे, फिर वहां भगवान् को विराजमान कर राजो प्रचारों से सेवा करते थे, यही उनकी बचपन में क्रीड़ा थी ॥२॥

आभास—एवमशक्तेर्भक्तिलिङ्गत्वं निरूप्य प्रकृते हेतूक्त्या अशक्ति साधयति

आभासार्थ—इस प्रकार अशक्ति भक्ति का चिन्ह है, ऐसे निरूपण कर प्रकृत विषय में उसका हेतु कहकर अशक्ति सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः ।**
पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥३॥

श्लोकार्थ—उस (भगवान्) की सेवा करते हुए काल व्यतीत होते २ उद्धवजी वृद्ध हो गए तब स्वामी की वार्ता पूछने में आई जिससे उसके (स्वामी) चरणों का स्मरण हो आने से कैसे उत्तर दे सकें ॥३॥

---

[1]—सेवा न करने से अशक्ति होती है, यही भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करता है ।

[2]—माता ने भोजन के लिए बुलाया वहां न गए भोजन न किया यह लौकिक उपेक्षा, माता की आज्ञा न मानना यह वैदिक की उपेक्षा ।

सुबोधिनी—स कथमिति । तस्य बाल्य एव तथात्वं न, किन्त्वाजन्म भगवदीयरेव सामर्थ्यम्, यतः सेवयैव सह जरां प्राप्तः । अनेन तस्य सेवा जराभावाद्यर्थमपि न व्यापृता । आनुषङ्गिकं तु न जातम्, कालस्य बलीयस्त्वादित्याह–**कालेने त** । **जरसं** वार्द्धक्यम् । पूर्वसिद्धस्य शक्तिहेतोरभावात्कथमिति शक्त्यर्थं प्रश्नः । अत एव वार्त्तां कथं ब्रूयात् ? अग्रेऽपि वार्त्तां पृष्टो माहात्म्यं कथयिष्यति । तत्तु सर्वदा साश्रयमेव, अलौकिकत्वात् । वार्ता तु लौकिकी । न चात्र भक्तिविरोधः, प्रकारान्तरेण भक्तेः क्रियमाणत्वात् । तदाह–**भर्तुः पादावनुस्मरन्निति** । भर्तृपदेन तस्यैवं लीला श्रुतिसिद्धा युक्तेति सूचयति । **'भर्त्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति' इत्यादिश्रुतेः** । **पादाविति** द्विवचनं भक्तिमार्गख्यापनाय । **अन्विति** उपदेशानतिक्रमाय । अनेन बहिर्वागिन्द्रियविषयनिवृत्तिरुक्ता ॥३॥

व्याख्या—उद्धवजा केवल बचपन में ही ऐसे थे यों नहीं है, किन्तु जन्म से लेकर भगवदीय पदार्थों से उनको शक्ति प्राप्त होती थी, क्योंकि सेवा करते हुए हो वे वृद्ध हो गए थे, इससे यह बताया है कि उनकी सेवा बुढापा न आवे, इसके लिए भी प्रभावशाली नहीं थी, आनुषङ्गिक फल अर्थात् भक्ति का गौण फल बुढापे का न होना वह भी न हुआ, क्यों कि काल बलवान् है, अतः समझाने पर वृद्धत्व आ गया, पूर्व सिद्ध जो शक्ति हेतु सेवा थी, वह भी अब नहीं है, तो फिर उत्तर किस प्रकार दें ? यों शक्ति के लिए प्रश्न है–इस कारण से ही वार्ता कैसे कहें ? आगे भी वार्ता पूछी तो भी भगवान् का महात्म्य कहेंगे ? आगे भी वार्ता पूछी तो भी भगवान् का माहात्म्य कहेगें, वह (माहात्म्य) तो सदैव भगवान् के आधारवाला ही है, अर्थात् माहात्म्य में भगवान् विराजते ही हैं, कारण कि माहात्म्य अलौकिक है, वार्ता लौकिकी है, माहात्म्य कहने में भक्ति का भी विरोध नहीं है, माहात्म्यश्रवण भी प्रकारान्तर से भक्ति करना ही है, जैसा कि 'मर्तुः पादा व नुस्मरन्निति' उस श्रवण में स्वामी के चरणों का ही स्मरण होता रहता है, 'भर्तृ' (पति) पद से यह बताया है कि उसकी यह लीला श्रुतियों[1] से सिद्ध एवं उचित ही है, (पादौ) द्विवचन पद से, भक्ति मार्ग की स्थापना का सूचन किया है, 'अनुस्मरन्' पद में 'अनु' उपसर्ग देकर कहा है कि उपदेश का उल्लङ्घन नही करना चाहिये, इससे यह सूचना दी है कि बाहर के वाणी रूप इन्द्रिय का विषय[2] अब यहां नहीं है ॥३॥

आभास—अशक्तिर्न केवलं वागिन्द्रिये, किन्तु सर्वत्रैवेति सर्वव्यापारराहित्यमाह—

आभासार्थ – केवल वाणी रूप इन्द्रियों में शक्ति नहीं है, किन्तु सर्व इन्द्रियों में नहीं है यों बताने के लिए निम्न श्लोक 'समुहूर्त' में बताते है कि सर्व क्रियाओं से रहित हो गए हैं—

श्लोक—**स मुहूर्त्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।**
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥४॥

---

[1] १—भर्तासन् भ्रियमाणो विभक्ती पति होकर लालन पालन कर पोषण करते है–तै श्रुति

[2] २—जिसके लिये पूछा है और जिसका उत्तर देना है वह पृथ्वी पर नहीं विराजते हैं ।

श्लोकार्थ—तीव्र भक्ति योग से कृष्ण के चरण कमल की सुधा में निमग्न हो जाने से बहुत सुखी हो एक मुहूर्त मौन धारण करली ॥४॥

सुबोधिनी—**स मुहूर्त्तामिति।** मुहूर्त्तमात्रमेव भगवति स्थितः। स हि कलारूपः पादस्मरणेन च पादान्तिकं नीतः। **तूष्णीमिति** सर्वेन्द्रियव्यापारराहित्यम्। तस्य सद्योमुक्तिमाह—**कृष्णाङ्घ्रिसुधया निर्वृत** इति। ब्रह्मानन्दं प्राप्त इत्यर्थः। सुधापदेन च तत्र प्राणलयाभावः सूचितः, स्मरणे तदानन्दाविर्भावाभावात्। तदर्थमुपायमाह—**तीव्रेण भक्तियोगेन साधु निमग्न इति।** **तीव्रेणेति** बहिर्व्यापारोच्छेदनसामर्थ्यं सूचितम्। भक्तिरत्र प्रेमलक्षणा। स चोपायभूतःसर्वदा विद्यमानः। न हि योगेन निमग्नः शीघ्रमुत्तिष्ठति। अनेन क्रियारूपस्पर्शेन्द्रियव्यावृत्तिरुक्ता। विषयोऽपि भक्तानामनेन निरूपितः ॥४॥

व्याख्या—उस मौनावस्था में भगवत्स्वरूप में स्थित हो रहे थे, कारण कि वह मौन धारण कलारूप था अतः उस समय भगवच्चरण का स्मरण उनको भगवत् सान्निध्य में ले गया, (तूष्णी) मौन धारण कहने से बताया है कि सर्व इन्द्रियों की क्रिया के त्यागी बन गए तब उस समय उनकी सद्यो मुक्ति की दशा हो गई है, वह कहते हैं कि 'कृष्णाड़्घ्रिसुधया निर्वृत्त' इति, श्री कृष्ण की सुधा की प्राप्ति से आनन्दित हो गए अर्थात् मुक्त हो गए अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुए। 'सुधा' पद से यह बताया है कि न तो भगवच्चरणों में उनके प्राण का लय हुवा और न भगवत् स्मरण होने से उनके आनन्द का आविर्भाव हुआ, कारण कि विदुर ने भगवत् सम्बंधि प्रश्न किया, जिससे भगवान् भूतल पर अब प्रकट रूप से विराजमान नहीं हैं इस प्रकार का स्मरण होने से आनन्द का आविभार्व नहीं हुआ एवं 'सद्या' मुक्ति होते हुए भी प्राण लय न हुए, उसके लिये उपाय कहते हैं कि तीव्र भक्ति योग से व अच्छी तरह भगवान् में नितरां मग्न हो गये थे, जिससे वे बाहर निकल नहीं सकते थे, अर्थात् बाहर के व्यापार से सम्बध तोड़ देने की सामर्थ्य उनमें आ गई थी, यह भक्ति प्रेम लक्षण थी, अर्थात् जिस भक्ति में कर्म व ज्ञान का आश्रय नहीं है वह सहज भावबती है, वह सर्वदा ही भगवत् प्राति का उपाय बनी हुई है—इससे यह सूचित किया है कि इस अवस्था में भक्त की क्रिया रूप स्पर्शेन्द्रिय लौकिक विषयों से निवृत्त हो जाती है तो अन्य कर्मेन्द्रियों का शिथिल होना स्वतः समझ लेना चाहिए यों कहने से भक्तों का विषय क्या है? यह निरूपण किया अर्थात् भक्त का प्रेमा भक्ति ही है ॥४॥

आभास—एवं सर्वव्यापारराहित्यं निरूप्य तस्य भक्ति लिङ्गजनकत्बम् अन्यथा तद्वयर्थमिति तदाह,

आभासार्थ—इस प्रकार भक्त की बाहर की सर्व क्रियाएँ निवृत्त हो गई यह निरूपण कर, यह बताया कि, इस प्रकार की क्रियाओं की निवृत्ति, भक्ति का चिन्ह प्रकट करने वाली है, अन्यथा वह निरर्थक है जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशाऽशुचः।**
पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसंप्लुतः ॥५॥

श्लोकार्थ—उस समय उद्धवजी के सर्व अंग पुलकित हो गए थे एवं बंद आंखों से आंसु बह रहे थे वे स्नेह के पूर में डूबे हुये थे ऐसे दर्शन उनके हुए ॥५॥

सुबोधिनी—पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्ग इति । पुलकैः रोमोद्गमैरुद्भिन्नानि सर्वाङ्गानि यस्य । अनेनाऽऽनन्दः पूर्णो मध्ये जात इत्युक्तम् । बहिरपि निर्गच्छतीत्याह–**मुञ्चन्मीलद्दृशाऽशुचइति** । मीलदिति अन्तर्भागो निरूप्यते, न तु जलनिमग्नवत् केवलमन्तःपूर्णता । **अशुच** आनन्दाश्रूणि । अनेन शोकं निवार्य स्वयं निर्गच्छन्तीति सूचितम् । एवं रोमोद्गमादीनां भक्तिलिङ्गानामुत्पत्तिमुक्त्वा तेषां लिङ्गत्वमाह–**पूर्णार्थो लक्षित इति ।** अर्थो भगवानानन्दरूपः पूर्णो यस्मिन् । **तेन** विदुरेण, नेत्रोदकादिना वा । तस्य भक्तिदर्शनेन स्वस्यापि भक्तिर्जाता । स्वात्मानं विकलीकरोतीति, भक्तेरतिपूरेणाऽयं बहुदूरे प्लावित इत्यपि **लक्षितः** । भक्तेः प्लावकत्वं न सम्भवतीति स्नेहस्य प्रसर उक्तः । सा हि शास्त्रतो जायमाना यावत्कार्यमेव जायते । अनेन विसर्जनक्रिया निरूपिता । एवमेव सर्वेन्द्रियाणां भगवद्विषयत्वम् ॥५॥

व्याख्या—उद्धवजी के सर्व अंगों में रोमांच खड़े हो गए थे, इससे सूचित किया कि वे, भीतर आनन्द से पूर्ण हो गए हैं वह आनन्द बाहर भी निकल रहा है, यों जताने के लिए कहते हैं कि बंद नेत्रों से आंसु बहा रहे थे, 'मीलत्' (बंद) पद से सूचित किया है कि उद्धवजी हृदय के भीतर भगवान् के आनन्द का स्वाद ले रहे है, न कि जैसे जल में डूबे हुए को केवल जल में डूबना ही उसका स्वाद है वैसे उद्धवजी नहीं थे, वह आनन्द, शोक को मिटाकर, अश्रु रूप से बाहर निकल रहे हैं, इस भक्ति के चिन्ह को रोमाञ्चों की उत्पत्ति कह कर उनके चिन्ह बताते हैं कि (पूर्णार्थोलक्षितः। ये उद्धवजी, आनन्द रूप भगवान् से परिपूर्ण हो गए हैं, नेत्रों से आंसुओं के गिर जाने से ऐसे दीखते हैं अथवा विदुरजी उनको ऐसा समझ रहे हैं, कि उनकी भक्ति देखकर अपने (विदुरजी) में भक्ति उत्पन्न हो गई है, वह भक्ति अपनी आत्मा को व्याकुल करती थी, भक्ति के बलवान् पूर होने से ये (उद्धवजी) समग्र प्लावित हो गए हैं यों भी लक्षित किया जाता है 'प्लावित' पद का अर्थ यहाँ डूबना नहीं होगा क्योंकि भक्ति डूबती नहीं है इसलिए स्नेह का वेग (पूर) कहा है, शास्त्रानुसार उत्पन्न भक्ति तो कार्यानुरूप ही प्रकट होती है, इससे विसर्जन[1] क्रिया का निरूपण किया, इस प्रकार ही सर्व इन्द्रियों[2] को भगवद्विषयपन प्राप्त हुआ ॥५॥

आभास—तादृशोऽपि भगवन्तं दृष्ट्वा लब्धाश्रयोभगवन्माहात्म्यकथनार्थं विदुरंकृतार्थीकर्तुं भगवदिच्छया भगवन्तमाश्रयभूतं गृहीत्वैव सावधानतया समागत इत्याह—

आभासार्थ—वैसे भी उद्धवजी, भगवान् के दर्शन से उनका आश्रय प्राप्त कर भगवान् का माहात्म्य कहने के लिए भगवदिच्छा से विदुर को कृत्तार्थ करने के लिए, आश्रय भूत भगवान् को साथ में लेकर ही सावधानतापूर्वक आए यों 'शनकैः' श्लोक में बताते हैं—

---

[1] —आर्द्र [2] —इन्द्रियों से लौकिक विषयों का विसर्जन हो गया ।

श्लोक—**शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।**
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥६॥

श्लोकार्थ—उद्धवजा भगवल्लोक से धीरे धीरे फिर मनुष्यों के लोक में आए और नेत्रों को पौंछ कर हँसते हुए विदुर को उत्तर देने लगे ॥६॥

सुबोधिनी शनकैरिति । शनकैरिति सावधानत्वम् । न तस्य स्मरणमात्रं जातम्, किन्तु व्यापिवैकुण्ठे गत्वा समागत इत्याह–**भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागत इति** । पुनःपदेन च पूर्वमप्युद्धवो वैकुण्ठादेव समागत इति ज्ञायते, अन्यथा '**स्वधाम नय मामपि**' इति तस्य कामना प्रतिहता स्यात् । पूर्वं तु भगवत आज्ञापरिपालनार्थं समागतः, इदानीं तु भक्तस्य । **नेत्रे विमृज्येति** । निद्रापायोत्थितत्वं सूचितम् । स्वस्य पूर्णत्वेन महत्त्वमल्पेष्वागतं गर्वाय भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह–**उत्स्मयन्निति** । उच्छब्दो विवृतिवाची हासवन्मुखविकासं बोधयति । तादृशो भूत्वा प्रत्याह ॥६॥

व्याख्या—'शनकैः' (धीरे धीरे) पद से उनकी (उद्धवजी की) सावधानता कही हैं। "भगवल्लोकात्" पद से यह सूचित किया है कि उद्धवजी को केवल भगवत् स्मरण नहीं हुआ है, किन्तु व्यापि-बैकुण्ठ में जाकर वे मनुष्य लोक में फिर आए हैं 'पुनः' (फिर) पद से यह जताया है कि उद्धवजी पहले भी भगवल्लोक से आए हैं यदि यों न होता तो 'स्वधामनयमामपि' उद्धवजी की यह कामना कि मुझे भी अपने धाम में ले चलों, ऐसी प्रार्थना निष्फल हो जाए वहाँ से आए क्यों ? जिसके उत्तर में कहा है कि पहले भगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए आए थे, अब भक्त की पालनार्थ पधारें हैं, नेत्रों को पौंछ कर, कहने का भावार्थ है, कि जैसे जीव सुषुप्ति में भगवान् के पास जाकर नींद खुलने से उठकर लोक में आता है, वैसे ही आप भी आए हैं, जैसे अल्प (साधारण) मनुष्य किसी का काम करने के लिए आए तो उसको गर्व होता है वैसे उनको (उद्धवजी को) नहीं हुआ, अतः हँसते हुए उत्तर देने लगे, 'उत्' पद से सूचित किया है कि हास्य के कारण आप का मुख खुल गया था, जिससे निरहङ्कारता प्रकट हुई ऐसे निरहङ्कारी बन कर उत्तर दिया ॥६॥

आभास—एकेन साधारणमुत्तरम्

आभासार्थ—'कृष्णद्यु मणि' इस एक श्लोक से साधारण उत्तर देते हैं—

उद्धव उवाच-श्लोक—**कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण हि ।**
किं पुनः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥७॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा कि श्री कृष्ण रूप सूर्य के अस्त होने से, अजगर (अन्धकार) ने घरों को निगल लिया हैं जिससे सर्व 'श्री' (कान्ति) रहित हो गए है ऐसी दशा का वर्णन करते हुए क्या कुशल कहूँ ? ॥७॥

सुबोधिनी—कृष्णद्युमणीति । कृष्णो हि सदानन्दः सर्वदा द्युमणिरेव । न हि कदाचिदपि सूर्यो भूमौ समायाति, तत्र स्थित एव परमिदं जगत् प्रकाशयति; तथा भगवान् व्यापिवैकुण्ठ एव स्थितोऽस्मदादिरूपां पृथ्वी प्रकाशितवान् । स इदानीमबहिर्मुखान् अस्मत्परभागस्थितान् प्रकाशयितुं निम्लोचति । तस्य निम्लोचे सति सर्वमेव जगत् पूर्वं तत्प्रकाशितमन्धकारेण गृह्यते । सह्यन्धकारोऽजगर आधिदैविकः । इदं हि लोके परिदृश्यमानं तम आधिभौतिकम् । **'हतरूपंतु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते'** इत्याध्यात्मिकम् । **'आत्मप्रस्वापनं तम'** इत्याधिदैविकम् । महत्तत्त्वं तु मुख्यो ब्रह्मा । अजस्य गरणं गिलनं येनेति । **'गॄ निगरणे'** इति धातोः । येन महत्तत्त्वमपि भक्ष्यते, भगवत्प्रकाशावसाने तेनैवैते भक्षिताः । स हि अमुक्तानामभक्तानां च भक्षको नियतः । तदाह-**हीति** । **हेति** पाठे भगवदीयानामेतन्महदाश्चर्यम् । कुशलं हि विद्यमानमुच्यते । एतावत्तु जातम्, अतः परं किं कुशलमिति न जानइत्याह-**किं पुनः कुशलं ब्रूयामिति** । किञ्च । कुशलं सर्वं लक्ष्मीकार्यं भगवत्कार्यं च । तत्र भगवता न तेषु किञ्चित् कुशलं कृतम् । लक्ष्मीकृतं गृहे स्त्रीषु च भवति, तल्लक्ष्म्यामपि गतायां गतश्रीषु गृहेषु सत्सु किं कुशलं ब्रूयामिति सर्वकुशलनिबृत्तिः । **अहमि**त्यहमेवोर्वरित एतादृशः, अतो मां दृष्ट्वैव ज्ञातव्यं यज्ज्ञातव्यम् । वक्तव्यं तु नाऽवशिष्यत इत्यर्थः ॥७॥

व्याख्या—सदानन्द स्वरूप श्री कृष्ण सर्वदा सूर्य ही (प्रकाश करने वाले ही) हैं, सूर्य कभी भी पृथ्वी पर नहीं आता है वहाँ रहते हुए ही इस जगत् को प्रकाशित करता है वैसे ही भगवान् भी व्यापि वैकुण्ठ में ही विराजते हुए 'अस्मदादि रूप' पृथ्वी को प्रकाश देते हैं वे अपने ऊपर के भाग में स्थित और जो उनसे बहिमूर्ख नहीं हैं उनको प्रकाशित करने के लिए यहाँ से अस्त हो गए हैं उनके अस्त होते ही पहले उससे प्रकाशित समस्त जगत् को अन्धकार ने ग्रस लिया है यह अंधकार आधिदैविक[1] अजगर है लोक में जो यह अंधकार देखा जाता है वह अधिक भौतिकतम[2] है 'हतरूपंतु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते 'अंधकार से परिहृत रूप वाला तेज वायु में लीन हीन हो जाता है' वह आध्यान्मिक[3] आत्मा को निद्रा लाने वाला तम (अन्धकार) आधिदैविक है, 'महत्तत्व' तो मुख्य ब्रह्मा है, वह अज है तो भी उसको निगल जाता है अतः इस (तम) को 'अजगर' कहते हैं अर्थात् अज को (ब्रह्मा को) निगलने वाला, जब भगवान् के प्रकाश का अवसान होता है अर्थात् भगवान् का प्रकाश नहीं होता है तब उसने ही ये भक्षण किए हैं वे ही जिनकी मुक्ति नहीं हुई जो भगवद के भक्त नहीं हैं उनका भक्षण करने के लिए इसको नियुक्त (मुकर्र) किया है, यह अर्थ 'हि' पद से कहा है यदि 'हि' के स्थान पर 'ह' पद होए तो उसका भावार्थ यह होगा कि भगवदियों के लिए यह[4] महदाश्चर्य की बात है, कुशल विद्यमान होए तो कहा जाए इतना तो हो गया अर्थात् 'कान्ति' नष्ट हो गई, यह होने पर भी यदि कुशल रहा हो तो उसको मैं नहीं जानता हूँ, ऐसी अवस्था में फिर क्या कुशल कहूँ ? किञ्च सर्व कुशल, लक्ष्मी और भगवान् का कार्य है उनमें भगवान् ने कुछ कुशल नहीं किया है, लक्ष्मीजी घर में और स्त्रियों में

१—मूल अविधा का स्वरूप जो देव में विद्यमान है

२—भौतिक तेज (दीपक आदि) जिस को ग्रस लेता है। दीपक जला अंधकार मिट गया।

३—भूतरूप सर्व तेज मात्र को हरण करने वाला तम आध्यात्मिक है।

४—भगवदियों में क्रान्ति (तेज) न रहे

कुशल करती है, वह लक्ष्मी भी भगवान् के साथ गई, जिससे सर्व घर भी श्री रहित हैं, तब क्या कुशल कहूँ ? इस प्रकार सर्व कुशलों की निवृत्ति हो गई है, मैं ही अब ऐसा रहा हूँ जिसको देखकर ही कुशलता का अनुमान (अंदाजा) लगा लो इससे जो जानना हो वह जान लो कहने के लिए शेष कुछ नहीं बचा है ।।७।।

आभास—ननु भगवता ते कथं नोपकृताः ? तत्राऽऽह–दुर्भगेति त्रिभिः

आभासार्थ—भगवान् ने उनके ऊपर स्वयं उपकार क्यों न किया ? इस शङ्का के निवारण के लिये 'दुर्भगो' यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।**
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ।।८।।

श्लोकार्थ—खेद हैं । यह श्लोक तो अभागा है ही जैसे पास रहनेवाले चन्द्रमा को मछलियों के न पहचान ने से मन्द भागी हैं वैसे ही ये यादव पास रहते हुए भी हरि को न पहचान सके अत; व सर्वदा मन्द भागी ही हैं ।।८।।

सुबोधिनी—तामसादिगुणैस्ते भगवन्तं न जानन्ति । सामान्यतोऽज्ञानम्, अन्यथाज्ञानम्, विरुद्धं च ज्ञानमस्तीति भगवता ते नोपकृताः । तेषां सामान्यतोऽज्ञानं सहेतुकमुपपादयति । **अयं लोको** भूर्लोकः, दुर्गतं भाग्यं यस्य तादृशः । **बतेति** खेदे । न हि भाग्ये विद्यमाने स्वयं तिष्ठति भगवति गते । अभाग्यं तु नास्ति, कियत्कालं भगवदनुभवात् । यथा दुर्भगा तथाऽयं लोकः । एतावता वर्तत एव दुर्भगता परमन्यस्याम् । **अयमिति** जनात्मकः । तथा स्वयं भगवति व्यवहृतवान्, येन दुर्भगो जातः । यादवास्तु सुतरामेव तथा जाताः । ये चक्षुष्मन्तोऽप्यन्धा इव कूपे पतिताः । सर्वतोमृत्युरयं लोकः, यादवास्त्वन्योन्यघातेन तथैव जाता इतिभावः । अन्धत्वमाह–**ये सम्यगेकत्र** वसन्तोऽपि **न विदुरिति** । ज्ञाते किं स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन विपरीते फलाभावमाह–**मीना इवोडुपमिति** । पूर्वं समुद्रे मत्स्याश्चन्द्रश्चैकत्र स्थिताः । ते चेच्चन्द्रं प्रार्थयेयुस्तदा अमृतपानेन अमरा भवेयुः । सह्यमृतमयः, अमृतं च दातुं शक्तः । मत्स्याश्च सर्वतोमृत्यवा ज्ञातिघातिनश्च । तेषामप्रार्थनायामज्ञानमेव मूलम् । तथा यादवा भगवदज्ञानान्न मुक्ताः, किन्तु सर्वतोमृत्यवो जाता इत्यर्थः । तस्य दानसामर्थ्यमाह–**उडुपमिति** । तदमृतलेशेनैव नक्षत्राणि प्रकाशन्ते तत्तिरोभावेऽपि एवं भगवत्तिरोभावेऽप्येते प्रकाशं प्राप्नुयुर्यदि जानीयुः, सर्वदुःखहर्तृत्वाद्भगवतः ।।८।।

व्याख्या—तामस आदि गुणों के कारण वे भगवान को नहीं जानते हैं उनमें भगवान् के स्वरूप का सामान्य अज्ञान है, तथा झूठा अज्ञान एवं विरोधी ज्ञान है. इसलिए भगवान् ने उन पर उपकार नहीं किया, उनमें भगवान् के सम्बन्ध में जो सामान्य अज्ञान है, उसका हेतुपूर्वक प्रतिपादन करते हैं, यह लोक अर्थात् भूलोक (पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्य मात्र) दुर्भागी है, अतः खेद है । यदि भाग्य होता तो भगवान् के पधारने पर उनके साथ जाते यहां न रहते, अल्प भागी है किन्तु अभाग्य नहीं है, क्यों कि यदि अभाग्य हो तो इतना समय भगवान् के साथ रह अनुभव न करते, अतः भगवान् का अनुभव करने से अभागी नहीं है, किञ्च विधवा स्त्री अथवा त्यागी हुई स्त्री के

समान यह लोक भी दुर्भग हैं, इतना समय भाग्य रहित था किन्तु दूसरी भूमि में, यहां तो मनुष्य लोक से भगवान् के साथ बास कर अनुभव (आनन्द) लिया अब नहीं है, अतः यह लोक अल्प भाग्यवान् है, अभागा नहीं है, यादव तो नेत्र होते हुए भी कूप में गिरे अतः वे बहुत मन्दभाग्यवाले हुए चारों तरफ से मृत्यु प्राप्त करने वाला यह लोक है, किञ्च यादव तो परस्पर वधकर वैसे हुए, कहने का यों भाव है—

श्लोक के उत्तरार्ध से यादवों का अन्धत्व सिद्ध करते हैं, जो यादव भगवान् के साथ एक ही स्थान पर रहते हुए भी उनको न जान सके, यदि पहचाना हो तो कौनसा लाभ होता है ? इस शङ्का का उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि न पहचानने से विपरीत फल हुआ, अर्थात् भगवदानन्द का लाभ (विमोक्ष) न मिला, (मीनाइवोडुपम्) जैसे मत्स्यों (मछलियों) ने चन्द्रमा को न पहचाना तो अपना अमरत्व गवांया, पूर्व समय में मत्स्य और चन्द्रमा दोनों समुद्र में साथ रहते थे, तो भी चन्द्रमा में कौन सा गुण है । इसको जान न सके, चन्द्रमा अमृत से भरपूर होने से नक्षत्रों को सदैव चन्द्रमा न होने पर भी उससे प्रकाश मिलता ही है । यह चन्द्रमा के अमृतत्व का चिन्ह है । मत्स्यों ने साथ रह कर भी चन्द्रमा को नहीं पहचाना जिससे अमृत के लिए प्रार्थना नहीं की, यदि प्रार्थना करते तो अमृत पान से अमर बन जाते, वह (चन्द्रमा) अमृत का निधि है, अमृत देने में समर्थ है, किन्तु प्राथना नहीं की, जिसका मूल कारण अज्ञान ही है, अमृत प्राप्ति के के अभाव से मत्स्य सर्व प्रकार से नष्ट होते हैं, इसी तरह यादव साथ रहते हुए भी भगवान् स्वरूप को न जान पाए जिससे मोक्ष रूप फल से वञ्चित हो गए अर्थात् चारों तरफ से मरते रहे, जैसे चन्द्रमा के तिरोहित होने पर भी तारे चमकते हैं, वैसे ही भगवान् के तिरोहित होने पर भी ये यादव प्रकाश पाते, (यदि उनको जानते तो) कारण कि भगवान् सर्व दुःखहर्ता है ॥८॥

आभास—किञ्च । मीनानां ज्ञानसामर्थ्यमपि नास्ति, एते तु ज्ञानसमर्था अपि न ज्ञातवन्त इत्याह

आभासार्थ—किन्तु मत्स्यों में तो ज्ञान नहीं था जिससे वे चन्द्र को न पहचान सके, ये तो पहचानने की ज्ञान शक्ति धारण करते हैं तो भी न पहचान सके यह 'इङ्गितज्ञा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**इङ्गितज्ञाः पुरु प्रौढा एकारामाश्च सात्त्वताः ।**
सात्त्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥९॥

श्लोकार्थ—संकेत को जानने वाले बहुत निपुण भगवान् के साथ ही आराम करने वाले सर्व यादव, वैष्णवों के पति को सर्व भूतों में निवास करने वाले है, यों जानते थे ॥९॥

सुबोधिनी—इङ्गितज्ञा इति। भगवतश्चेष्टितमपि जानन्ति, कदाचिद्भगवान् किञ्चिच्चिकीर्षया दिगादिकमपि पश्यति, तदैव जानन्त्येतत् करिष्यतीति। एवं ज्ञानशक्तिरुक्ता। **पुरु** अधिकं **पौढा** अतिक्रियाशक्तियुक्ताः। अत एव ज्ञानक्रियाशक्तित्वा**देकारामा**, भगवता सह एकत्रैवाऽऽरामो येषाम्। शक्तिद्वयस्य फलमेतत्। **सात्त्वता** इति वैष्णवाः। एवं लौकिकप्रकारेण ज्ञानक्रियातत्फलभक्तियुक्ता अपि न जानन्तीत्याह—**सात्त्वतामृषभमिति**। समस्तवैष्णवानां स्वामिनम्, मुक्तानामपि कामपूरकम्। भूतेष्वावासो यस्य। पाञ्चभौतिकदेहे स्थितम्, कारणभूतदेहे स्थितं वा। **अमंसत** ज्ञातवन्तः। अनेन विपरीतज्ञानं तेषां स्थितमतो ज्ञातुमपि न यतन्त इति भावः ॥९॥

व्याख्या—भगवान् की चेष्टा को भी समझते हैं, कभी भगवान् कुछ करने की इच्छा से किसी दिशा की तरफ देखते थे तो ये समझ जाते थे कि भगबान् यह कार्य करेगें। इसी तरह उनकी (यादवों की) ज्ञान शक्ति प्रकट की, 'पुरु प्रौढा' पद से सूचित किया है कि, ये (यादव) अतिशय क्रिया शक्ति वाले भी थे, ज्ञान और क्रिया दोनों शक्ति युक्त होने से ही भगवान् के साथ एक ही स्थान पर आराम करते थे, यह दोनों शक्तियों (ज्ञान और क्रिया शक्ति) का फल है, 'सात्वता' पद से वैष्णव कहे हैं, इसी तरह लौकिक प्रकार से ज्ञान क्रिया के फल स्वरूप भक्ति युक्त होने पर भी नहीं जान सके (जानते हैं) जिसका कारण कहते हैं कि 'सात्वताभृष्भ' समस्त वैष्णवों का स्वामी, मुक्तों की भी कामनाओं को पूर्ण करने वाले, भूतों में आवास वाले (पंच भौतिक देह में स्थित अथवा कारण भूत देह में स्थित) जानने लगे, इससे सूचित किया है कि इनमें विपरीत ज्ञान स्थित हुआ है अतः जानने के लिए भी प्रयत्न नहीं करते हैं, यों भाव है ॥९॥

आभास—एवं श्लोकद्वयेन अज्ञानम्, स्वसाधारण्येनाऽन्यथाज्ञानं चोपपादयन् रागमुपपाद्य द्वेषमुपपादयति

आभासार्थ—इसी तरह ऊपर के दो श्लोकों से यादवों को भगवान् का अज्ञान और भगवान् भी हमारे समान यादव हैं, ऐसा अन्यथा ज्ञान प्रति पादन कर भगवान् का तो यादवों में प्रेम है यह कह कर निम्न श्लोक से द्वेष का प्रति पादन करते हैं—

श्लोक—देवस्य मायया स्पृष्टा ये चाऽन्यदसदाश्रिताः।
भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥१०॥

श्लोकार्थ—जिन पर भगवान् की व्यामोहिका माया का प्रभाव पड़ा है, और जिन्होंने असत् पुरुषों का आश्रय किया है, उनके वाक्यों से आत्म रूप भगवान् में जिनकी आत्मा मिल गई है उनकी बुद्धि भ्रमित नहीं होती है ॥१०॥

सुबोधिनी—तेवस्येति। देवस्य ज्ञानात्मकस्य **मायया** व्यामोहिकया केचन **स्पृष्टा** आत्मानं परं च जानन्ति, पशुवद्भगवति व्यवहरन्ति ये च पुनः मायया सम्यग्व्याप्ताः शिशुपालादयस्ते **असद्** द्वेषमेवाश्रिताः। यदसदन्यद्भवति, भगवत्संबन्धं दूरीकरोति। अथवा। केचिदन्यदेवाश्रिताः, येन भग-

वता भिन्ना भवन्ति । अहङ्कारं गर्वसहितमित्यर्थः अन्ये पुनश्चकारोक्ताः सर्वथा तत्तदायोग्या अपि पाषण्डा असद्भगवन्निन्दामेवाऽऽश्रिताः । अनेन ये केचिज्ज्ञातुमपि यतन्ते तानपि ते नाशयन्तीति भावः । तर्हि सर्व एव नष्टाः, तथा सति भगवदवतारफलं न जातमित्याशङ्क्याऽऽह—**भ्राम्यते धीरिति** । न हि सर्वेषां बुद्धिं ते भ्रामयितुं शक्ताः । ये तद्वाक्यं मन्यन्ते अदृढमूलाः शास्त्ररहितास्त एव भ्रान्ता भवन्ति, ये त्वस्मदादय आत्मरूपे भगवति उप्तात्मानस्ते न भ्रामन्ते । एकवचनं दुर्लभाभिप्रायेण । उप्त आत्मा येनेति । कृष्यादिना भूमिं भित्त्वा सर्वतः संस्कृत्य शुद्धं बीजं यैरुप्यते, तद्बीजं जाताङ्कुरंवायुना न गच्छति; अमूलं पतितं तृणादिकमेव गच्छति । आत्मशब्देन च अन्तःकरणस्य शुद्धता उक्ता । भगवांस्तु स्वयं स्वचरणयोरुप्तं चित्तं केषमपि न दूरीकरोति, सर्वदुःखहर्तृत्वात् । इत्याह—**हराविति** ॥१०॥

व्याख्या- ज्ञान स्वरूप देव की व्यामोहिका माया का प्रभाव जिन पर पड़ा है. वे अपने और ईश्वर के स्वरूप को जानते नहीं है, अतः पशु जैसे भगवान् से व्यवहार करते हैं, वैसे वे भी करते हैं और जिन पर माया का विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है ऐसे जो शिशुपाल आदि हैं वे तो भगवान् से द्वेष ही करते हैं एवं ऐसे जो दूसरे दुष्ट हैं वे भगवान् से सम्बन्ध तोड़ देते हैं, और दुष्टों का आश्रय कर लेते हैं, अथवा कितने ही ऐसे होते हैं, जो दुसरे देवों का आश्रय लेते हैं, जिस कारण से उनमें कुछ गव उत्पन्न होता है, इससे भगवान् से विमुख बन जाते हैं, 'च' पद से यह सूचित किया है कि दूसरे ऐसे हैं जो सर्व प्रकार से भगवान् के पद के योग्य नहीं है, ऐसे दुष्ट पाखण्डी (लोग भगवान् की निन्दा के ही आश्रित होते हैं, अर्थात् वे स्वय तो भगवन्मार्ग को जानना चाहते हैं उनको भी भगवान् की निन्दा कर सन्मार्ग से गिराकर नाश करते हैं, यदि यों है तो सब का नाश हो गया, तब भगवान् के अवतार लेने से कोई लाभ नही हुआ इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिये श्लोक का उत्तरार्ध कहा है, जिन की वे सबकी बुद्धि को भ्रमित नहीं कर सकते हैं, जिनकी भगवान् में दृढ़ भक्ति नहीं है, शास्त्र नहीं जानते हैं, वे ही उनके वाक्य मान कर भ्रमित होते हैं, और हमारे समान आत्म रूप भगवान् में जिन्होंने अपनी आत्मा को बो दिया है, वे उन दुष्टों के असत् वचनो से भ्रमित नहीं होते हैं एक वचन देने का आशय है कि ऐसे मिलने कठिन हैं, पृथ्वी में हल ला कर बाद में उसमें बीज डाला जाता है, बीज अंकुर रूप में जब आता है, तब वह वायु से नहीं उड़ता है उड़ता वह है जिसकी जड़ नहीं हैं, विना जड के तृणादि पृथ्वी पर पड़ा हो, वह उड़ जाता है । 'आत्म' शब्द से अन्तः करण की शुद्धता कही है । जिन लोगो ने स्वंय अपने चित्त को भगवान् के चरणों में बो दिया है । उस बोये हुए के किसी के भी चित्त को भगवान् दूर नहीं करते हैं, क्यों कि हरि होने से सर्व दुःख हरनेवाले है । अत यहाँ 'हरौ' पद दिया है ॥१०॥

आभास—अत एव भगवान् ज्ञापनार्थमागतः प्रायेण सर्वानिवाऽनधिकारिणो ज्ञात्वा स्वरूपपमुसंहृतवानित्याह

आभासार्थ—इसलिए ही भगवान् अपने स्वरूप का परिचय प्राप्त कराने के वास्ते पधारे थे, किन्तु लगभग सबको ही अनधिकारी समझ, अपने स्वरूप को छिपा दिया यों "प्रदर्श्यं" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**प्रदर्श्याऽतप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।**
आदायाऽन्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥११॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने तपस्या कर अपना देह परिपक्व (शुद्ध) नहीं किया हे जिसके नेत्र दर्शन से तृप्त नहीं ऐसे मनुष्यों के लोक के ज्ञान रूप अपने स्वरूप का दर्शन कराके फिर उसको अन्तर्ध्यान कर दिया ॥११॥

सुबोधिनी—**प्रदर्श्येति** । स्वोपेक्षादोषाभावाय प्रकर्षेण दर्शयित्वा । इन्द्रियाणां बहिर्मुखत्वेन दर्शनकरणायोग्यत्वेऽपि स्वसामर्थ्यं दत्त्वा प्रदर्शनं प्रशब्दार्थः । तेषां दृष्टीनां साधनान्तराभावामाह—**अतप्ततपसामिति** । **'अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते'** इति श्रुतेः । येन न तप्तं तपः स त्वामोऽपक्वः, नहि स जलाधारो भवितुमर्हति । जलनिकटे स्थितेऽप्यामघटे न जलं प्रक्षिप्यते, स्वरूपनाशशङ्कया । तथा भगवानपि स्वरूपं तेषां दृष्टौ न स्थापितवान्, तपोव्यतिरेकेण भगवत्यन्यथाबुद्धिसम्भवात्तन्नाश एव स्यात् । तर्ह्येतावत्कालं कथं स्थापितवांस्तत्राऽऽह—**अवितृप्तदृशामिति** । न विशेषेण तृप्ता दृष्टिर्येषाम् । वस्तुसामर्थ्यात् वस्तुविचारमकृतत्वैव रूपमेव पश्यन्तः स्थितास्तृप्तप्राया जाताः । सर्वथा तृप्ताश्चेदन्यथा जानीयुः । अत एव उपसंहृतवानित्यर्थः । **नृणामिति** राजसत्वम् **आदायेति** धर्मद्वारा तेषां प्रविष्टं प्रविष्टं तत आच्छिद्य स्वयमप्यन्तर्हितवान्, मध्ये वा स्थापितवान् । **अविवन्मेषवद्वा तृप्तादृष्टिर्येषाम्** । तेह्यधोमुखा नीचदृष्टयः । अत एवाऽऽदाने सुगमता । **स्वबिम्बमिति** स्वयमादित्यो बिम्बं रूपम् । अनेन विदुरज्ञानं परास्तम् । यथा तेजोरूपं बिम्बम्, तथाऽऽकृतिः सच्चिदानन्दरूपेति । किञ्च । तद्रूपं लोकानां लोचनं ज्ञानरूपम् । न हि पदार्थबोधव्यतिरेकेण चक्षुषा किञ्चिज्जानाति । **'चक्षुषश्चक्षुः'** इति श्रुतेर्लोचनमेतदेव । न हि लोचनं दृश्यं भवति निमेषमात्रेण च तिरोभवतीति तस्य तिरोभावो युक्त इत्यर्थः । तुशब्देन रूपान्तरेण तिष्ठतीति सूचितम् ॥११॥

व्याख्या – भगवान् से स्वयं प्रकट होकर तपस्या रहित अपक्व (कच्चे) लोगों को अच्छी तरह दर्शन कराके, उनकी दृष्टि तृप्त भी नहीं हुई इतने में आपने अपने स्वरूप को छिपा लिया जब वे तपस्या रहित होने से अपक्व थे और कोई ऐसा साधन भी नहीं किया था, जिससे भगवत् दर्शन के योग्य होवें तो आपने ऐसों को दर्शन क्यों दिए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि (स्वोपेक्षा दोषाभागय प्रकर्षेण दर्शयित्वा' भगवान् ने सोचा कि यदि हम अच्छी तरह दर्शन न देगें तो मुझ पर उपेक्षा का दोष लगेगा अतः दर्शन दिए 'इन्द्रियाणां बहिर्मुखत्वेन दर्शन करणायोग्यत्वेऽपि स्वसामर्थ्यं दत्वा प्रदर्शनं 'अप्रशब्दार्थः' इन्द्रियां बहिर्मुख थीं दर्शन करने के योग्य भी न थी तो भी भगवान् उन इन्द्रियों को अपनी सामर्थ्य देकर दर्शन कराए, यह 'प्र' शब्द देने का भावार्थ है । वे अयोग्य क्यों थे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवत् दर्शन के दूसरे साधन का उनमें अभाव था, अतः अपनी सामर्थ्य से दर्शन मात्र कराए, दूसरा साधन तपस्या है किन्तु वह इन्होंने नहीं की थी, जैसा कि शास्त्र में कहा है—'अतप्तन्नूर्नतदामोंऽश्नुते' तप रहित देह वाला अपक्व होने से अशन (भगवत्स्वरूप का भोग) नहीं कर सकता है, जैसे अपक्व घड़े में जल नहीं डाला जाता यदि डाला जावे तो घड़ा ही फूट जावे और पानी व्यर्थ बह जावे, वैसे ही भगवान् ने अपने को दोषारोपण से बचाने के

लिए ही केवल दर्शन दे दिए किन्तु उनकी दृष्टि में अपने स्वरूप की स्थापना नहीं की, तपस्या के न करने से भगवान् में उनकी अन्यथा बुद्धि होने का सम्भव था जिससे उसका नाश हो जाता है यदि यों है तो इतने समय तक कैसे स्थापित किया ? जिसका उत्तर देते हैं, कि (अवितृ प्तदृशां नेत्रों में स्वरूप विराजमान होते हुए भी नेत्र तृप्त नहीं हुए हम जिस वस्तु (रूप) का दर्शन कर रहे हैं वह किस प्रकार की है ? ऐसा विचार करके केवल देख रहे थे, जिससे नाम मात्र तृप्त जैसे दिखते थे यदि वास्तविक सर्व प्रकार से तृप्त होते तो स्वरूप को जैसा अब समझ रहे हैं वैसा न समझते किन्तु सच्चिदानन्द स्वरूप जानते ऐसा न जान कर उनने पञ्च भौतिक ही जाना है जिससे भगवान् ने अपने स्वरूप को वहां से खींच कर अन्तर्ध्यान कर दिया, 'नृणां' पद कहने का आशय है कि ये "राजस" हैं—

'आदाय' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं कि भगवान् जिस धर्म स्वरूप से दृष्टि में प्रविष्ट हुए थे उस स्वरूप को दृष्टि से खींच आप धर्मी स्वरूप भी अन्तर्हित हो गए अथवा जब तक विराजे तब तक उनमें धर्म स्वरूप धरा 'अवितृपदृशी' पद का भावार्थ दूसरे प्रकार से समझाते हैं, 'अविवन् मेष वद्वा तृप्ता दृष्टिर्येषाम्' 'भेड़ की तरह जिनकी दृष्टि तृप्त हुई है वे ऐसे थे, भेड़ की तरह जिनकी दृष्टि तृप्त दृष्टिर्येषाम्' भेड़ का मुख नीचे रहता है जिसमें उनसे वस्तु सरलता से खींची जाती है, वैसे ये भी उनके समान है जिससे इनकी दृष्ठि से भी स्वरूप को खींचना सरल हुआ "स्वबिम्ब" भगवान् आप सूर्य बिम्ब रूप हैं अर्थात् आप और आपकी देह पृथक् नहीं यों कहने से विदुरजी का यह ज्ञान माया द्वारा उत्पन्न देह में भगवान् का अग्निवत् आवेश है, वह परास्त हुआ अर्थात् झूठा सिद्ध हुआ है जैसे तेज रूप बिम्ब है वैसे ही सच्चिदानन्द रूप (आकृति) है किञ्च वह लोकों का लोचन है अर्थात् ज्ञान रूप है, जब तक पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ है तब तक नेत्र से कुछ नहीं जाना जाता है चक्षुषश्चक्षु" इस श्रुति से भगवान् के रूप का ज्ञान ही नेत्र हैं अथवा भगवान् का रूप ही चक्षु है लोचन अपने को देख नहीं सकती और पलकों के गिरते ही बन्द हो जाती है इसलिए उसका तिरोभाव उचित है इस प्रकार इसका भावार्थ है "तु" शब्द से यह सुचित किया है कि भगवान् दूसरे स्वरूप से अर्थात अन्तर्यामी स्वरूप से तो विराजते ही हैं ॥११॥

आभास—तद्रूप सच्चिदानन्दरूपमिति निरूपयितुं सदुत्कर्षं चिदुत्कर्षमानन्दोत्कर्षं चाऽऽह त्रिभिः

आभासार्थ—भगवत स्वरूप[1] सच्चिदानन्द मय हैं, यों निरूपण करने के लिए उनके सत् चित् और आनंद का उत्कर्ष निम्न तीन श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।**
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥१२॥

१—देह "भगवान जीव के समान देह से पृथक् नही है, देह अर्थात् आपका स्वरूप आप ही हो ।

श्लोकार्थ—जो भगवान् का रूप, मत्यों[1] जैसी लीला करने में उपयोगी है जिस का ग्रहण अपनी योगमाया के बल को दिखाने के लिए हुआ है जो रूप आपको भी आश्चर्य में डालनेवाला है (वह) सौभाग्य तथा समृद्धि का उत्तम स्थान है और जिसके श्री अंग भूषणों के भूषण रूप हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—यन्मर्त्यलीलौपयिकमिति । इदं हि भगवतो रूपं सद्रूपम । पञ्चभूतप्रकारेण पञ्चभूतसमयपि पञ्चभूतेभ्यो विशिष्यत इति सदुत्कर्षः । तत्र पृथिव्युत्कर्षमाह–**यन्मर्त्यलीलौपयिकमिति** । मृद्भावमापन्ना मर्त्याः, मृद्भावं त्यजन्तीति वामर्त्याः । पृथिव्यां ये भवन्ति, तेषां या लीला स्वरूपक्लेशव्यतिरेकेण सर्वमनोहरचेष्टारूपा, तस्या औपयिकं योग्यम् । मर्त्यानां न लीलाधारत्वम्, अमर्त्येषु मर्त्यलीलाभावः, तथापि पार्थिवानां न योग्यता । अतोऽलौकिकमेव यन्मनुष्यरूपसदृशं शुद्धं सद्रूपं तदेव लीलायोग्यम्, कार्य दोषराहित्यात । किञ्च **स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्** । स्वस्याऽसाधारणरूपा साधनभूता सर्वभवनसमर्था या कारणरूपा माया, तस्या बलम् । परोक्षार्थं बलिना यथा महत् कम कार्यते, तथा सतोऽनन्तरूपकर्त्र्याः सर्वसामर्थ्यमेकत्र व्यापृतं प्रदर्शनीयमिति तद्दृशं रूपं निर्मितम् । नानाविधानि रूपाणि जलं स्वच्छतया गृह्णति । तस्य जलस्योत्कर्षो माया वैकुण्ठस्थितमपि रूपं गृह्णातीति जलभावेऽपि जलोत्कर्षः । किञ्च, स्वस्यापि विस्मापनम् । स्वयं हि तेजोमयः सर्वप्रकाशकः सर्वमेव स्वरूपमन्येभ्यः प्रदर्शयति तस्य न किञ्चित् विस्मयम्, तादृस्याऽप्येतत् विस्मापनं विस्मयजनकम्, अहो मयैतादृशमपि लोके प्रदर्श्यत इति । तेजोरूपं सत्तेजसोऽप्युत्कृष्टम् । किञ्च, **सौभगर्द्धेः पर पदम्** । सौभाग्यस्यर्द्धेरणिमाद्यष्टैश्वर्यस्य च परम स्थानम् । प्राणस्य योगस्य च कार्यमेतद्द्वयम्, तेन वायुरूपं सद्वायोरुत्कृष्टम् । सौभगमत्र सौन्दर्यातिशयः सर्वपुरुषरोचकत्वम् । **ऋद्धिः** समृद्धिः । पुरुषोत्तमस्याऽपि रुचिजनकमत एवैतद्रूपे भगवतोऽतिप्रीतिः, प्राणादप्यधिका । किञ्च, **भूषणभूषणाङ्गमिति** । भूषणानां भूषणभूतानि अङ्गानि यस्य । भूषणान्यङ्गदादीनि कौस्तुभान्तानि, तेषां भूषणमङ्गमेव । यथेन्द्रनीलमणिः स्वर्णमणीनाम् । अनेन नभस्तले विमानविद्युदादय इव भगवद्रूपे आभरणानि शोभन्त इत्याकाशतुल्यमप्याकाशादुत्कृष्टम् ॥१२ ।

व्याख्या—यह भगवान् का दृष्यमान रूप ही सद्रूप है पंच महाभूतों के प्रकार के समान दिखने पर भी उनसे उत्तम है इस तरह रूप में सत् का उत्कर्ष है। इस रूप म पृथ्वी से उत्तमता है, यह बताते हैं, "यन्मर्त्यलीलौपयि कमिति" मर्त्य के भाव को जिन्होंने ग्रहण किया है वे मर्त्य है और जो मृद्भाव का त्याग करते है वे अमर्त्य हैं। पृथ्वी पर जो कार्य होते हैं वे कार्य, स्वरूप के क्लेश रहित एवं सबके मन को हरनेवाली चेष्टा (रूप) की लीला से करने में यहाँ सद्रूप उपयोगी है। मर्त्य लोग इस प्रकार की लीला नहीं कर सकते हैं और अमर्त्यों में मर्त्य लीला का अभाव है, तो भी पृथ्वी से बनी हुई देहों में इस प्रकार की लीला करने की योग्यता नहीं होती है इस कारण से ही मनुष्य रूप सदृष्य जो अलौकिक शुद्ध सद्रूप है वह ही लीला के योग्य है क्योंकि ऐसे शुद्ध सद्रूप है में षड़भाव विकार नहीं होते हैं जैसे लौकिक देह में होते हैं इस सद्रूप ग्रहण करने के कारण अपनी योग-माया

---

[1] १–मरण धर्म वालों की तरह

की शक्ति को प्रकट कर दिखाना है वह योग-माया आपकी असाधारण रूपा साधन–भूता सर्व भवन समर्था कारणरूपा शक्ति है जैसे बली की परीक्षा के लिए उसमे बड़े२ कार्य कराए जाते हैं वैसे ही सत पदार्थों का संचायक[१] की तरह अनन्त रूप बनाने वाली माया का सर्व सामर्थ्य एक ही स्थान पर इकट्ठा कर दिखाने[२] के लिए ही भगवान् ने वैसा रूप धारण किया है जल स्वच्छ होने से पृथक २ अनेक रूप धारण करता है उस जल का उत्कर्ष "माया" है वह (माया) वैकुण्ठ में स्थित भी भगवद्रूप को ग्रहण करती है इसलिये जल में स्थिति होते हुए भी उसका जल से उत्कर्ष[३] है फिर भगवान् को भी वह रूप विस्मय में डालने वाला है भगवान् स्वयं तेजोमय और सर्व प्रकाशक हैं अपने स्वरूप अन्यों को दिखाते हैं उनको तो कुछ भी विस्मय नहीं है ऐसों को भी यह रूप विस्मय में डालने वाला है भगवान् विचारते हैं कि आश्चर्य है, मैं ऐसा रूप भी लोक में दिखाता हूं वह तेजो रूप होते हुए भी तेज से उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) है, फिर वह "सौभगर्द्धेः पर पदम्" अर्थात् वह सौभाग्य एवं अणिमादि अष्टसिद्धियों का उत्तम स्थान है ये प्राण तथा योग के दो कार्य हैं इससे वह रूप प्राण होने के कारण सद्वायु से उत्कृष्ट है यहां सुन्दरता की बहुलता सौभाग है कारण कि वह सर्व पुरुषों को रोचक है 'ऋद्धि' अर्थात् समृद्धि युक्त वह रूप पुरुषोत्तम को भी आनन्द पैदा करनेवाला है अतएव इस कारण से ही इस रूप में भगवान् को प्राणों से भी अधिक प्रीति है 'भूषणभूषणाङ्गम्' भगवान् के अङ्ग भूषणों के भी भूषण हैं अङ्गदों से लेकर कौस्तुभमणि तक जितने आभूषण हैं उनके भूषण भगवान् के अङ्ग हैं जैसे स्वर्ण की मणियों का भूषण इन्द्रनील मणि है इससे यह सूचित किया है कि जैसे आकाश में विमान और विद्युत बिजली आदि शोभते हैं वैसे भगवद्रूप में आभरण शोभा दे रहे हैं। आकाश के समान होते हुए भी आकाश से उत्तम है ॥१२॥

१–इकट्ठे करने वाले की तरह

२–अपना स्वरूप जानने वालों को दिखाता है अतः वैसा रूप संचेय न्याय से माया में बताया है

३–जल से उत्कर्ष कैसे ? जिसको समझाते हैं कि माया स्वच्छत्व रूपा है।

जैसे तेजों रूप चन्द्र आदि का प्रति बिम्ब उनकी किरणों के जल में प्रवेश होने से होता है उस जल) में प्रविष्ट अंश में चन्द्रमा के सर्व धर्म माया से दिखते हैं वा माया दिखाती है वैसे ही संचायक स्थान को प्राप्त शुद्ध सत्त्वात्मिका माया में संचेय न्याय से प्रविष्ट जो भगवान् के रूप के अंश है उनमें मूल धर्म माया से दिखते हैं वा माया दिखाती है यह मायिक होते हुए भी माया का उत्कर्ष है इस प्रकार भगवान् की योग-माया संचेय गुणवाली है जिससे भगवान् का रूप आवृत होने से किसी को देखने में नहीं आता है अत एव भगवान् ने गीता में कहा है कि "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योग–माया समावृतः" योग माया से ढका हुआ मैं सबको दिखता नहीं हूं।

मायावच्छिन्नेश्वरवाद में अर्थात् मायावाद में माया से मूल स्वरूप में धर्म प्रतीति होती है और वे धर्म वास्तव (सत्य) है, ब्रह्मवाद में माया से आच्छन्न होने से जैसे भगवान् में मर्त्य धर्म की प्रतीति असत् हैं जसे जल कम्प से चन्द्र में प्रकम्पन प्रतीति झूठी है-भगवान में तो वास्तविक गुण जो हैं वे माया से आच्छादित होने से नहीं दिखते हैं।

आभास—एवं सदुत्कर्षं निरूप्य चिदुत्कर्षं माह

आभासार्थ - इस प्रकार सत् की उत्तमता सिद्ध कर चित् का उत्कर्ष 'युद्धर्म' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।**
कार्त्स्न्येन चाऽद्येह गतं विधातुरर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥१३॥

श्लोकार्थ—हर्ष है कि धर्म के पुत्र के राजसूययज्ञ में नेत्रों के कल्याण का धामरूप जो कृष्ण का स्वरूप था इस स्वरूप को देखकर तीनों लोकों ने मानलिया कि ब्रह्मा को मनुष्य–सृष्टि बनाने की सम्पूर्ण कुशलता यहां व्यय (पूरी) हो गई है ॥१३॥

सुबोधिनी—**यद्धर्मसूनोरिति**। धर्मे हि ज्ञानमभिव्यक्तं भवति। धर्माज्जातं धर्मादप्युत्कृष्टम्। तस्याऽपि राजसूययागो धर्मोत्कर्षरूपः। तादृशीमवस्थां स्मृत्वा धर्मेणाऽऽह। **बतेति** हर्षे। सर्वेऽपियत् भगवद्रूपं दृट्वा एवं ज्ञातवन्तस्तद्रूपं वर्णवति–**दृक्स्वस्त्ययनमिति**। दृष्टीनां स्वस्ति कल्याणरूपयनं स्थानं सर्वेऽपि विषया दृष्टिनां नाशकाः येऽपि भगवद्विषयास्तेऽपि स्वरूपतः कल्याणरूपा न किं बहुना, विषयमात्रमेव तद्दृष्टिव्ययजनकम्, न तु पोषकम्। ज्ञानमेव तु दृष्टिपोषकम्। ज्ञानेन्द्रियाणां च तदेवायनम्। सजातीय एव प्रविष्टं सजातीयं वर्द्धते। तेन विषयपक्षेऽपि '**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्**' इति न्यायेन यदा ज्ञानमेव पश्यति चक्षुस्तदा स्वस्त्ययनं भवति '**चक्षुषश्चक्षुः**' इति श्रुतेश्च। तदा त्रिलोकस्य या बुद्धिर्जाता तामाह–**इह** चिद्रूपे भगवच्छरीरे–**कौशलं विधातुर्**जगत्कर्तु**र्गतम्**। **अर्वाक्सृतावेव कौशलम्**। इतोऽर्वाक् सत्त्वसृष्टावेव जगत्कर्तुः सामर्थ्यम्। अथवा, अर्वाक्सृतिर्मनुष्यसृष्टिरर्वाक्स्रोतस्त्वात्, तत्र यत्कौशलं तदिह गतम्। अर्वाक्स्टतिकौशलेन इदं कर्तुं न शक्यत इत्यमन्यत। **तेन** स्वस्त्ययनत्वात्, सर्वलोकप्रतीतिसिद्धत्वात, सत्त्वसृष्टयतिरिक्तमेतच्चिद्रूपामिति ॥१३॥

व्याख्या—निश्चय है कि धर्म में ही ज्ञान प्रकट होता है धर्म से उत्पन्न (ज्ञान रूप भगवान्) धर्म से भी श्रेष्ठ है उसका भी जो राजसूय यज्ञ है वह धर्म का उत्कृष्टरूप है। इस प्रकार की स्थिति का धर्म मे स्मरण कर कहते हैं कि 'बत इति' हर्ष है सबने भगवद्रूप के दर्शन कर जैसा जाना वैसे का वर्णन करते हैं 'दृक्स्वस्त्ययनं' यह रूप नेत्रों के लिए कल्याण रूप स्थान है कारण कि जो भी विषय है वे सब नेत्रों के नाश करने वाले हैं जो भगवान् सम्बन्धी विषय हैं वे भी स्वरूप से नेत्रों के वास्ते कल्याण रूप नहीं हैं बहुत क्या कहें विषय मात्र ही नेत्रों की दृष्टि के नाशक हैं न कि पोषक हैं दृष्टि का पोषक तो ज्ञान ही है ज्ञानेन्द्रियों का तो वह (ज्ञान रूप भगवान्) ही वास स्थान हैं जातीय में प्रविष्ट सजातीय ही अपनी वृद्धि कर सकता है इससे विषय पक्ष में भी यदि ज्ञान रूप भगवान् ही विषय हो जैसे 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् इस श्रुत्यनुसार किसी धीर पुरुष ने प्रत्यगात्मा का दर्शन किया और 'चक्षुषः चक्षुः' श्रुति के अनुसार भगवान् का रूप चक्षु का भी चक्षु है यों ज्ञान चक्षु जब उस ज्ञान रूप को विषय बनाता है तब कल्याण का धाम

हो जाता है नाश से बचकर पुष्ट होता है ऐसे दर्शन कर त्रिलोकी की जैसी बुद्धि हुई उसको कहते हैं 'इह चिद्रूपे भगवच्छरीरे–विधातुः[1] कौशलगतम्' इस यज्ञ में चिद्रूप (ज्ञानरूप) भगवत्स्वरूप का दर्शन कर त्रिलोकी ने यों माना कि जगत्कर्त्ता का पहले का सब कौशल्य इस चिद्रूप भगवच्छरी के निर्माण में असफल हो गया है अर्थात् जो कौशल्य मनुष्यादि सृष्टि बनाने में ब्रह्मा ने दिखाया वह यहां काम न कर सका कारण कि मनुष्यों की नाड़ियाँ नीचे बहती हैं यह रूप तो कल्याण अर्थात् आनन्द का स्वरूप होने से सत्त्वसृष्टि से अन्य प्रकार का है जो सब मानने लगे ॥१३॥

आभास—आनन्दरूपतामाह

आभासार्थ—"यस्यानुराग" श्लोक में भगवान् की आनन्द रूपता[2] कहते हैं।

श्लोक—**यस्यानुरागप्लुतहासरासलीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।**
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—जिस (भगवान्) के प्रेम के कारण विशेष हासवाले रास में भगवान् के लीलावलोकन से जिन्होने मान पाया है ऐसी व्रज सीमेन्तनियां दृष्टि के पीछे बुद्धि भी चली जाने से निश्चय है कि अपना कार्य त्याग कर स्तब्ध हो गई ।१४।

सुबोधिनी **यस्यानुरागेति**। स्त्रियो ह्यानन्दप्रधानाः, तासां दृष्टिरानन्द एव भवति। यत आनन्दार्थमेव प्रयतन्ते, साधने वा। प्रकृते साधनत्वाभावात् निरुपाधिकस्त्रीदृष्टिविषयत्वेन। आनन्दत्वमुच्यते यस्य भगवतोऽनुरागेण प्लुतो यो हासः, प्लुतो निमग्नोऽधिको वा, तत्सहितो यो रासः रससमूहात्मको बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषः, तत्र यल्लीलावलोकनम्, तेन प्रतिलब्धो मानो याभिः। पूर्वमभिमानं परित्यज्य भक्तिमार्गानुसारेण भगवन्तं प्रपन्नाः। तत्र सख्यपर्यन्तं भगवद्भजने जाते अनुरागः प्रवृद्धः। हाससहितो रासो भावोद्गारी हृदये भगवदैक्यं प्रापयाते। तत्र हास्यांशः काममध्ये प्रविष्टो भेदमपि बोधयेदित्यनुरागेण प्लुतः कृतः परमप्रेमात्मको जातः। उत्साहजनकत्वात् हासोऽप्यपेक्षितः। रासो वश्यतापादकः। अत एव तत्र वशीभूतस्य भगवतो यल्लीलावलोकनम्, तेन पूर्वं त्यक्तोऽपि मानो भगवता स्थापितो दृष्टिद्वारा दत्त इति प्रतिलब्धमाना भवन्ति। अनेन दीनतया भक्तिरस आक्षिप्तः। स्वतन्त्रता एव ता भगवदानन्दानुभवे समर्था जाता इत्यर्थः। **व्रजस्त्रियो** गोकुलस्त्रियः। व्रजतीति व्रजः, सदैकत्र स्थितिरहितः। तादृशीनां स्तब्धतयैकत्र रसास्वादनं स्वभावेन विरुद्ध्यत इति स्वभावविजयी भगवानानन्दमयः। कामसाधकत्वाभावमाह—**दृग्भिरनुप्रवृत्तधिय इति**। दृग्भिः सह अनूप्रवृत्ता धियो यासाम्। यथा दृष्टिर्भगवति प्रविष्टा, तत्सङ्गे चेतनाऽपि तत्रैव गता। अतो न स्वशरीरे तासां कामभोगापेक्षा, भगवत्स्वरूप एवानन्दानुभवात्।

१—जगत् कर्तुः २—उत्कृष्ट आनन्द रूपत्व

न कामेनानन्दो न वा स्वस्मिन् जातस्याऽऽनन्दस्याऽनुभवः, अन्तःकरणादीनां तत्रैव व्यापृतत्वात्। नाऽऽत्मन्यानन्दजननसामर्थ्यम्। अस्मिन्नर्थे न सन्देहः कर्तव्य इत्याह—**किलेति**। किञ्च। **कृत्यशेषा** एवाऽवतस्थुः। कृत्ये शेषो यासाम्। प्रतिक्षणं भगवदात्मकतामेव प्राप्नुवन्तीति गृहकृत्ये तासां कृत्यशेष एव तिष्ठति, देहस्मरणाभावात्। अतोऽपि ष्वस्मिन्नानन्दोत्पत्तिः। यथा दूरे स्थितं दृष्टिर्विषयीकरोति, तथा दूरे स्थितं भगवन्तमप्यानन्दरूपं दृष्टिर्विषयीकरोति, अन्यथा आनन्दप्रेप्सूनामेवं स्थितिर्न स्यात् ॥१४॥

व्याख्या—स्त्रियाँ निश्चय से आनन्द प्रधान हैं अर्थात् स्त्रियों की सबसे विशेष आनन्द में अभिरुचि होती हैं अतः उनकी दृष्टि आनन्द में ही लगी रहती है जिससे आनन्द की प्राप्ति के लिए ही वे प्रयत्न करती हैं अथवा जिम "साधन से आनन्द प्राप्त हो उस साधन के लिए प्रयत्न करती हैं प्रकृत प्रसंग में कोई साधन नहीं है अर्थात् भगवान् का श्री अंग भी साधन नहीं है अतः उपाधि रहित स्त्रियों की दृष्ठि का विषय भगवान् का श्री अंग होने से उस (श्री अंग) का आनन्दत्व कहा जाता है जिस भगवान् पर अनुराग अर्थात् प्रेम के कारण जा अधिक हास्य सहित रास[1] हुआ उस रास में भगवान् ने अपनी लीलामय दृष्टि से जिनका सम्मान किया है वे व्रज की ही स्त्रियां हैं जिन्होंने अभिमान का त्याग कर भक्ति मार्ग के अनुसार भगवान् का शरण लिया है शरण आने से सख्य पर्यन्त भगवान् का भजन करने से अनुराग बढा हास सहित रास भाव (प्रेम) को बाहर उगल कर हृदय में भगवान् से ऐक्य प्राप्त कराता है उसमें हास्य का भाग काम में प्रविष्ट हो। भेद को भी पैदा करता है उस भेद के अभावार्थ प्रेम में डूबोने से परम प्रेम रूप हो गया। उत्साह जनक होने से हास की भी अपेक्षा है, रास वश करनेवाला है इस कारण से ही रास में वशीभूत हुए भगवान् का जो लीला से अवलोकन है उससे ब्रज स्त्रियों ने जो अभिमान त्याग दिया था वह मान भगवान् ने स्थापित किया। दृष्टि द्वारा दिया यों मान प्राप्त कर वे अब असमर्थ स्वतन्त्र हो भगवान् के आनन्द का अनुभव करने लगी दीनता के कारण जो भक्ति रस दूर हो गया था वह अब सबल होने से प्राप्त हो गया "ब्रज स्त्रियां" पद का अर्थ है गोकुल की स्त्रियां ब्रज पद का अर्थ है सदा एक स्थान पर जिसकी स्थितो नहीं रहती है ऐसी ब्रज की स्त्रियों का एक स्थान पर रह कर स्वाद लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध है, स्वभाव पर विजय करनेवाले भगवान् आनन्द से परिपूर्ण है उन ब्रज स्त्रियों में काम के साधकपन का अभाव कहते हैं "दृग्भिरनुप्रवृत्तधियः" जैसे दृष्टि भगवान् में गई वैसे उसके पीछे बुद्धि भी भगवान् में गई जिससे ब्रज स्त्रियां चेतना (होश) न होने से अपने शरीर से काम भोग की अपेक्षा रहित हो गई कारण कि वे भगवत् स्वरूप में ही आनन्द का अनुभव कर रही थीं इनको अब न काम में आनन्द आ सकता था और न अपने में उत्पन्न आनन्द का भी अनुभव हो सकता था कारण कि अन्तःकरण आदि सब भगवान् में ही व्याप्त थे इसलिए अपने में ही आनन्द उत्पन्न करने की ही साम्यर्थ नहीं थी "किल" पद से यह सूचित किया है कि इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए फिर वे घर के काम काज कृत्य शेष रख कर खड़ो रह गई प्रतिक्षण भगवान् में एकतान होने से

१—अधिक नाच करने वालियों के साथ विशेष प्रकार के नृत्य को "रास" कहा जाता है। जिस नृत्य हुए होते अनेक प्रकार के रसों का उद्भाव होता है।

गृह कार्य में कुछ शेष रह जाते थे क्योंकि भगवदासक्ति से देह का मान भी नहीं रहता था इससे भी अपने में आनन्द की उत्पत्ति नहीं होती थी जैसे दूर स्थित को दृष्टि देख सकती है वैसे दूर स्थित आनन्द रूप भगवान् को भी ब्रज स्त्रियों की दृष्टि देख सकती थी यदि यों न हो तो आनन्द प्राप्त करने की इच्छावालों की इस प्रकार की स्थिती न हो ।।१४।।

आभास––एवं सच्चिदानन्दत्वं स्वरूपस्योपपाद्य, तत्र जीवस्येव भगवतोऽपि स्थितिर्वक्तव्येत्याशङ्क्य, तत्रैव सच्चिदानन्दरूपेऽक्षरे स्थितस्य पुरुषोत्तमस्याऽग्निवत्तत्र प्रादुर्भाव इत्याह–

आभासार्थ—भगवान् का स्वरूप (देह) सच्चिदानन्द रूप है यों प्रतिपादन किया तो उस देह में भगवान् की स्थिति भी जीव जैसी कहनी चाहिए अर्थात् जैसे जीव देह में प्रविष्ट होकर रहता है किन्तु देह पृथक है और जीव पृथक है । उसी तरह भगवान् की भी उस देह में जीव के समान स्थिति होगी ? इस शंकानिवारणार्थ कहते हैं कि इसी सच्चिदानन्द रूपात्मक अक्षर स्वरूप (देह) में स्थित पुरुषोत्तम का अग्निवत् प्राकट्य होता है अतः जीव की तरह प्रविष्ट नहीं होते है जीव देह से पृथक् है कारण कि उस (जीव) की देह पंच-भौतिक है और आप भगवदंश होने से पंच-भौतिक नहीं हैं यहां सच्चिदानन्द अक्षर पुरुषोत्तम से पृथक् नहीं, अक्षर, पुरुषोत्तम का ही स्वरूप है अतः उस स्वरूप में ही आप अग्निवत् प्रादुर्भूत हैं—यों निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक––**स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।**
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः ।।१५।।

श्लोकार्थ—भगवान् जब देखते हैं कि मेरे शान्त स्वरूपों (देवों) को मेरे ही अन्य रूप (दैत्य) जब पीड़ित करते हैं, तब दयामय अन्तःकरणवाले एवं काल और कर्म आदि को अपने वश में रखनेवाले प्रभु महत्तत्त्व के साथ मिल कर अजन्मा होते हुए भी अग्नि की तरह आविर्भूत होते हैं ।।१५।।

सुबोधिनी—स्वशान्तरूपेष्विति । अक्षरस्यैवंप्रकारेणाविर्भावः, तत्र भगवदाविर्भावश्च निर्निमित्तं न भवति । अन्यद्वारा तमर्थं कारयन् विषमो भवेत् । अतः पुत्रशिक्षावत् भगवान् दैत्यान् मारयतीत्याह–स्वस्य शान्तेषु स्वरूपेषु देवादिरूपेषु अशान्तैरितरैः स्वरूपभूतैरेव दैत्यैरर्द्यमानेषु सत्सु दयाविष्टचित्तः सर्वांशिनाऽप्यज उभयसमाधानार्थं स्वयं साक्षरः पुरुषोत्तम आविर्भूतइत्यर्थः । कालकर्मादिप्रेरणाभावार्थमाह–**परावेश इति** । परः कालादिः, अवरः कर्मादिः, तेषां नियन्ता । ननु पुरुषो नारायणः प्रथमपुरुषो वा स्वानन्देन सहाऽऽविर्भावं लभताम्, किं पुरुषोत्तमाविर्भावेनेत्यत आह–**महदंशयुक्त इति** । महानंशो यस्य प्रथमपुरुषस्य, तद्युक्तः । सृष्ट्यर्थं स्वस्मिन् प्रकृतिपुरुषमन्तर्भाव्यैवाऽऽविर्भवति । अत एव स्वस्मिन् यशोदादिभिर्जगदुपलभ्यते । एतदेव हि ब्रह्मलिङ्गम् । अन्यव्यावृत्त्यर्थमाह-**भगवानिति** । **यथा**ऽग्निरिति व्याख्यातम् ।।१५।।

व्याख्या—सच्चिदानन्दात्मक अक्षर का इस प्रकार अर्थात् भगवान् के देह रूप से प्राकट्य तथा उसमें ही भगवान् का आविभाव, बिना कारण नहीं होता है, यदि दूसरे किसी से यह कार्य[1] करावे तो विषम[2] होता है इसलिए जैसे पुत्र को शिक्षा देने के लिए उसकी ताड़ना का जाती है वैसे ही भगवान् दैत्यों को मारते हैं यों श्लोक में कहा है, कि अपने शान्तरूप देवों को जब अपने ही अशान्त रूप दैत्य पीड़ित करते हैं तथा आपके चित्त में दया आ जाती है सर्वांश से अर्थात् सब तरह से अजन्मा होते हुए भी दोनों का समाधान हो इसलिए अक्षर सहित पुरुषोत्तम स्वयं प्रकट हुआ है। यह शङ्का भी नहीं करनो कि काल और कर्म की प्रेरणा से आप प्रकटे हैं क्योंकि आप दोनों के ईश (स्वामी) हैं स्वामी को सेवक प्रेरणा व आज्ञा नहीं दे सकता है।

'पुरुष' नारायण वा प्रथम पुरुष अपने आनन्द सहित भले आविर्भूत हो पुरुषोत्तम के आविर्भाव से क्या लाभ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'महदंशयुक्तों' प्रथम पुरुष का जो महान् अंश (महत्तत्व) है उसको भी अपने साथ लेकर प्रकट होते हैं तथा सृष्टि कार्यकर्त्ता स्वरूप जो प्रकृति पुरुष है इसको भी अपने भीतर छिपाकर ही प्रकट होते हैं इस कारण से ही आप में यशोदा आदि जगत् देखते हैं, यह ही ब्रह्म का चिन्ह है, प्रथम पुरुष और प्रकृति पुरुष भीतर स्थित होने से दिखते नहीं हैं जगत् कर्तृत्वादि गुण और विरुद्ध धर्माश्रयत्व आदि गुण ही ब्रह्म स्वरूप के पहचानने का चिन्ह है 'भगवान्' पद से यह सूचित किया है कि यह पुरुषोत्तम ही हैं अन्य अक्षर वा पुरुष नहीं हैं जैसे 'अग्नि' यों कहकर बताया हैं कि जो थे वह ही प्रकट हुए हैं आभास में इसकी व्याख्या की गई हैं ॥१५॥

आभास—एवमक्षरपुरुषोत्तमत्वं भगवद्देहात्मनोरुपपाद्य लोकप्रतीतिविरोधं भगवद्वाक्यविरोधं च परिहर्तुमाह द्वयेन

आभासार्थ—इस तरह ऊपर के श्लोकों में भगवान् की देह अक्षर (सच्चिदानन्दात्मक) और आत्मा पुरुषोत्तम है, यों प्रतिपादनकर अब निम्न दो श्लोकों से लोक की प्रतीति का विरोध और भगवद्वाक्यों का विरोध इन दोनों विरोधों को मिटाते हैं।

श्लोक—**मां खेदयत्येतदजस्य जन्मविडम्बनं यद्वसुदेवगेहे।**
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं पुराव्द्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अजन्मा होकर वसुदेव के गृह में जन्म लेना और व्रज में जाकर रहना तथा अनन्त वीर्यवान् होते हुए भी अपना नगर छोड़ कर भागना ये सब वार्ताएं मुझे खेद उत्पन्न करती है ॥१६॥

---

[1] —आविर्भाव का निमित्तभूत कार्य अर्थात् दैत्य वध।

[2] —पक्षपाती होता है।

सुबोधिनी—मां खेदयत्येतदिति । भगवान् लोकवञ्चनार्थं प्राकृतदेहत्वं ख्यापयितुं वसुदेवपुत्रत्वादिविडम्बन यत् करोति, तद्विडम्बनमपि तस्य सर्वथा अयुक्तमिति किं सर्वसमर्थस्य वञ्चनेनेति तथाकरणं मां खेदयतीत्याह—**अजस्य जन्मविडम्बनामिति** । तत्रापि **वसुदेवगेहे** वसुदेवस्य भार्यायां देवक्याम् । एतदपेक्षया स्तम्भ इव, जल इव ब्रह्मणो हृदयादिव आविर्भावविडम्बनं समीचीनमिति मां खेदयति । किञ्च, **व्रजे च वासो** मां खेदयति । कुत्र व्यापि वैकुण्ठवासी, लौकिकानामपि वासायोग्ये गोकुले किमित्यवात्सीदिति । किञ्च । **अरिभयादिव** जरासन्धादिभिर्भीत इव पुरान्मथुरातो व्यवात्सीदिति यत्, पुरात् पलाय्य स्थानांन्तरं गतमिति यत् । विवासः परदेशवासः अयुक्तत्वे हेतुः—**अनन्तवीर्यं इति । व्रजे चेति** चकारो गुरुकुलादिसंग्रहार्थः । **अरिभयादिति** । भयाभावादिवेत्युक्तम् । न हि सर्वात्मनोऽस्यः सति, न वा तस्य भयम् । अन्येषां भयनिवर्तकत्वाच्च । **स्वयमिति** नांशद्वारा ॥१६॥

व्याख्या—भगवान् ने लोकवञ्चनार्थ अपना दह प्राकृत सा प्रसिद्ध करने के लिए वसुदेव के पुत्र होने का जो अनुकरण (ढोंग) किया है यह अनुकरण करना भी सर्वथा उचित नहीं है क्योंकि सर्व समर्थ को यों ढोंग करने से क्या लाभ ? अतः यों करना मुझे दुःख पहुँचाता है फिर वह अनुकरण भी वसुदेव के गृह में अर्थात् उसकी स्त्री देवकी में इसकी अपेक्षा स्तम्भ से जल सेवा ब्रह्मा के हृदय से प्रकट होना श्रेष्ठ था यों नहीं किया इसलिए मुझे दुःख होता है उनका व्रज में रहना मुझे दुःखित करता है । कहाँ वैकुण्ठ वास और कहाँ व्रज (गोकुल) में रहना, जहाँ लौकिक भी रहना नहीं चाहते हैं यहां रहना भी मेरे लिए दुःखकर है फिर विशेष दुःख का कारण यह है कि कायर (डरपोक) की तरह जरासन्धादि शत्रु के भय से अपनी मथुरा नगरी छोड़ दी वह भी भागकर अर्थात् जिससे परदश में रहना पड़ा वास्तव में भय तो था ही नहीं अतः यह सब उचित नहीं है, कारण कि ऐसा कार्य निर्बल करते हैं आप अनन्तवीर्य हैं ऐसे होकर भी भागना मुझे अत्यन्त दुःख देता है क्यों कि जो सर्वात्मा हैं, उनके शत्रु होते ही नहीं और न उनको किसी से भी भय होता है कारण कि आप दूसरों के भय को भगा देते हैं तो वे डरे क्यों ? "स्वयं" यह सब लीला आपने की है न कि अंशद्वारा कराई है, इसलिए मेरा मन विशेष दुःखित हो रहा है ॥१६॥

आभास—वाक्यविरोधं परिहरति

आभासार्थ—इस श्लोक से भगवद्वाक्यो के विरोध का परिहार करते हैं ।

श्लोक—दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
ताताऽम्ब ! कंसादुरुशङ्कितानां प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—हे पिता ! कंस से बहुत डर कर आपके उपकार का बदला न दे सके ऐसे हैं तो भी हम पर आप प्रसन्न हो (क्षमा कृपा करो) ये वाक्य, भगवान् ने पिता के चरणों में प्रणाम करते हुए जो कहे, उनका स्मरण हाते ही मेरे चित्त में दुःख उत्पन्न होता हैं ॥१७॥

सुबोधिनी - दुनोति चेत इति । पित्रोः पादावभिवन्द्य कंसवधानन्तरं देवकीवसुदेवपादावभिवन्ध भगवानेवमाह- **हे तात ! हे अम्ब ! कंसादुरुशङ्कितानां** किं करिष्यतीति शङ्कया अतिभीतानामस्माकमुपरि प्रसीदतं प्रसन्नौ भवतमिति । यदेतद्वाक्यं तत्स्मरतो मम चेतः, दुनोति दुःखितं करोति । अनेन सर्वाण्येव भगवद्वाक्यानि **'मानुषीं तनुमास्थितम् ।' 'वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ।'** इत्यादिवाक्यानि लोकव्यामोहार्थमिति व्याख्यातानि । यदा भगवद्वाक्यानामेवैषा गतिः, तदा तैर्व्यामोहितानां वाक्यानां किं वक्तव्यमिति भावः ॥१७॥

व्याख्या—कंस का वधकर जब भगवान् पिता वसुदेवजी के पास जाकर उनको प्रणाम कर उनने जो वचन कहे वे मेरे चित्त को दुःख देते हैं, क्या कहा ? वह बताते हैं, हे तात ! हे अम्ब ! हे पिता ! हे माता ! कंस हमारी कैसी हालत करेगा ? इस कारण से कंस से बहुत डरे हुए हमने आपके उपकार का बदला नहीं चुकाया तो भी हम पर आप प्रसन्न हो जावो । ये भगवान् के वचन याद आते ही मेरा चित्त दुःखी होता हैं । इससे भगवान् के जो भी वाक्य मनुष्य देह धारण किए हुए, वसुदेव के पुत्र. मुझे वासुदेव कहते हैं, इत्यादि वाक्य लोक को व्यामोहित करने के लिए कहे हैं । यों उनकी व्याख्या की गई है, जब भगवान् के वाक्यों की यह गति है तो उनके वचनों से मोहितों के वचनों के लिए क्या कहा जाय ? यों भाव है ॥१७॥

आभास—-एवं सर्वविरोधं परिहृत्य, साक्षात्पुरुषोत्तमत्वमुपपाद्य, तस्य गुणकर्माणि निरूपयिष्यन्, भक्तिमार्गसिद्धये आदौ भजनीयान् गुणान् निरूपयति—

आभासार्थ-इस प्रकार सर्वविरोध का परिहार कर और श्री कृष्ण का साक्षात् पुरुषोत्तमपन सिद्ध कर उनके गुण तथा कर्मों का निरूपण करते हुए भक्ति मार्ग की सिद्धि के लिए पहले भजन के योग्य गुणों को कहते हैं ।

श्लोक—**को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन् ।**
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमेर्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिस प्रभु ने, अपनी फड़कती हुई भ्रू (भौंह) की शाखा रूप काल द्वारा भूमि के भार को दूर फैंक दिया, वैसे आपके चरण-कमल के रेणु के सूंघने वालों में से ऐसा कौन है जो उनको भूल सके ? ॥१८॥

सुबोधिनी—को वेति । भजनीयः स एव स्यात्, यः स्वयमभयः, सकृदपि प्रपन्नं सर्वतो भयान्मोचयति, ऐहिकामुष्मिकीं च ऋद्धिं मोक्षं च प्रयच्छति, भजनसन्देहेऽपि अनुषङ्गादपि यो मुक्तिं प्रयच्छति, स्वयं च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः, अनधिकारिणेऽपि गतिं प्रयच्छति, परार्थं स्वकृतनियममपि विरुद्धं न मन्यते-एवं यः सप्तगुणो भवति, षडङ्गसहितभजोपयोगिमहागुणवान् स

भजनीय इति। सप्तस्वपि गुणेषु हेतुभूतं गुणत्रय् मन्यच्चेत्. भवत्यतिसामर्थ्यम्, स्वरूपत एव सर्वोत्कर्षः. परमा दया च; स सर्वेषामुपास्या भवति। तदाह—सप्तभिः श्लोकैः। प्रत्येकमेकैकेन सप्तगुणा। द्वाभ्यां त्रिभिस्ततो द्वाभ्यां तैरेव; स्थूलगुणा निरूप्यन्ते। तत्र प्रथममतिसामर्थ्यं निरूपयन्नाश्रितसर्वदुःखदूरीकर्तृत्वमाह—**को वेति**। सर्वे हि प्राणिनः सर्वानेव भजन्ते। तद्गतगुणदोषैरनुरक्ता विरक्ताश्च भवन्ति। एवमत्र निर्द्धारः। भजनीयदोषव्यतिरेकेण सेव्यमानं न त्यजन्ति। लोके हि सर्वेषामेव देवानां मनुष्याणां वा सेवकास्ततारित्यज्य भगवदीया जायन्ते, न भगवदीयाः कदाचिदप्यन्यस्य। यस्त्विमं शास्त्रार्थमन्यथाकरिष्यामिति भगवन्मार्गे समागत्य तं त्युक्तुमिच्छति कौतुकादपि, सोऽपि तथा कर्तुं व शक्नोति। तदाह—**अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं** सकृदपि **विजिघ्रन् को वा विस्मर्तुमीशीतेति**। अतः स एव ईशः, यस्त्वीशितव्यान् वशीकरोति। रेणुर्घ्राणमार्गेणान्तर्गतः पूर्वोक्तस्तस्य सङ्घातं भगवदीयमेव करोति। स तदर्थोत्पादितसङ्घातः सर्वतो व्याप्तं तं रेणुं विस्मर्तुं न समर्थो भवेत्। ननु क्लिष्टः सङ्घातमपि विस्मरति, क्लेशनाशकमेवाऽधिमन्यत इति चेत्। तत्राऽऽह—**यो विस्फुरदिति**। अयं हि कल्पतरुः, यस्य भ्रूः पर्णसहिता काचिच्छाखा। अनन्तशाखस्य सा एका शाखा संहारकर्त्री स्वभावतः। संतुष्टा तु सापि परमैश्वर्यं प्रयच्छति। अतस्तादृशशाखाया विद्यमानत्वात् स्वानिष्टनाशे का शङ्का? यतो भूमेरेव सर्वाधारभूतायाः कृतोऽन्तो येन। विशेषेण स्फुरता। यत्र भारसम्भावनाऽपि तत्र स्वयं गत्वा दूरीकरणस्वभावेन भ्रूविटपेन भारमपि तिरश्चकार। यदर्थं सर्वेषामपि देवादीनां महान् यत्नः। यावत्ते दूरीकर्तुमायान्ति, तावत्स भारः पूर्वमेव तिरो भवति। यथा प्रथमोद्गतैः सूर्यकिरणैरेव सर्वतमोनाशः, सूर्यस्तु तमः पश्यत्यपि न, तथा भगवान् भक्तानामित्यर्थः ॥१८॥

व्याख्या—जिनका भजन किया जावे वैसे योग्य वही होते हैं, जिनमें सात गुण हों और छः अङ्गों सहित भजनोपयोगी महान् गुण वाले हों, सात गुण बताते हैं। (१) स्वयं (खुद निर्भय हों, (२) एक बार भी जो शरण आया होवे उसको चारों तरफ से आनेवाले सर्व प्रकार के भय से छुड़ाते हों (३) इस लोक और परलोक की समृद्धि और मोक्ष को दे सकते हों, (४) भजन की पूर्णता में सन्देश हो तो भी केवल सम्बन्ध होने के कारण भी मोक्ष देते हों, (५) स्वयं निर्दोषपूर्ण गुणवाले हों, (६) अनधिकारी को भी मोक्ष देने में शक्तिमान् हों, अर्थात् उसकी भी गति करते हों, (७) अन्य के लिए अपने किए हुए नियमों का विरोध हो तो उसकी भी परवाह नहीं करते हों।

उपर्युक्त सातगुणों के कारण रूप तीन गुण हैं (१) महती शक्ति (२) स्वरूप से भी सबसे उत्तमता (३) बहुत दया ये गुण भी जिनमें हों वे स्वरूप भी सबको सेव्य हैं वह सात श्लोकों से बताते हैं, प्रत्येक श्लोक एक एक कर सात गुण कहे हैं जैसा कि दो श्लोकों से तीन श्लोकों से फिर दो श्लोकों से इस प्रकार सात श्लोकों से सात गुणों के कारण रूप स्थूल (मूल) गुणों का वर्णन किया है।

उनमें से प्रथम अति सामर्थ्य का निरूपण करते हुए आश्रितों के सर्व दुःख दूरकर्त्तापन का गुण 'को वा' श्लोक से प्रतिपादन करते हैं।

सर्व प्राणी, प्रायः सर्व देवों का भजन करते हैं, उनमें रहे हुए गुण अथवा दोषों के कारण उनमें प्रेमवाले वा उनसे विरक्त हो जाते हैं, (अर्थात् देव में गुण देखते हैं तो प्रेम करते हैं (भजन

करते हैं) यदि दोष देखते हैं तो उनके भजन का त्याग कर देते हैं यहाँ इस प्रकार ही निर्णय किया है कि जिसमें दोष नहीं उनका भजन करते ही रहते हैं छोड़ते नहीं, देखा जाता है कि लोक मे सब देवों के तथा मनुष्यों के सेवक उनका त्यागकर भगवदीय (भगवान् के सेवक) हो जाते हैं, किन्तु भगवदीय कभी भी दूसरे देवादि के सेवक नहीं बनते हैं, जो कोई कौतुक से भी चाहता है कि कि शास्त्र के इस अर्थ को मैं अन्यथा करदूंगा, अर्थात् भगवान् के मार्ग (भक्ति मार्ग-शरण मार्ग) में आकर उसको छोड़ना चाहता है, वह भी यों कर नहीं सकता है, क्योंकि, एक बार भी जिसने भगवान् के चरण कमल की रज को सूंघ लिया है वह उसको कभी भी भूल नहीं सकता उससे प्राप्त रस (आनन्द) का त्याग कर ही नहीं सकता है, अतः वह ही ईश है जो, सेवकों को आते ही वश कर लेता है, कारण कि, नाक द्वारा शरीर के भीतर गया रेणु, सूंघनेवाले की देह को भगवदीय ही बना देता है, अतः भगवान् के लिए पैदा हुई देहवाला वह, चारों तरफ फैली हुई उस रेणु को भूल जाने के लिए शक्तिमान् नहीं होता है।

दुःखी देह को भी भूल जाता है, क्लेश नाश करने वाले को ही अधिक मान देता है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर श्लोक के उत्तरार्ध में देते हैं :

यह भगवान् कल्पवृक्ष हैं जिनकी भोंह उस कल्प वृक्ष की पर्ण सहित शाखा है, अनन्तशाखा वाले उस वृक्ष की यह एक शाखा स्वभाव से संहार करनेवाली है यदि वह भी प्रसन्न हो जावे तो वह भी बहुत ऐश्वर्य देती है, अतः ऐसी शाखा के विद्यमान होने से भगवान् द्वारा अपने अनिष्ट के नाश में कौनसी शङ्का है ? अर्थात् कोई नहीं, कारण कि सर्व की आधारभूत भूमि का अन्त फड़कती हुई इस शाखा ने ही किया है, जहाँ भार की संभावना होती है वहां भी आप पधारकर नाश करने के स्वभाववाली मोहरूप डाल से भार को भी दूर कर देते हैं जिस कार्य के लिए सब देव भी महान् यत्न कर रहे हैं वे जब तक दूर करने के लिए आवे उससे पहले ही आप उसको अपने मोहरूप डाल से दूर कर छोड़ते हैं, जैसे सूर्य के पहले उदित किरणों से अन्धकार नाश हो जाता हैं जिससे सूर्य अन्धकार को देखता ही नहीं है वैसे ही भगवान् भक्तों के दुःखों को (पृथ्वी के भार आदि को) साक्षात् नहीं देखते हैं, क्योंकि आपकी कालरूप भौंह उनका नाश कर छोड़ती है ॥१८॥

आभास—इष्टफलं तु भक्तानां न वक्तव्यमेव। यतो द्विषन्नपि भगवन्तमसुरोऽपि लोभाभिभूतः सर्वधर्मप्रतिपक्षो भगवत्संबन्धमात्रेणैव निषिद्धेनापिज्ञानिनोऽपि दुर्लभं सायुज्यं प्राप्तवान्। अयं चाऽर्थः सर्वजनीनस्तदाह—

आभासार्थ—भक्तों को इच्छित फल देवें, उस विषय में तो कहना ही नहीं है, क्योंकि लोभ से अभिभूत, सर्व धर्मविरोधी, भगवान् का तिरस्कार करनेवाला एवं असुर होने पर वह निषिद्ध प्रकार का था तो भी केवल भगवान् से सम्बन्ध हो जाने से उसने ज्ञानियों को भी दुर्लभ, सायुज्य प्राप्त किया, और यह अर्थ सर्वजनीन है वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः।**
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥१९॥

श्लोकार्थ—जिस सिद्धि को, योगी, अच्छी तरह साधे हुए योग से प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वह सिद्धि राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण के द्वेषी शिशुपाल ने प्राप्त की जिसको तुम लोगों ने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा उस कृष्ण का विरह कौन सहन कर सकता है ॥१९॥

सुबोधिनी—दृष्टेति। कृष्णं द्विषतोऽपि चैद्यस्य शिशुपालस्य राजसूयसभायां सर्वैरेव राजभिस्तत्र सेवायां क्रियमाणायां या सिद्धिः सायुज्यरूपा, सा भवद्भिरेव दृष्टा। **नन्विति** संबोधनं संमत्यर्थम्। **यां** सिद्धिम्। योगिनः स्वभावत उत्तमाः फलपर्यवसायिना सर्वसाधनसहितेनाऽपि योगेन वाञ्छामेव केवलं कुर्वन्ति, न तु भगवत्संबन्धव्यतिरेकेण तां प्राप्नुवन्ति। अतः को वा तत्संबन्धाभावरूपं भगवद्विरहं सहेत? भगवत्संबन्धो हि कोटिकल्पवृक्षादप्यधिकः। स प्राप्तः केन वा त्यक्तुं शक्य इत्यर्थः ॥१९॥

व्याख्या—कृष्ण के द्वेषी शिशुपाल को भी राजसूय की सभा में जहां सब राजा सेवा कर रहे थे वहां सायुज्य मुक्ति मिली, वह तुमने ही देखी। "ननु" पद यहां संबोधन अर्थ में है। यह संबोधन सम्मति के लिए दिया है जिस सायुज्य मुक्ति रूप सिद्धि को, स्वभाव से, उत्तम योगी जन, फलप्रद सर्वसाधन सहित योग से भी प्राप्त करने की केवल इच्छा ही करते हैं, किन्तु भगवान् से सम्बन्ध किए बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः कौन है जो उसके सम्बन्ध का जिसमें अभाव है ऐसे भगवद्विरह को सहन कर सके? भगवत्सम्बन्ध निश्चय से कोटि कल्पवृक्ष से भी अधिक है वह मिल जावे तो फिर उसको कौन छोड़ सकता है? कहने का यों आशय है ॥१९॥

आभास—एवमिष्टसिद्धिहेत्वनिवारकभगवद्गुणं निरूप्य, स्वरूपं निरूपयन्, संबन्धव्यतिरेकेणाऽपि केवलस्वरूपसंबन्धेनैव पूर्वोक्तादप्यधिकं फलं प्रयच्छतीत्याह—

आभासार्थ—इस इच्छित पदार्थ की सिद्धि का कारण और अनिष्टों को दूर करनेवाले भगवद्गुण का निरूपण कर, अब इस श्लोक में स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्बन्ध होने के बिना भी केवल स्वरूप सम्बन्ध से ही पूर्व कहे हुए फल से भी अधिक फल देते हैं।

श्लोक—**तथैव चाऽन्ये नरलोकवीरा य आहवे कृष्णमुखारविन्दम्।**
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य ॥२०॥

श्लोकार्थ—उसी तरह ही नरलोक में वीर और दूसरे जो अर्जुन के अस्त्रों से पवित्र हुए थे, वे युद्ध में नेत्रों को आनन्द देनेवाले श्रीकृष्ण के मुखारविन्द का नेत्रों से पान करते हुए उसके चरणारविन्द को प्राप्त हुए ॥२०॥

सुबोधिनी—तथैवेति। ये नरलोके वीराः, अन्ये भगवत्संबन्धरहिताः, भगवन्तं जानन्त्यपि नः, तेऽप्याहवे स्वरूपसौन्दर्येणैव व्यामुग्धाः नेत्रैः **नयनाभिरामं** लावण्यामृतपूरं **कृष्णमुखारविन्दं** पश्यन्तो भगवत्सायुज्ये प्रतिबन्धकरूपमशुद्धं देहं निराकृत्य पार्थास्त्रैः पूता बहव एव व्यापिवैकुण्ठं तच्चरणारविन्दं प्रापुः ॥२०॥

व्याख्या—जो मनुष्य लोक में वीर थे और दूसरे जो भगवान् सम्बन्ध रहित थे अर्थात् भगवान् को जानते भी नहीं, वे भी युद्ध में स्वरूप सौन्दर्य से मोहित हो नेत्रों से लावतयामृत के पूरवाले कृष्ण के मुखारविन्द को देखते हुए, भगवत्सायुज्य में प्रतिबन्धक अशुद्ध देह का निराकरण कर, अर्थात् त्यागकर अर्जुन के अस्त्रों से पवित्र हो बहुतों ने ही उसके चरणारविन्द व्यापिवैकुण्ठ को प्राप्त किया है ॥२०॥

आभास—एतादृशे का फलचिन्ता ? अत्र परमेकमेव बाधकम्, व्यामोहिका भगवल्लीलाः तयाचेन्न व्यामुग्धः । सा हि भगवतः सर्वोत्तमत्वादिकुणान् भजनीयतां च शास्त्ररहितानां बुद्धौ स्थितामपनयति । तत्र सावधानेन भाव्यमित्याह द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—यदि भगवान् ऐसे हैं तो फल प्राप्ति में काहे की चिन्ता ? किन्तु फल प्राप्ति में एक ही व्यामोहिका भगवल्लीला. बाधक है, यदि उससे मोहित[1] न होवें तो फल प्राप्ति हो सकती है, वह व्यामोहिका माया, भगवान् के सबसे उत्तमगुणों को और अनपढ़ों के बुद्धि में स्थित भजन करनेवाली चाहना को दूर कर देती है, अतः उससे सावधान रहना चाहिए, यों निम्न दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक **स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याऽऽप्तसमस्तकामः ।**
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीडितपादपीठः ॥२१॥

श्लोकार्थ—लोक और वेद में आपके समान आपसे उत्ताम, कोई नहीं है आप तो तीनों के अधीश्वर हैं, अपने भीतर के राज्य की लक्ष्मी से अपनी सर्व कामनाएँ स्वयं पूर्ण करली हैं, बलि, ले आने वाले चिर लोकपालों ने अपने कोटि मुकुटों से जिसके चरणों के आसन की स्तुति की है ॥२१॥

सुबोधिनी—स्वयं त्विति। एषा लीला व्यामोहिका, या स्वयमीश्वरो भूत्वा सर्वोत्तामः सर्वाधमस्य, स्तब्धस्य, स्वयं तं तादृशं विधाय, कैङ्कर्यं करोतीति। येन (भ्रान्तानां हृदये) अयमेतादृश एवेति भ्रान्ता मन्यन्ते । तत्र प्रथमं तस्य सर्वोत्तमत्वमाह—**स्वयमिति**। तु शब्दो भ्रान्तप्रतीतिव्यावृत्त्यर्थं । न विद्यते लोके वेदे वा साम्यमतिशयश्च यस्य । यस्मात् स्वरूपतो गुणतश्च

१—इससे यह बताया है कि जो मोहित हुए उनकी मुक्ति नहीं हुई ।

प्रसिध्द्याऽपि त्र्यधीशः। किञ्च। अपेक्षितमपि किमपि नाऽवशिष्यते, यल्लोकिकन्यायेन कैङ्कर्य-हेतुर्भवति। तदाह—**स्वाराज्यलक्ष्म्या**। स्वस्मिन्नेव यद्राज्यम्, सर्वमेव हि जगत् स्वस्मिन्नेव वर्तते; यः स्वस्मिन् राज्यं करोति। स सर्वस्मिन्नेव करोति। तत्र या लक्ष्मीः निरतिशयानन्दरूपा, तयैव प्राप्ताः सर्वे कामा येन। '**अस्यैवाऽऽनन्दस्य अन्यानि मात्रामुपजीवन्ति**' इति श्रुतेः। किञ्च। लोकेऽपि तस्यैश्वर्यं सिद्धम्। यतो बलिं हरद्भिश्चिरकालीनैर्लोकपालैः किरीटकोटिभिरीडितं स्तुतं पादपीठं यस्य। यथा पदार्थंकरणपक्षस्तथा किरीटैरपि पीठस्य स्तोत्रम्। स्वयमपकृष्टभावेन नम्राः स्वसंबन्धिनं सर्वोत्कृष्टत्वेन बोधयन्ति। घट्टनाद्भूतशब्देनेति केचित् ॥२१॥

व्याख्या—यह भगवान् की लीला व्यामोहिका (मोह में डालने वाली) है, क्योंकि जो स्वयं ईश्वर तथा सर्वोत्तम होते हुए भी सबसे अधम और जड़ीभूत व आलसी (उग्रसेन) को अपना राजा बनाकर स्वयं उसकी सेवा करते हैं जिसको देखकर भ्रान्त के हृदय में यों भासता है कि यह ऐसे (उग्रसेन) का सेवक ही है, ऐसी अवस्था में भ्रान्त की भ्रान्ति दूर करने के लिए पहले उसका सर्वोत्तमपन सिद्ध करते हैं, 'तु' शब्द भ्रान्तों की प्रतीति को मिटाने के लिए है। 'असाम्यातिशयः' पद से कहते हैं कि लोक वा वेद में जिसके समान तथा अधिक कोई नहीं है, क्योंकि स्वरूप से और गुणों से त्र्यधीश है अर्थात् तीन गुणों के और तीन लोकों के ईश आप ही हैं आपको किसी भी वस्तु की अपेक्षा तो है ही नहीं, जो लौकिक न्याय से सेवक बनने में कारण बने, जिसको सिद्ध करते हैं कि अपने भीतर के स्वाराज्य की लक्ष्मी से अपनी कामनाएँ पूर्ण करली है जिससे उनको किसी भी वस्तु की अपेक्षा तो है ही नहीं, इस पद के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि अपने में ही राज्य है, समस्त जगत् आपके भीतर ही है, जो अपने ऊपर राज्य करते हैं वह सब पर ही करते हैं उस राज्य में जो निरतिशय आनन्द रूपा लक्ष्मी है उससे ही सर्व कामनाएँ जिसने पूर्ण कर डाली हैं इसलिए भगवती श्रुति कहती है कि, अस्यैवाऽऽनन्दस्य अन्यानिमात्रा मुपजीवन्ति' इसके ही आनन्दांश पर अन्य जीवन धारण करते हैं और लोक में भी आपका ऐश्वर्य सिद्ध है जिससे ही बलि ले आने वाले चिरस्थाई लोकपालों ने अपने कोटि किरीटों से जिसके चरणासन की स्तुति की है वैसे भगवान् हैं।

यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए कि मूक (वाणी रहित) 'मुकुट' कैसे स्तुति करेंगे? जिस शङ्का का निवारण करते हैं कि 'यथा पदार्थ करणपक्षस्तथा किरीटैरपि पीठस्य स्तोत्र' बिना शब्दवाले पदार्थ भी शब्द के गुणों को धारण करते हैं अर्थात् उसके द्वारा अर्थ बताते हैं इस भाट्टमतानुसार मुकुटों ने स्तुति की जिससे शङ्का का कोई अवसर नहीं है, मुकुट खुद अपकृष्ट (दैन्य) भाव से नम्र हो, अपने सम्बन्धी भगवच्चरणासन की स्तुति करते हुए उसको सबसे उत्तम बताते हैं कितने ही जैसे श्रीधरजी कहते हैं कि मुकुटों की परस्पर रगड़ से निकले शब्दों से मुकुट स्तुति करते हैं ॥२१॥

आभास—एतादृशः स्वसिंहासने स्थितः स्वानन्दलक्ष्मीमनुभवन्नेव स्थातुं योग्यः, न तु कैङ्कर्यं कर्तुं योग्य इत्याह—

आभासार्थ—ऐसे अनुपम गुणी भगवान् अपने सिहांसन पर स्थित हो अपनी आनन्दरूप लक्ष्मी का अनुभव करें यह उचित था, न कि किङ्करपन करना योग्य है—यों इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तत्तस्य कैङ्कर्यमलभृतान्नो निग्लापयत्यङ्ग ! यदुग्रसेनम् ।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठ्यधिष्ण्ये न्यबोधयद्देव ! निधारयेति ।।२२।।

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! ब्रह्मा के आसन पर बैठे हुए उग्रसेन को जब भगवान खड़े होकर 'अनुग्रह' करो ऐसे शब्दों से अपना कैङ्कर्य (दासत्व) दिखाते थे, वह प्रभु का सेवकपन प्रकट करना, सम्पूर्णतः पोषित (मुझ) को ग्लानि पैदा करता है ।।२२।।

सुबोधिनी–तत्तस्य कैङ्कर्यमिति । किङ्करस्य भावः कैङ्कर्यंम । **तदिति** प्रसिद्धम् । **तस्येति** पूर्वोक्तस्य । ननु करोतु किमपि भगवान्, किं तवाऽनेन विचारेणेत्याशङ्क्याऽऽह-**अलं भृतान्न इति** । वयमत्यर्थं भगवता भृताः । धताः पोषिताः सेवार्थमेव वयं पोषिताः यदि सर्गं इव सेवापि भगवतः कर्तव्या स्यात्, तस्मिन्नपि पक्षे वयं मुख्यसेवार्थमुत्पादिताः, अस्मद्द्वारैव कारयतु । तदर्थमस्मानुत्पाद्य पुनः स्वयमेव करणात्तत्कैङ्कर्यमस्मान् ग्लापयति । स्वयं ग्लायति, अस्मानपि ग्लापयति । ग्लाययतीति पाठे, ग्लयधातुर्ग्लापार्थः । **अङ्गेति** स्वदुःखख्यापनयोग्यमित्रस्य संबधनम्, । **उग्रसेनमिति** । उग्रा सेना यस्य । कंसपिता, तम् । **परमेष्ठ्यधिष्ण्ये** ब्रह्मणः स्थाने । अधिष्ण्यंधिष्ण्यमिति पर्यायः । तस्मिन्निषण्णम् । स्वयं तिष्ठन् समागतान् सर्वानेवं न्यबोधयत् । हे देव ! अयमागतो नमस्करोति, पश्येति न्यबोधयन् । इदं ह्यतिदीनदौवारिककृत्यम् । यद्यपि सर्वं कृत्यं भगवत्कर्तृकमेव, तथापि रूपान्तरमेव कृत्वा करोति । यदि स्वयमेव कर्तव्यम्, तदा विपरीतं किं न करोतीति चित्तक्लेशः । देवसभायां यत्र ब्रह्मा उपविशति, तद्राजासनमिति परमेष्ठ्यधिष्ण्यमुक्तम् । अनेन ब्राह्मणेष्वपि तस्याऽनभ्युत्थानं निरूपितम् । अप्रतीकार्यश्चाऽयं क्लेशः ।।२२।।

व्याख्या—सेवक होने के भाव को सेवकपन कहते हैं, ऊपर कहे हुए भगवान् का यह प्रसिद्ध सेवकपन मेरे मन में ग्लानि पैदा करता है, भगवान् कुछ भी करें, उसका विचार तुम क्यों करते हो ? इसमें तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ? इस शङ्का का उत्तर होता है कि 'अलभृतान्नो' भगवान् ने हमारा पालन पोषण अच्छी तरह इसलिए ही किया है कि हम सेवा करें, यदि सृष्टि की तरह सेवा भी भगवान् को ही करनी चाहिए, सेवा भगवत्कृति से ही साध्य होती है, उस पक्ष में भी हमको मुख्य सेवा के लिए ही उत्पन्न किया है, अतः यह सेवा भी हमारे द्वारा ही करावें, सेवा के लिए हम लोगों को पैदा कर फिर आप ही सेवा करते हैं, इस कैङ्कर्य (सेवकपन) से हम लोगों को खिन्नता होती है आप खेद पाते हैं और हम को भी ग्लानि कराते हैं, 'ग्लाययति' यदि ऐसा पाठ हो तो ग्लय् धातु ग्लापनार्थ वाला है।

हे अङ्ग ! सम्बोधन से यह सूचित किया है कि आप ऐसे मित्र हैं जिसके आगे अपना दुःख प्रकट किया जा सकता है 'उग्रसेन' का अर्थ है जिसकी सेना उग्र है, और जो कंस का पिता है,

उसको ब्रह्मा के बैठने के योग्य सिंहासन पर बिठाया है, और आप खड़े होकर आए हुए सब लोगों की पहचान कराते हैं, हे देवा ! यह आया है, आपको प्रणाम करता है, 'पश्य' देखो यह कह कर पहचान कराते थे, यह बहुत छोटे द्वारपालकों का कृत्य (करम) है, हालांकि सब कार्य का कर्त्ता भगवान् ही है, किन्तु वह रूप बदल कर करते हैं यदि स्वयं को ही करना है तो तब विपरीत कार्य (सेवक के बदले राजा का कार्य) क्यों नहीं करते हैं ? इससे मेरे चित्त में क्लेश हो रहा है, देव सभा में जहां ब्रह्मा बैठता है। वह राजासन है, इससे राज्यासन को ब्रह्मा का आसन कहा है, इससे यह सूचित किया है कि ब्राह्मणों के आने पर भी उग्रसेन नहीं उठता है। उग्रसेन बैठा रहे भगवान् खड़े-खड़े कैङ्कर्य करें इस दुःख को मिटाने का कोई उपाय ही नहीं हैं ।।२२।।

आभास—एवं रूपं मोहनं चोक्त्वा, तस्याभिप्रायापरिज्ञानादज्ञस्य तव केल्श इत्याशङ्क्य, तदभिप्रायमपि जानामि, तथापि क्लेश इति वक्तुं तस्य दयां निरूपयति। क्लेशस्तु बुद्धिकृतो न भगवत्कृतः। स हि भगवान् सर्वानेव भक्तान् सेवकानात्मनोऽप्यधिकत्वेन ज्ञापयति। तत्रान्यासहनमयुक्तम्। उग्रसेनोऽपि न वक्तव्यः, भगवतैव तथा क्रियमाणत्वात्। विपरीतं च करोति, पूर्वश्लोके तथैव कथनात् तस्मत् प्रमाणबलमतिक्रम्य प्रमेयबलेन तथा करोतीति तस्य प्रमेयबलं निरूपयन् भजनीयत्वं स्थापयति—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के रूप तथा मोह करने के वर्णन करने से मुझे (उद्धवजी को) क्लेश हुआ, ऐसी भी शङ्का नहीं करनी कि, मैं अज्ञान हूं, उनके अभिप्राय को न जानने से मुझे दुःख हुआ है कारण कि उनके अभिप्राय को भी जानता हूं तो भी क्लेश हुआ है, यों कहने के लिए उन (प्रभु) की दया का निरूपण करते हैं, भगवान् का अभिप्राय जानते हुए भी दुःख क्यों ? जिसका उत्तर देते हैं कि, क्लेश तो बुद्धि से हुआ है भगवान् द्वारा नहीं हुआ है कारण कि भगवान् अपने समस्त भक्तों (सेवकों) को लोक में अपने से भी उत्तम प्रकार से प्रख्यात करते हैं, इस विषय में, यदि दूसरे (उग्रसेन) की अधिक करें तो उसको सहन न करना उचित नहीं हैं। उग्रसेन को उल्हाना देना भी उचित नहीं है, क्यों कि भगवान् ने ही यों किया है, विपरीत भी करते हैं। पूर्व श्लोकों में यों ही प्रतिपादन किया है, इससे प्रमाण बल का अतिक्रमण कर प्रमेयबल से यों करते हैं, निम्न श्लोक में उनके प्रमेयबल का निरूपण करते हुए कहते हैं कि भजन करने योग्य वे ही है—

श्लोक—**अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयाऽपाययदप्यसाध्वी।**
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।२३।।

श्लोकार्थ—इस दुष्ट बकी ने मारने की इच्छा से, स्तनों में भरा हुआ कालकूट (विष) पिलाया, तो भी उसको माता के समान गति (मोक्ष) दी, ऐसे दयालु को छोड़ किसकी शरण लेवें ।।२३।।

सुबोधिनी—अहो इति। यथा भगवतः साधनं सर्वाश्चर्यकरम्, फलपूर्णस्य तुच्छफलसाधकम्; तथा तुच्छस्य साधनरहितस्याऽपि पूर्णफलदानमित्यहो आश्चर्यम् । बकस्य भागिनी दैत्यबकरूपा, तद्वृत्त्या सन्तोऽपि न मुक्ता भवन्ति । **इयमिति** बुद्धया भगवत्सङ्गे साऽप्युपस्थिता । **स्तनकालकूटमिति** । स्तने विद्यमानं कालकूटम्, कालानां कूटं समूहः । सहस्रं हि काला मृत्यवः सन्ति, ते सर्वे तस्याः स्तन्ये एकीभूताः । अतः कालानां कूटं यत्र, तादृशं स्तन्यमपाययत् । ज्ञानहेतुपक्षेऽपि तस्यां दुष्टत्वमाह—**जिघांसयेति**, हन्तुमिच्छया । पूर्वमपि तस्या दुष्टत्वमाह—**असाध्वीति** । अनेन दैत्यधर्मोऽपि तस्यां नास्तीत्युक्तम्, ते हि जितेन्द्रियाः । तथाप्याकृतिक्रिययोर्यशोदातुल्यत्वात् । तद्गतं दोषमविचार्यैव क्रियाफलं दत्तवान् । अनेन भगवत्स्वरूपं यथाकथञ्चिदपि संबद्धं साधनान्तरनिरपेक्षं फलं साधयतीत्युक्तम् । भगवांश्च गुणानेव गृह्णाति न दोषान् । अतः परम दयालुरित्याहकं वा दयालुमिति अन्यस्तु दयालुर्द यमपेक्षते नम्रता वा दोषाभावं वा । अयं तु किमपि नापेक्षत इति ततोऽन्यं **कं वा दयालुं शरणं व्रजेम्** । शरणपदेन च सेवाभक्त्यादिकमपि निवारितम्॥२३॥

व्याख्या—जैसे निरवधि (असीम) आनन्द रूप फल से पूर्ण भगवान् तुच्छ फल को सिद्ध करनेवाला साधन करे, तो वह, सब को आश्चर्य कराता है, और जो तुच्छ हो एवं साधन रहित हो उसको भी पूर्ण फल दे देते हैं, भगवान् का यह कार्य आश्चर्य कारक है बक की बहिन, दैत्य बक रूपा बकी (पूतना) थी, उस जैसे वर्तन (बर्ताव) से सत्पुरुष भी मुक्त नहीं होते हैं, 'इयं' पद से सूचित किया है कि यह भी बुद्धि से भगवान् के सङ्ग में उपस्थित हुई, जिससे एक प्रकार का मैत्री भाव हो गया, जिस (पूतना) के स्तन में कालों का समूह था, सहस्त्र काल (मृत्यु) हैं, वे सब मृत्यु उसके स्तन के दूध में थे। ऐसा दूध पिलाया (तो भी) भगवान् अविनाशी हैं अतः उससे, इस काल कूट मिश्रित दूध के दोष का सम्बन्ध नहीं होगा, इस पक्ष में भी उस (बकी) में दुष्ट पन आता ही है क्यों कि वह मारने की इच्छा से ही आई थी, पहले से भी इसमें दुष्टपन मौजुद है अतः कहा है कि 'असाध्वी' दुष्टा है, इससे यह कहा है कि इस में दैत्यों के धर्म भी नहीं है, क्यों कि वे जितेन्द्रिय होते हैं, यह जितेन्द्रिया नहीं है, तो भी उसकी आकृति और क्रिया माता यशोदा जैसी थीं, इसलिए उसके दोष का विचार न कर क्रिया (दूध पिलाने) का फल दिया, इससे यह सूचित किया है कि भगवत्स्वरूप का किसी भी प्रकार से सम्बंध हो जावे तो, दूसरे साधनों की अपेक्षा न कर, वह स्वरूप सम्बंधित को फल दे देते हैं, भगवान् तो गुणों को ही ग्रहण करते हैं, दोषों को ग्रहण नहीं करते हैं, इस कारण से ही परम दयालु हैं, इसलिए कहा है कि, 'कंवा दयालुं शरणं व्रजेम' ऐसे दयालु को छोड़ कौनसे दूसरे दयालु की हम शरण लेवें, 'शरण' पद से सेवा भक्ति आदि का भी निवारण किया है ॥२३॥

आभास—ननु 'निबन्धायाऽऽसुरी मता' इति आसुर्यां संपदि जाताः कथं **मुच्यन्ते**? 'तानहं द्विषतः क्रूरान्' इति भगवतैबाऽन्यथाप्रतिज्ञानात् । तत्राऽऽह—

आभासार्थ—गीता में भगवान् ने 'निबंधायतु सुरीमता' तानहं द्विषतः क्रूरात्' इन दोनों श्लोकों में कहा है कि 'आसुरी योनिय के लिए हैं, और द्वेषी और क्ररों के आसुरीयोंनि में ही पैदा करता हूँ' फिर यहाँ उस प्रतिज्ञा से विरुद्ध कैसे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'मन्येऽसुरान' श्लोक कहा है—

श्लोक—**मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।**
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रमंसेसुनाभायुधमापतन्तम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—जो असुर, युद्ध में, कन्धे पर चक्रधारी को बिठाकर सामने आते हुए गरुड़ को देखते हैं और क्रोध द्वारा ही मुझ (त्रिलोकेश्वर) में चित्त पिरोते हैं उन असुरों को मैं भगवदीय मानता हूं ॥२४॥

सुबोधिनी—मन्येऽसुरानिति । असुरानहं भागवतानेव मन्ये' **'मामप्राप्यैव'** इति वचनात् । ये प्राप्नुवन्ति भगवन्तं दृष्ट्यादिनाऽपि, तेषामधमगत्यर्थमप्राप्त्यभावात् मुक्ता एव भवन्ति । ये तु **'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तः'** इति द्वेषसाधना भगवदप्राप्तिसाध्या निरूपिताः, ते जगद्रूपमेव भगवन्तं द्विषन्ति, न तु साक्षात् । ये तु साक्षात् द्विषन्ति ते प्राप्नुवन्त्येव । केनचिदन्तः करणधर्मेण ते भगवत्संबन्धिन इति भागवताः । ये तु सहजा दानवाः **'दानवास्तु तमोलयाः'** इति वैष्णवैर्निरूपिताः, ते वेदेऽपि देवप्रतिपक्षत्वेन निरूपिता न मुच्यन्त इति केचित् । ततश्च मुच्यमानेषु पूतनादिषु न सहजासुरत्वम्, किन्त्वसुरावेशः । स तु भगवत्संबन्धे गच्छतीति तेषां मुक्तियुक्तेति । एतदर्थं भेदवादं वैनाशिकीं च प्रक्रियाम्, मोहकवाक्यवत् स्वविरुद्धं भगद्वाक्यं वेदवाक्यानि च मन्यते, ते बहुवाक्यविरोधाच्चिन्त्याः । भक्त्यर्थं वा तथा वदन्तीति लोकशिक्षार्थं वा । असुराणां भगवत्प्राप्तावुपायमाह—**संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तानिति** क्रोधसंरम्भ एव भगवत्प्रापको मार्गः, तत्राऽभिनिविष्टं चित्तं येषाम । क्रोधमार्गेण तेषां चित्तं भगवति प्रविशतीत्यर्थः । ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामिव भगवद्विषयत्वेन क्रोधस्यापि भगवन्मार्गत्वम् । भगवतः परमदयालुत्वसिद्ध्यर्थं क्रोधस्याऽपि मुक्तिहेतुत्वं निरूप्यते, अन्यथा दयालुत्वं न स्यात् । तस्माद्वैष्णवैरेकङ्गीकर्त्तव्यम्, दैत्यानां मुक्त्यभावो वा, भगवतो दया वा । तत्राऽपि बलिष्ठा दयेत्याह—**ये संयुगेऽचक्षतेति** । ते हि युद्धे मर्तुं समायान्ति । तेषु चेद्भगवतो दया न भवेत्, तदा परोक्षे स्थितोऽन्येन वा मारयेत्, न तु स्वयं प्रत्यक्षो भवेत् । ननु तथा सति भक्तिमार्गविरोध इति चेत्तत्राऽऽह—**तार्क्ष्यपुत्रमिति** । अंसे सुनाभं चक्रमायुधं यस्य तादृश गरुड पश्यन्ति । **अंसेसुनाभायुधमित्यलुक्समासः** । एतावान् भेदो भक्तदैत्ययोः; भक्ताः सर्वरूपं सर्वदा भगवन्तं पश्यन्ति, गरुडाधिरूढं च, अन्यैः सह संयुगे च; दैत्यास्तु संयुग एव गरुडमेव पश्यन्ति । परं भगवादारूढम्, भगवानारूढो यमिति । अयमर्थः । कालात्मको गरुडः, तदुपरि च भगवान्, अतः कालं प्राप्य भगवन्तं प्राप्नुवन्ति, न तु जीवन्त इति विशेष इति ॥२४॥

व्याख्या —मामप्राप्येव गीता के श्लोकों में कहा है कि मुझे जो प्राप्त नहीं कर सकते हैं उनकी ही अधम गति होती है, किन्तु जो दृष्टि आदि से मुझे प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे असुरों को 'मामप्राप्यैव' इस गीता के वाक्यानुसार मैं उन्हे भगवदीय ही मानता हूँ । उनकी अधम गति हो उसके लिए उनको

भगवान् की अप्राप्ति के अभाव के कारण हों वे भी मोक्ष को ही प्राप्त करते हैं, साराँश यह है कि भगवत् प्राप्ति (सम्बधादि) होने से अधम गति रुक जाती है और उनका मोक्ष हो जाता है, अपनी और अन्यों की देह में रहनेवाला जो मैं हूं उसका द्वेष करते हैं, इस प्रकार के द्वेष से मेरी (भगवान् की) अप्राप्ति सिद्ध होती है। वे जगद्रूप (भगवान्) का ही द्वेष करते हैं, न कि साक्षात् भगवान् का जो साक्षात् भगवान् का द्वेष करते हैं. व भगवान् को प्राप्त करते ही हैं अन्तः करण के धर्म से बुद्धि की स्वांस[1] वृत्ति से जो भगवान् से सम्बन्ध कर लेते हैं, वे भगवान् के होने से भगवत् अर्थात् भगवदीय हैं।

अन्यमत—कितने ही कहते हैं कि 'दानवास्तुतमोलयाः' दानवों का तो अन्धकार में लय होता है इस प्रकार जो वैष्णव तन्त्रों में कहा है वे स्वाभाबिक दानव हैं, वे 'दानव' वेद में भी देवों के शत्रु कहे हैं, उनका मोक्ष नहीं होता है।

पूतना आदि जिनकी मुक्ति हुई है वे स्वाभाविक दानव नहीं है, किन्तु उनमें आसुरावेश है, वह आसुरावेश भगवान् से सम्बन्ध होते ही निकल जाता है, इसलिए उनकी मुक्ति हो, यह उचित ही हैं।

दो प्रकारों के असुरों की मुक्ति और बन्ध की व्यवस्था के लिए भेदभाव, अर्थात् जीव वास्तविक ब्रह्म से पृथक वस्तु है ऐसे नैयायिक आदि मत को, वैनाशिकी प्रक्रिया अर्थात् सृष्टि का अस्तित्व दृश्यमात्र है, वास्तव में विनाश से सम्बन्धवाला है, और अपने सिद्धान्त के विरुद्ध, जो भगवान् के वचन व वेद के वाक्य हैं उनको मोहक वाक्यवत् मानते हैं, ऐसे विचार वालों का सिद्धान्त, बहुत शास्त्र वाक्यों से विरुद्ध होने से विचारणीय है, कि वे भक्ति के प्रसार के लिए अथवा लोकशिक्षार्थ यों कहते हैं।

असुर, भगवान् को प्राप्त कर सके वह उपाय कहते है, 'संरम्भमार्गाभिनिविष्ट चित्तान्' क्रोध के द्वारा जिन्होंने भगवान् में चित्त प्रविष्ट किया है, वे मुक्त हो सकते हैं, क्यों कि ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये तीन जैसे भगवत्प्राप्ति के उपाय हैं, वैसे ही क्रोध भी भगवत्प्राप्ति का मार्ग (उपाय) है, क्रोध को, भगवत्प्राप्ति का हेतु कैसे कहा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि इससे भगवान् का परम दयालुत्व सिद्ध होता है। यदि क्रोध द्वारा सम्बन्ध जोड़नेवाले को मुक्ति न देवें, केवल जो स्नेह द्वारा सम्बन्ध करते हैं उनको देवें तो भगवान् में दयालुपन नहीं कहा जा सके, इससे वैष्णवों को दो में से एक बात माननी चाहिए, १—दैत्यों के मुक्ति का अभाव, वा २—भगवान् की दयालुता, भगवान् दयालु हैं अतः दया कर दैत्यों को भी मुक्ति देते हैं) इन दो मतों में भगवान् की दयालुता मानने का मत बलवान् है अतः ये 'संयुगेड चक्षतेति' कहा है, वे असुर युद्ध में मरने के लिए आते हैं, उन पर यदि भगवान् दया न करें तो, स्वयं सामने प्रत्यक्ष दर्शन न देकर परोक्ष में दूसरों से मरवादें, यदि यों करें तो इसमें भक्ति माग से विरोध आता है, इसलिये कहते हैं कि (तार्क्ष्यपुत्र) जिसके कन्धे पर चक्र आयुध है ऐसे गरुड के दर्शन करते हैं, 'अंसेसुनाभायुधम्' इस पद में अलुक—

---

[1] १—द्वेष, भय और काम आदि किसी भी वृत्ति से,

समास है, भक्त और दैत्य में जो भेद है वह दिखाते हैं, भक्त सर्वरूप भगवान् को सवर्दा देखते हैं, गरुड़ पर विराजे हुए स्वरूप को भी और दूसरों के साथ लड़ाई में भी दर्शन करते रहते हैं दैत्य तो केवल लड़ाई के समय मात्र गरुड़ को ही देखते हैं, किन्तु उस गरुड़ पर भगवान् विराजे हैं, गरुड़ काल त्मक हैं उसके ऊपर भगवान् विराजमान हैं, अतः असुर पहले काल को प्राप्त कर वनन्तर भगवान् को प्राप्त होते हैं जीवित (जीते हुए) प्राप्त नहीं होते हैं, भक्त व असुरों में इतना भेद है ॥२४॥

आभास—एवं भगवतः स्वरूपगुणानुक्त्वा, विदुरस्य तद्विषयकमज्ञानं दूरीकृत्यं पृष्टकथायामुत्तरं वदन् पञ्चाऽपि मात्रा निरूपयति दशभिः श्लोकैः—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के स्वरूप और गुणों का वर्णन कर इस विषय में जो विदुर को अज्ञान था, वह उसका अज्ञान दूर कर निम्न श्लोक 'वसुदेवस्य देवक्यां' से दश श्लोक में विदुर के प्रश्नों का उत्तर देते हैं, जिनमें पहले पाँच तन्मात्राओं का निरूपण करते हैं—

कारिका—**वसुदेवस्य देवक्यामित्यादिभिः । गन्धो भगवतः स्थानं रसः क्रीडाऽपि बालकैः ।**
रूपं त्रिभङ्गिललितं सर्वदोषनिवारकम् ।१।

कारिकार्थ—भगवान् का स्थान 'गन्ध है' बालकों के साथ क्रीड़ा भी 'रस' है, सर्व दोषों का नाशक त्रिभङ्ग वाला सुन्दर स्वरूप 'रूप' है ॥१॥

मृत्योरमार्गतो रक्षा तस्य स्पर्शोऽमि धीयते ।
लोकवेदविरोधेन मनोवागनुसारतः ॥२॥

लोक[1] और वेद[2] से विरुद्ध, मन और वाणी का अनुसरण कर, मार्ग रहितमृत्यु से रक्षण ही उसका स्पर्श है ॥२॥

प्रपन्ने भगवल्लीला दुःखाभावसुखात्मिका ।
स शब्दो नाऽन्य इत्येषमात्रा रूपोऽधिकारकृत् ॥३॥

शरणागतों के लिए दुःखाभाव रूप[3] और सुख रूप भगवान् की लीला ही शब्द है, दूसरा कोई शब्द नहीं है, इसी तरह यह मात्रा का गुण अधिकार कराने वाला है ॥३॥

---

[1] १—भगवान् के मन के अनुसार, लोक के विरुद्ध प्रकार से शरण आने का प्रसङ्ग 'अन्नकूट' समय हुआ ।

[2] २—भगवान् पर प्रेम के कारण वेद विरुद्ध प्रकार से शरण आने का प्रसङ्ग 'वेणुनाद' सुनने के समय हुआ ।

[3] ३—'दुःखाभाव' अर्थात् जिसका अनुभव नहीं किया है ऐसा 'परम-आनन्द'

श्लोक—**वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।**
चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाऽपि याचितः ।।२५।।

श्लोकार्थ—इस पृथ्वी का कल्याण करने की इच्छा वाले, ब्रह्माजी से प्रार्थित भगवान् कंस के कारागार में वसुदेवजी की स्त्री देवकी से प्रादुर्भूत हुए ।।२५।।

सुबोधिनी—**वसुदेवस्य** भार्यायां देवक्याम् । भोजेन्द्रस्य कंसस्य बन्धनं यास्मिन्, तादृशे गृहे । वसुदेवस्य देवकीनिमित्तं भोजेन्द्रबन्धेन जाते वा । तात्पर्यस्य निरूपितत्वाद्यथा लोकसिद्धां कथां निरूपयति, सर्वभावविकाराणां तुल्यत्वाय । **अस्याः** पृथिव्याः शं कल्याणं **चिकीर्षुः** । पृथिवीसुखार्थं भगवदवतार इति प्रयोजनम् । ब्रह्मप्रार्थनाऽपि भक्तोद्धारार्था । अपिशब्देनाऽन्येषामपि प्रार्थना सर्वोद्धारार्था ।।२५।।

व्याख्या—जिस घर में कंस का कारागार (जेलखाना) था, ऐसे घर में वसुदेवजी की स्त्री से भगवान् प्रकटे, अथवा देवकी के कारण वसुदेवजी कंस के बंधन में पड़े उनको छुड़ाने के लिए आप देवकी से प्रकटे तात्पर्य[1] आगे कहा है, भगवान् में सर्व प्रकार की मानसिक वृत्ति विकार[2] समान हैं, यों बताने के लिए लोक प्रसिद्ध कथा कहते हैं इस पृथ्वी के कल्याण की इच्छा करने वाले अर्थात् आपके अवतार का प्रयोजन पृथ्वी को सुख देना है, ब्रह्मा की प्रार्थना भी भक्तों के उद्धार के लिए है । 'अपि' शब्द का यह भाव है, कि दूसरों ने जो प्रार्थना की वह सबके उद्धार के लिए ही थी ।।२५।।

श्लोक—**ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।**
एकादश समास्तत्र गूढार्चीः सबलोऽवसत् ।।२६।।

श्लोकार्थ—कंस से डरे हुए पिता, यहाँ से नन्द के व्रज में लेगए, वे वहां अपने तेज को छिपाकर, बलरामजी के साथ ११ वर्ष रहे ।।२६।।

सुबोधिनी **ततो** मथुरायां जननान्तरम्, **पित्रा** वसुदेन कंसाद्विशेषेण बिभ्यता **नन्दव्रजमितः** प्राप्तः । तत्र चोपसंहृततेजा भूत्वा, **एकादश समा** एकदशवर्षाणि, बलभद्रसहितः, स एव निजसहाय इति तत्सहितोऽवसत् । एते हि दश प्राणात्मकाः, द्वौ द्वौ च विषयात्मकौ । जनने हेतुत्रयम्; गोकुलसमागमने हेतुद्वयम् । अजेनाऽपीत्यनुषङ्गात् । इदं च न प्रयोजनमध्ये प्रविशति, भिन्नतया स्वातन्त्र्येण निरूपणात् । इदं चान्तरिक्षस्थानमिव । अत एव रुद्रप्रीत्यर्थमेकादशसमा अवसत् । वायोस्तुल्यरूपतया प्रीत्यर्थं गूढार्चिष्ट्वं सबलत्वं च । **समा वर्षाः** ।।२६।।

व्याख्या—मथुरा में प्रकट होने के बाद में डरे हुए पिता के द्वारा नन्द के व्रज में (श्रीकृष्ण) पहुँचे, वहां अपना तेज छिपाकर बलभद्र को ही अपना सहायक समझ उसके साथ ११ वर्ष वहाँ

१—सर्वमुक्ति के अभावार्थ, लोक वञ्चन रूप तात्पर्य है,

२—भगवान् में दीखते ये विकार ठगने के साधन रूप हों इसलिए

रहे, थे दश श्लोक प्राणात्मक[1] हैं, दो दो श्लोक एक एक पृथक २ विषय[2] के निरूपक हैं, इससे जन्म लेने के तीन कारण ये हैं—

१—भूमि को सुख देना २—ब्रह्मा की प्रार्थना ३—भक्त हितार्थ दूसरों की, की हुई प्रार्थना—

गोकुल जाने के दो कारण हैं—(१) पिता का कंस से डरना (२) ब्रह्मा की प्रार्थना के कारण में, ब्रह्मा की प्रार्थना अनुषङ्ग होने से कही है यों तो इसके प्रयोजन में गिनती नहीं क्यों कि यह स्वतंत्र रूप से पृथक कही है फिर यह व्रज तो अन्तरिक्ष स्थान के समान है क्यों कि जैसे 'तेऽन्तरिक्षमृजपन्' इस गति से अन्तरिक्षका देव महादेव है वैसे ब्रज का भी देव महादेव है कारण कि व्रज पशुओं का स्थान है, महादेव–पशुपति हैं, अतः एवं रुद्र की प्रसन्नता के लिए ११ वर्ष रहे, (क्योंकि रुद्र ११ हैं) यहाँ भगवान् में वायु की तुल्यता बताते हैं कि जैसे वायु के कार्य वायु में गुप्त रहते हैं, वैसे भगवान् भी अपना तेज छिपाकर रहे, अपना तेज छिपा कर रहने से वायु को प्रसन्न किया और महादेव के प्रसन्नतार्थ बलदेवजी के साथ रहे, कारण कि बलदेवजी स्वरूप में सङ्कर्षण भी है सङ्कर्षण का अधिदेव स्वरूप महादेव है, अतः इतने वर्ष बलदेव को साथ में लेकर ब्रज में रहे ॥२६॥

आभास—एवं भिन्नतया स्थितस्य पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात्, शिरोभूतवासुदेवरूपेण क्रीडां कृतवानित्याहाऽष्टभिः । सप्त वै शीर्षण्या वागष्टमी' इति श्रुतेः । तत्र श्रोत्रे आह–परीत इति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस प्रकार वायु के समान अनासक्ति से स्थित, पूर्वोक्त प्रयोजन के अभाव होने से 'सप्तवैशीर्षण्या वागष्टमी' इस श्रुति के अनुसार शिर में रहे हुए सात इन्द्रियों के स्थान तथा आठवी वाणी से क्रीड़ा करने लगे यों निम्न श्लोक से आठ श्लोकों में कहते हैं, उनमें पहले दो श्लोकों से कान के विषय में कहा हैं—

श्लोक—**परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्याहरद्विभुः ।**
यमुनोपवने कूजद्द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ॥२७॥

श्लोकार्थ—मधुरध्वनि करते हुए पक्षी समूहों से पूर्ण वृक्षोंवाले, श्री यमुनाजी के समीप के उपवनों में गोप गणों से आवेष्टित (घिरे हुए) प्रभु बछड़ों को चराते हुए विहार करते थे ॥२७॥

---

[1] —इन्द्रिय रूप हैं—

[2] —सृष्टि होने के बाद, तन्मात्राऐं गुण रूप से इन्द्रियों में प्रविष्ट होतीं है, इन्द्रियां तन्मात्राओं को गुणरूप से ग्रहण करती है, जिसमें महाभूत भी विषय होते हैं ।

सुबोधिनी—वक्रमेतद्द्वयम्, स्कन्धार्थत्वेन। श्रोत्रमेतद्द्वयम्, प्रकरणार्थत्वेन। **वत्सपैर्गोपालैर्बालकैर्वेष्टितो वत्सांश्चारयन्निति**। क्रिययैव वायोः प्राणानां च, **व्याहरत्** विहारं कृतवान्, बालैः सह क्रीडितवानित्यर्थः। बाधाभावायाऽऽह—**यमुनोपवन इति**। यमुनाया समीपवने। चित्तोद्वेगाभावायाऽऽह—**कूजद्भिर्द्विजैः सङ्कुलिता अङ्घ्रिपा** यस्मिन्। भगवद्भक्ता वेदकल्पवृक्षेषु स्थिता भक्तिमाश्रित्य भगवन्तं गायन्तीत्युक्तं भवति ॥२७॥

व्याख्या—ये दो, २७-२८ वें श्लोक "परीतो" "कौमारी" स्कन्धार्थं त्वसेमुखरूप[१] हैं और प्रकरणार्थत्व से दो कान[२] हैं, बछड़ों के पालक गोपाल बालकों से घिरे हुए प्रभू बछड़ों को चराते हुए (बिहार करते थे) इस तरह वायु[३] और प्राणों[४] की क्रिया से ही विहार करते थे, किन के साथ विहार करते थे ? इस पर कहते हैं 'बालैः सह क्रीड़ितवान्' बालकों के साथ क्रीड़ा करते थे यों तात्पर्य है, खेलने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी क्योंकि श्री यमुनाजी[५] के समीप खेलने के लिए उपवन था, वहां किसी प्रकार चित्त में उद्वेग भी नहीं होता था, कारण कि वहां पेड़ों पर पक्षी समूह मधुर ध्वनि करते रहते थे, जिससे आनन्द ही था, इससे यों कहा कि, भगवद्भक्त वेदरूप कल्प वृक्षों पर बैठकर भक्ति का आश्रय ले भगवान् के गुण गान कर रहे हैं ॥२७॥

आभास—वने क्रीडामुक्त्वा सन्ध्यादिषु व्रजे क्रीडामाह—

आभासार्थ—वन की क्रीड़ा का वर्णन कर, निम्न श्लोक में सन्ध्या समय व्रज में की हुई क्रीड़ा का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम्।**
रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥२८॥

श्लोकार्थ—मानों रो रहा है यों अथवा हंसता हुआ, भोले बालक के समान, कभीसिंह जैसी दृष्टिवाला होकर, ये सब देखने योग्य कौमार लीलाएँ व्रजवासियों को दिखाते हुए क्रीड़ा करते थे ॥२८॥

१—स्कन्ध का अर्थ, महाभूतादि की सृष्टि है यह सृष्टि बल के बिना नहीं होती है, बल प्राण का धर्म है, प्राण जल रूप है जो रस प्रधान है उसको ग्रहण करनेवाला मुख है, अतः यहाँ रस का निरूपण करना उचित ही है।

२—यहाँ प्रकरण, श्रोता के अधिकार का है श्रोता में सुनने के लिए "श्रोत्र" (कान) प्रधान है इसलिए ये दो श्लोक दो कान है।

३—बछड़ों को चराना यह वायु की क्रिया है, कारण कि द्रव्यादि को ले वायु की क्रिया है।

४—पक्षियों की मधुर ध्वनि के ग्रहण में प्राणों की क्रिया अनुकूल है।

५—जल रस प्रधान है अतः गोप बालकों से वहां क्रीड़ा रसवती है।

सुबोधिनी—कौमारीं दर्शयंश्चेष्टामिति। कुमारसंबन्धिनी पञ्चवर्षपर्यन्तं जायमाना। पञ्चाऽपि लीलाः पञ्चवर्षैः क्रियमाणा व्रजवासिनां पञ्चविधानाम्। त्रिविधाः पुरुषाः, द्विविधाः स्त्रियः। न हि सात्त्विक्यः स्त्रियः सन्ति। अतः सर्वेषामेव प्रेक्षणीयां चेष्टां प्रदर्शयन् व्याहरदिति संबन्धः। समर्थो हि स सर्वं कर्तुम्। **दर्शयन्नि**त्यनेन स्वयं तथा न कृतवानेव। तत्र प्रथमं **रुदन्निव**, तामस्यस्तदैव तुष्यन्ति, रुद्रप्रीत्यर्थं च। **हसन्निति** राजस्यः। **मुग्धभावेन** तामसाः, **बालभावेन** राजसाः, सिंहा**वलोकनेन** सात्त्विकाः। अत्राऽप्यागतः पूर्वं भक्तान् स्मरतीति रुदन्निव। हसन् मुग्धो यो बालः सिंहस्तद्वदवलोकनं यस्य ॥२८॥

व्याख्या—कुमार अवस्था पांच वर्ष पर्यन्त गिनी जाती है, अतः पांच वर्ष तक की हुई लीला 'कौमार लीला' कही जाती है पांच वर्षों में की हुई पांच प्रकार की लीलाएं, पांच प्रकार के व्रजवासियों को दिखाते हुए विहार (क्रीड़ा) करते थे तीन तरह के पुरुष और दो प्रकार की स्त्रियां थी, क्योंकि स्त्रियाँ सात्त्विकी नहीं होती हैं, अतः इन सबको योग्यतानुसार देखने योग्य चेष्टाएँ दिखाते हुए क्रीड़ा करते थे, यों सम्बन्ध है, वह प्रभु सब करने के लिए समर्थ हैं, 'दर्शयन्' पद का भावार्थ है कि स्वयं ने वैसा नहीं किया किन्तु केवल उनको दिखा दिया. इन लीलाओं में पहले वर्ष में मानो आप रो रहे हैं, ऐसी चेष्टा दिखायी, इस चेष्टा से ही तामसी स्त्रियां प्रसन्न होती हैं और यह चेष्टा रुद्र की प्रसन्नता के लिए भी की हैं, आपने हंसते हुए दर्शन दिए जिससे राजसी स्त्रियाँ प्रसन्न हुई, मुग्ध भाव से तामसी प्रसन्न हुए, बाल भाव से राजस पुरुष प्रसन्न हुए, सिंह जैसी दृष्टि से सात्विक पुरुष प्रसन्न हुए यहां आकर भी पूर्व समय के भक्तों का स्मरण आने से मानो रो रहे हैं, यों दिखाते हैं, हंसता हुआ भोला जो बालसिंह उसके समान नेत्र जिसके हैं, ऐसा दर्शन दे रहे हैं ॥२८॥

आभास—पौगण्डलीलामाह—

आभासार्थ—पौगण्ड लीला कहते हैं—

श्लोक—स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् ।
चारन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत् ॥२९॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के धाम रूप, श्वेत गौ तथा वषभ इत्यादि गोधन को चराते हुए भगवान् वेणु बजाते हुए अपने सेवक गोपों को खिलाते थे ॥२९॥

कारिका—**शिष्टेषु षट्सु वर्षेषु षड्भि श्लोकैर्विशेषतः ।**
तास्ता लीला इहोद्दिष्टाः क्रमो नाऽत्र विवक्षितः ।१।

कारिकार्थ—शेष छः वर्षों में की हुई पृथक् २ लीलाएं यहां छः श्लोकों से कही है जिसमें क्रम की अपेक्षा नहीं रखी हैं ।

सुबोधिनी—स एव, यः पूर्वमुक्तः। **गोधनं** गवां समूहम्। **लक्ष्म्या निकेतमतिसुन्दरम्**, चारणे हेतुः, सिता गावो वृषा यत्रेति। धर्मप्राधान्यं निरूपितम्, अतस्तच्चारणं धर्मकरणमेवेत्युक्तम्। अन्यान् स्वाज्ञया धर्मकर्तॄन् शीघ्रमेव फलसम्बद्धान् कृतवानित्यभिप्रायेणाऽऽह-**अनुगान्** स्वस्य पश्चाद्भावोपजीविनो गोपालान्, वेणुवादनं कृत्वा, ब्रह्मामृतं पाययित्वा, परब्रह्मानन्दे **अरीरमत्** रमयामास ॥२९॥

व्याख्या—वे ही प्रभु, जो पहले कहे हैं. खिलाते थे लक्ष्मी का धाम अर्थात् अति सुन्दर गौओं का समूह इसको चराते हुए खिलाते थे, चराने में कारण जिस गोसमूह में श्वेत गौ और वृषभ थे, इससे सूचित किया है कि बिहार धर्म प्रधान है, अतः उनको चराना धर्म कार्य है, यों कहा है दूसरे जो, आपकी आज्ञा से धर्म पालन कर रहे हैं, उनको भी शीघ्र ही फल से संबंध कराया है, इस अभिप्राय से कहते हैं कि (अनुगान्) अर्थात् अपने स्वामी के भावानुसार वर्तन करने वाले गोपालों की वेणु बजाकर, ब्रह्मामृत का पान कराके पर ब्रह्म के आनन्द में रमण कराते थे ॥२९॥

आभास—तत्र बाधकांस्तु लीलयैव दूरीकृतवानित्याह—

आभासार्थ—इस रमण कार्य में जो बाधक (विघ्न करने वाले) थे उनको तो खेलते ही दूर फैंक दिया, यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः।**
लीलया व्यनुदत्तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव ॥३०॥

श्लोकार्थ—कंस द्वारा प्रेषित मायावी स्वच्छन्द रूप धारण करने वाले दैत्यों का लीला से यों नाश कर दिया जैसे बालक खेलते हुए खिलौनों को तोड़ देता है ॥३०॥

सुबोधिनी—प्रयुक्तानिति। भोजराजेन कंसेन प्रेषितान्, नानारूपवधारिणो दैत्यान्, व्यामोहानार्थं समागतान्, **लीलयैव** क्रीडारूपयैव, विशेषेणाऽनुदत् दूरीकृतवान्। **तांस्तानिति** प्रसिद्धान् श्रमाभावायाऽऽह **बालः क्रीडनकानिवेति**। वस्त्रपुत्रिकाः, काष्टादिक्रीडासाधनानि वा। द्वयमेकवर्षकृत्यम् ॥३०॥

व्याख्या—कंस के भेजे हुए, अनेक रूपधारी दैत्य जो दैत्य व्यामोह कराने के लिए आए थे उनको क्रीड़ा करते हुए खेल में ही सब को समाप्त कर दिया, जा प्रसिद्ध थे, उन सब का भी नाश कर छोड़ा यों करने में आप को श्रम हुआ होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि जैसे बालक, वस्त्रों की बनी पुतली अथवा काष्ट के खिलौने को खेलते हुए तोड़ देता है वैसे ही आपने भी इन मायावियों को खेलने में नाश किया ये दोनों कार्य एक वर्ष में किए हैं ॥३०॥

आभास—सप्तमवर्षकृत्यमाह—

आभासार्थ—'विषसान् विषपानेन' श्लोक से सातवें वर्ष के कृत्यों को कहते हैं—

श्लोक—**विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् ।**
उत्थाप्याऽपाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—सर्पों के स्वामी को दण्ड देकर, विषपान से भरे हुए गौ गोपादि को जीवित कर, कालेय ह्रद के जल को विष रहितकर पहली स्थिति में लाके, वही मीठा जल गौओं और गोपादि को पिलाया ॥३१॥

सुबोधिनी—विपन्नान्विषपानेनेति । कालियह्रदे विषतोयपानेन **विपन्नान्** मृतान्, **भुजगाधिपं निगृह्य**, तन्मारकं दण्डयित्वा, तान् सजीवानु**त्थाप्य**, तदेव तोयं गाश्चाऽपाययत् । **गाव इति** गाः । **भुजगाधिप** कालियः । **तत्तोयं** कालियह्रदतोयम् । **प्रकृतिस्थितं** विषरहितम्॥३१॥

व्याख्या—कालिय ह्रद में विषमय जल के पान से मृतकों को, उनके मारने वाले सर्पों के स्वामी को दण्ड देकर, उन सब को जीवित दशा में उठाकर, वह ही जल गौ आदि को पिलाया, क्यों कि भगवान् ने उस जल को पहले जैसा मिष्ट (मीठा) बना दिया था ॥३१॥

श्लोक—**अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः ।**
वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षुः सध्वयं विभुः ।।३२।।

श्लोकार्थ—अतिशय धन का सत् व्यय करने की इच्छा वाले समर्थ प्रभु ने उत्तम ब्राह्मणों द्वारा गोपराज से गोसव यज्ञ करवाया[1] ।।३२।।

सुबोधिनी—अयाजयदिति । सप्तमान्तलीला । **गोसवेनेती**न्द्रयागं भङ्क्त्वा । वैश्यस्तोमम् । गावः सूयन्तेऽनेनेति गोसवं गोवृद्धिकरम् । वैश्यस्तोमात्मकं **गोपराजं** नन्दम् । **द्विजोत्तमैरिति** तेषां याजकत्वम्, न स्वस्येति ज्ञापितम् । इन्द्रयागभङ्गे न तथाकरणे हेतु—**वित्तस्येति** । कोट्यवधिद्रव्यस्य भाररूपेण स्थितस्य सध्वयं चिकीर्षुः । पूर्वस्थितस्याऽन्यथाकरणे सामर्थ्यं **विभुरिति** ।।३२।।

व्याख्या—इस श्लोक मे प्रभुजी की लीला, सातवें वर्ष के अन्त में की हुई है उसका वर्णन किया है, 'गोसव' पद कहने का भावार्थ है, इन्द्र के लिए होने वाले यज्ञ को न कराके यह 'गोसव' यज्ञ करवाया, 'गोसव' यज्ञ का दूसरा नाम 'वैश्य स्तोम' है क्यों कि इस यज्ञ से गौवों की वृद्धि होती है जिससे वैश्यों की समृद्धि बढ़ती है, नन्दराय, वैश्यराज होने से, गोसव यज्ञ का समूहात्मक स्वरूप है, उसने यह यज्ञ उत्तम ब्राह्मणों द्वारा कराया, अर्थात् यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण थे न कि स्वयं भगवान् थे, इन्द्र के यज्ञ का भङ्ग कर इस यज्ञ कराने का हेतु यह था कि भगवान् ने देखा कि

---

[1] -दण्ड देना, और जीवित कर उठाने का कार्य त्वचा, नेत्र और स्दर्श से होता है, अतः मृत्यु से रक्षण इन द्वारा हाने से स्पर्शरूप है, गौसव भी स्पर्श का कार्य होने से स्पर्श रूप है ।

नन्दजी के पाम के कोट्यवधि असीम द्रव्य यों ही पड़ा है उसका सदुपयोग हो इसलिए इन्द्रयाग बन्द कराके गोसव यज्ञ कराया, जिसमें धन का सदुपयोग हुआ, इन्द्रयाग परम्परा मे होता आया था वह कैसे बन्द हुआ, जिसके उत्तर मे कहा है कि (विभु) भगवान् सब कुछ कराने में समर्थ हैं अतः इन्द्रयाग भी बन्द करा दिया ॥३२॥

आभास—अष्टमवर्षादिकृत्यमाह–

आभासार्थ—'वर्षतीन्द्रे' श्लोक में आठवें वर्ष का कार्य (लीला) कहते हैं।

श्लोक—वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः।
गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे भद्र ! मान भङ्ग होने से क्रोधित इन्द्र ने खूब जब वर्षा की तब व्रजवासी बहुत विह्वल होने लगे, इनको विह्वल देख भगवान् ने अनुग्रह कर, पर्वतरूप छत्ता उठा के उनकी रक्षा की ॥३३॥

सुबोधिनी वर्षतीन्द्र इति। देवताप्रधानपक्षो मुख्य इति ख्यापयितुमिन्द्रेण वृष्टि कारितवान्। पुष्टिलीलां च स्थापयितुं गोवर्द्धनोद्धरणं च कृतवान्। व्रजविषयककोपाद्धेतोरिन्द्रे मेघद्वारा वर्षति सति, व्रजनाशमाशंङ्क्य स व्रजो रक्षितः। इन्द्रस्य कथमेवं करणमित्याशङ्क्याऽऽह–भग्नो मानो यस्य तस्मिन् सति, पश्चाद्वर्षति सति। गोत्रः पर्वतः स एव लीलातपत्रम्। पृथिवीरक्षका अपि धर्मिष्ठत्वाद्भगवता उद्धृताः। लीलया आतपत्रमिव लीलातपत्रम्। छत्राकं वा। **त्रातो** रक्षितः। **भद्रेति** संबोधनमुक्तविश्वासाय, भवानपि तथा रक्षित इति ज्ञानार्थं वा। अन्यथाऽपि पालयितुं समर्थः, स्वस्य परममनुग्रहं व्रजविषकं लोके ख्यापयितुं पर्वतोद्धरणं कृतवानित्यभिप्रायेणाऽऽह–**अनुगृह्णतेति** ॥३३॥

व्याख्या—भगवान् ने यज्ञ में देहवाला देवता ही होना चाहिए यह मुख्य पक्ष प्रकट कर दिखाने के लिए ही इन्द्र से वृष्टि कराई, और पुष्टिलीला (अनुग्रहात्मक लीला) की स्थापना करने के लिए गोवर्द्धन पर्वत को उठाया, व्रज सम्बन्धित कोप के कारण इन्द्र जब मेघ द्वारा वर्षा करने लगा, तब ब्रज का नाश हो जाएगा ऐसी शङ्का से भगवान् ने ब्रज की रक्षा की, इन्द्र ने यों क्यों किया ? जिसका उत्तर देते हैं, कि इन्द्र के मान का भंग हुआ था, इसलिए उसने ऐसी वर्षा करने की मेघों को आज्ञा दी, जब इसी प्रकार मेघ वर्षा करने लगे तब भगवान् ने जैसे छत्ता उठाया जाता है वैसे खेल २ में पर्वत रूप छत्ता उठाकर ब्रज की रक्षा की, पृथ्वी के रक्षकों का भी भगवान् ने उद्धार किया, क्योंकि वे धार्मिक थे, हे भद्र ! यह सम्बोधन उद्धवजी ने विश्वास करने के लिए दिया है, अथवा यह जताने के लिए कि तुमको भी इस प्रकार बचाया है पर्वत न उठाकर भी दुसरी भक्ति से बचा सकते थे, किन्तु ब्रज पर अपना परम अनुग्रह है यों लोक में प्रसिद्ध करने के लिए पर्वत को उठाया है, इस अभिप्राय को जताने के लिए 'अनुगृह्वता' पद दिया है, अनुग्रह करते हुए भगवान् ने यों किया–इससे ही पुष्टि लीला (अनुग्रहलीला) की स्थापना हुई है ॥३३॥

आभास—वर्षचतुष्टयकृत्यमाह—

आभासार्थ—'शरच्छशिकरैः' श्लोक में 'चतुष्ट्य'[1] वर्ष को लीला का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् ।**
गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥३४॥

श्लोकार्थ—स्त्रियों के मण्डल के आभूषण रूप भगवान्, शरद ऋतु के चन्द्र की किरणों से उज्वल बने हुए रात्रि के मुख का मान करते हुए, और मधुर पदों वाला गान करते हुए रमण करते थे ॥३४॥

सुबोधिनी—शरच्छशिकरैर्मृष्टमिति । प्रत्यग्रोदितचन्द्रकिरणैर्मृष्टमुज्ज्वलितं **रजनीमुखं मानयन् रेमे** । रजनी स्त्री, शशी भर्ता । स हि बहुकालेन समागतो मानिनीं तामन्तस्तापेन क्लिष्टां स्वकरैर्मृजन् मानापनोदनं करोति, न तावता तस्या मानोऽपगच्छति । सा हि देवता निष्कलङ्केन रमणमपेक्षते । स हि भर्ता शशी, शशकलङ्कयुक्तः । अत उभयसमाधानार्थं स्वयमुपायं कृतवान् । रजनीं स्त्रीसहस्त्ररूपां कृत्वा, चन्द्रं स्वमनोभवं विधाय, तस्य मनोऽधिष्ठातृदेवतात्वसिद्ध्यर्थं शब्दब्रह्मोद्गिरन्, परमां रतिक्रीडां कृतवान् । शरत्कालीनः शशीति, वर्षाकाले रजनीमुखे वृष्टिर्भवतीति, रुदतीव सा । अत एव तदनन्तरकाले उत्पन्नाः स्वकैरमार्जनं करोतीति युक्तम् । नह्यन्ये रजनीमुखं मानयन्ति, महतां तस्मिन् काले क्रीडाभावात् । दोषस्तु रसात्मक एव न भवति । निर्दोषतया माननं भगवदेकनिष्ठतयैव । स्त्रीणां मण्डलं मण्डनं यस्य, मण्लस्य वा मण्डनभूतः, सुवर्णे नीलमणिवत्, । कषपाषणे वा सुवर्णरेखा ॥३४॥

व्याख्या—अब ही उदय हुए चन्द्रमा की किरणों से उजवल बने हुए रजनी के मुख का आदर करते हुए रमण करते थे, रजनी (रात्रि) स्त्री है और चन्द्रमा पति है, वह बहुत समय के बाद आए थे इसलिए भीतर अन्तः करण के ताप से दुःखी उस मानिनी का अपनी किरणों से स्पर्श करते हुए उसके मान का मोचन कराते हैं, इतने से ही उसका मान दूर नहीं हुआ क्यों कि, वह देवता है, बिना कलङ्क वाले से रमण करना चाहती है, यह पति 'शशी' तो खरगोश के कलङ्कवाला है, इसलिए दोनों (रजनी तथा चन्द्रमा) के समाधानार्थ स्वयं भगवान् उपाय करने लगे, रजनी को सहस्त्र स्त्री रूप बना लिया, चन्द्रमा का अपने मन से उद्भवकर, उस मन का अधिष्ठ देवत्व सिद्ध करने के लिए शब्द ब्रह्म का उच्चारण करते हुए परमारति क्रीड़ा करने लगे, यह चन्द्र शरद् ऋतु का था, वर्षा ऋतु में तो रात्री के समय वर्षा होती है, अर्थात् रजनी मानो रो रही है, इस कारण से ही वर्षा ऋतु के बीत जाने पर ही शरद् ऋतु होती है, उसमें प्रकट हुआ चन्द्रमा, अपने किरणों से (रजनी के) आँसुओं को पौछे, यह उचित ही है अन्य रजनी के मुख का आदर नहीं करते हैं कारण कि उत्तम पुरुष उस समय रति क्रीड़ा नहीं करते हैं, जो रससे पूर्ण हैं

---

[1] —पूर्व श्लोक में आठवें वर्ष की लीला कही है, अतः वहाँ (चतुष्य) का तात्पर्य है नवमां वर्ष, पौगण्डावस्था का चतुर्थ वर्ष नवमां होता हैं ।

उसमें तो दोष होता ही नहीं है, अतः दोष रहित हो के, आदर करने का तब ही होता है, जब भगवान् के परायण हो।

स्त्रियों का मण्डल जिसका भूषण है, अथवा सुवर्ण में नोलमणि के समान वा कसौटी पर पड़ी हुई सुवर्ण की रेखा की तरह, स्त्रियों के मण्डल का आभूषण बने हुए भगवान् रमण करते थे[1] ॥३४॥

---

[1] १—इस तरह आठ श्लोकों से शिररूप वासुदेव वयूह की लीला कही है, यह सर्व लीला वसुदेव के घर में प्रकट हुए भगवान् की है, वह परम पुरुष हैं, उनका उत्तम सच्चिदानन्द स्वरूप इस अध्याय के १२ श्लोकों में बताया है यों होने से ही अक्षर रूप पुरुषोत्तम की देह में व्यूहों के विभाग होना, सिद्ध, होता है, इससे ही १२ स्कन्ध में, वयूहों का निरूपण करते (ब्रह्म की) मूर्ति का वयूह यहां 'मूर्त्ति' शब्द दिया है मथुरा में चार वयूह से प्रभु प्रकटे है, गोकुल में 'दूध' उत्पन्न कराने के लिए वसुदेव व वयूह से प्रकटे हैं।

पुरुषोत्तम का तो जन्म होता ही नहीं है, वे सर्वथा उत्तम सदानन्द है, उनके सर्वश्री अङ्ग आनन्दात्मक है, आनन्दरूप अमृत प्रकाशते हैं इस श्रुत्य अनुसार आप ही अपने भीतर ही प्रतिष्ठा वाले रस रूप हैं—

द्वादश स्कन्ध में—वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्।
अनिरुद्ध इति ब्रह्मन्मूर्त्तिव्यूहोऽभिधीयते ॥इति॥
अत्र मूर्त्तिपदम्

उत्तम सदानन्द में प्रमाण—'सत्वक्षरात् परतः परः श्रुति'
अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः'
स्मृति 'कृषिर्भू वाचकः' इस श्रुतिस सदानन्द
'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः स्मृतिः'
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' श्रुतिः

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध द्वितीय अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

श्री शक-वचन रागविलावल

हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करौ। हरि चरनारबिंद उर धरौ।
सुकदेव हरि चरननि सिर नाइ। राजा सौं बोल्यौ या भाई।
कहौं हरि–कथा, सुनौ चितलाई। सूर तरौ हरि के गुन गाई ॥१॥

उद्धव का पश्चाताप रागसोरठि

हरि जु सौं अब मैं कहा कहौं ?
प्रभु अंतरजामी सब जानत, हौं सुनि सोचि रहौं।

आयसु दियौ, जाउ बदरीबन, कहैं सो कियौ चहौं।
तन–मन–बुधि जड़देह दयानिधि, कौं करि लै निबहौ ?

अपनी करनी बिचारि गुसाईं, काहे न सूल सहौं।
मैं इहिं ज्ञान ठगीं ब्रजबनिता, दियौ सु क्यों न लहौं ?

प्रकट पाप–संताप सूर अब, कायर हठै गहौं।
औंर इहांउ बिवेक–अगिनि के बिरह–बिपाक दहौं ?

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी (संस्कृत) टीका** हिन्दी अनुवाद सहित

अधिकार प्रकरण

"अध्याय—" ३

भगवान् की अन्य लीला चरित्रों का वर्णन

कारिका—**तृतीये मध्यचरितं कृष्णस्य विनिरूप्यते ।**
इन्द्रियाणां तथा सर्गमधिकारस्य पोषकम् ॥१॥

कारिकार्थ—तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण के मध्यावस्था का चरित्र और अधिकार का पोषण करनेवाली इन्द्रियों के सर्ग का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका – **आविर्भूतो हि भगवांस्तत्त्वान्येव प्रवर्तयन् ।**
सर्वां सृष्टिं वितनुते तावन्तोऽत्र ततो गुणाः ॥२॥

कारिकार्थ—प्रकट हुए भगवान् तत्वों की प्रवृत्ति कराते हुए ही सकल सृष्टि का विस्तार करते हैं। इसलिये इस अध्याय में उतने गुण हैं ॥२॥

कारिका—**दशेन्द्रियाणि, चत्वारि मनआदीनि, देवताः ।**
अष्टाविंशतिरूपाणि निरूप्यन्ते ततोऽत्र हि ॥३॥

कारिकार्थ—इसलिये दश इन्द्रियाँ, मन आदि चार और इनके देवता ये सब मिलकर २८ रूपों का यहाँ निरूपण किया जाता है ॥३॥

आभास—पूर्वाध्याये मथुरायामुत्पत्तिमुक्त्वा, तत्र कर्तव्यचरित्रे वक्तव्ये, मध्ये गोकुलवासादिकं निरूपितम्; इदानीमाविर्भावकार्यं निरूप्यते। तत्र प्रथमं गोकुलात्समागत्य कंसं हतवानित्याह—

आभासार्थ—पूर्व के अध्याय में भगवान् का प्रादुर्भाव मथुरा में हुआ कहकर वहाँ के ही चरित्र कहने चाहिए थे किन्तु वे न कहके मध्य में गोकुल में वास आदि कह दिया, अब मथुरा में चतुर्व्यूह रूप से जो स्वरूप प्रकट हुआ उसका कार्य निरूपण करते हैं जिसमें पहले गोकुल से लौट कर कंस को मारा यों निम्न श्लोक में कहते हैं।

उद्धव उवाच श्लोक—**ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रोश्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः।**
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं हतं व्यकर्षद्व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥१॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा कि गोकुल से यहाँ माता-पिता को सुखी करने की इच्छा से बलदेव के साथ मथुरा नगरी में आकर, शत्रु समूह के स्वामी कंस को सिंहासन से गिराकर मारा, पश्चात् गत प्राणवाले को अपने बल से पृथ्वी पर घसीटने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—तत इति। ततो गोकुलात्स भगवान् स्वपुरं मथुरामागत्य, स्वपित्रो शं चिकीर्षयोभयोः कार्यसिद्ध्यर्थम्, बलदेवेन संयुतो रिपुयूथानां नाथं कंसं तुङ्गान्मञ्चान्निपात्य, तदुपरि स्वयं पतित्वा, मृते तस्मिन् पित्रोः प्रियचिकीर्षया हतमपि तं **व्यकर्षत्**, विकर्षणं कृतवान्। एवं हि तेषां कामना स्थिता, क एनमित्थं करिष्यतीति। **ओजसेति।** यथा तस्याऽवयवा विशीर्णा भवन्ति, तथा महाप्रयत्नेन विकर्षणं कृतवानित्यर्थः। इदमेव भक्तानां मनः। भक्तानां मनसि स्थितं दैत्यं हत्वा तन्मनः स्वस्थं कृतमिति। एतादृशे चरित्रे कृते तेषां हृदये यज्जायते—अस्माभिरप्येवं कर्तव्यम्, भगवदपेक्षया स्थातव्यम्; भगवानेव चित्ते स्थितं दोषं परिहृत्य मनः स्थिरीकरिष्यतीति ॥१॥

व्याख्या—अपने माता-पिता को सुखी करने की इच्छा से, दोनों का कार्य सिद्ध करने के लिए बलदेवजी के साथ, वे भगवान् गोकुल से अपनी पुरी मथुरा में आकर, प्रथम ही शत्रु यूथ के नाथ कंस को सिंहासन से नीचे पटक कर, उसके ऊपर आप गिरे, जिससे वह मरा, तब माता-पिता को प्रसन्न करने की इच्छा से मरे हुए को अर्थात् उसकी मृतक देह को घसीटने लगे इस प्रकार की ही उन (माता-पिता) के मन की कामनाऐं थीं कि इसको इस प्रकार का बनाकर कौन घसीटेगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'ओजसा' ऐसे भगवान् ही थे जिन्होंने यों कर अपने बल से ही इसको घसीटा, अर्थात् जैसे उसके अवयव विशीर्ण हो जावे, (अंग टूट जावे) वैसे महान् प्रयत्न से उसको घसीटने लगे, यह ही भक्तों का मन है, अर्थात् भक्तों के मन के भावों को जाननेवाला यह स्वरूप ही है, अतः भक्तों के मन में स्थित दैत्य को नाश कर, उनके मन को स्वस्थ किया, इस प्रकार के चरित्र होने से उनके मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि हमको भी वैसे ही करना चाहिए अर्थात् भगवान् की अपेक्षा रखकर रहना चाहिए, क्योंकि भगवान् ही चित्त में स्थित हो दोष को निकाल अस्थिर मन को स्थिर करते हैं ॥१॥

आभास—एवं दुष्टनिग्रहं निरूप्य शिष्टपरिपालनं वक्तुं सतां सिद्धार्थं स्वयमाद्यं ब्रह्मचर्यलक्षणं धर्मं संपूर्णं कृतवा नित्याह—

आभासार्थ—यों दुष्टों के दण्ड देने का निरूपण कर अब सभ्य पुरुषों का पालन करने के लिए सत्पुरुषों के शिक्षार्थ, स्वयं आपने पहला ब्रह्मचर्य धर्म पूर्णरीति से पालन किया यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माऽधीत्य सुविस्तरम् ।
तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥२॥

श्लोकार्थ—सान्दीपनि से सम्पूर्ण विस्तार सहित एक बार कहा हुआ वेद, आपने पढ़ लिया, पंचजन के उदर में प्राप्त होकर, मरे हुए गुरुपुत्र को लाकर गुरु को वर रूप दक्षिणा दी ॥२॥

सुबोधिनी – **सान्दीपनेरिति** । सन्दीपनस्य पुत्रः सर्वज्ञः, तस्य सकाशात् ब्रह्म वेदमधीत्य। **सकृत्प्रोक्त**मित्यतिसौबुद्ध्यं लोकप्रतीत्या निरूप्यते, विधिपरिपालनार्थं वा। सुष्ठु विस्तरमिति अर्थावबोधाङ्गादिसहितम्। अधीत्य, विद्यां समाप्य, गुरवे दक्षिणां दत्तवान्। सा दक्षिणा वररूपा, सोऽपिपुत्ररूपः, सोऽपि पूर्वं मृतरूपः। पूर्वं पञ्चजनोदरं प्राप्य मृतं पुत्रम्, मरणात् पूर्वावसरे स्थितरूपम्, तस्मै प्रादात्। भगवदाज्ञया कालेन मरणक्षणमारभ्य सर्वतत्त्वसमूहस्य सङ्घातस्य प्रतिक्षणं यो विकारो जातः, तं सर्वमेव विकारं काल उद्गिरणं कृतवान्; तदा स सर्वोऽपि सङ्घातः पूर्वस्थित एव भवति। इयमेव मनोधिकारिदेवता; चन्द्र एव हि क्षीणो वर्द्धते, शब्दहेतुश्च भवति ॥२॥

व्याख्या—सान्दीपन का पुत्र सान्दीपनि सर्वज्ञ था, उसके पास से वेद पढ़कर, कैसे पढ़ा? 'सकृत् प्रोक्तम्' गुरु ने एक बार कहा आपने याद कर लिया, यों कहकर यह दिखाया कि लोक प्रतीति से आपकी बुद्धि बहुत तीव्र (तेज) है। ऐसी बुद्धि वाले को गुरु के पास जाकर पढ़ने की क्या आवश्यकता थी? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विधिपरिपालनार्थं वा' वेद की आज्ञा का परिपालन करने के लिए गुरु के पास पढ़े, जिससे अन्य भी वेदाज्ञा का पालन करें, केवल मूल वेद नहीं, किन्तु पूर्ण विस्तार सहित अर्थात् उसके अर्थज्ञान एवं अङ्गों सहित सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया यों विद्या को (पढ़ने का कार्य) समाप्त कर, गुरु को दक्षिणादि, जो वर रूप थी, वह वर, भो पुत्र रूप था और वह पुत्र भी पहले मर गया था, अर्थात् जो गुरुपुत्र मर गया था, उसको जीवित लाकर दूँगा, ऐसा वर दक्षिणा रूप में दिया था, अतः वह पुत्र पहले जिस रूपवाला था वैसा ही लाकर भेट किया। कैसे मरा? पंचजन के उदर में प्राप्त होकर मरा था, भगवदाज्ञा से काल ने मरण के क्षण से लोक, सङ्घात के सर्वतत्त्व समूह में प्रतिक्षण, जो विकार होते थे, उन सब विकारों को बाहर निकाल दिया था इसलिए वह समग्र संघात जैसे पहले था वैसा ही रहा था,

यह ही मन का अधिकारी देव है, कारण कि क्षीण चन्द्रमा ही बढ़ता है और शब्द (वेद) जिसका कारण है वैसा ही होता है ।।२।।

आभास—एवमाचारेण शिष्टपरिपालनमुक्त्वा, द्वितीयाश्रमलक्षणं धर्ममाचारेण प्रवर्तयन् कृतवानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार अपने आचरण से शिष्टों का परिपालन कहकर, गृहस्थाश्रम लक्षण वाले धर्म को आचरण से प्रवृत्त कराने लगे यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**समाहुता भीष्मककन्यया ये श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।**
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः ।।३।।

श्लोकार्थ—भीष्मक की कन्या को गान्धर्व विधि से प्राप्त करने की इच्छावाले जिन राजाओं को रुक्मी ने बुलाया था, उनके मस्तक पर पैर धरकर, इस के देखते हुए गरुड़ अपना भाग ले गए ।।३।।

सुबोधिनी—समाहुता इति । **भीष्मककन्ययैषां बुभूषया, श्रियः सवर्णेन** रुक्मिणा, ये **समाहुतास्तेषां मूर्ध्निपदं दत्त्वा गान्धर्ववृत्त्या** तां हृतवान् । **'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ' इति** प्रथमविवाहे तदुभयं विधातुम्, रुक्मिण्यंशे गन्धर्वता, इतरविषये प्रसह्य कन्याहरणात् राक्षसत्वमिति गान्धर्ववृत्त्या जह्र इत्युक्तम् । तेषां **मूर्ध्नि पदं दधदिति** । बन्धुभिर्थत्तेभ्यो दत्तम्, तदेका बहुभ्यो दातुमशक्येति, यो रोचते, यो वा महांस्तस्मै देयमितिच्छाया जातत्वात् तत्सिद्ध्यर्थं सर्वेषां मस्तके स्वपदं सर्वानुकल्परूपं दत्तवान् । अनेन तेषामिच्छापि समर्थिता, सर्वप्रतिरूपत्वाद्भगवतः । श्रियः समानवर्णेन रुक्मिणीरूपेण ये **समाहृताः** इति वा पाठः । रूपेणव्यामुग्धाः सभागता इति, तेषां मस्तके पददानेन तस्मिन् पक्षे तेषां मेहो निराकृतः । भीष्मककन्यया कर्त्र्या, श्रियः सवर्णेन करणेन, गान्धर्ववृत्त्या बुभूषया ये समाहृता इत्यर्थे, अनियतत्वात् सर्वप्रतिरूपतया गान्धर्वत्वम् । प्रसह्य कन्याहरणं तु सर्वत्र तुल्यमेव । **मिषतामिति** चौर्यं निवारितम्, सर्वेषां बलहानिर्वा निरूप्यते । **स्वभागमिति** न वेधा दोषः । **सुपर्ण इति** । गरुडभावमापन्नो भगवानेव । तथा सत्यमृतमिव तां हृतवान् मातुः प्रियचिकीर्षया । स्वभागमिति वचनादियं ज्ञानशक्तिः । एषैप बुद्धिरधिकारिणो या 'भगवदेकपरा, भगवतैव सर्वान् दोषान् दूरीकृत्य, स्वार्थमेवात्मसात्कृता भवति ।।३।।

व्याख्या—भीष्मक की कन्या को प्राप्त करने की इच्छावाले जिन राजाओं को रुक्मी ने बुलवाया था, उनके मस्तक पर पांव धरकर गान्धर्व विध्यनुसार, उसका (रुक्मिणी का) भगवान् हरण कर गए, 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ' क्षत्रिय के लिए गान्धर्व और राक्षस ये दोनों विवाह, धार्मिक हैं, इसलिए भगवान् ने पहले ही विवाह में गान्धर्वपन और राक्षस पन

दिखाया है, जैसे कि रुक्मिणी के लिए यह विवाह 'गान्धर्व' था, कारण कि रुक्मिणी की इच्छा ही भगवान् से विवाह करने की थी, राजाओं एवं रुक्मी आदि की दृष्टि से बलात्कार से रुक्मिणी को ले जाना, 'राक्षस' विवाह था, 'उनके मस्तक पर पांव धर कर' इस पद का भावार्थ यह है कि भ्राताओं को पहले उनको देने की इच्छा थी किन्तु एक कन्या बहुतों को कैसे दी जायगी, अतः उनकी फिर ऐसी इच्छा हुई कि, जो राजा कन्या को पसन्द आवे अथवा जो महान् हो वह गान्धर्व विधि से ले ले, इसकी सिद्धि के लिए भगवान् ने सबके मस्तक पर, सबके काय करने में समर्थ अथवा सबके प्रतीक रूप अपने चरणधरे, इससे राजाओं की इच्छाओं की भी पूर्ति की, कारण कि भगवान् सर्व के मूल रूप हैं।

अथवा रुक्मिणी लक्ष्मी के समान शोभा वाली थी, जिससे उसके रूप ने राजाओं को मोहित कर बुलाया था, इस प्रकार का पाठ लेने आवे तो 'उनके मस्तक पर पैर धर कर' पद का भावार्थ होगा, उनका मोह दूर किया यदि, अपनी लक्ष्मी जैसी शोभा रूप साधन से रुक्मिणी ने राजाओं को गान्धर्व विधि से प्राप्त करने की इच्छा से बुलवाने का कार्य किया है तो भी यह निश्चय नहीं था। किसका वरण होगा, अतः भगवान् सर्व के प्रति रूप होने से गान्धर्व विवाह हुआ। बलात्कार से हरण करना तो सर्वत्र (सब पक्षों में) समान है 'मिषतां' देखते हुए पद से यह चोरी से ले गए, यों कोई भी नहीं कह सकेगा अथवा 'देखते हुए ले गए' इससे राजाओं की निर्बलता प्रकट की 'स्वभाग' अपनाभाग पद से यह सूचित किया है कि किसी प्रकार का धार्मिक दोष इसमें नहीं है, 'सुपर्ण' यह यहाँ इसलिए दिया है कि, भगवान् गरुड़भाव को यहां प्राप्त हुए हैं, अतः माता के प्रिय करने की इच्छा से अमृत की तरह रुक्मिणी को लेगए, अपने भाग शब्द का तात्पर्य यह है कि रुक्मिणी 'ज्ञान शक्ति' है, जो केवल भगवत्परायण हो, ऐसे अधिकारी की बुद्धि ऐसी ही होती है भगवान् ने ही, सर्व दोषों को दूरकर, अपने लिए ही उसका अङ्गीकार किया है ॥३॥

आभास—एवं सोमवंशे विवाहमुक्त्वा सूर्यवंशे सोत्सवं विवाहमाह—

आभासार्थ—यों चन्द्रवन्शों में विवाह कहकर अब सूर्य वंश में उत्सव सहित विवाह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**ककुद्मिनो विद्धनसो दामित्वा स्वमंवरे नग्नजितीमुवाह ।**
तद्भग्नमानानपि गृध्नतोऽज्ञाञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः ॥४॥

श्लोकार्थ—वृष भी (साँडों) के नाकों में छेद कर, उसमें रज्जु (रस्सी) डालकर उनको भगवान् ने वश में कर लिया, जिससे स्वयंवर में नाग्नजिती से विवाह किया, साँडों से जिन राजाओं का अभिमान नष्ट हुआ है तो भी नाग्नजिती की प्राप्ति करने की इच्छावाले उन राजाओं को भगवान् ने आपेक्षत न होकर उनका नाश कर डाला ॥४॥

सुबोधिनी—ककुद्मिन इति । ककुद्मिनो वृषभान् पणत्वेन स्वीकृतान्, **विद्धनसः** कृत्वा नासिकां भित्त्वा, तत्र रज्जुं निपात्य, समाकर्षणेन **दामित्वा** भग्नवीर्यान् कृत्वा । तत्रापि **स्वयंवर** एव, न त्वाहूय दानम् । अनेन स्वधर्मोऽप्युक्तो गान्धर्वः । **नग्नजितः** पुत्री सत्यामुवाह । तस्यां राक्षसत्वमप्याह–**तद्भग्नमानान**, पूर्वं स्वयंवरार्थमागतान्, समयबन्धरूपैस्तैरेव वृषैर्भग्नो मानो येषाम् । तथाभूतानपि तन्मारकवृषभजेतुः भगवतः सकाशात्तां हर्तुं **गृध्नतो**ऽधिकाकाङ्क्षावतः, अत एव **अज्ञान्**, स्वयमक्षत एव स्वशस्त्रैस्तान् शास्त्रभृतो जघ्ने । अनेन तान् हत्त्वा नयनात् राक्षसत्वं निरूपितम् । इयमेव हि बुद्धिदेवता ब्रह्मरूपा । तस्या दोषा द्विविधाः नियता अनियताश्च । नियता मायाकृताः सप्तव्यसनात्मकाः, अनियतास्तु अनन्ता एव । तानुभयविधानपि भगवान् दूरीकृत्य, नग्नान् पाषण्डान् जयतीति वेदो धर्मो वा तज्जनिकां देवतां स्वनिष्ठामेव कृतवानिति, न स्वभावतोऽपि भगवदीयानां बुद्धिरन्यविषया भवति ।।४।।

व्याख्या—शुक्लरूप में स्वीकृत साँडों के नासिका को छेद कर उसमें रस्सी डाल, खींचने से उनके मद का दमन कर एवं उन्हें पराक्रम रहित कर, उनको वश में कर लिया, जिससे नाग्नजिती से विवाह हुआ ।

वह भी स्वयंवर–विधि से हुआ न कि उसके पिताने बुलाकर दान कर कन्या दी, इससे अपना धर्म गान्धर्व कहा, नाग्नजिती की कन्या सत्या से विवाह किया । उस विवाह में राक्षसपन भी था, वह कहते हैं कि, पहले स्वयंवर में आये हुए राजाओं का, शुक्लरूप में रखे हुए साँडों ने मान भंग कर दिया था । ऐसे होकर भी, उन राजाओं के मान भंग करनेवाले साँड़ों को जीतकर नाग्नजिती से विवाहित भगवान् से उसको (नाग्नजिती के) छीनने के लिए, विशेष आकांक्षा करने लगे, इस कारण से ही, आपक्षत न होकर, अपने शस्त्रों से उन अज्ञ शस्त्रधारियों को नाश कर डाला, उनको मारकर सत्या को ले आने से इस विवाह में राक्षसपन का निरूपण किया है ।

यह नाग्नजिती ब्रह्मरूप बुद्धि देवता है । उसके दोष दो तरह के हैं । (१) नियत और (२) अनियत, नियत दोष माया के किए हुए सात व्यसनात्मक हैं, किन्तु जो अनियत हैं वे तो अगणित हैं । इन दोनों प्रकार के दोषों को भी भगवान् दूर कर, 'नग्नान्, पाषण्डान् जयति इति वेदो धर्मो', पाषण्ड़ों को जीतता है वह वेद अथवा धर्म है उससे (वेद वा धर्म से) उत्पन्न देवता को अपने में निष्ठावान् किया, जो भगवदीय उनकी बुद्धि स्वभाव से भी भगवान् के सिवाय दूसरे विषय में नहीं लगती है ।।४।।

आभास—एवं विवाहमुक्त्वा तत्र रमणमासक्तिव्यतिरेकेण न भवतीति तदासक्तिकार्यमाह–

आभासार्थ—इस प्रकार विवाह का वर्णन कर, उसमें रमण बिना आसक्ति के हो नही सकता है, इसलिए उसकी आसक्ति का कार्य निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—प्रभुः प्रियं ग्राम्य इव प्रियाया विधित्सुराच्छंद्द्युतरुं यदर्थे ।
वज्र्यद्रवत्तं सगणो रुषाऽन्धः क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ।।५।।

श्लोकार्थ—ग्रामीण की तरह प्रिया के प्रिय करने की इच्छावाले प्रभु ने पारिजात वृक्ष को स्वर्ग से ले आए अतः क्रोधान्ध हुआ इन्द्र जिस स्वर्ग के वृक्ष पारिजात को भगवान् से लौटाकर ले जाने के लिए गण सहित उनसे लड़ने लगा, कारण कि, यह इन्द्र वास्तव में स्त्रियों का वानर है ।।५।।

सुबोधिनी प्रभुरिति । प्रियायाः सत्यभामायाः **ग्राम्य इव प्रियं विधित्सुर्द्यु** तरुमाच्छंत् पारिजातमाहृतवान् । स्वर्गस्थितियोग्यं देवोपभोग्यमिति पारिजातमर्यादा; तां भङ्क्त्वा, प्रियार्थम् यथा ग्रामीणः कामरसाविष्टो मर्यादां भङ्क्त्वा रसमनुभवति, तथा दिव्यभोगं कृतवानित्यर्थः । पारिजातस्य स्वर्गेऽपि दुर्लभतां ख्यापयितुमाह–**यदर्थं इति** । यस्य पारिजातस्य अर्थे, **वज्री** इन्द्रो, वज्र गृहीत्वा स्वर्गार्थं ब्राह्मणवधमप्यङ्गीकृत्य, यो ब्राह्मणं वृत्रं हतवान् तादृशत्वं वज्रिपदेन सूच्यते, भगवताऽपि सह कलहार्थं सगणो देवादिसहितः, विचारानुत्पत्तये रुषाऽन्धः **आद्रवत्** आभिमुख्येन युद्धार्थमागतः । अनेन सर्वस्मादपि स्वर्गात् पारिजातोऽधिक इत्युक्तम्, यदथामिन्द्रादयोऽपि मर्तुं समुद्यता इति । नन्विन्द्रः सर्वज्ञो देवो बृहस्पतिशिष्यः कथमेवम् ? नीतिविरुद्धं सर्वप्रकारेणोपजीव्येन भगवता कथं विरोधं कृतवानित्याशङ्क्याऽऽह–**क्रीडामृगो नूनभयं वधूनामिति** । अयमिन्द्रो वधूनामिन्द्राण्यादीनां निश्चयेन क्रीडामृगो वानरः । वानरो यथा यथोक्तमेव करोतिनतु किञ्चिदपि विचारयति । वधूशब्देन च ता एव गृहपतय उक्ताः । तद्राक्षार्थमेवेन्द्रादीनामुपयोग इत्यर्थमहङ्कारो निरूपितः । भगवद्भक्तानाँ भगवतैव स्थापितोऽहङ्कारः फलायेति । अस्याऽभिमानिनी देवता रुद्रः । तद्भक्तनिराकरणेन भगवानेव तद्रूप इति भक्ताहङ्कारनिर्वाहकं रूपमुत्तरत्र वर्ण्यते ।।५।।

व्याख्या—अपनी प्रिया सत्यभामा का, ग्रामीण की तरह, प्रिय करने की इच्छावाले प्रभु, स्वर्ग का वृक्ष (पारिजात) वहाँ से ले आए, पारिजात वृक्ष की मर्यादा यह है कि वह स्वर्ग में रहे और उसका उपयोग देव ही करें । उस मर्यादा को तोड़कर, प्यारी के लिए ले आए । जैसे कायर सम्पूर्ण ग्रामीण, मर्यादा तोड़ रस का अनुभव करता है, वैसे ही प्रभु अलौकिक भोग करने लगे, यह पारिजात स्वर्ग में भी दुर्लभ है यह प्रसिद्धि करने के लिए कहते हैं कि जिस पारिजात के लिए इन्द्र ने यह पेड़ स्वर्ग में ही रहे इसलिए ब्राह्मण पुत्र का भी वध किया । इन्द्र का ऐसा होना वज्री विशेषण से सूचित करते हैं, क्रोध से अन्धा बनने से बिना विचार किए अपने देवादिगण सहित भगवान् के साथ लड़ने के लिए भगवान् के सम्मुख आ गया, यों कहने से सिद्ध किया है कि समस्त स्वर्ग से भी पारिजात विशेष उपयोगी है । जिस (पारिजात) के लिए इन्द्रादि भी मरने के लिए उद्यत हुए हैं । इन्द्र सर्वज्ञ देव है एवं ब्रहस्पति का शिष्य है, उसने सर्व प्रकार जो सबको जीविका आदि से जीवन देने वाले भगवान् हैं उनसे नीति विरुद्ध विरोध कैसे किया ? इस शंका का समाधान करते हैं कि 'क्रीड़ा' मृगोऽयंनून वधूनाम् यह इन्द्र इन्द्राणी आदि का निश्चय से क्रीड़ामृग अर्थात् वानर है । जैसे बन्दर को जैसे कहा जाए वैसे ही करता है वह कुछ भी सोचता

नहीं है, वैसे ही इन्द्र ने भी वानर के समान बिना विचारे किया है 'वधू' शब्द देकर यह बताया है कि, वे स्त्रियाँ घर की मालकिन हैं, उनकी रक्षा के लिए इन्द्राणि का उपयोग है इस प्रकार यह अहंकार निरूपण किया। अर्थात् सत्यभामा के रहे हुए अहंकार का संस्कार करना है। अथवा इससे इन्द्र का अहंकार दिखाया है। भगवद्भक्तों में भगवान् ने ही अहंकार स्थापित किया है, जिससे वह अहंकार फलदायी होता है। अहंकार का अभिमानी देवरुद्र है उसके भक्त का निराकरण करने से भगवान् ही अहंकार के देवता के रूपवाले बनजाते हैं। भक्तों के अहंकार को पालन करने वाले रूप का इसके बाद के ६ श्लोक में कहेंगे ।।५।।

आभास—भगवतो भोगोऽपि भक्तोष्टसिद्धयर्थमेवेति, तस्य दयां प्रतिपादयन्, दुष्टनिग्रहपूर्वकं भक्तानां सर्वमेवेष्टं प्रयच्छन्, भोगं करोतीत्याह–सुतं मृध इत्यादि चतुर्भि :—

आभासार्थ—भक्तों के इष्ट सिद्धयर्थ ही भगवान् भोग करते हैं, भक्त पर दया का प्रतिपादन करते हैं और दुष्टों का निग्रह आदि कर भक्तों को जो कुछ इच्छितप्रिय है वह सब देते हुए भोग करते हैं, यों 'सुतं मृधे' श्लोक से ४ श्लोकों में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या ।**
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ।।६।।

श्लोकार्थ—शरीर से आकाश को ग्रसने वाले पुत्र को युद्ध में सुदर्शन से खण्ड-खण्ड होके मरा हुआ देख, पृथ्वी से आमन्त्रित भगवान् उसके पुत्र (भगदत्त) को बचा हुआ सर्वराज्य देकर, उसके अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए ।।६।।

सुबोधिनी—**सुतं** नरकासुरं भगवता हतं दृष्ट्वा धरित्री भगवन्तं प्रार्थितवती शेषरक्षार्थम्। कृते करणाभावात्, तदा तथा **आमन्त्रितस्तत्तनयाय** भगदत्ताय, शिष्टं सर्वमेव राज्यं दत्त्वा, तत्पुत्रोपयोगाभावपदार्थग्रहणार्थं **तदन्तः-पुरमाविवेशे**त्यन्वयः। भगवान् सर्वेषां स्वकीयानां सर्वमेव कार्यं स्वयं करोतीति भगवच्चरित्रमुक्तम्। इदमेव रूपमहङ्कारदेवतायाः। नरकासुरवधेहेतुः– **खं वपुषा ग्रसन्तमिति**। वृत्रतुल्यता निरूपिता। ब्रह्मणा हि कृतं जगत् परिपालयितुं समुद्यतो विष्णुः रुद्रप्रसादान्महाभूतग्रसनसामर्थ्यं प्राप्तवन्तं स्थित्यर्थं स्वपुत्रमपि हतवान्। पौत्रस्थापनं तु भार्याप्रार्थनया। दोषभावाय **मृध** इत्युक्तम्। संग्रामेहननं क्षात्रियाणां न दोषाय। शून्यं हि वस्तुना पूरितं भवति, **ख**माकाशं शरीरेण पूरितमिति तेन ग्रासो निरूप्यते। **ग्रसन्तमिति** वर्त्तमाननिर्देशेन प्रतिक्रियाकालोऽयमिति सूचितम्। **सुनाभं** सुदर्शनम्। **उन्मथनं** खण्डशश्छेदनम्। तच्छरीरं मथित्वा तत्र स्थितं जीवमुद्धतवानिति वा। तदन्तःपुरप्रवेशात् तमात्मनि सायुज्यं प्रापितवानिति लक्ष्यते। अत एव न दोषोऽपि केनाप्यंशेन। ताश्च देवस्त्रिय इति च। संबन्ध एव वरप्राप्त इत्यष्टावक्रशापप्रसादाभ्यामवगम्यते ।।६।।

व्याख्या—भूमि, अपने पुत्र नरकासुर को, भगवान् से मारा हुआ देख, उन (भगवान्) को शेष (बचे हुए) की रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगी, 'कृते करणाभावात्' जो कार्य हो गया है,

उसके लिए यदि कोई कहे कि न करो, वह तो बनेगा ही नहीं अर्थात् वह तो होगा ही नहीं। सारांश कि नरकासुर मरा सो मरा, तब पृथ्वी द्वारा आमन्त्रित (बुलाए हुए) भगवान् ने उस (नरकासुर के पुत्र भगदत्त को शेष सब राज्य दे दिया, फिर भगदत्त के उपयोग में न आने वाले पदार्थों को लेने के लिए उसके अन्त: पुर में प्रविष्ट हुए, भगवान् अपने भक्तों के सर्वकार्य स्वयं ही करते हैं। यों भगवच्चरित्र कहा है। यह ही रूप अहंकार देवता का है अर्थात् मैं ही सब करता हूँ ऐसी भावना कर्तापन का अभिमान ही अहंकारदेव का रूप है। नरकासुर को क्यों मारा ? जिसका कारण बताते हैं कि 'खं वपुषा ग्रसन्तं' शरीर से आकाश को निगला जाना, मारने में यह कारण है, इस विशेषण से वृत्रासुर तुल्यता दिखाई।

ब्रह्मा के स्थान पर जगत् की रक्षा के लिए उद्यत विष्णु भगवान् ने महादेव के प्रसाद से आकाश को भी ग्रसने की सामर्थ्य रखने वाले अपने पुत्र को भी जगत् की स्थिति के लिए मार डाला, पौत्र को राज्य, स्त्री की प्रार्थना से दिया। मारने में दोष लगता है किन्तु 'मृधे' पद देकर यह सूचित किया है कि लड़ाई में मारने पर क्षत्रियों को दोष नहीं लगता है, जो स्थान खाली होय उसको वस्तु से भरा जा सकता है अत: नरकासुर ने आकाश को ग्रस कर अपने शरीर में भर दिया 'ग्रसन्तं' पद वर्तमान काल में देकर यह सूचित किया है कि यह चालू समय उपाय करने का था। भगवान् ने 'सुनाभं', सुदर्शन, 'उन्मथनम्' (खण्ड-खण्ड करना) सुदर्शन से उसके शरीर को खंड खंड करके मारा अथवा उस शरीर का मथन कर उसमें स्थित जीव को शरीर से पृथक् कर उसका (नरकासुर का) उद्धार किया। उसके अन्त:पुर में प्रवेश करने से उसको अपने में सायुज्य दिया, यों करने से यह सूचित किया है कि किसी भी अंश से भगवान् में दोष नहीं है और दोष न होने का दूसरा कारण यह है कि वे स्त्रियां, देव स्त्रियां थी। उन स्त्रियों का भगवान् से सम्बन्ध वरदान के कारण हुआ है। यों अष्टावक्र के शाप और प्रसाद (प्रसन्नता) से हुआ है, ऐसा समझा जाता है ॥६॥

आभास—तत्र ताभिर्वृत इत्याह

आभासार्थ—अन्तःपुर में स्त्रियों ने भगवान् को घेर लिया निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम् ।**
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्षव्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥७॥

श्लोकार्थ—वहां भौमासुर की लड़ाई हुई, राजकन्याएँ दु:खियों के बन्धु, हरि को देख उठकर उत्यन्त हर्ष, लज्जा और प्रेमपूर्वक अवलोकन से भगवान् को सर्व ने पति रूप में ग्रहण किया ॥७॥

सुबोधिनी—तत्राहृता इति। ताः पूर्वोक्ता देवस्त्रियः, साम्प्रतं नरदेवकन्याः कुजेन नरकासुरेण आहृताः, **तत्रान्तः-पुरे**, सर्वदुः खहर्तारमैहिकपारलौकिकदोषदूरीकरणसमर्थम्, स्वभोगार्थं तथा करोतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थ**मार्तबन्धुमार्तानां** तदीयत्वे बन्धुवद्धितकर्तारम्, दृष्ट्वा **उत्थाय सद्य** एकवारमेव तं पतित्वेन जगृहुः। **हरिमार्तबन्धुमिति** विशेषणं न ज्ञातमुपयुज्यते, किन्तु स्वरूपसदेव।

अत एव भगवद्दर्शनमात्रेण बन्दीक्लेशबन्धुत्यागादिसर्वदुःखानामपुनःस्मरणं विस्मृतत्वात् । स्वगृहे पुष्टा इव कामकलापूर्णाः कन्दर्पकोटिलावण्यं भगवन्तं भोगेच्छया गृहीतवत्य इत्याह—**प्रहर्षव्रीडानुरागप्रहितावलोकैरिति**। भगवन्तं हस्तेन दीनतया शरीरेण वा बन्धुमिव न गृहीतवत्यः । किन्तु हर्षेण, व्रीडया, अनुरागेण च प्रहितानि यान्यावलोकनानि, आनन्दचित्सद्भावदृष्टयः । प्रथमतो भगवन्तमानन्दमयं दृष्ट्वा प्रकृष्टो हर्षो जातः, तेनानन्दानुभवार्थं दृष्टिः प्रथमं प्रेषिता । ततोऽधिमुज्यमाने भगवति पतिस्त्रीरूपं चेतनभावमापन्ना, व्रीडया भोगं निवार्य, तदीयत्वख्यापिका दृष्टिः प्रेषिता । ततोऽन्तःकरणे भगवति परमप्रेमोत्पत्तौ, भगवतोऽपि स्वस्मिन् दृष्टिपाते, अनु पश्चादुद्गतो रागो जातः । तेन परमवैषयिकभोगार्थं भगबति सा दृष्टिः प्रेषिता । तान्येवाऽवलोकनानि, भगवद्ग्राहकाणि । अनेन भगवदीयानामेवं चित्त भगवतोत्पाद्यत इत्युक्तम्।।७।।

व्याख्या—वे देव स्त्रियां अब राजग्रह में जन्म लेने से राजकन्याएें हुई हैं, जिनको भौमासुर ले आया था। वे अब अन्तः पुर में सर्वदुःखहर्ता ऐहिक तथा परलोक के दोषों को दूर करने में समर्थ और आर्तबन्धु हैं अर्थात् प्रभू जो तदीय है उनका बान्धव की तरह दुःख मिटाते हैं, अतः भोग के लिए यों करते हैं यह शंका भी आर्तबन्धु कहने से मिटादी, जिससे भगवान् को देखते ही उठकर एकबार ही सबने उनको पति बना लिया। इन्होने कृष्ण के लिए 'हरि' 'आर्तबन्धु' ये विशेषण जो दिए हैं वे जानने से नहीं दिए हैं किन्तु स्वरूप से ये गुण इनमें हैं यों प्रतीति होने से कहे हैं, इससे ही भगवद्दर्शन मात्र से, कारागृह का दुःख, बन्धु त्याग आदि सर्व दुःख ऐसे भूल गई कि मानो हुए ही नहीं हैं, जिससे उनका फिर स्मरण ही नहीं हुआ। स्वगृह में पुष्ट की तरह काम कला से पूर्ण, कोटि कन्दर्प लावण्यवाले भगवान् को भोगेच्छा से ग्रहण किया, ग्रहण का प्रकार बताते हैं कि भगवान् को हस्त से, दीनता से वा शरीर से बन्धु की तरह ग्रहण नहीं किया किन्तु अति हर्ष से, लज्जा से और प्रेम से जोड़े हुए अवलोकनों से अर्थात् आनन्दचित् और सत्‌भाव वाली दृष्टियों से ग्रहण किया।

प्रारम्भ में आनन्दमय भगवान् को देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ, इसमें स्वरूप आनन्द के अनुभव के लिए पहले कि दृष्टि को भेजा जिससे भगवान् का अधिक योग होने से हम पत्नियां हैं और भगवान् पति हैं। ऐसा अनुभव होते ही, लज्जा का उद्‌भव हुआ, अतः भोग को रोककर हम आपको स्त्रियां हैं। ऐसे भाव वाली दृष्टि को भगवान् के पास भेजा। उससे अन्तः करण में भगवान् के लिए प्रेम की उत्पत्ति हुई, उस समय भगवान् की दृष्टि का पात भी अपने में देखकर पश्चात् राग विशेष प्रकट हुआ, उससे विशेषवैषयिक भोग के लिए भगवान् पर ऐसी दृष्टि डाली। येही अवलोकन थे जो भगवान् को पतिपन से ग्रहण करते थे। इससे यह सूचित किया कि भगवदीयों का ऐसा चित्त भगवान् ही बनाते हैं यों कहा है।।७।।

आभास—तासां भगवतः स्वीकारमाह—

आभासार्थ—'आसां' इस श्लोक में कहते हैं कि भगवान् ने उनको स्वीकार किया—

श्लोक—**आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम् ।**
सविधि जगृहे पाणिमुरुरूपः स्वमायया ।।८।।

श्लोकार्थ—अपनी माया से अनेक रूपधारण कर एक ही मुहूर्त्त में प्रत्येक गृह में जाकर पृथक्–पृथक् रूप से इन स्त्रियों से भगवान् ने विधिपूर्वक विवाह किया ।।८।।

सुबोधिनी—आसां मुहूर्तं एकस्मिन्निति । समुदायेन भोगः । स्त्रीणां सुखकरो न भवतीति, तासां कालत इच्छाबाधनाभावाय भगवानुरुरूपो भूत्वा, लौकिकवाच्यतानिवृत्त्यै, **सविधि** विधानपूर्वकम्, समानफलसिद्धये भगवत्त्वख्यापनाय च, **एकस्मिन् मुहूर्ते** पाणिं जगृहे विवाहं कृतवानित्यर्थः । **स्वमायया** जगत्कर्तुः करणभूतया । केवलसच्चिदानन्देऽपि भोगार्थं तद्ग्रहणयोग्यत्वाय स्वरूपमाच्छादयतीति, मायायाः करणत्वम् । यथा सर्वमेव जगत् भगद्रूपं चिदंशमायया व्यवहितं सर्वैर्यथेष्टं व्यवह्रियते, तथा भगवान् स्वमायया तासामभिलषितभोगार्थमुरुरूपो जात इत्यर्थः । **योषितामिति** भोगदशा प्रदर्शिता । **नानागारेष्विति** पूर्णरसाविर्भावाय । अत्र विधिर्गान्धर्व इति प्रतिभाति, क्षत्रियाणां मुख्यत्वात् । एवं ग्रहणमेव चित्ताधिष्ठातुर्वासुदेवस्य भक्तान् प्रति चित्तप्रेरणमित्युक्तम् ।।८।।

व्याख्या—बहुत स्त्रियों के साथ में भोग हो वह स्त्रियों को आनन्ददायी नहीं होता है । कान के कारण उनकी इच्छा में बाधा न पड़े, इसलिए भगवान् ने बहुत रूपधारण किए, लोक में हीन भावना न दीखे इस वास्ते शास्त्र विधि के अनुसार समान फल की सिद्धि के लिए और भगवत्व की प्रसिद्धि के लिए एक ही मुहूर्त्त में भगवान् ने पाणि ग्रहण कर विवाह किया ।

जगत्कर्त्ता की साधनभूत अपनी माया से बहुत रूप धारण किए हुए भगवान् स्वयं सच्चिदानन्द होते हुए भी भोग के लिए, उसके ग्रहण की योग्यता के लिए अपने स्वरूप का आच्छादन करते हैं । इसमें माया का करणत्व है अर्थात् माया साधन है जैसे भगवद् रूप समस्त ही जगत् चिदंश की माया से आच्छादित होने पर ही सब अपनी इच्छानुसार अपना व्यवहार करते हैं । यों भगवान् भी अपनी माया से उनके इच्छित भोग की उनको प्राप्ति हो तदर्थं बहुत रूपवाले बने । 'योषिताम्' (स्त्रियों को) पद से भोग के योग्य स्थिति को सूचित किया, जुदे-जुदे घरों में कहने का भाव यह है कि एकान्त में पूर्ण रस का आविर्भाव होता है । यहाँ जो विधि कही है वह गान्धर्व विधि है । यों भासता है । क्योंकि गान्धर्व विधि क्षत्रियों में मुख्य विधि है इस प्रकार के ग्रहण को ही, चित्त के अधिष्ठाता वासुदेव का भक्तों के प्रति इस प्रकार चित्त की प्रेरणा है यों कहा है ।।८।।

आभास—तासां फलमाह—

आभासार्थ—उनको जो फल प्राप्त हुआ उनका 'तास्वपत्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वशः ।**
एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ।।९।।

श्लोकार्थ—प्रकृति की इच्छा हुई कि मैं बहूं इसलिए प्रत्येक स्त्री में से भगवान् ने सर्वप्रकार से अपने समान दश–दश अपत्य (सन्ताने) उत्पन्न किये ।।९।।

सुबोधिनी—तास्वपत्यान्यजनयदिति। अपत्यानि कन्यापुत्ररूपाणि। तासामधिकरणत्वेन तत्तुल्यापत्यजननं निवारितम्। तथा सति भगवदिच्छया प्रकृतिपुरुसंबन्धेनैव तासां पुत्रा जायेरंस्तद्व्यावृत्त्यर्थमात्मतुल्यानित्याह। **सर्वश इति** पञ्चधा। शरीरत इन्द्रियतः प्राणतोऽन्तःकरणत; स्वरूपतस्तत्सर्वधर्मतश्चेति। **एकैकस्यां दशदशेति** विध्यर्थः परिपालितः। **'दशास्यां पुत्रानाधेहि'** इति श्रुतेः। प्रकृतेर्विशेषभवनेच्छयेति करणं सङ्ख्यायाम्। साह्येकमेव पुरुषं सकृदुपलभ्य महत्त्वकार्यं कृतवती, पुनः सम्बन्धे प्रयोजनाभावात् सकामैव स्थिता। इदानी भगवांश्चेदनन्तरूपो भवति तदा तद्भोगार्थं पुनः पुनः पुरुषसंबन्धं प्राप्य कार्याणि जनयिष्यतीति। तस्या विबुभूषा सिध्यति। यागवत्करणताऽस्याः। भगवदिच्छया व्यापृता बहुधा जननं साधयतीति। अनेन साङ्ख्यवत् भगवद्भक्तानामिन्द्रियप्रवृत्तिरिति दशसङ्ख्यया बहिरिन्द्रियाणां स्वरूपमुक्तम्। ते ह्यग्रे न बीजभावं प्राप्नुवन्ति, भोगश्चान्येति; तत्रापि न भोगेच्छाकारणम्, किन्तु भवनेच्छैव कारणम्॥९॥

व्याख्या— 'अपत्य' पद का तात्पर्य है सन्तान, वह पुत्र हो या पुत्री हो, हालाँकि स्त्रियां सन्तान के उत्पत्ति का स्थान हैं तो भी उनके समान सन्तान उत्पन्न नहीं किए अर्थात् कन्याओं को उत्पन्न नहीं किया किन्तु भगवान् की इच्छा से प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध से ही उन स्त्रियों को उनके समान सन्तान पुत्र उत्पन्न होवे, यों नहीं हुए इसलिए कहा है कि भगवान् ने 'आत्म तुल्यात्' सर्वप्रकार अपने समान पुत्र उत्पन्न किए। 'सर्वशः' पद का भावार्थ है कि भगवान् ने शरीर से, इन्द्रियों से प्राणों से, अन्तः करण से और स्वरूप से तथा उनके सर्वधर्मों से समान प्रत्येक स्त्री से 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इस श्रुत्यनुसार दश-दश पुत्र उत्पन्न किए। यों वेदाज्ञा का परिपालन किया प्रकृति की विशेष होने की इच्छा इसमें (दश संख्या होने में) 'करण' साधन है।

उस प्रकृति ने एक ही पुरुष को एक ही बार पाकर उससे भोग, भोगकर महत्तत्त्व उत्पन्न किया, फिर उससे सम्बन्ध करने की आवश्यकता न रहने से सकाम ही रह गई। अब जब भगवान् अनन्त रूपवाले हुए हैं तब उसके भोग के लिए फिर-फिर पुरुष से संबंध प्राप्तकर सन्तानों को पैदा करेगी, जिससे उसकी रही हुई इच्छा पूर्ण होगी। भगवद् इच्छा से कार्य में रूद्ध हुई यह बहुत प्रकार से उत्पत्ति करेगी, अर्थात् यह यज्ञ की तरह साधन बनेगी इससे अर्थात् इस श्लोक द्वारा स्कन्ध के विचार से यह वाक्य कहा है कि, सांख्य की तरह भगवद्भक्तों के आनन्द को उत्पन्न करने का भी इन्द्रियों की प्रवृति होती है। यों दश संख्या से बाहर की इन्द्रियों का स्वरूप कहा वे (साङ्ख्य जीव। आगे बीजभाव को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् अपत्य रूप से उत्पन्न नहीं होते हैं। उनका भोग अन्य के लिए है अर्थात् दश की संख्या से इन्द्रियों का बाहर का स्वरूप बताया है इस अन्यार्थ भोग में भो भोग करने की इच्छा कारण नहीं है। किन्तु वहुत होने की इच्छा ही कारण है॥९॥

आभास—एवं कामलीलामुपपाद्य क्रोधलीलां सोपपत्तिकामुपपादयति—
कालमागधेत्यादि सप्तभिः—

आभासार्थ—इसी तरह काम लीला का प्रतिपादन कर 'कालमागध' श्लोक से लेकर सात श्लोकों में तर्क सहित क्रोध लीला का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम् ।**
अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ।।१०।।

श्लोकार्थ—पुर को सैनाओं से रून्धने वाले काल, मागध, शाल्व आदि को, अपने पुरुषों को स्वयं अपना तेज देकर नाश किया ।।१०।।

कारिका—**कामक्रोधौ समौ कर्तुं सप्त सप्त निरूपिताः ।**
यल्लोभे गुणसङ्ख्यास्ते निवृत्तिः सप्तधा ततः ॥१॥

कारिकार्थ—काम और क्रोध को समान बनाने के लिए प्रत्येक के सात-सात श्लोक कहे हैं और लोभ के ५ श्लोक कहे हैं उनसे निवृत्ति सात प्रकार से कही है ।।१।।

कारिका—**ततो मध्ये चतुर्मूर्तेः प्रद्युम्नादेर्निरूपिताः ।**
वासुदेवाद्भक्तरक्षा तृतीया सा निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—चतुर्मूर्ति में से यहाँ प्रद्युम्नादि कहे हैं । वासुदेव से भक्त की रक्षा की जाती है वह तीसरी मूर्ति है ।।२।।

सुबोधिनी—कामजनकानि चत्वार्येव बहिरिन्द्रियाणि । इन्द्रियं, स्पर्शः, श्रोत्रं, चक्षुरिति । रक्ष्यते च चतुर्भिः क्रोधांशैः संवत्सररुद्रपालकसूर्यैः तत्र प्रथमं सर्वपरिपालनार्थं भूभाररूपान् शत्रूनत्युत्कटान् प्रथमं मारयतीत्याह । **कालेति** । त्रयो ह्युद्धृताः स्वयमागत्य भक्तद्रोहं कृतवन्त इति तान् हतवान् । तत्रं कालमागधौ मथुरापुरनिरोधकौ । शाल्वो द्वारकाया निरोधकः । कालः कालयवनः मागधो जरासन्धः । कालस्य प्रथमत उपादानमग्रे जरासन्धवधात् । आदिशब्दस्त्रिष्वपि संबध्यते । तेन ससमूहास्ते त्रय एवोक्ता भवन्ति तामसादिगणाध्यक्षाः । अनीकैरिति सेनानां रोधे करणत्वम् । अनेन तज्जयस्य दुर्लभता वा सूचिता । तथाप्यजीघनत् । **स्वयमिति** । भिन्नतया स्वोद्योगे, नतु तदुद्योगे । **स्वपुंसां** मुचुकुन्दभीमप्रद्युम्नबलभद्रादीनां तेज आदिशत् । अनेन प्रतिष्ठार्थं तान्मारकत्वेनोपस्थापितवान् । ते हि मार्गत्रयस्थाः लौकिकादिप्रकारेण ब्राह्मणब्रह्मशिवप्रपन्ना भक्तकामनाविक्षेपका भवन्ति । तन्निवारको भगवान् त्रिमूर्तिरपि त्रिविधकामनियन्ता ।।१०।।

व्याख्या—इन्द्रिय[1], स्पर्श[2], कान और नेत्र, ये चार बाहर की इन्द्रियां हैं ? वे काम को उत्पन्न करने वाली हैं और संवत्सर[3] रुद्र, पालक तथा सूर्य ये चार क्रोध के अंश उनके रक्षक हैं ।।१०।।

व्याख्या—क्रोधलीला में प्रथम जो कार्य किया वह इस श्लोक में कहते हैं कि सर्व पालनार्थ, भू-भार रूप उत्कट शत्रुओं का नाश करते हैं । तीनों ही प्रसिद्ध शत्रुओं ने स्वयं आकर भक्तों का

१-ब्रह्मदेवता का इन्द्रिय २-त्वग् इन्द्रिय ३-कालपवन का नाशक मुचुकुन्द संवत्सरात्मक हैं मागध आदि को मारनेवाला रूद्रात्मक है । पाण्डवों के पालकरूप हैं और यादव तो सूर्य हैं यों आगे स्पष्ट होगा ।

द्रोह किया इसलिए उनको मारा, उनमें काल और मागध ने मथुरापुरी को घेरा और शाल्व, द्वारिका का निरोधक (घेरने वाला) बना। काल का तात्पर्य काल भवन है। मागध, जरासन्ध का नाम है, जरासन्ध को काल पवन के बाद मारा है इसलिए काल पवन का नाम पहले दिया है। आदि शब्द का तीनों से सम्बन्ध है। इससे तामसादि गणों के तीनों अध्यक्षों को समूह सहित कहा है, 'अनीकैः' सेनाओं का पद से तात्पर्य है कि घेरा डालने में साधन सेनाएं हैं, अथवा 'अनीकैः' बहुवचनान्त से यह सूचित किया है कि उनको जीतना कठिन है, तो भी भगवान् ने उनको मार डाला, 'स्वयं पद से यह सूचन किया है कि स्वयं भगवान् ने ही उनको मारा है, न कि उनके पुरुष-मुचुकुन्द, भीम प्रद्युम्न और बलभद्र आदि ने मारा है। क्योंकि भगवान् ने उन (अपने पुरुषों में) अपना जो तेज स्थापित किया उससे वे (शत्रु) मारे गए। उनमें तेज की स्थापना उनके (पुरुषों) के यश वा प्रसिद्धि के लिए की थी, जिससे लोक समझें कि इन्होंने मारे हैं, काल, मागध और शाल्व ये तीन प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि में स्थित थे, कालयवन लौकिक (प्रवाह) प्रकार से ब्राह्मणों का भक्त था, मागध वेदानुसारी होने से मर्यादी था और शाल्व ने अनुग्रह से शिव की शरणली थी अतः पुष्टि था किन्तु भक्तों की कामनाओं में रुकावट डालने वाले थे, उन रुकावटों के निवारक भगवान् त्रिमूर्ति[1] सात्विकादि तीनों कामनाओं के नियामक हैं ॥१०॥

आभास—एवमुद्यतान् त्रिविधान् हत्वा स्वतोऽनुद्यतान् अन्यद्द्वारैव कांश्चिन्मारितवानित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार भक्त द्रोहार्थ उद्यत हुए तीनों को मारकर और स्वयं उद्यत न हुए थे उनमें से कितनों ही को दूसरों से मरवाया यों 'शम्बरं द्विविदं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च ।**
अन्यांश्च दन्तवक्रादीनवधीत्कांश्च घातहन् ॥११॥

श्लोकार्थ—शम्बर, द्विविद, बाण, मुर, बल्वल और दन्तवक्त्र आदि अन्यों को दूसरों से नाश कराया और कितनों ही को आपने भी मारा ॥११॥

सुबोधिनी—शम्बरमिति। शम्बरः प्रद्युम्नेन मारितः। द्विविदो बलेन। बाणः, छिन्नभुजो भगवतैव कृतः। बल्वलोऽपि बलेनैव। दन्तवक्रादयो भगवतैव। आदिशब्देन विदूरथादयस्तत्पक्षपातिनः। एतान् कांश्चित् घातयन् कांश्चिदवधीत्। हस्तावुक्तौ। भगवदीयैर्भगवत्कर्तव्यं भगवदाज्ञया कर्तव्यमिति ॥११॥

---

[1] १—मुचुकुन्द, भीम और प्रद्युम्न।

व्याख्या—शम्बर का प्रद्युम्न[१] से, द्विविद को बलराम से बाण की भुजाऐं भगवान् ने काटी। बल्वल को बलराम से ही मरवाया, दन्त, वक्र आदि को स्वयं भगवान् ने मारा आदि पद उनके पक्षपाती विदूरथ आदि को भी आपने मारा, इन्होंने किनको मरवाया और किनको मारा, इससे हाथों का संस्कार किया, भगवान् के भक्तों को भगवदाज्ञा से ही भगवान् का कर्त्तव्य कार्य करना चाहिये ॥११॥

आभास—एवं दोषनिर्हारार्थमुद्यताननुतांश्च दैत्यान् हत्त्वा शस्त्रसंन्यासं विधाय भूमिभारं निराकृतवानित्याह–अथेति द्वाभ्याम्–

आभासार्थ—इसी तरह दोष दूर करने के लिए, भक्तद्रोहार्थ तत्पर हुए अथवा जो न हुए उन सब दैत्यों को मारकर भूमि का भार उतारा फिर शस्त्रों का त्याग कर दिया जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—**अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान् नृपान्।**
चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥१२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् जिनकी घुसकर आती हुई सेना की कुरुक्षेत्र की भूमि काँपने लगी थी उस तेरे भाई के पूत्रों के पक्ष में आए हुए राजाओं को मरवाया ॥१२॥

कारिका—**भक्तानामेव यद्दुःखं दोषरूपं न्यवारयत्।**
भूमेस्तु देहेजो भारो न शस्त्रेण निवार्यते ॥१॥

कारिकार्थ—भक्तों को ही जो दोष रूप दुःख था उसका भगवान् ने स्वयं नाश किया किन्तु भूमि को जो राजाओं के सैन्यों की देह से जो कष्ट हुआ वह शस्त्र से नहीं उतारा जा सकता है ॥१॥

कारिका—**उत्तारितस्तु भू भारः कण्डूयां जनयेद्ध्रुवम्।**
ततस्तस्या निवृत्त्यर्थं नखरूपैर्हि पाण्डवैः ॥२॥

कारिकार्थ—उतरा हुआ भूमि का भार अवश्य खुजली पैदा करता है इससे उस (खुजली) को मिटाने के लिए नखों की आवश्यकता होती है शस्त्रों से वह नहीं मिटती है। अतः नख रूप पांडवों को आपने ही प्रयत्न कर, प्रेरणा की, जिससे उन्हों के द्वारा बाहर की खुजली स्वयं ही दूर कर दी ॥२॥

१—जरासन्ध की लायी हुई महती सेना, तीन कोटि म्लेच्छ सेना और अन्य दुष्टों का मथुरा के समीप मारने से शल्वादिकों का द्वारका के समीप डालने से, पौण्ड्रकादिका वहाँ ही मारने से आपने ही भार उतारा है—श्लोक में 'अथ' पद से मित्र प्रक्रम कहने का भाव इससे समझाया है।

कारिका—**प्रयत्नप्रेरितैर्बाह्यां स्वयमेव न्यवारयत् ।**
अन्तरन्यां च तामेव पूर्वस्पर्शसमुद्भवाम् ॥
कृमिकण्टकरूपां तां तन्नाशेनाऽवधीत्पुनः ॥३॥

कारिकार्थ—प्रथम स्पर्श से उत्पन्न हुई भीतर को कृमि कीट रूप, दूसरी खुजली, जिसका वर्णन १४ वें श्लोक में है, उसका नाश यदुकुल के नाश से किया ॥३॥

सुबोधिनी—अथेति । प्रक्रमान्तरे सारथ्यभावेन । ते भ्रातृपुत्राणां पाण्डवानां दुर्योधनादीनां च पक्षयोः सहाययोः पतितान् धर्ममनपेक्ष्य स्नेहाग्रह**भा**वेन पतितान् घातयन्निति पूर्वेण संबन्धः । तेषामाधिक्यमाह–**चचालेति** । कुरुक्षेत्ररूपा भूः । धर्मक्षेत्रे हि तेऽधर्मभावं प्रापिताः । चलनमधर्मात् ते सर्वेह्यधर्मैकनिष्ठा ज्ञातिघातिनः । अत एव येषां बलैर्भूश्चचालेति । देवेन्द्रकार्यं कृतवानित्यर्थः ॥१२॥

व्याख्या—'अथ' पद सारथि के अभाव से, प्रथक् प्रक्रम बताने के लिए दिया है, तुम्हारे भ्रातृपुत्र पाण्डव और दुर्योधनादि के पक्षों में जो धर्म की अपेक्षा न कर, स्नेह का ही आग्रह रखकर अधर्म के पक्ष में गिरे उन पतितों को मरवाए, इसका पूर्व श्लोक से सम्बन्ध है, उनकी अधिकता कहते हैं, कुरुक्षेत्र की भूमि काँपने लगी, क्योंकि वह भूमि धर्म का स्थान है, वहां अधर्म कार्य करने लगे, पृथ्वी के कांपने का कारण अधर्म है वे सबके बल अधर्म में ही निष्ठा वाले और ज्ञाति का घात करने वाले थे । इस कारण ही इनकी सैन्यों से पृथ्वी काँपने लगी, इस लीला से हस्त के देव इन्द्र का कार्य सिद्ध किया ॥१२॥

आभास—किञ्च । अप्रधानवधमुक्त्वा प्रधानवधमाह—

आभासार्थ—अब तक अमुख्यों (साधारणों) का वध कहा, अब मुख्य (दुर्योधन) का वध निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**सकर्णदुःशासनसौबलानां कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषाम् ।**
सुयोधनं सानुचरं शयानं भग्नोरुमुर्व्यां न ननन्द पश्यन् ॥१३॥

श्लोकार्थ—दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनि की दुष्टमन्त्रणा (सलाह) के फलस्वरूप जिसकी लक्ष्मी एवं आयुष्य का नाश हुआ है, ऐसे, जिसने अन्य राजाओं का नाश कराया है, पृथ्वी पर हुए टूटी जाँघोंवाले दुर्योधन को अनुचरों के साथ देखकर भगवान् सन्तुष्ट न हुए ॥१३॥

सुबोधिनी—सकर्णदुःशासनेति । ननु जीवनादृष्टे विद्यमाने कथं सर्वे संभूय मृताः । नह्येकमदृष्टं सर्वेषामित्याशङ्क्य दुर्योधनपक्षपातेनैव सर्वेषामायुः क्षीणमित्याह–सकर्णो दुर्योधनः कर्णसहितः । दुःशासनो भ्राता । सौबलिः शकुनिर्मातुलः । एते चत्वारो दुष्टा; एतेषां कुमन्त्रस्य यः

परिपाकस्तत्कुमन्त्रे ये स्थिताः, तेषां श्रीः, आयुश्च पाकेनैव हतमित्याह—**हतेति** हता श्रीरायुश्च येषामिति । येषामिति विशेषणम् । दुर्योधनमपि हतवानिति संबन्धः । अनुचरसहितो भग्नोरुः शयानः पश्यतिकर्म । एवं सर्वं कार्यं कृत्वापि भारनिवृत्तये समागतो निवर्तकैर्भारं जनयन् पूर्वंभारं दूरीकृत्यापि न ननन्द सन्तोषं न कृतवान् । स्पर्शरूपता निरूपिता । भगवदीयानां स्पर्शनेन्द्रियं ज्ञानहेतुरेव न सुखहेतुरिति ॥१३॥

व्याख्या—जब जीने का अदृष्ट था तो सब इकठ्ठे एक ही समय में कैसे मरे ? सबका प्रारम्भ एक सम न होगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि, दुर्योधन के पक्षपात करने से सबकी आयु क्षीण हो गई थी । कर्ण सहित दुर्योधन, दुःशासन भ्राता था, शकुनि मामा था ये चारों दुष्ट थे । इनकी कुमन्त्रणा का जो फल यह हुआ, जो इस कुमन्त्रणा में शामिल थे उनकी आयु तथा श्री समाप्त हो गई, दुर्योधन भी मारा गया, टूटी हुई जाँघ वाले अनुचर सहित सोया[1] हुआ देखा गया, यों सर्व कार्य करते हुए भी भार को उतारने के लिए प्रकट हुए भगवान् सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योंकि जिनके द्वारा भार उतरवाया था वह भार अब पृथ्वी पर था, भगवदियों की स्पर्श करने वाली इन्द्रियाँ ज्ञान ही उत्पन्न करती है किन्तु सुख उत्पन्न नहीं करती है । यों स्पर्श रूपता का निरूपण किया ॥१३॥

आभास—द्वितीयं भारं दूरीकर्तुमनन्दनमेवाऽऽह—

आभासार्थ—अन्यभार दूर करने के लिए 'कियान्' श्लोक में भगवान् की प्रसन्नता ही कहते हैं—

श्लोक—**कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो यद्द्रोणभीष्माजुनभीममूलैः ।**
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशैरास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीमसेन जिनमें मुख्य हैं ऐसे मेरे अंशों ने भूमि पर जो अठारह अक्षौहिणी सेना का भार था वह उतार दिया, किन्तु वह कितना बड़ा भार था ? मेरे अंश रूप यादवों के सैन्य का इतना बड़ा भार है, जिसके स्वल्प को भी कोई सहन नही कर सकता है ॥१४॥

सुबोधिनी—**कियानिति** । क्षुद्रनिराकरणार्थं क्षुद्रग्रामे यदि महाराजः समायाति तदा तत्सेनयैव ग्रामो नश्यति । तत्रत्यः क्षुद्रस्वल्पमेव नाशयति, सैनिकास्तु सर्वमिति न्यायेनाऽऽह—**भुवः कियान् वा भारो मया क्षपितः मदंशैः** करणैर्दूरीकृतः । तानंशानाह—**यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैरिति** । द्वयं द्वयमुभयत्र । तेषां मूलभूतैः स्वतेजोभिरेव । एवं चतुर्विधैरपि तेजोभिश्चतुरङ्गसेनारूपोऽष्टादशाक्षौहिणिकस्तावदक्षौहिणीभिर्जातो भारो यस्मात । दूरीकृतस्ततोऽप्यधिको भारोऽस्तीत्याह—**आस्ते**

---

[1]—यह 'पश्यन्' का कर्म है ।

बलमिति । अधिकत्वे हेतुः–**दर्विषहमिति** केनापि सोढुमशक्यम् । दुर्विषहत्वे हेतुः–**मदंशैरिति** । सर्वस्यापि भगवदंशत्वेऽपि यदूनां संबन्धिभिर्मदंशैरिति भक्तपक्षपातादनिवार्यत्वं निरूपितम् । वायुरत्र बलाधिष्ठाता भगवत्संबन्धिनीमेव स्पर्शबुद्धि जनयति तत्र सुखं पूर्णम्, न तेन परिच्छिन्नेन ग्रहीतुं शक्यत इति परिच्छिन्नतुल्यतया ज्ञानं न भगवदभिप्रेतमिति स्पर्शदेवतानिर्णयः ।।१४।।

व्याख्या—क्षुद्रों (तुच्छों) के निराकरण के लिए उन के गाँव में यदि महाराज आता है तो उसकी सेना से ही गाँव का नाश हो जाता है, वहाँ के रहने वाले क्षुद्र तो बहुत थोड़ा ही नाश करते हैं सैनिक तो सबका ही नाश करते हैं, इस न्यायानुसार कहते हैं कि 'भुवः कियान् वा भारो माया क्षपितः यन्दशैः करणैर्दूरीकृतः' साधन रूप मेरे अंशों द्वारा मैंने पृथ्वी का कितना भार उतारा ? उन अंशों, मुख्यों के नाम कहते हैं कि जिनमें द्रोण, भीष्म, अर्जुन और भीम जिनमें मुख्य हैं । दोनों सेनाओं में दो–दो मुख्य थे, उनके मूलभूत और अपने तेजों से ही कितना भार उतारा ? इस प्रकार चार प्रकार के तेजों से चतुरंग सेनारूप अठारह अक्षौहिणियों से हुए भार को दूर किया, किन्तु अब तक उससे भी अधिक भार भूमि पर विद्यमान है । 'आस्ते वलं' पद से कहा है, वह अधिक है जिसमें करण 'दुर्विषहं' उस भार के बोझ को कोई भी सहन नहीं कर सकता है, उनके असह्यबल का कारण यह है कि वे यादव, मेरे संबंध वाले अंशों से युक्त हैं, अन्य सब मेरे साधारण अंशवाले हैं, वे यादव भगवद्भक्त हैं अतः उनमें ऐसा अंश स्थापित किया है कि जिससे उनके बल का बोझ कोई सहन न कर सके, इससे भक्तों का पक्षपात दिखाया है । यहाँ वायु बल का अधिष्ठाता है । भगवत्संबन्धी ही स्पर्श बुद्धि उत्पन्न करता है, उसमें (भगवान् में) पूर्ण सुख है, इससे परिच्छन्न उसको ग्रहण नहीं कर सकते हैं । परिच्छन्न की समानता वाला ज्ञान, भगवदभिप्रेत नहीं है । यों स्पर्श देवता का निर्णय कहा है ।।१४।।

आभास––तस्याऽपि भारस्य निवृत्त्युपमाह–

आभासार्थ—उस भार के भी उतारने का उपाय 'मिथो यदेषाम्' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक––**मिथो यदेषां भविता विवादो माध्व्या मदाताम्रविलोचनानाम् ।**
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ।।२।।

श्लोकार्थ––इनके वध का उपाय इतना ही है कि ये मदिरा के मद से लाल नेत्र वाले होकर अर्थात् नशे से उन्माद दशा में आकर परस्पर वाद करते हुए लड़े, अन्य कोई उपाय नहीं है । किन्तु दूसरा उपाय यह है कि मैं उद्यत हो जाऊं, जिससे ये स्वतः स्वयं नाश हो जावे ।।१५।।

सुबोधिनी—**मिथो यदेषामिति** । यत् यदा एषां यादवानां मिथो विवादो भविता । सोऽपि विवादो विवेकरहितो मौढ्यान्नाशपर्यवसायी जात इत्यभिप्रायेणाऽऽह–**मध्व्या मदा ताम्रविलोचनानामिति** । माध्वी मदिरा बहुपानसिद्ध्यर्थं मधुररसां तामुक्तवान् । तया यो मदः गर्वो देहविवेकादिविस्मरणात्मकः । तेन आताम्राणि विलोचनानि येषाम् । नन्वन्योन्यघातेन मदिरया निषिद्ध-

मरणेन च भ(ग) वत्सहायार्थमागतानां भ(ग) वदीयानामयुक्ततेत्याशङ्क्य प्रकारान्तराभावादेवं क्रियत इति आह–**नैषां वधोपाय इयानतोऽन्य इति**। एषामियानेव वधोपायो नत्वन्यः। तत्र हेतुमाह–**मय्युद्यत इति** । अन्यस्तूपायः सांशे मय्युद्यते स्वयमेवान्तर्दधते । न हि सूर्याणां निराकरणं तमसा भवति। तुल्यात्वाच्च नैकेन। स्मेति प्रसिद्धे। यदा यदा यादवनाशार्थं मागधादयः प्रवृत्ताः, तदाऽहमुद्यतस्तान् हन्तुम् । तदा मयि ऊद्यते, अन्ये उपाया अन्तर्दधते। ननुकेयं भगवतो लीला यत्स्वकीयान् सेवकान् स्वसङ्गे समागतान् अनन्यशरणान् स्वयमेवमन्यायेन नष्टान् करोतीति। उच्यते, सर्गार्थमेवमिति । स्वात्मना सह च तुल्यता, अतो नात्यन्तभक्ति–विरोधः । स्वतस्तेषामाविर्भावसामर्थ्याभावात् माययैव आविर्भावतिरोभावौ । खेदाभावाय तथावस्था । उत्पत्तिलीलार्थमिति न लीला–विरोधः। यथाऽस्य सर्गहेतुत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यते। न च तेषां दुर्गतिः । मुक्तोवतदर्थमेवोक्तत्वात् सर्गादौ मुक्त्यन्ते चोक्तत्वात्। सर्वत्र तान् विना नाश्रयो निरूपयितुं शक्य इति सूचितम् । तस्मात्स्वाविर्भावे तेषामाविर्भावं कारयन्, स्वतिरोभावे च तांस्तिरो भावयन् स्वसमानान् करोतीति न भक्तेषु कापि तिरस्कारलीला । एवंविसर्गो निरूपितः ॥१५॥

व्याख्या—यदि इन यादवों में परस्पर मूर्खतापूर्ण ऐसा कलह हो जिससे उनके विवेक का नाश हो जावे, यह ही इनके वध का उपाय है। यों कैसे होगा ? जिसका उपाय बताते हैं, मधुर रस वाली (माध्वी) मदिरा बहुत पी जा सकती है, ये भी जब वह विशेष पियेंगे तब उनके नशे से लाल नेत्र वाले दो विवेक को भूल जाएंगे, तो अहंकाराविष्ट दशा में परस्पर विवाद करते हुए आपस में लड़कर एक दूसरे को मारकर नष्ट हो जाएंगे, जो भगवदीय यादव, भगवान् की सहायता करने के लिए आए हैं उनका इस प्रकार मदिरा से मदान्ध बन आपस में लड़कर मरना तो उचित नहीं है, इस शंका के निवारणार्थ ही कहा है कि इसके सिवाय इनके मरने का उपाय अन्य है ही नही। जिसका कारण कहते हैं मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म' दूसरा उपाय तो, मेरे अंशों में उद्यत होने पर स्वयं नष्ट हो जाता है अन्धकार सूर्यों का निराकरण नहीं कर सकता है। यही दोनों समान होते हैं तो कोई किसी को नाश नही कर सकता है 'स्म' पद प्रसिद्धि अर्थ में है, जब जब यादवों के नाशार्थ जरासन्धादि प्रवृत हुए तब मैं भी उनको मारने के लिये उद्यत हो गया। तब मेरे उद्यत होते ही उनके मरने के उपाय तिरोहित हो गए। अतः यह ही इनके नाश का उपाय बचा है।

भगवान् की यह लीला कैसी ? जो अपने सेवक, जो अपने संग में आए हैं, जिनका दूसरा कोई रक्षक नहीं है उनको आप ही अन्याय से नष्ट कराते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् यों सृष्टि[1] के लिए ही करते हैं और उनको अपने समान (अविद्यादि दोषों से मुक्त) कर देते हैं। इसमें भक्ति मार्ग से भी अत्यन्त विरोध नहीं है, कारण कि भगवद्भक्त, अब भी कर्म, उत्पत्ति और नाश से मुक्त हैं। अतः अब भगवान् के तुल्य ही हैं, स्वतः वे अपना आविर्भाव तिरोभाव नहीं कर सकते हैं। अतः माया से ही उनका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। उनको परस्पर लड़ने में

---

[1] यह सृष्टि इस प्रकार की है अर्थात् अन्यधारण किए हुए रूप का त्याग कर अपने स्वरूप को प्राप्त करना। प्रकाश-(इस लीला से यादवों ने अपने असली स्वरूप को पा लिया)।

खेद न होवे । इसलिए उनकी ऐसी स्थिति मदान्ध की है । उत्पत्ति लीला के लिए यों कहते हैं, इस लिए लीला का विरोध नहीं होता है यह जैसे सृष्टि के कारणता को प्राप्त होते हैं । वैसे आगे कहा जायगा उनकी दुर्गति कभी भी नहीं होगी । एकादश स्कन्ध में इसलिए मुक्ति प्रकरण में यह वृत्तान्त कहा है । सृष्टि के आरम्भ (तीसरे स्कन्ध) में और मुक्ति के अन्त में कहा हुआ होने से यो सूचित किया है कि सर्वत्र उनके आश्रय के सिवाय जाना नहीं जाता, अतः जब आप प्रकट होते हैं तब उनको भी प्रकट करते हैं, फिर जब आप तिरोहित होते हैं तो उनको भी तिरोहित करते हैं। इस प्रकार उनको अपने समान करते हैं । इससे भक्तों के प्रति स्वल्प भी तिरस्कार की लीला नहीं है। इस तरह विसर्ग लीला अर्थात् विसर्ग करने वाली इन्द्रिय के संस्कार का निरूपण किया है ॥१५॥

आभास—तत्र देवतां मित्रं निरूपयन् प्रद्युम्नं निरूप्य वासुदेवं निरूपयति षड्भिः । यदापाततो भक्तानामहितप्रतिभानम्, तद्भक्तिमार्गस्य तथात्वख्यापनाय ।

आभासार्थ—प्रद्युम्न का निरूपण[1] कर विसर्ग के देवता मित्र का निरूपण करते हुए निम्न श्लोक 'एव संचित्य' से ६ श्लोकों में वसुदेव का निरूपण करते हैं । बाहरी तौर से जो भक्तों के अहित का आभास होता है वह प्रद्युम्न के मित्रता का द्योतक है भक्तिमार्ग नित्य की स्थिति के विरुद्ध है जिसकी स्पष्टता निम्न कारिकाओं में करते हैं ।

कारिका—**दशलीलापरे व्यापिवैकुण्ठे नित्यवत् स्थितिः ।**
रूपान्तरेण भजनं स्वामिसेवकयोर्हि ते ॥१॥

कारिकार्थ—दश लीला वाले व्यापि वैकुण्ठ में, सदैव नित्य जैसी समान स्थिति होती है अतः वहाँ भजन[2] नहीं हो सकता है, भजन तब होता है जब स्वामी और सेवक के रूप पृथक् हों ॥१॥

कारिका—**स्वामित्वं सेवको हन्ति सेवकत्वं तथापरः ।**
अन्यथा सफलो न स्याद्भक्तिमार्गः ससाधनः ॥२॥

कारिकार्थ—सेवक जब तक स्वामित्व (स्वामीपन) का अपने में से नाश नहीं करता है अर्थात् मैं सेवक हूं ऐसा भाव उत्पन्न नहीं करता है वैसे ही स्वामी अपने में से सेवकत्व (सेवकपन)

---

[1] १—काल लीला से अतिरुद्र का निरूपण किया, क्रोधलीला तथा तिरोभाव के विचार की लीला, मोक्ष रूप सर्ग में उपयोगी होने से प्रद्युम्न की लीला का वर्णन किया है इसी तरह अतिरुद्र तथा प्रद्युम्न का निरूपण कर अब वासुदेव के वर्णन का प्रारम्भ करते हैं ।

[2] २—ज्ञान का आश्रय आत्मा है गीता में भगवान् ने अर्जुन को कहा है कि सकल प्राणियों के हृदय में आत्म रूप से रहता हूं । इस गीता के वचनानुसार उस विभूतिरूप से आप दशमी लीला करते हैं 'दशम से अक्षर पर है' वह अक्षर भगवान् का व्यापि वैकुण्ठधाम है । वहाँ सर्व परब्रह्म रूप ही हैं । अतः सबकी समान स्थिति होने से वहाँ भजन नहीं हो सकता है । भजन तब हो सकता है जब स्वामी और सेवक के रूप पृथक हो अर्थात् एक रूप स्वामी का दूसरा सेवक हो ।

का नाश नहीं करता है अर्थात् में स्वामी हूं ऐसी भावना उत्पन्न नहीं करता है जब तक इस प्रकार के भाव वाले दो स्वरूप पृथक्-पृथक् न हों तब तक साधन सहित भक्ति मार्ग सफल नहीं होता है अर्थात् अर्वाेगति प्राप्त नहीं होती (नि:साधन भक्ति मार्ग का प्रकार दूसरा है) ।।२।।

कारिका—**सेवादशायां चेत्स्वामी विरसः सिद्धयभावता ।**
पश्चाच्चेत्सेवकत्वं स्यात्फलमीशश्च नो भवेत् ।।३।।

कारिकार्थ—सेवा की दशा में (साधनावस्था में) यदि स्वामी रस रहित हो तो फल प्राप्ति नहीं होती है, पश्चात जो सेवकपन, फलरूप में प्राप्त हो तो सेवक, स्वामी नहीं होता है ।।३।।

कारिका – **यावत्साधनमात्मानं सर्वशास्त्रविरोधिनम् ।**
कृत्वाऽन्ते पूर्वधर्मस्य नाशं च कुरुते फले ।।४।।

कारिकार्थ—जब तक सेवक साधन (भजनादि) करता है तब तक अर्थात् उस साधन अवस्था में ही भगवान् भक्त को शास्त्र के बन्धनों से रहित प्रेमावस्थावाला बना के, साधन दशा पूर्ण होते ही पहले (सेवक के) गुणों का नाश कर, फल देते हैं ।।४।।

कारिका—**अतः स्थितिदशायां हि तद्विचिन्त्य हरिः स्वयम् ।**
स्वानभिप्रेतविषयान् भोजयत्येव नान्यथा ।।५।।

कारिकार्थ—अतः स्थिति की दशा में हरि उनको फल देने का विचार कर, स्वयं को इष्ट नहीं, ऐसे पदार्थों का भोजन कराते हैं अन्यथा (दूसरे प्रकार से–फल न देने के विचार से) भोजन नहीं कराते हैं अर्थात् माध्वी का पान फल देने के लिए ही कराया है । अतः प्रद्युम्न मित्र ही हैं ।।५।।

श्लोक—एवं संचिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् ।
नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ।।१६।।

श्लोकार्थ—इसी तरह विचार कर भगवान् ने धर्म के पुत्र को परम्परा से प्राप्त अपने राज्य के सिंहासन पर बिठाया और सत्पुरुषों का मार्ग दिखाते हुए मित्रों को प्रसन्न करने लगे ।।१६।।

सुबोधिनी—एवं प्रकारेण सम्यक् विचारयित्वा तथाकरणसामर्थ्यं तस्यैवेति **भगवानित्याह** स्वराज्ये पितृपैतामहे, स्वस्यैव राज्ये वा, **'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि'** इतिन्यायेन भगवद्राज्ये वा । **धर्मजमिति** तथा स्थाने स्थापनाधिकारो दर्शितः । **नन्दयामासेति** सर्वानेव सुहृदः सर्वप्रकारेणानन्दयुक्तांश्चकार । न केवलं लौकिकविषयैरेव पूर्णान् करोति, किन्तु वैदिकमार्गेणाऽपीत्याह–**साधूनां वर्त्म दर्शयन्निति** । सतां मार्गो वैदिकस्तद्धर्मनिष्ठा । तद्दर्शयन् स्वयं यज्ञादिधर्मान् कुर्वन् वैदिकमार्गेणाऽपि नन्दयामासेत्यर्थः । अनेन प्रवाहं मर्यादां च स्थिरीकृतवानित्युक्तम् ।।१६।।

व्याख्या—इस प्रकार अच्छी तरह विचार कर पिता-पितामहादि से प्राप्त अथवा अपने ही राज्य में 'शास्त्रफलम् प्रयोक्तरि' इस वाक्यानुसार शास्त्रों में कहा फल कार्य कराने को ही मिलता है। अतः भगवान् के ही राज्य में युधिष्ठिर की राज्यसिंहासन पर स्थापना हुई। 'भगवान्' पद देकर यह सूचित किया है कि यों करने की शक्ति इनमें ही है। 'धर्म का पुत्र' पद से यह बताया है कि इस स्थान पर वैठने का अधिकारी यह ही है 'नन्दयामास' पद से यह सूचित किया है कि सकल मित्रों को सर्व प्रकार से प्रसन्न किया, केवल लौकिक विषयों से ही उनको समृद्ध नहीं किया, किन्तु वैदिक मार्ग से भी, इसलिए कहा कि 'साधूनाम् वर्त्य दर्शयन्' सत्पुरुषों का मार्ग वैदिक है उसके धर्म में निष्ठा दिखाते हुए यज्ञादि धर्म करते हुए वैदिक मार्ग से भी प्रसन्न किया। यों अर्थ है, इससे प्रवाह और मर्यादा दोनों को स्थिर किया ॥१६॥

आभास—पुष्टिमार्गमपि तावत् स्थिरीकरोतीत्याह—

आभासार्थ—पुष्टि माग को भी 'उत्तरायाँ' श्लोक में स्थिर करते हैं।

श्लोक—**उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना ।**
स वै द्रौण्यस्त्रसञ्छिन्नः पुनर्भगवता धृतः ॥१७॥

श्लोकार्थ—अभिमन्यु ने पुरु के वंश को उत्तरा में स्थापित किया जिसको अश्वत्थामा के अस्त्र ने काट डाला। भगवान् ने फिर रक्षण किया ॥१७॥

सुबोधिनी—उत्तरायामिति । पूरोर्वंशोऽभिमन्युना उत्तरायां शास्त्रानुसारेण धृतः । स्वभर्यायामर्जुनपुत्रो यथाशास्त्रं गर्भं धृतवान् । इमां मर्यादां प्रवाहो दूरीकृतवानित्याह—**स वै द्रौण्यस्त्रसंछिन्न इति** । निश्चयोऽत्र ब्रह्मास्त्रस्याऽमोघत्वात्, अत एव सभ्यक् छिन्नः । अग्रे सन्तश्छिन्ना । पुनश्छेदनानन्तरं स एव वंशो भगवता धृतः । छिन्नो हि पूर्वभागो नोत्तरं बिभर्ति । वंशः प्रदीपसन्ततिवद्भवति । यथा निरन्तरमुत्पद्यमानास्तेजोवयवा अङ्गुल्यग्रपरिमितां दीपशिखां स्वप्रवेशनिर्गमाभ्यां समां स्थापयन्ति तैलं वर्तिकां च निमित्तमाश्रित्य; तथा पूर्वदेहे अन्नायुषी समासाद्य शरीरोत्पादकावयवाः स्थूलतया परिदृश्यमानं रूपं प्रवेशनिर्गमाभ्यां सममेव स्थापयन्तो वस्त्रवत् सूक्ष्मातानत्वात् तन्मध्य उत्तरोत्तरं शुक्रान्तानि सप्तावरणानि सूक्ष्मसूक्ष्माणि कुर्वन्ति । ततोऽन्तः सूक्ष्ममावरणं प्रशिथिलावयवं सूक्ष्मवस्त्रवत् स्थितं योषाग्निसंबन्धात् सर्वत आकृष्टं पिण्डीभूतमिव योनौ प्रविशति । तत्राप्यन्नायुषी निमित्तमाश्रित्य पूर्ववत्तत्रापि सप्तधातून् सृष्ट्वा अन्तः सूक्ष्मसूक्ष्मान् रूपविशेषान् कुर्वन्तीत्याब्रह्मतृणस्तम्बानां व्यवस्था । तत्र तस्या सन्ततेर्विच्छेदे पूर्वसाधितस्य पिण्डस्य विनाशकेन विघाने उत्तरोत्पादनासामर्थ्ये भगवान् स्वयं प्रविष्टस्तां सन्ततिं तथैव रक्षितवान्, न तु कृष्यादिवद्बीजान्तराधानेन संतत्यन्तरमेव । शास्त्रतोऽभ्यनुज्ञानात् पूर्वसंततिं कृतवानित्यर्थः । अनेन पुष्टिमार्गप्रवृत्तिः प्रवाहेण मर्यादाभङ्ग एवेति सूचितम् ॥१७॥

व्याख्या—अभिमन्यु ने पुरु के वंश उत्तरा में शास्त्रानुसार स्थापित किया, अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने अपनी पत्नी में शास्त्रानुसार गर्भ स्थापित किया, इस शास्त्र की मर्यादा को प्रवाह ने नाश किया। कैसे नाश किया? अश्वत्थामा के अस्त्र से वह सम्पूर्ण कट गया, क्योंकि वह अस्त्र

ब्रह्मास्त्र था। ब्रह्मास्त्र कभी निष्फल नहीं जाता है। इसलिए वह सम्पूर्ण कट गया जिससे आगे की वंश परम्परा ही नष्ट हो गई। कट जाने के बाद वह ही वंश जो उत्तरा के गभ में अभिमन्यु द्वारा स्थापित हुआ था उसका भगवान् ने रक्षण किया। कारण कि, कटा हुआ पूर्वभाग उत्तर भाग को धारण नहीं करता है। वंश, दीपक की परम्परा जैसा है जैसे तेल और बत्ती के आश्रय से निरन्तर उत्पन्न होने वाले तेज के अवयव अँगुली के अग्रभाग जितनी दीप शिखा को अपने प्रवेश से और बाहर जाने से समान स्थिति में रखते हैं। वैसे ही पिता के शरीर में अब और आयु को प्राप्तकर शरीर को उत्पन्न करनेवाले अवयव शरीर के भीतर आकर फिर बाहर जाकर स्थूलरूप से देह को समावस्था में रखते हुए, वस्त्र की तरह सूक्ष्म विस्तारवाला होने से उसके भीतर एक के बाद एक बहुत सूक्ष्मवीर्य तक सात कोशों को उत्पन्न करते हैं अनन्तर सूक्ष्म वस्त्र की तरह देह के भीतर रहा हुआ बहुत ढीले अवयवोंवाला सूक्ष्म कोश (वीर्य) स्त्रीरूप अग्नि के सम्बन्ध से सर्वतः आकृष्ट हो पिण्ड जैसा बनकर स्त्री की योनि में प्रवेश करता है। वहां भी अन्न और आयुष को निमित बनाकर पहले की तरह (पिता के शरीर की तरह) सात धातुओं को बनाकर भीतर सूक्ष्म-सूक्ष्म विशेष रूपों को उत्पन्न करते हैं। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त के देहों की इस प्रकार की व्यवस्था है। पश्चात् उसके सन्तति का विच्छेद हो गया क्योंकि पूर्व तैयार हुए पिण्ड का अस्त्र ने नाश कर दिया। उत्तरा उसका उत्पादन करने में असमर्थ थी, भगवान् ने स्वयं उसमें प्रविष्ट हो के उस सन्तति की ही रक्षा की, न कि जैसे खेत में एक बीज नष्ट होने पर दूसरा बीज बोकर अन्न उत्पन्न किया जाता है। वैसे नहीं, उसी ही सन्तान की रक्षा को, शास्त्र की अनुमति अनुसार फिर पहली ही सन्तति को जीवित किया। प्रवाह से मर्यादा का भंग होने पर पुष्टिमार्गं (अनुग्रह मार्ग) को प्रवृति होती है। यों सूचित किया है ॥१७॥

आभास—स चेत्पुष्टिमार्गो मर्यादां यथास्थानस्थितां न कुर्यात्, प्रवाहवत् तस्यापि बाधकत्वमेव स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह——

आभासार्थ—यदि वह पुष्टिमार्ग मर्यादा की मर्यादापूर्वक रक्षा न करे तो वह भी प्रवाह की तरह मर्यादा का भंग करनेवाला कहा जावे। किन्तु यों नहीं है जिसको समझाने के लिए निम्न श्लोक कहा है—

श्लोक——**अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः ।**
सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ प्रभु ने धर्म के पुत्र युधिष्ठिर से तीन अश्वमेध कराए वह भी छोटे भ्राताओं के साथ पृथ्वी की रक्षा करता हुआ, भगवान् का सेवक बन रमण करने लगा ॥१८॥

सुबोधिनी—अयाजयद्धर्मसुतमिति । अन्तः ब्राह्मणानां स्वतः प्रवृत्त्यभावात् भगवत्प्रेरणयैव याजनं कुर्वन्तीति भगवानयाजयदित्युक्तम् । मन्त्रसहितदेवतासान्निध्यकरणाद्वा । **त्रिभिरिति** कायिकादिसर्वपरिहारार्थम् । **'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्याम्'** इति श्रुतेस्त्रिविफलसिद्धचर्थमाहारपृथक्त्वन्यायेन त्रयोऽश्वमेधाः कृताः याजनादिसामर्थ्यार्थमाह–**विभुरिति** । एवं निर्दुष्टस्याऽग्रिमकार्यमाह–**सोऽपीति** । क्ष्मां पृथ्वीमनुजैर्भ्रातृभिः सह रक्षन् द्विविधधर्मसम्पन्नः कृष्णभक्तो जात इत्यर्थः । सदेवौ पादौ निरूपितौ ।१८।

व्याख्या - ब्राह्मण स्वयं यज्ञ कराने में प्रवृत नहीं होते थे, भगवान् की प्रेरणा से ही यज्ञ कराने में प्रवृत हुए । इससे यों सूचित किया है कि स्वयं भगवान् ने ही यज्ञ कराया, अथवा भगवान् ही यज्ञ में मन्त्र सहित देवताओं को ले आते थे जिससे भगवान् ने ही यज्ञ सिद्ध कराए यों निश्चय होता है । 'तरति मृत्युं, तरति पाप्मानं तरित ब्रह्महत्याम्' मृत्यु से पार जाता है, पापों को तर जाता है, व्रह्म हत्या से तर जाता है । इस श्रुति के अनुसार तीन प्रकार के फल की सिद्धि के लिए पृथक्–पृथक् आहार से पृथक्–पृथक् फल मिलता है । इस नियमानुसार तीन अश्वमेघ किए । 'विभु' नाम देने से बताया कि भगवान् में यज्ञ कराने की सामर्थ्य थी (तीन यज्ञ करने से निर्दोष बने हुए युधिष्ठिर का आगे का कार्य कहते हैं—छोटे भ्राताओं के साथ भूमि की रक्षा करने लगे जिससे बताया कि युधिष्ठिर वैदिक धर्म और भगवद्धर्म से युक्त होकर श्री कृष्ण का भक्त बना यों देवता सहित चरणों[1] का निरूपण है ॥१८॥

आभास—एवं भगवान् भक्तहितं विधाय धर्मस्थापनफलमिव स्वार्थं कृतां सृष्टिं बुभुजे इत्याह त्रिभिः

आभासार्थ—इस तरह भगवान् ने भक्तों का हित पूर्णकर, धर्मस्थापन के फल के समान अपने लिए की हुई सृष्टि का भोग करने लगे । यों निम्न ३ श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः ।
कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यपास्थितः ॥१९॥

श्लोकार्थ—लोक तथा वेद मार्ग का अनुसरण करते दुए विश्वात्मा भगवान् सांख्य में पूर्णतः स्थित होकर, अनासक्ति से द्वारिका में इच्छित पदार्थों का भोग करते थे ॥१९॥

सुबोधिनी भगवानपीति । भगवत्सेवको युधिष्ठिरादिरपि भगवद्दत्तं राज्यं बुभुजे । भगवानपि कामान् सिषेवे । विषयान्नानाविधान् बुभुजे इत्यर्थः । तस्य स्वार्थसृष्टस्य जगतो भोगे

---

[1] १–स्कन्ध विचार से गति के साधन, वैदिक धर्म और भगवद्धर्म दोनों ही दो चरण हैं । उनका पोषण करने वाला भगवान् विष्णु हैं ।

जीवतुल्यता स्यादत आह–**विश्वात्मेति** । न हि भगवान् विश्वं विषयत्वेन भुक्तवान्, किन्त्वात्मत्वेन । सहि विश्वात्मा त्रिविधपरिच्छेदाभावेन, न तु केवलं विश्वरूपेण । ननु तस्य बिषयभोगः सर्वत्र स्वत एव सिद्धः किमिति विशेषाकारेणोच्यत इत्यत आह–लोकवेदपथानुग इति स हि सर्वदा ब्रह्मत्वेन सर्वान् विषयान् भुङ्क्ते । अत्र तु लोकानुसारेण लौकिकसाधनेन लौकिकक्रिया–रूपेण लौकिकान् विषयान् भुङ्क्ते । वेदानुसारेण तु वैदिकक्रियया वैदिकान् पुत्रानुत्पाद्य ताननुभवति । अतोऽत्र प्रकारत्रयेणाप्यनुभवतीत्यर्थः । कामभोगे हि निर्गमनमार्गो नास्तीति तस्य सर्वावरकत्वात् कथं भगवान् जीववत् कामान् सिषेव इत्यत आह–**द्वार्वत्यामिति** । अनेन कर्मविरोधः परिहृतः । यथा निस्तारणोपायं कुर्वाणः कर्मफलमुपभुङ्क्ते तद्वदिति । ज्ञानविरोधाभावाय–**असक्त इति** । असक्त्या भोगो हि ज्ञानविरोधी । स्वार्थं कृतसृष्टिमनुभवतीति ज्ञापयितुमाह-**साङ्ख्यमास्थित इति** । संख्या हि तत्त्वानाम् । यत्र भिन्नतया गणना साक्षित्वे पर्यवस्यतीति सर्गभेदे हेतु निरूपितः । अनेन भक्तिवरोधोऽपि परिहृतः । भगवान् भुङ्क्ते जीवोऽपि भुङ्क्ते । जीवद्वारा भगवान् भुङ्क्त इति पक्षे भक्तिमार्गविरोधो भवति । प्राणं निरूपितम् ॥१६॥

व्याख्या—भगवान् के सेवक युधिष्ठिर आदि भी भगवान् के दिए हुए राज्य का ही उपभोग करते थे, भगवान् भी नाना विधि भोगों को भोगने लगे । अपने लिए बनाए हुए जगत् का भोग करने से भगवान् भी जीव के समान होंगे, इस शंका के निवारण के लिए कहते हैं कि, 'विश्वात्मा' अर्थात् भगवान् ने विश्व का विषयरूप से भोग नहीं किया, किन्तु आत्मरूप से भोग किया, क्योंकि आप तीन प्रकार के जो परिच्छेद (सीमा–भाग) हैं उनसे रहित हैं अर्थात् आप ही विश्व रूप हैं अतः आप में विषय का परिच्छेद नहीं है । २–आप आत्मरूप हैं अतः सर्वत्र व्याप्त होने से देश परिच्छेद रहित हैं । आप आत्मा होने से नित्य हैं अतः काल परिच्छेद रहित हैं । इसलिए केवल विश्वरूप से भोग नहीं करते थे ।

आपका विषयभोगतो सर्वत्र स्वतः ही सिद्ध है फिर यों विशेष कारण से भोग होने के कहने का क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि 'लोक वेदपथानुगः' हालां कि आप सदैव ब्रह्ममत से सर्व विषयों का भोग करते हैं किन्तु अब लोकवत् लौकिक साधन से और लौकिक क्रियारूप से लौकिक बिषयों को भोगते हैं और वेदानुसार वैदिक क्रिया से वैदिक पुत्रों को उत्पन्न कर उनका अनुभव करते हैं अतः यहां द्वारका में तीन प्रकार से (अलौकिक, लौकिक और वेद प्रकार से) भोग का अनुभव करते हैं यों तात्पर्य है ।

इच्छित विषयों का भोग किए जाने से परिणाम यह होता है कि उससे निकल नहीं सकते क्योंकि वह सबको ढक देता है ऐसी अवस्था में भगवान् ने जीव की तरह विषयों का सेवन कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'द्वार्वत्यां' द्वारिका में किया । इससे भोग का कर्म से विरोध है जिसका परिहार किया अर्थात् कर्म का फल भी भोगा जाय किन्तु कर्म बन्धन भी न हों इस प्रकार भोग किया । ज्ञान का विरोध भी नहीं है क्योंकि आसक्ति से जो भोग किया जाता है वह ज्ञान विरोधी है । यहां तो अनासक्ति से भोग किया है, अपने लिए बनाई हुई सृष्टि का अनुभव

करते थे। यों जताने के लिए कहते हैं कि 'साङ्ख्यमास्थितः' साङ्ख्यमार्ग में स्थित होकर अनुभव करते हैं। क्योंकि संख्या तत्वों की होती है, जहां तत्वों की पृथकता से गणना होती है वहां साक्षीपन में परिणाम पाता है। तात्पर्य यह है कि तत्वों से जीव की देह बनती है। इसलिए वह दूसरों के लिए है, न कि भगवान् के लिए भगवान् तो तत्वों की इस सृष्टि में केवल साक्षी हैं। अतः भगवान् के भोग के लिए जो सृष्टि है वह पृथक् प्रकार की है। इस तरह सर्गभेद में हेतु का निरूपण किया, इससे भक्ति के विरोध का भी परिहार किया अर्थात् भक्ति का विरोध भी मिटा दिया। भगवान् भोग करते हैं और जीव भी भोग करता है, भगवान् जीव द्वारा भोग करते हैं, इस पक्ष में भक्तिमार्ग का विरोध होता है। यों 'घ्राण' इन्द्रिय कही ।।१६।।

आभास—रमणं पुरुषोत्तमरूपेण चेति, द्वितीये भोगं वदन् रमयामासेत्येतद्विस्तारयति

आभासार्थ—भगवान् पुरुषोत्तमरूप से और पुरुषरूप से रमण करते हैं। दूसरे (पुरुषरूप) में रमण कहते हुए रमण कराते हैं। यों इसका विस्तार निम्न २ श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया ।**
चरित्रेणाऽनवद्येन श्रीनिकेतेन चाऽऽत्मना ।।२०।।

इमं लोकममुं चैव रमयन् सुतरां यदून् ।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणः स्त्रीक्षणसौहृदः ।।२१।।

श्लोकार्थ—स्नेह और हास्यवाले अवलोकन से, अमृतसम वाणी से, निर्दोष चरित्र से, लक्ष्मी के धामरूप अपने स्वरूप से ।।२०।।

इस लोक और परलोक को आनन्द कराते हुए विशेष आनन्द यादवों को देते हुए स्त्रियों के सुख में प्रेम वाले, ऐसे प्रभू स्त्रियों को रमणार्थ रात्रि के समय अवसर देते हुए रमण करते थे ।।२१।।

सुबोधिनी—स्निग्धस्मितावलोकेनेति। चतुर्भिश्चतुर्विधानां भूतानां भोगो निरूप्यते। चतुर्विधान्यत्र भूतानि। त्रिविधा जीवा मार्गत्रयवर्तिनो व्यापिवैकुण्ठवासिनश्च। तत्र भगवानिमं लोकं स्निग्धस्मितावलोकेन रमयामास। अत्र हि द्विविधा जीवाः '**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्**' इति। तत्र दैवाः स्निग्धावलोकेन प्रेमदृष्ट्या रतियुक्ताः कृताः, आसुरास्तु स्मितेन मन्दहासेनार्द्धमायामोहेन। सर्वथा मुग्धाः शुद्धदैत्या भवन्ति, ते दोषमलात्मकाः। अर्द्धमुग्धास्तु लौकिका भगवत्प्रसादेन सर्वानेव विषयान् प्राप्नुवन्तीति तत्र स्मितावलोकस्य हेतुत्वम्। आमुष्मिकान् वाचा पीयूषकल्पया रमयामास। ते हि मर्यादावन्तो वैदिकफलभोक्तारः। तद्धि स्वर्गापवर्गाख्यम्। तद्भगवद्वाचा वेदेन स्वर्गाख्यं भवति। अमृतकल्पेन च उपनिषद्भागवतादिना आमुष्मिकं फलं प्राप्नुवन्ति। **अनवद्येन चरित्रेण** सर्वानेव पुष्टिमार्गस्थितान् भक्तान् यदूंश्च सुतरां रमयामास। चरित्रेणैव हि भक्ता रज्यन्ते। लोकनिन्दारहितेन तु कुलीना यादवाः सुतरां रज्यन्ते। वैकुण्ठस्थिताः

श्रीनिकेतेनाऽऽनन्दयुक्तेन आत्मना सच्चिदानन्दरूपेण । चकारात् श्र्यादिविभूत्या । क्षणदया दत्तक्षणो रात्र्या दत्तावसरः । स्वप्नसुषुप्तिसुखं निद्रया भवतीति रात्रेः क्षणदात्वं लौकिकम् । ततोऽत्र विशेषं वक्तुं स्त्रीणां सम्बन्धिनि क्षणे सुखे सौहृदं यस्येत्युक्तम् । वैकुण्ठसुखं हि निष्प्रपञ्चे स्वरूपे स्थितो रमते । रात्र्यामवतीर्णोऽपि तथा स्त्रीसुखे । एवं चतुर्भिः सर्वेषां रमणमुक्तम् । **स्निग्धेति** घ्राणदेवता । **इम**मिति वाक् । अत एव **तस्यैव**मित्यग्निः ॥२०-२१॥

व्याख्या—चार साधनों से, चार प्रकार के भूतों का भोग वर्णन करते हैं। यहाँ तीन मार्ग में रहने वाले तीन प्रकार के भूत हैं और एक प्रकार के व्यापिवैकुण्ठ में रहनेवाले, इसी तरह ४ प्रकार के भूत हैं। इसमें भगवान् इसलोक को स्नेह और हास्यवाली दृष्टि से आनन्द देते थे। भूलोकमें, 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्' इस गीता के वाक्यानुसार दो प्रकार के जीव हैं, इनमें से जो दैवी जीव हैं उनको स्नेहयुक्त अवलोकन से रतियुक्त किया अर्थात् रतिदान दे रमण कराया। आसुरी सृष्टिवालों को तो मन्द-मन्द मुस्कराहट से (मोह में डालने वाली आधी माया के मोह से) आनन्द दिया। जो शुद्ध दैत्य हैं वे सर्वथा मुग्ध (मोहित) होते हैं। वे दोषरूप और मलरूप होते हैं, अर्द्धमुग्ध तो लौकिक होते हैं और भगवत्कृपा से सर्व विषयों को प्राप्त करते हैं क्योंकि उन पर भगवान् की हास्यावली दृष्टि पड़ती हैं।

२-परलोक के जीवों को अमृतमयी वाणी से आनन्द दान दिया क्योंकि वे मर्यादा वाले हैं और वैदिक फल के भोक्ता हैं, वह वैदिकफल दो प्रकार का है १-स्वर्ग २-मोक्ष, उनमें से भगवान् की वेदरूप वाणी से स्वर्ग फल मिलता है। अमृतमय उपनिषद् और भगवतादि रूप वाणी से मोक्षफल प्राप्त होता है, अपनी निर्दोष लीलाओं से पुष्टिमार्ग में स्थित सर्वभक्तों को और यादवों को बहुत ही आनन्द दिया। भक्त लोग चरित्र से ही प्रसन्न होते हैं। लोक में निन्दा न होवे, ऐसे चरित्रों से कुलीन यादव बहुत प्रसन्न होते हैं और बैकुण्ठ में स्थित, लक्ष्मी के धाम सच्चिदान्दरूप भगवत्स्वरूप से ही आनन्द प्राप्त करते हैं। 'च' पद से यह सूचिव किया है कि 'श्री' आदि विभूति से भी आनन्द प्राप्त करते हैं। 'क्षणदवा दत्तक्षणः' रात्रि को समय देकर आनन्ददान किया, 'स्वप्नसुषुप्तिसुखं निद्रया भवति इति रात्रेः क्षणदात्वं लौकिकं' स्वप्न तथा सुषुप्ति में निन्द्रा से ही सुख प्राप्ति होती है। यों रात्रि सुखदायिनी होती है, किन्तु भगवान् ने जो रात्रि में अवसर प्राप्त कराके आनन्द दान दिया वह लौकिक प्रकार था। इससे यहाँ विशेष कहने के लिए कहते हैं कि, स्त्री सम्बन्धी सुख में प्रेमवाले प्रभू हैं। प्रभू निष्प्रपञ्च स्वरूप में स्थित होकर, वैकुण्ठ में रहनेवाले के सुख में रमण करते हैं रात्रि में अवतीर्ण भगवान् रात्रि को ही स्त्रियों के सुख में रमण करते हैं, इस तरह चार साधनों से सबका रमण कहा।

२० वें श्लोक में घ्राण देवता का वर्णन किया २१ वें श्लोक में वाक् इन्द्रिय वाणी (वेद) कही है। इससे २२ वें श्लोक में वाणी के देवता अग्नि कहेंगे ॥२०-२१॥

आभास-सङ्कर्षणचरित्रमाह—

आभासार्थ—सङ्कर्षण चरित्र का 'तस्यैव' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक——तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ।।२२।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार बहुत वर्षों तक रमण करते हुए उस (संकर्षण) को गृह में बुद्धि की आसक्ति करने वाले उपायों से वैराग्य हो गया ।।२२।।

सुबोधिनी तस्यैवमिति । एवं प्रकारद्वयेन रममाणस्य विरागो भोगप्रतिबन्धात्मा षष्ठो भगवदीयो गुणः प्रादुर्भूतो जात इत्याह । द्विविधा हि विरक्तिः, भोग्यपरित्यागेन दोषदर्शनसहितेन शास्त्रदृष्ट्या साधारणी, लौकिकानामतिभोगेन च । भगवतो विशिष्टा सा जातेति वक्तुं तद्धेतुमाह–**संवत्सरगणान्बहूनिति** । संवत्सराणां गणाः प्रभवादिसमूहाः । तेऽपि बहवो बहुरूपेण रमणात् । वैराग्यस्य विषयमाह–**गृहमेधेषु योगेष्विति** । उपायेषु वैराग्यम्; न तु स्वरूपभोगे । उपायो द्विविधः पूर्वमुक्तो लौकिको वैदिकश्च । तत्र सुतरां लौकिकेष्विति: गृह एव मेधा बुद्धिर्यैरिति । विरागो रागाभावरूपो रागनिवर्त्तको वा ।।२२।।

व्याख्या—इसी तरह लौकिक और वैदिक प्रकार से रमण करते हुए भोग का विरोधी, भगवान् का छठा गुण (वैराग्य) प्रकट हुआ । जिस को कहते हैं वैराग्य दो प्रकार का है । एक वैराग्य जो शास्त्र दृष्टि से भोग्य विषयों में दोष दर्शन होने से उत्पन्न होता है । जिससे विषयों का त्याग किया जाता है वह साधारण वैराग्य है और दूसरा वैराग्य, लौकिक पुरुषों को अतिभोग करने से होता है वह भी साधारण वैराग्य है । सङ्कर्षण को यह वैराग्य बहुत भोग करने से हुआ है । बहुत भोग करने का हेतु कहते है कि 'संवत्सरगणान् बहून्' प्रभावादि बहुत संवत्सरों में भी बहुत प्रकार के स्वरूपों से रमण करने से वैराग्य (उदासीनता) हुआ । वैराग्य का विषय कहते हैं जिसमें से रुचि निकल गई । 'ग्रहणेधेषु योगेषु' घर में बृद्धि (आसक्ति) करानेवाले उपायों में से आसक्ति निकल गई । जिससे वैराग्य उत्पन्न हुआ, किन्तु अपने रूप से भोग करने में वैराग्य नहीं हुआ ।

उपाय दो प्रकार के पहले कहे हैं एक लौकिक दूसरा वैदिक, बहुतकर लौकिक, जिन में ही बुद्धि लगी रहती है । वैराग्य का अर्थ है, गृहस्थ के विषयादि में प्रेम न होना अथवा जो प्रेमभाव लौकिक पदार्थो में है उसको हटाता है वह वैराग्य है ।।२२।।

आभास——रागस्य हि उभयं निवर्तकम्, असाध्यताज्ञानमनिष्टज्ञानं च । तत्राऽनिष्टज्ञानं लौकिकेषु विहितेषु शास्त्रतः परमार्थश्चेति तुल्यबलत्वाभावादकार्यताज्ञानं लोके निवर्तकं मन्यमानो भगवति वैराग्यमुक्त्वा पुरुषेऽपि कैमुतिकन्यायेन वैराग्यमाह–

आभासार्थ—विषयों की असाध्यता का ज्ञान और अनिष्ट का ज्ञान दोनों राग (प्रेम) को निवृत करनेवाले हैं । इनमें से अनिष्ट का ज्ञान, लौकिकों में शास्त्र से और वैदिकों में परमार्थ से

होने के कारण तुल्य बलवाले न होने से अकार्यता का ज्ञान अर्थात् लोक में हो सके वैसे ज्ञान का न होना, यह भी प्रेम का निवर्तक है। यों मानते हुए, भगवान् में जो छठा गुण वैराग्य है उसको कहकर अब कहते हैं कि वे वैराग्य भगवान् के पुरुषरूप में भी कैमुतिक न्याय से 'वैराग्य' इस 'दैवाधीनेषु' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक——दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् ।
को विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ।।२३।।

श्लोकार्थ——जब इच्छित पदार्थ की प्राप्ति दैवाधीन है और स्वयं पुरूष भी दैव के अधीन हैं तो कौनसा ऐसा पुरुष है, जो योग से योगेश्वर का अनुसरणकर उसमें (भोग प्राप्ति में) विश्वास करे ।।२३।।

सुबोधिनी—दैवाधीनेष्विति । यत्र स्वप्रयत्नसाध्यता नास्ति तेनाऽप्यंशेन तत्र रागो न जायते । दृष्ट एव प्रयत्नसाध्यता, नाऽदृष्टे । सर्वमेव चाऽत्राऽदृष्टरूपकर्मसाध्यम् । तत्र देहो भोगाधिष्ठानम्, विषयास्तदाधारा भोग्याः, भोक्ता च तदभिमानो–त्रयमपि दैवाधीनम् । स्वयं पुमान्; अनेनाऽऽक्षिप्तो देहो वा । स्रगादयश्च विषयाः । ततः किमत आह–**को विस्रम्भेतेति** । को वा विश्वासं कुर्याद्भोगो भविष्यतीति । घुणाक्षरन्यायेन कदाचिद्भवति । न ह्य तावता घुणकीटोऽक्षराणि लिखितुं जानातीति घुणभक्षितकाष्ठेऽक्षराणि वाचयितुं कश्चिद्विचारयति । तथा दैवगत्या स्वप्नवत् कदाचिद्भोगे जाते सर्वदा भविष्यतीति को वा विश्वासं कुर्यादित्यर्थः । ननु जगदेव विश्वासं करोति, कुतो निषिध्यत इत्याशङ्क्याऽऽह–**योगेन योगेश्वरमनुव्रत इति** । शास्त्रोक्तप्रकारेण शास्त्रं बुद्ध्वा विहितभक्तिमार्गेण उपायेन योगेश्वरं सर्वोपायप्रवर्त्तक यः, सेवते सर्वभावेन, स विश्वासं न करोतीत्यर्थः ।।२३।।

व्याख्या—जिस विषय को प्रयत्न से प्राप्त नहीं कर सकते हैं, इस अंश से (कारण से) भी विषय में राग उत्पन्न नहीं होता है। जो पदार्थ दृष्ट हैं अर्थात् देखा जाता है, वह प्रयत्न से साध्य भी हो सकता है किन्तु जो अदृष्ट है उसमें प्रयत्न नहीं चलता है, यहां सब ही अदृष्टरूप कर्म से ही साध्य है अर्थात् शुभदैव हो तो साध्य हो सकता है अन्यथा नहीं। उसमें देहभोग का अधिष्ठान् है। विषय भोगने के पदार्थ उसके आधार पर हैं और भोक्ता उसका (देह का) अभिमानी (जीव) है। ये तीनों दैवाधीन हैं। १–जीव (पुरुष) २–इसने (पुरुषने) अपना रूप बताई हुई देह ३–पुष्पादि विषय ये सब दैवाधीन हैं।

यदि दैवाधीन हैं तो इससे क्या? इस पर कहते हैं कि 'को विस्रम्भेता' कौन विश्वास करे कि भोग प्राप्त होगा? यदि घुणाक्षर (घुन, छोटे कीड़ों के काष्ठ पर कोरे हुए खाए हुए अक्षर न्याय से भोग प्राप्त हुआ दीखने में आवे, तो भी जैसे घुन के अक्षरों को कोई पड़ना नहीं चाहता है, कारण कि वह लिखना नहीं जानता है अचानक लिखे गए हैं क्योंकि यों सदैव घुन के अक्षरों की

स्थिति नहीं रहती है। वैसे ही यदि गति से स्वप्नवत् कदाचित् भोग प्राप्त हो भी जावे तो भी इस प्रकार कौन विश्वास करेगा कि यह सदा ही मिलेगा? सारा जगत् विश्वास कर रहा है आप क्यों निषेध करते हो? जिसका उत्तर देते हैं कि 'योगेनयोगेश्वरमनुव्रतः' शास्त्र में कहे हुए प्रकार से शास्त्रों को जानकर, शास्त्रोक्त भक्तिमार्ग के उपायों से, सर्व उपायों में प्रवृत्त करानेवाले योगेश्वर को जो सर्वभाव से भजता है, वह तो विश्वास नहीं करेगा, शेष प्रवाही करें तो आश्चर्य नहीं है।२३।

आभास—एवं वैराग्यमुक्त्वा सत्यसङ्कल्पत्वाय तदनुगुणं वहिर्वैराग्यजनकं शापं निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार वैराग्य का होना कहकर, भगवान् की सत्य संकल्पता के लिए उसके अनुसार वैराग्य उत्पन्न करनेवाला बाहर का कारण शाप दिलाया है जिसका वर्णन् 'पुर्या कदाचित्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**पुर्यां कदाचित् क्रीडद्भिर्दुभोजकुमारकैः।**
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥२४॥

श्लोकार्थ—किसी दिन नगर में खेलते हुए यदु और भोज के कुमारों ने मुनियों को क्रोधित किया, जिससे भगवान् के आशय को जाननेवाले उन मुनियों ने शाप दिया ॥२४॥

सुबोधिनी—पुर्यामिति। पुर्यां द्वारकायाम्। सामीप्ये सप्तमी। **कदाचिदिति** भगवद्विचारितकाले **क्रीडद्भिरिति** न तेषां स्वभावतो दुष्टत्वम्। **यदुभोजकुमारकैरिति** उपजीव्याः सर्व एव भगवदीया बालकाः, तत्रापि कुमाराः, **'न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम्'** इति दोषाभावः सूचितः। तैः कोपिता **मुनयो** मननशीला ब्रह्मर्षयः **शेषुः** शापं दत्तवन्तः। तत्र हेतुः—**भगवन्मतकोविदा इति**। भगवदभिप्रायं जानन्तीति सर्वदोषाभावः ॥२४॥

व्याख्या—'पुर्या'' सप्तमी विभक्ति सामीप्य अर्थ में है। अतः द्वारका के पास किसी दिन[1] यदु और भोज के कुमारों ने खेलते हुए मुनियों को क्रोधित किया, 'खेलते हुए' कहने का भाव यह है कि ये कुमार स्वभाव से दुष्ट नहीं थे अर्थात् दुष्ट स्वभाव के कारण मुनियों को कोपित नहीं किया किन्तु खेलते-खेलते यों हो गया तथा ये सब कुमार भगवान् से ही उपजीव्य (पालित) थे सब भगवान् के ही थे। कुमार अवस्था में बालकों के गुण-दोष गिने नहीं जाते हैं। यों कहकर उनकी निर्दोषता बताई है उनसे क्रोधित ब्रह्मऋषियों ने शाप दिया जब वे शिशु होने से निर्दोष थे और स्वभाव से भी दुष्ट नहीं थे, खेलते-खेलते यों हो गया तो फिर ब्रह्मर्षियों ने शाप क्यों दिया?

---

[1] भगवान् ने जिस दिन इनको शाप दिलाना चाहा था।

जिसके उत्तर में कहते है कि 'भगवान् के आशय को जानते थे कि इनका विनाश इस तरह करना है। अत: किसी प्रकार का दोष नहीं है ॥२४॥

आभास—ततः परित्यागत्रयमाह—ततः कतिपयैरिति त्रिभिः-

आभासार्थ—पश्चात् यादवों ने तीन त्याग किए वे 'ततः कतिपयैः' श्लोक में से तीन श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः ।**
ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥२५॥

श्लोकार्थ—कितने मासों के अनन्तर, देव से विमोहित, वृष्णि, भोज और अन्धक आदि प्रसन्नता से रथों द्वारा प्रभास गए ॥२५॥

सुबोधिनी—गृहपरित्यागः, प्रवाहपरित्यागः, सर्वस्वपरित्यागश्चेति; रागाभावद्वयस्य तद्धेतुभूतशापस्य च त्रिषु पर्यवसानात्। तत्राऽऽद्यमाह—**कतिपयैरेव मासैः** त्रिभिर्मासैः सर्वेऽपि यादवा निर्गता इति। वृष्णिभोजान्धकाः सात्त्विकराजसतामसा निर्दिष्टाः। तदादयः सर्वेऽपि त्रिष्वेवाऽन्तर्भवन्तीति। अत एव **संहृष्टा ययुः**। न हि भगवदभिप्रायं सगुणा जानन्ति। प्रकर्षेण भानस्थानं संहर्तुः सङ्कर्षणस्य स्थानं प्रयासः। **रथैरिति** युद्धसाधननयनं सूचितम्। एवं गमने हेतुर्देवरूपेण भगवता मोहिता इति। **मनुष्यभावं** परित्यज्य देवभावः प्राप्तव्य इति। अनेन शापोऽत्र विपरीतो निरूपितः ॥२५॥

व्याख्या—वैराग्य के दो कारणों का हेतु शाप है। इन तीनों का तीन परित्यागों में अवसान हुआ १–गृह परित्याग २–प्रवाह का परित्याग और ३–अपनी सब सम्पत्ति का परित्याग।

उनमें से प्रथम त्याग कहते हैं कि सब यादव तीन मासों में द्वारिका से बाहर निकल गए, वृष्णि, भोज और अन्धक कहने से यह सूचित किया है कि सात्त्विक, राजस और तामस गुण वाले ये सब थे वे निकल गए और आदि शब्द से बताया है कि ये और अन्य यादव इन तीन सात्त्विक, राजस और तामस की गणना में आ गए है। इस कारण से ही प्रसन्न हो रवाना हुए। भगवान् की क्या इच्छा है? जिसको सगुण जीव नहीं जान सकते हैं। प्रभास शब्द का भावार्थ है कि सम्पूर्ण रीति से जो भान का स्थान है वह संहार कर्त्ता सङ्कर्षण का स्थान 'प्रभास' है। 'रथै' बहुवचन से यह सूचित किया है। युद्ध के लिए सामान भी ले जाने का हेतु यह है कि देवरूप भगवान् ने उनको मोहित कर दिया था, मनुष्यभाव को छोड़ अपने देवभाव को प्राप्त करना है, इससे यहां शाप विपरीत, निरूपण किया है, अर्थात् यादव शाप से अधमता (मानव देह) त्याग उत्तम देव देह पाएंगे। अत: शाप आशीर्वाद रूप हुआ ॥२५॥

आभास—शापो हि यीनभावं नयति, न तूत्कृष्ठभावम्। एते तु शापाद्देवभावं प्राप्स्यन्तीति लौकिकक्रियापरित्यागार्थमाह--

आभासार्थ—पाप से हीनता होती है न कि उत्कृष्टता होती है। ये तो शाप से देवभाव को प्राप्त होंगे। इसलिए लौकिक क्रिया के परित्यागार्थ यह श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**तत्र स्नात्वा पितृन् देवानृषींश्चैव तदम्भसा ।**
तर्पयित्वाऽथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥२६॥

श्लोकार्थ—वहाँ स्नान कर, उसके जल से पितर, देव तथा ऋषियों का तर्पण कर, पश्चात् बहुत गुणवाली गौएँ ब्राह्मणों को दी ॥२६॥

सुबोधिनी—तत्र स्नात्वेति । अयमेव वा विशेषमोहः । ते हि भगवद्भक्ता भगवद्भक्तश्चैव सर्वसमाधानं कर्तुमुचितास्तथापि स्नानादिकमेव कृतवन्तः । तत्र सरस्वत्यामग्निकुण्डे वा स्नात्वा देवर्षिपितृतर्पणं विधाय विप्रेभ्यो **बहुगुणा गावः** । बहुदोहसारदुग्धसाधुत्वादयो बहवो गुणाः । अनेनाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतोषः सम्पादित इत्युक्तम् ॥२६॥

व्याख्या—अथवा इनमें यह ही विशेष मोह था क्योंकि वे भगवदभक्त थे अतः इन्हें भगवद्भक्ति से ही सब समाधान करना चाहिए था तो भी इन्होंने स्नानादिक ही किए, वहाँ सरस्वती में वा अग्निकुण्ड में स्नान कर, देवऋषि और पितरों का तर्पण कर, ब्राह्मणों को बहुत गुणवाली गौएँ दी। बहुत और उत्तम दूध तथा साधुपन आदि गुण जिन गौओं में थे वे गौ ब्राह्मणों को दी इससे यों कहा कि इन्होंने आध्यात्मिक आदि दैविक और आदि भौतिक सन्तोष संपादन (प्राप्त) किया ॥२६॥

आभास—धनत्यागमाह—

आभासार्थ—इस निम्न 'हिरण्य रजतं' श्लोक में धन के त्याग का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् ।**
हयान् रथानिभान् कन्यां धरां वृत्तिकरीमपि ॥२७॥

श्लोकार्थ—भगवत्प्रीत्यर्थ ब्राह्मणों को सुवर्ण, रौप्य, शय्या, वस्त्र, मृगका चर्म, कम्बल (ऊनके बने हुए) घोड़े, रथ, हाथी, कन्या, आजीविका देने वाली भूमि (खेत सहित गाँव आदि) दान किए ॥२७॥

सुबोधिनी—**हिरण्यमिति** । **हिरण्यं** सुवर्णम् । **हिरण्यं रजत**मिति देवपितृप्रीत्यर्थं दक्षिणाविषयः । **शय्यां वासांसि** इति रात्रिदिनसुखकराणि । **अजिनकम्बलानिति** आस्तरणपरिधेयानि । त्रिविधान्येतानि सत्त्वरजस्तमोभेदेन साधारणानां देयानि । **हयान् रथान्**, केवलाः सहिताश्चाश्वाः ।

इभा हस्तिनः स्वतन्त्राः । **कन्यां धरामिति** राजसं दानम् । हयाः सात्त्विकाः । **वृत्तिकरीमपीति** भूमिमात्रम् । पूर्वं धरा ग्रामादिरूपा । किं वहुना, येषां यदस्ति, यत्किञ्चिन्नीतम्, तत् सर्वं ब्राह्मणद्वारा परित्यक्तमित्यर्थः ॥२७॥

व्याख्या—'हिरण्य' (सुवर्ण) और रजत (चाँदी) देव और पितरों की प्रीति के लिए दक्षिणा रूप से दी । शय्या, और वस्त्र, रात्रि और दिन में सुख देने वाली वस्तु है 'अजिन कम्बलान्' मृगचर्म बैठने के लिए और कम्बल ओढ़ने के लिए हैं । वे तीन प्रकार की वस्तुएं सत्त्व, रज और तमो भेद से साधारण यादवों द्वारा देने के योग्य थी । केवल घोड़े और रथ सहित घोड़े, स्वतन्त्रता हस्ती, कन्या एवं पृथ्वी यह राजस दान है, घोडों का दान सात्त्विक है आजीविका देने वाली केवल भूमि (खेत) 'धरा' पद से ग्राम आदि जिसमें हैं ऐसी भूमि कहाँ । बहुत क्या कहें, जिनके पास जो कुछ ले गए थे उन सब पदार्थों का ब्राह्मण द्वारा त्याग किया, यों अर्थ है ॥२७॥

आभास—एवं परित्यज्य शुद्धा भूत्वा भगवत्प्रीतिकरं कर्म कृतवन्त इत्याह—

आभासार्थ—इसी तरह परित्याग कर, शुद्ध होके भगवत्प्रीति कराने वाले कर्म करने लगे, जिसका वर्णन 'अन्नं चोरु रसं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् ।**
गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥२८॥

श्लोकार्थ—भगवदर्पण किया हुआ (प्रसादी) विशेष रसवाला अन्त ब्राह्मणों को देकर, गौ और ब्राह्मणों के लिए अपने प्राण भी देने वाले ऐसे शूर यादव पृथ्वी पर सिर धर कर नमस्कार करने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी – अन्नं चोरुसमिति । अनेकव्यञ्जनयुक्तमन्नं पूर्वोक्तेभ्यः एव ब्राह्मणेभ्यः कृष्णप्रीत्यर्थं दत्त्वा निवृत्तपापा भक्त्यावेशेन सात्त्विकभावं प्राप्ताः स्वधर्मोद्बोधेन राजमिश्राः सात्त्विका जाता इत्याह–**गोविप्रार्थासवः शूरा इति** । गवां विप्राणामेवार्थे **असवः** प्राणा येषामिति सात्त्विकत्वम् । शूरा इति राजसाः । ताद्दशानां सर्वप्रायश्चित्तमाह–**प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिरिति** । य एव शापं दत्तवन्तस्तेभ्यस्तदोयेभ्यो वा भूमौ साष्टाङ्गप्रणामं कृतवन्तः । शिष्टेषु शिष्टानि । एवं मर्यादया चतुर्विधं भगवच्चरित्रमत्र निरूपितम्, इन्द्रियाणां ज्ञानकर्मभेदो विहिताविहितभेदश्च ॥२८॥

व्याख्या—अनेक तरह पकाया हुआ और मसालों से युक्त अन्न पहले कहे हुए ही ब्राह्मणों को कृष्ण प्रीत्यर्थं देकर, यादव पापों से छूट निष्पाप बन गए जिससे भक्ति का आवेश होने से सात्त्विक

भाव को प्राप्त हुए अपने धर्म के जाग्रत होने से राजस मिश्र सात्त्विक कैसे हुए वह समझाते हैं कि गौ और ब्राह्मणों के लिए प्राणधारण करनेवाले, इससे उनका सात्त्विकपन बताया है और 'शूरा' शूरवीर पद से राजसत्व कहा है। ऐसे सब यादवों ने जो प्रायश्चित किया वह कहते हैं 'प्रणेभू भूवि भूर्धमिः इति' मस्तकों को पृथ्वी पर गिराकर नमस्कार करने लगे, जिन्होंने ही शाप दिया उनको अथवा उनके अनुयायियों (शिष्यादि) को साष्टांग प्रणाम करने लगे। शेष[1] श्लोक में शेष इन्द्रियाँ कहीं हैं। इसी तरह मर्यादा[2] से चार प्रकार के भगवान् के चरित्रों का यहां निरूपण किया, जैसे कि इन्द्रियों के दो भेद एक ज्ञानेन्द्रिय, दूसरी कर्मेन्द्रिय तथा कर्म के दो भेद एक शास्त्र से कहे हुए और दूसरे लौकिक ॥२८॥

कारिका—**अष्टभिः सप्तभिश्चैव षड्भिः सप्तभिरेव च ।**
चतुर्मूर्तेर्भगवतश्चरित्रं खमिहोच्यते ।१।

कारिकार्थ—आठ और सात से तथा छः और सात से चतुर्मूर्ति भगवान् का इन्द्रियरूप चरित्र इस अध्याय में कहा है ॥१॥

कारिका—**एतद्रूपाणीन्द्रियाणि नान्यं गृह्णन्ति च क्वचित् ।**
सर्गार्थ हेतवश्चोक्ता जन्महेतुस्वभावतः ।२।

कारिकार्थ—इसी प्रकार की ये इन्द्रियाँ कभी भी किसी प्रसंग में भी भगवान् के सिवाय दूसरे का ग्रहण नहीं करती है। जन्म हेतु और स्वभाव से जो योग्य जीव है उनके जन्म का कारण सृष्टि है ॥२॥

---

[1] १–स्कन्धार्थ के विचार से ६ श्लोकों का तात्पर्य कहते हैं, दैवाधीन' श्लोक २३ में भोगों में विश्वास करने का कार्य 'नेत्र' का कहा है 'पुर्या' २४ श्लोक में भगवान् का मत जान कर शाप देने की प्रेरणा करना, नेत्रेन्द्रिय के देवता सूर्य का कार्य है। 'तत्रः' २५ श्लोक में शाप भगवदाज्ञा है उसके श्रवण से यादव प्रभास गए। यह 'श्रोत्र' इन्द्रिय का कार्य है। 'तत्र' २६ श्लोक में स्नान तर्पणादि कार्य विशेष दिशा में करने का है अतः यह कर्ण के देवता दिशा का कार्य है। 'हिरण्यं' २७ श्लोक में आजीविका देने वाली भूमिकादान करने की प्रेरणा करनी, जिह्वेन्द्रिय का कार्य है। 'अन्नं' २८ श्लोक में रस युक्त अन्न दिया यह जिह्वा इन्द्रिय का स्पष्ट कार्य है।

[2] २–यहाँ 'मर्यादा' पद विभाग पर है। इससे सर्व लीला से अपने में सबका निरोध करने में कोई विरोध नहीं है।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध तृतीय अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

अधिकार प्रकरण

'अध्याय"—४

उद्धवजी से विदा होकर विदुरजी का मैत्रेय ऋषि के पास जाना।

कारिका—चतुर्थे ह्यधिकारार्थं बुद्धिर्भगवतोच्यते।
पञ्चधा साऽत्र सम्प्रोक्ता पञ्चपर्वाधिकारिणाम् ॥१॥

स्वरूप च गुणाः प्रोक्ता फलमत्र नेरूप्यते।
एतादृशेहिपुरुषे भगवानाविशेद्यतः ॥२॥

तदैव तद्गताः सर्वे बुद्धयन्ते नाऽन्यथा यथा।
अतो भगवतः सर्गे हेतुश्चाऽयं निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—चतुर्थ अध्याय में भगवान् अधिकार की सिद्धि के लिए 'बुद्धि' कहते हैं। वह बुद्धि, यहाँ पाँच प्रकार की कही गई है, पांच पर्वात्मक अविद्या से सम्बन्ध वाले अधिकारियों के स्वरूप और गुण कहे। अब इस अध्याय में फल कहा जाता है।

जब ऐसे अधिकारी पुरुष में भगवान् स्वयं आवेश करते हैं तब ही उसमें रहे हुए सर्व वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान होता है, दूसरी तरह वास्तविक ज्ञान नहीं होता है। इसलिए भगवत्कृत सर्ग में यह हेतु भी कहा जाता है ॥१,२,३॥

आभास— तत्र प्रथमं स्मृत्यात्मिका बुद्धिर्भगवदि इच्छयोत्पन्नेत्याह–अथेत्यादित्रिभिः–

आभासार्थ—उनमें से पहले भगवदिच्छा से स्मृति रूप बुद्धि उत्पन्न हुई जिसका निम्न तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् ।**
तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥१॥

श्लोकार्थ—अनन्तर यादवों ने ब्राह्मणों से आज्ञा प्राप्त कर भोजन किया, बाद वारुणी पान करने से उनका ज्ञान नष्ट हो गया, जिससे ऐसे दुर्ववचन कहे जिन वचनों ने यादव के मर्म का ही स्पर्श किया ॥१॥

सुबोधिनी—तामसी राजसी । चैव सात्विकी **चेति सा क्रमात्** । पूर्वमेतादृशा अपि सर्वदोष बिनिर्मुक्ताःभगवदिच्छया श्रमापनोदनं कर्तव्यमिति तेषां मतिरुत्पन्ना । ततः पूर्ववासनया तेषामसद्बुद्धिरुत्पन्नत्याह अथ भिन्न प्रक्रमेण । ते पूर्वोक्ता ब्राह्मणैरनुज्ञाताः । भक्त्वेत्यन्तं पूर्वसम्बन्धि । **वारुणीं पीत्वेति निषिद्धा चरणम् तस्याः फलमाह–तया विभ्रंशितज्ञाना इति** ।

व्याख्या—'तामसी, राजसी चैव सात्त्विकी चेति सा क्रमात्'

तीन श्लोकों से इसलिए कहते हैं कि वह यादवों की बुद्धि सात्त्विकी, राजसी और तामसी होने से तीन प्रकार की थी।

पहले यादव ऐसे होते हुए भी सर्व दोषों से मुक्त हो गए थे। भगवदिच्छा से उनकी मति ऐसी हुई कि क्रीड़ा कर थकावट दूर करें पश्चात् आगे की बासना से उनकी बुद्धि दुष्ट हो गई। यों इस श्लोक में कहते हैं।

'अथ' शब्द कहकर सूचित करते हैं कि अब पृथक् विषय का आरम्भ होता है पूर्व कहे हुए उन निर्दोष यादवों ने ब्राह्मणाज्ञा से भोजन किया यहाँ तक पूर्व अध्याय से सम्बन्ध वाला है। अथ शब्द का अर्थ अनन्तर (बाद) भी होता है अतः बाद में—'वारुणी पीत्वा' वारुणी (मदिरा। का पान कर यादवों ने शास्त्र विरूद्ध आचरण किया जिसका फल यह हुआ कि उनका ज्ञान नष्ट हो गया।

कारिका—**सर्वं हि साधनं व्यर्थं यदि बुद्धिर्विनश्यति ।**
अकर्त्तव्यं तदा नाऽस्ति महतामपि निश्चितम् ॥१॥

तस्मादेवं न कर्त्तव्यमिति बुद्धिरिहोच्यते ।
अतोऽत्र शास्त्र सर्वत्र ह्यप्रामाण्यं स्मृतेः सदा ॥२॥

कारिकार्थ—अगर बुद्धि नष्ट हो जाती है तो सब साधन व्यर्थ हो जाते हैं, तब महापुरुष भी यह निश्चय नहीं कर सकते हैं कि हमको यह कार्य न करना चाहिए ॥१॥

इसलिए यहाँ ऐसी बुद्धि कही जाती है जिससे ज्ञान हो जाय कि इस प्रकार का कार्य जो शास्त्र विरुद्ध है वह न करना चाहिए, अतः इस शास्त्र में सदैव वह स्मृति अप्रमाण है जो शास्त्र विरुद्ध आचरण कराती हो ।।२।।

सुबोधिनी—बुद्धिभ्रंशफलमाह— **दुरुक्तैर्मर्मपस्पृशुरिति** । **दुरुक्तानि** दुर्वाक्यान्यपकर्षबोधकानि यस्य, यन्नाचितं तत् प्रमादाज्जातं मर्मेत्युच्यते । अपकर्षवाक्यैस्तादृशमुक्तवन्त इत्यर्थः । ज्ञानं चाऽत्र शास्त्रे स्थिरम्, न त्रिक्षणावस्थायि । घ्राणेन गन्धवन्मनसा तस्य ग्रहणे स्फुरणम् । तद्भगवति नित्यमेव, अन्येषां तु जन्यम् । शरीरस्याऽन्नमिव लोकशास्त्रादिकं तस्य पोषकम् । इन्द्रियाणि जनकानि, अभ्यासो दार्ढ्यहेतुः । तच्च त्रिविधम्, सात्त्विकादिविभेदेन । देशादयश्च षट्पदार्था निषिद्धास्तस्य नाशकाः, विहितास्त्वन्तःकरणशुद्धिहेतवः पोषकाः । तत्र जीवस्य प्रयत्नेन स्थापितं तिष्ठति, गृहे पदार्था इव । शब्दा विषयाश्चोद्दीपका जनितस्य, अजनितस्योत्पादन एव सामग्रीरूपाः । तदेव बुद्धिचेतनादिवाच्यम् । तदेकं भगवद्रूपम् । तस्योत्पत्तिरनेकधा । आनन्त्येऽपि दशधा तन्निरूप्यते, लीलावत् । आश्रयरूपं मुख्यमविकृतं सर्वोपास्यं सर्वात्मभूतं च । तदेव प्रकाशकधर्मरूपेणाऽऽविर्भूतमविकृतमेव भगवद्गुणत्वेनोच्यते । तदेव पुनः सृष्ट्यर्थं वेदशरीरं गृह्णाति । तदपि रूपं विराडिवाऽनन्तम् । पश्चाद्बीजतामप्यापद्यते शरीरविशिष्टम् । तदा व्यष्ट्य इव विकृताः सर्वे शब्दा भवन्ति । तदेव पुनः प्रमातारं प्रमेयं चाऽऽश्रयते । तत्र प्रमेयाश्रयं प्रमेयानन्त्यादनन्तमेव । परं प्रमेयरूपतया एकविधमिति तदेकमेवोच्यते । प्रमातरि तु पञ्चधा तद्भवति, अन्तः करणेन्द्रियाश्रयणात् । अन्तःकरणे तु चतुर्धा, इन्द्रिये त्वेकधा । विशेषास्तु विषयाश्रयज्ञानद्विगुणतया पुष्टा भवन्ति । तत्र मनसा जनितं संशयात्मकं भवति, विशेषास्त्वत्राऽपि विषयकृताः । अहङ्कारो बुद्ध्या सहितः स्वापं पश्यतीति स्वप्नज्ञानमहङ्काराश्रितम् । शरीराभिमतिस्तु अहङ्कारेण कृता बुद्ध्याश्रया । चेत्तं त्वात्मानमेव सुषुप्तौ पश्यत्यन्यदा लीनमतो निर्विषयकं ज्ञानं चित्ताश्रितम् । तस्य च स्थितिर्निरूपिता शास्त्रादिभिरिति नाशोऽपि विशेषेण रूप्यते । पूर्वोक्तमर्यादाभाव एव सामान्यतो नशः । तत्र हेतुर्माया, ज्ञानस्यैव तिरस्करिणी । तस्याः षडाश्रयभूताः कालादयः । कलिर्मगधमद्यादिदैत्यशाक्तनिषिद्धक्रियाः । ते यथायथं स्वरूपतः, स्थानतो, गुणतश्च ज्ञानस्यांशतो नाशं कुर्वन्ति । येषु ज्ञानं जायते तेष्वेव नश्यति । अतोऽत्र मदिरया, तेषां यज्ज्ञानं पूर्वस्थितं प्रमातरि बुद्ध्याश्रयम्, तदधस्तासतितमिति विभ्रंशितज्ञानत्वम् । मायया चाऽविद्यमानाः पदार्था बुद्धावेवोपस्थाप्यन्ते । तद्विषयसहकृतं बुद्ध्याश्रितं ज्ञानं स्मृतिरूपं भवति । तया कृत्वा तद्विषयसम्बन्धीनि वाक्यानि दुरुक्तानि भवन्ति । तानि च विषयसहितानि विषयाश्रयाधारं मर्म स्पृशन्ति । **'मृङ् प्राणत्यागे'** इति धातोरावश्यकमरणार्थं धातोर्द्विर्भावे कृते 'डन्' प्रत्यये कृते मर्मेति भवति । तत्राऽप्यल्पोऽप्याघातः शब्दकृतोऽपि महतीं व्यथां जनयति । मत्तत्वात् स्पर्शमात्रमुक्तम्, न त्वाघातः ।।१।।

व्याख्या—बुद्धिभ्रंशफलमाह-बुद्धि के भ्रष्ट होने का फल कहते हैं कि 'दुरुक्तैर्मर्म स्पृशु' निरादर करने वाले दुष्ट वचन अर्थात् जिसको जो कार्य योग्य नहीं है उससे वह कार्य प्रमाद से हो जावे अथवा ऐसे वचन कहे जावें तो उसको मर्म कहा जाता है अर्थात् निरादर करने वाले वचन कहने लगे जिन वचनों ने उन (यादवों के-परस्पर) के मर्म स्थान का स्पर्श किया जिससे वे अपना निरादर समझ परस्पर लड़ने लगे ।

इन शास्त्र में ज्ञान[१] स्थिर है, न कि तीन क्षण ही रहने वाला है किन्तु जैसे नासिका से गन्ध ग्रहण की जाती है वैसे ही मन से यह ज्ञान[२] ग्रहण किया जाता है। वह ज्ञान भगवान् में नित्य है दूसरों में तो उत्पन्न[3] होता है जैसे अन्न शरीर का पोषक है वैसे ही उस ज्ञान के पोषक लाक और शास्त्रादि[४] हैं। इन्द्रियां उसको उत्पन्न करनेवाली हैं। और अभ्यास उसको दृढ[५] करता है। वह ज्ञान ही गीता के वचनानुसार सात्त्विकादि[६] भेद से तीन प्रकार का है। देश आदि निषिद्ध किए हुए छः पदार्थ उनके नाशक हैं। तो भी स्मृति अप्रमाण है यों सिद्ध करने के लिए ज्ञान की स्थिरता बताते हैं—

जो शास्त्रविहित पदार्थ अंतः करण को शुद्ध करने वाले हैं वे पोषक हैं। जीव के प्रयत्न से अन्तः करण में स्थापित ज्ञान, यों, वहां (अन्तः करण में) स्थित हो जाता है। जैसे घर में पड़ी हुई वस्तुएें वहां पर ही पड़ी रहती हैं। शब्द और विषय (पदार्थ) उत्पन्न का उद्दीपन करने वाले हैं और जो ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है उस ज्ञान के उत्पन्न करने की सामग्री रूप है, उस ही के नाम चेतना और बुद्धि आदि हैं।

वह ज्ञान भगवद् रूप होने से एक ही है, उनकी उत्पति अनेक रूपों से होती है। अनन्तता में भी दस प्रकार की लीला की तरह निरूपण किये जाते हैं।

१—विकार रहित, सर्वोपास्य और सर्व की आत्मारूप बना हुआ मुख्य आश्रयरूप सब ज्ञान जिसमें समाए हुए हैं ऐसा एक ही (निर्विषय ज्ञान) ज्ञान है।

१–अनुभव से उत्पन्न संस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है यह संस्कार प्रमाण है तो भी स्मृति प्रमाण है यों सिद्ध करने के लिए ज्ञान की स्थितरता बताते हैं।

२–ज्ञान स्थिर है तो भी उसका भान सदैव नहीं होता है। घर में पड़ी हुई गन्ध वाली वस्तुओं की गन्ध, नासिका को सदैव नही आती है कारण कि बहुत से संबंध के कारण ग्रहण करने का कार्य रुक जाता है उसका जब मन के साथ संबंध होता है तब मन से उसका ज्ञान संबन्ध होते ही उसका भान होता है।

३–भगवान् को सकल विषयों का ज्ञान नित्य है यह सर्व सम्पत्ति सिद्धान्त है. शेष दूसरों में ज्ञान उत्पन्न होता है अतः वह अनित्य होने से उसका भान कदाचित है अर्थात् पदार्थों में जैसे-जैसे विकार हो तदनुसार वह ज्ञान उत्पन्न हो पोषित तथा दृढ़ हो तब भान होता है अन्यथा भान नही होता है।

४–पोषण का तात्पर्य, अपने सम्बन्धियों से मिल जाना।

५–दृढ करने का तात्पर्य है सजातीयता में अचल स्थिति, इस मतानुसार स्मृति के उत्पन्न करने में पृथक संस्कार की आवश्यकता नही है कारण कि सूक्ष्म अवस्था में रहा हुआ ज्ञान ही संस्कार है।

६–यों तो ज्ञान स्थिर है तो भी उसके पोषक और नाशक पदार्थ भी हैं उनको गीता में जो सात्त्विकादि प्रकार कहा है वह कहते हैं—

२—प्रकाशक गुण के रूप से प्रकट, अविकारी वही ज्ञान भगवान् का गुण कहा जाता है, यह ज्ञान भी नित्य है किन्तु सविषय है।

३—वही ज्ञान अर्थात् भगवान् का गुण, रूप, ज्ञान फिर नाम रूप सृष्टी अथवा वैदिक सृष्टि के लिए वेद शरीर को ग्रहण करता है। वह वेद रूप शरीर विराट् रूप की तरह अनन्त है। इसलिए श्रुति ने कहा है कि 'अनन्ता वै वेदाः' वेद अनन्त हैं।

४—वही शरीर युक्त हो के फिर बीज की स्थिति को भी प्राप्त होता है तब सब शब्दव्यष्टि की तरह विकार वाले होते हैं। वही ज्ञान फिर प्रमाता (ज्ञान प्राप्त करने वाला) और प्रमेय (जिसका ज्ञान होना है) का आश्रय करता है अर्थात् अर्थ के प्रकाश करने वाले रूप से लोक में प्रकट होने के लिए उन दोनों का (प्रमाता और प्रमेयक) का आश्रय होता है।

५—प्रमेय (जिस रूप का ज्ञान होना है) के अनन्त रूप होने से प्रमेय का आश्रय भी अनन्त (सर्वत्र व्याप्त) ही है। किन्तु प्रमेय रूपपन से, एक प्रकार का है अतः उसको एक ही कहा जाता है परन्तु ज्ञान प्राप्त करने वाले पुरुष में, वह पुरुष अन्त; करण और इन्द्रियों का आश्रय करने के कारण पाच प्रकार का है अन्तः करण में चार प्रकार का हैं।

६— इन्द्रियों में एक[1] प्रकार का है कारण कि वहाँ निर्विकल्पता है।

७—तब अन्तः करण में ४ प्रकार से कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि मन से उत्पन्न ज्ञान संशयात्मक होता है। यहां भी अमुक पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह पदार्थों द्वारा ही होता है।

८—बुद्धि मिश्रित अहङ्कार स्वप्न देखता है इसलिए स्पप्न ज्ञान अहंकाराश्रित है।

९—शरीराभिमान तो अहंकार के कारण से होता है और बुद्धि के आश्रय वाला है।

१०—चित्त तो सुषुप्ति अवस्था में आत्मा को ही देखता है, जाग्रत और स्वप्न की अवस्था में लीन हो जाता है अतः निर्विषयक ज्ञान, चित्त के आश्रित है।

उस ज्ञान की स्थिति शास्त्रादि से निरूपण की है इस लिए इस के नाश का प्रकार भी विशेष प्रकार से वर्णन करते हैं। सामान्यतः पूर्वोक्त मर्यादा का अभाव[2] ही उसका नाश है—

१—बाहर की इन्द्रियां ५ हैं वे विकल्प बिना अनेक प्रकार से ज्ञान कराती हैं तो भी उसको एक प्रकार का कैसे कहा ? जिसके उत्तर में कहा है कि प्रत्येक इन्द्रिय से एक प्रकार का ही ज्ञान होता है शेष संयोग और पदार्थ विचार रूप प्रकाश आदि के ज्ञान में कारण है न कि इन्द्रिय, अतः इन्द्रिय द्वारा एक प्रकार का ही ज्ञान होता है।

२—शास्त्रों में कही हुई आज्ञाओं के संबंध का अभाव—

मर्यादा के अभाव व सामान्य प्रकार के नाश का कारण, ज्ञान का आच्छादन करने वाली माया ही है। इस (माया) के ६ आश्रय हैं। कलि, मागध और मदिरा आदि और दैत्य, शाक्त तथा शास्त्र निषिद्ध क्रियाएं। ये ६ योग्यतानुसार स्वरूप से, स्थान से और गुण से ज्ञान का धीरे-धीरे नाश करते हैं। जो ज्ञानी हो जाते हैं उनका ज्ञान भी नाश हो जाता है।

उनमें (यादवों में) जो पहले बुद्धि के आधार वाला शरीराभिमान रूप ज्ञान था वह मदिरा पान से धीरे-धीरे बुद्धि के मलनिभाग, तामस में, जाकर गिरा अर्थात् उनका ज्ञान नष्ट हो गया। यों काल ने उनका स्वरूप से नाश किया, मदिरा पान ने गुण से थोड़ा नाश किया जिससे उनकी ऐसी बुद्धि हो गई कि हम उच्च हैं अन्य नीच हैं अर्थात् दूसरों में दोष ही देखने लगे।

माया, जो पदार्थ न हो उनको भी बुद्धि से स्थापित कर देती है उन पदार्थों के सहकार से उत्पन्न बुद्धि के आधार वाला ज्ञान 'स्मृति रूप' होता है, उससे ही पदार्थों के संबंधवाले वचन 'दूषित वचन' होते हैं। वे दुष्ट वचन दोषयुक्त पुरुष जिनका आधार है ऐसे[1] मर्म को स्पर्श करने लगे। उस मर्म पर थोड़ी सी भी चोट शब्द से भी कही हुई महती व्यथा (पीड़ा) करती है। मदिरा पीने से नशे में मस्त होने के कारण स्पर्श मात्र लिखा, आघात नहीं लिखा ॥१॥

आभास—एवं स्वरूपविस्मरणपूर्वकविपरीतपदार्थस्मरणै: शब्दस्पर्षेणक्षोभं जनयित्वा, शास्त्रादिभिरपि स्पर्शं कृतवन्त इत्याह—

आभासार्थ - इस प्रकार शास्त्र विरुद्ध आचरण मद्यपान से जव स्वरूप को भूल गए तब विपरीत पदार्थ (विचार) होने से विपरीत शब्दों के स्पर्श (श्रवण) से अन्तः करण में पैदा होने से शस्त्रादि से भी लड़ने लगे जिसका वर्णन निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम् ।**
निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥२॥

श्लोकार्थ—सूर्य अस्त होने पर मद्यपान के दोष से जिनकी बुद्धि विपरीत हो गई है वे (यादव) परस्पर बाँस की तरह परस्पर के लड़कर नाश हो गए ॥२॥

सुबोधिनी तेषामिति । **मैरेयेण** द्रव्येण पूर्वज्ञाननाशपूर्वकविपरीतज्ञानजननलक्षणदोषेण स्वस्थाऽपि चेतनात्मिका बुद्धिः स्नेहेनाऽतिसमापि विषमा जाता। विषयाश्रितमपि ज्ञानं तेजःप्रकाशापेक्षमिति, तदभावे तदपि नेन्द्रियपोषकं जातमित्यभिप्रायेणाऽऽह—**निम्लोचति रवावासीदिति** । सर्वत्र दोषः समानो जात इत्याह—**वेणूनामिवेति** । **मर्दनं** नाशः ॥२॥

---

[1] 'मर्म' पद 'मृङ् प्राण परित्यागे' धातु को द्वित्व (दो बारा) कर उत् प्रत्यय लगा कर बनाया है जिसका भावार्थ है कि उस पर थोड़ा भी आघात हो तो उसको बहुत पीड़ा होती है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या मदिरा पान के कारण पहले का नीतियुक्त ज्ञान नष्ट होकर विपरीत ज्ञान का उदय हुआ जिसके दोष से स्वस्थ एवं समझ वाली परस्पर प्रेमयुक्त सुन्दर बुद्धि दूषित (खराब) हो गई । दृष्टि ज्ञान, पदार्थ के आश्रित है तो भी उसको तेज के प्रकाश की आवश्यकता है अन्यथा अन्धकार होने पर पदार्थ होते हुए भी दृष्टि ज्ञान निरर्थक है । इस अभिप्राय को समझाने के लिए कहा है कि सूर्य अस्त हो जाने के बाद घर्षण हुआ । सर्वत्र दोष की समानता हो गई अर्थात अंधकार भी हुआ, मद्यपान से बुद्धि विपरीत हुई अतः वेणुबत (बांस की तरह) परस्पर घर्षण कर केवल वाक-युद्ध से नहीं किन्तु शस्त्रों से भी लड़कर यादव नाश हो गए ॥२॥

आभास—एवं तेषां पूर्वस्थितिं साधनसाध्यभावेन तिरोभाव प्रापयित्वा, स्वस्याऽप्यनीश्वरत्वं तिरोभावयितुं साधनं साध्यं चाऽऽह—

आभासार्थ—इस प्रकार उन (यादवों) की पहली स्थिति (शान्त स्थिति) साधन (मद्यपान) से और साध्य (दुष्ट बुद्धि) से तिरोहित कर अपना भी अनिश्वरत्व (मनुष्यनाटय) तिरोहित करने के लिए साधन और साध्य का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**भगवान् स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः ।**
सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥३॥

श्लोकार्थ—वे षड्गुणैश्वर्य प्रभु अपनी माया की चिदंश की उस गति को देखकर सरस्वती (नदी) में स्नानकर वृक्ष की जड़ के पास आकर बिराजे ॥३॥

सुबोधिनी—भगवानिति । अनैश्वर्यतिरोभावे हेतुः । स्वस्य य आत्मा चिदंशः, तस्यं मायाया **गतिं** प्रवृत्तिं कार्यं करणमिति यावत् । **तां** पूर्वोक्ताम् । **अवलोक्ये**त्युत्तरत्र साधनम् । **स** इति तदर्थं प्रवृत्तः । अनैश्वर्यतिरोभावो द्वयेन भवति, वेदैर्वैष्णवैश्च । तदुभयं कृतवानित्याह–**सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशदिति** । सरस्वती वेदात्मिका, सैव नदी तदुपस्पर्शनं स्नानम् । अनेन वेदेषु स्वात्मानं स्थापितवानित्युक्तम् । द्वितीयमाह–**वृक्षमूलमिति । 'वैष्णवा वै वनस्पतयः'** इति श्रुतेः । तस्य मूल येन रूपेण विष्णुना ते जनितास्तद्बीजात्मकं मूलम् । तत्र विष्णौ बीजात्मकेऽर्थांशं स्थापितवानित्यर्थः । एवमैश्वर्यादिगुणानेकत्र, स्वरूपं चैकत्र स्थापयित्वा आश्रयाभावेनाऽनैश्वर्यं निराकृतवानित्यर्थः । ननु भगवान् बीजे किमिति स्थापितवान् ? बैकुण्ठे हि स्थापनीयम् । तत्राऽऽह–**उपाविशदिति** । उष समीपे वैकुण्ठे स्थितेन सर्गलीलाकर्तुमशक्या, अतस्तत्समीप एव **आ** सर्वतः सर्वभावेन तत्र प्रविष्टः सृष्टयर्थम् । एतदर्थमेव प्रथमत इयं कथा कथिता यथा भगवान् ऐश्वर्येण बीजे प्रविशति । अयमेव चाऽधिकारः । माहात्म्यम्, (स्व) रूपम्, लीला, विषयः, चरित्रम्, इन्द्रियाणि, स्वांशेन कारणप्रवेशः, बुद्धिरिति बीजरूपोऽयं सर्गः । विष्णोर्जाता वैष्णवाः विष्णोरिमे इति च । अतो भगवान् स्वयं बृक्षमूले उपविश्य सृष्टिकारणबीजगुपपाद्य मोक्षकारणबीजमप्युपवादयितुं वैष्णवमुद्धवं पूर्वमेव विचारितवान् । नयसु लीलासु प्रथमा मया कर्तव्या, अन्तिमा त्वनेन, मध्यमास्तु कालदिभिरिति । उद्धवस्य च कामना **'स्वधाम नय मामपि'**

इति । तद्यदा यत्र तिष्ठति तत् स्वधाम । इदानीं बीजात्मके कारणरूपे विष्णौ स्वयं स्थितः । तं च कारणरूपे अमृतदर्यात्मकबदर्यामानन्दानभवार्थ मोक्षैकसाधनतपः संनिधाने तिष्ठत्विति विचारितवान् ॥३॥

व्याख्या—श्री कृष्ण ने अपने में अनैश्वर्य का (माया मनुष्य रूप का) तिरोभाव करना चाहा, जिसका कारण दिखाने के लिए कहा है कि वे (भगवान) हैं षड्गुण संयुक्त विभु प्रभु होने मे सर्व करने में समर्थ हैं । अपने चिदंश आत्मा की व्यामोहिका माया का कार्य देकखर अर्थात मद्यपान से विपरीत बुद्धि होने से परस्पर संघर्ष कर वेणुवत नाश होना देखकर अपने अनैश्वर्य के तिरोभाव की लीला करने की इच्छा की ।

अनैश्वर्य का तिरोभाव दो प्रकार से होता है ?—वेदौं से २ वैष्णवों से, वे दोनों साधन करने लगे 'सरस्वती उपस्प्रश्य बृक्षमूलमुपाविशत्' सरस्वती वेदरूपा नदी है । उसमें स्नान कर दिखाया कि अपनी आत्मा को वेदों में स्थापित किया है ।

२-बृक्ष की मूल में विराजे, इससे सूचित किया है कि 'वैष्णवा वैवनस्पतयः' इस श्रुत्यनुसार वृक्षादि लता पताकाऐं सर्व वैष्णव हैं । जिस रूप से विष्णु ने पैदा किए उनकी बीज रूप मूल (जड़) है अतः बीज रूप विष्णु में अर्थांश को स्थापित किया इसी तरह ऐश्वर्यादि गुणों को एक स्थान पर और स्वरूप को दूसरे स्थान पर स्थापित करने से अनैश्वर्य का कोई आश्रय नहीं रहा जिससे उसका स्वतः निराकरण हो गया ।

भगवान् ने इनको बीज में क्यो स्थापित किया ? वैकुण्ठ में स्थापित करना चाहिए था । इस शंका का निराकरण 'उपविशत्' पद से किया है जिसका आशय यह है कि बैकुण्ठ दूर है । वहाँ स्थापित करने से 'सर्गलीला' करने में परिश्रम वा वह कार्य अशक्य होता । अतः यहां बीज में स्थापित इसलिए कि फिर सर्ग करने के समय देरी व श्रम न हो, इसलिए ही पहले यह कथा कही है जैसे भगवान् बीज में प्रविष्ट होते हैं । यह (बुद्धि में स्थित) ही अधिकार है ।

माहात्म्य, रूप, लीला, विषय, चरित्र, इन्द्रियां अपने अंश से कारण में प्रवेश और बुद्धि यह सर्व बीजरूप सर्ग हैं ।

जो विष्णु से उत्पन्न हैं वे वैष्णव हैं । और जो विष्णु के ये सेवकादि हैं वे भी वैष्णव हैं ।

अतः भगवान् स्वयं वृक्षमूल में विराजमान् होके, सृष्टि के कारणरूप बीज को और मोक्ष कारण रूप बीज को उत्पन्न करने के लिए पहले ही उद्धवजी को ध्यान में रखा था । नव लीलाओं में से पहली मुझे (भगवान् को) करनी चाहिए, अन्तिम इसको (उद्धव को) तथा बीच की लिलाऐं कालादि करते रहेंगे ।

उद्धवजी की कामना थी कि 'मुझे भी स्वधाम ले चलो ।' यह शंका कि उद्धव को क्यों नहीं ले गए ? जिसका उत्तर है कि जहां आप (भगवान्) विराजते हैं वह स्वधाम (भगवान् का धाम) ही है । अब बीजात्मक कारण रूप विष्णु में आप विराजमान हुए हैं ।

उद्धवजी भी कारण रूप अमृत की गुफारूप बदरीकाश्रम में आनन्द के अनुभवार्थ मोक्ष का एक ही साधन रूप तप है जो वहां सुलभ (समीप) ही है। वहां उद्धवजी रहे। यों भगवान् ने विचारा है ॥३॥

आभास—तस्याऽपि पूर्वस्थितिविनाश एव भवतीति, विनाशस्थाने प्रभासे समागच्छत्विति चेच्छां कृतवान्। अतो द्वितीयं बीजं निरूपयन् निश्चयरूपां बुद्धिमेकोनविंशतिश्लोकैराह। अष्टादशविद्यास्थानातिक्रमे हि बुद्धिर्निश्चयमवलम्बते। तत्र सप्ताऽङ्गानि मीमाँसया सहितानि, द्वादशात्मा स्वतन्त्रतया प्रकाशकत्वात्। अनेनैव पूर्वावस्था गच्छतीति ज्ञापितम्। मुक्तौ तु कारणस्याऽवक्तव्यत्वादिमामेव लीलामन्यथोक्तवान्। बीजात् फले विस्तारो भवतीति च। अतः प्रथमं भगवदुक्तमाह—

आभासार्थ उसकी भी प्रथम स्थिति का नाश होने वाला है इसलिए विनाश स्थान प्रभास में आवे एसी इच्छा की। अतः द्वितीय बीज का निरूपण करते हुए निश्चयात्मिका बुद्धि का वर्णन उन्नीस श्लोक से करते हैं। अष्टादश विद्या के अतिक्रमण करने के बाद ही बुद्धिनिश्चित होती है। मीमाँसा सहित वेद के अङ्ग स्वतन्त्रता से प्रकाश देने वाला द्वादशात्मक सूर्य, इससे ही प्रथम अवस्था का नाश होता है। मुक्ति में तो कारण कहा नहीं जा सकता है। इस ही लीला को अन्य प्रकार से कहा है जैसे बीज से ही फल में विस्तार होता है। अतः पहले उद्धवजी वह कह बताते हैं जो भगवान् ने उनको कहा।

श्लोक—अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्त्तिहरेण ह।
बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा ॥४॥

श्लोकार्थ—शरणागतों की आर्ति देखने वाले और अपने कुल को साथ ले जाने वाले प्रभु ने मुझे कहा कि तुम शीघ्र बदरी को जाओ ॥४॥

सुबोधिनी—अहं चोक्त इति। स्वकोया अन्येऽपि प्रभासगमनार्थं मुक्ताः, अहं चोक्तः **बदरी त्वं प्रयाहीति**। चकारात् प्रभासे गत्वेति हृदयम्। **भगवतेति** कार्यसिद्धयावश्यकता तद्वाक्ये सूचिता। ननु किमित्येवमुक्तवानित्याशङ्क्याऽऽह—**प्रपन्नार्तिहरेणेति**। प्रपन्नानामार्ति सर्वक्लेशं सृष्टौ सर्वैश्वर्यदानेन दूरीकरिष्यामीति तथोक्तवान्। हेत्याश्चर्यम्, विपरीतेन साधनेन साध्यमिति। बदर्यप्यरण्यात्मिका, फलार्थममृतरूपा च। वस्याऽमृतस्य दरी बदरीति। **त्वं प्रयाहीति** विशेषतया निर्दिष्टम्। प्रकर्षेण गमनं पदार्थाविस्मरणात्। अन्यत्तु, **स्वकुलं** स्वसमूहः। ते सृष्टावेवोपयुज्यन्ते अतः स्वार्थं सम्यक् जिहीर्षुः, अन्यथा अनन्तविधा सृष्टिर्न स्यात् ॥४॥

व्याख्या—जो दूसरे अपने थे, उनको कहा कि प्रभास जाओ, केवल मुझे कहा कि तू बदरी जल्दी जा। किन्तु श्लोक में 'च' पद का आशय है कि प्रभास होकर पश्चात बदरी जा। 'भगवता' पद से यह समझाया है कि आपके इस प्रकार के वाक्यों से कार्य सिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार

की आज्ञा उद्धव को क्यों दी ? इसके उत्तर में उद्धव कहता है कि जाप शरणागतों के दुःखों को हरने वाले हैं अतः सृष्टि में सब प्रकार के ऐश्वर्य देकर शरणागतों के सर्व क्लेशों को हरूंगा। इस आज्ञा से इस प्रकार की सूचना दी है। 'ह' पद से आश्चर्य प्रदर्शित किया है क्योंकि विरुद्ध साधनों से साध्य सिद्ध करना है। 'वदरी' 'आरण्यरूप'[1] है किन्तु फलार्थ अमृतरूप है। कारण कि 'बदरी' शब्द का अर्थ है 'अमृत की दरी (गुफा)' वहां तू शीघ्र जा, जल्दी कहने का आशय है कि 'वदरी' पद का यौगिक भावार्थ उसको भूल न जाओ, अपने कुल जो सृष्टि में उपयोग में आते हैं उनको अपने साथ ले जाने की इच्छा वाले। अन्यथा अनन्त प्रकार की सृष्टि न हो सके ।।४।।

आभास—यद्यपि भगवता मुखत एवमुक्तम्, तथापि प्रभासे समागत्य गन्तव्यमिति हृदयाभिप्रायः। अन्यथा पूर्वावस्थापरित्यागो न स्यात्। तदाह—

आभासार्थ—हालाँ कि भगवान् ने मुख से यों कहा कि बदरी जाओ तोभी हृदय का अभिप्राय था कि प्रभास हो के फिर बदरी जल्दी जा, क्योंकि वहां जाने से पूर्वावस्था का त्याग न हो सकेगा। वह इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम !।**
पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ।।५।।

श्लोकार्थ—तो भी हे शत्रुदमन ! उनका अभिप्राय जानने वाला मैं स्वामी के चरणों में पृथक् होने से उनके पीछे जाने लगा ।।५।।

सुबोधिनी—अथापीति। तदभिप्रेतं पूर्वोक्तम्। **जानन्नहमिति** उपदेशज्ञानेन सर्वज्ञताया जातत्वात्। भगवत्कृपया तदपि ज्ञातम्, परं मयैव। **अरिन्दमेति**। संबोधनमभिप्रायज्ञानार्थम्। राजनीतावपि प्रभोरभिप्रेतमपि कर्तव्यम्, नैतावता वाक्योल्लङ्घनम्। तथापि सह न गतम्, प्रथमतयैव बदरीकाश्रमयात्रा कृता। गिरिदुर्गपर्यन्तं समागत्य पश्चात्प्रभासं गत इति लक्ष्यते। अभिप्रायस्य सन्देहेऽपि पूर्वावस्थाया विद्यमानत्वात् स्नेहादपि गत इत्याह–पादयोर्विश्लेषणं वियोगः, पूर्वावस्थाया वा परित्यागः, तत्राऽहमक्षमः ।।५।।

व्याख्या—उनके मन का अभिप्राय जो प्रथम कहा वह जान लिया था। कैसे जाना ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि भगवदुपदेश से प्राप्त ज्ञान से मेरे में सर्वज्ञता उत्पन्न हुई जिससे यों जान लिया एवं भगवत्कृपा भी इस ज्ञान के होने में कारण है। किन्तु मैं ने ही यह जाना, हे अरिन्दय ! यह सम्बोधन विदुर को यह ज्ञान हो इसलिए दिया है राजनीति के अनुसार भी स्वामी के हार्दिक अभिप्रायानुसार कर्त्तव्य करना सेवक का धर्म है, इससे मौखिक आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता है।

---

[1] —अरश्वह वैण्यश्चदार्णवौ ब्रह्म लोके इति श्रुतेः, स्मृति में भी कहते हैं कि ब्रह्म लोक में अमृत समुद्र एवं सागर दोनों हैं अतः बदरी अरण्य ब्रह्म लोकात्मक है।

तो भी प्रभु के साथ न गया, पहले ही बदरीकाश्रम की यात्रा की विदुरजी गिरनार तक साथ आकर पश्चात् प्रभास गया यों जाना जाता है।

भगवान् के अभिप्राय में सन्देह होने पर भी पूर्वावस्था के विद्यमान (मौजूद) होने से स्नेह भी गया। यों कहते हैं कि प्रभु के चरणों का वियोग अथवा पूर्वावस्था (प्रेम) का त्याग दोनों का होना आवश्यक है, जिससे मैं (विदुर) प्रभास गया ॥५॥

आभास—अभिप्रेतोऽर्थस्तर्कितोऽपि प्रमितो जात इत्याह—

आभासार्थ—यद्यपि (हालांकि) इच्छित विषय का केवल विचार ही किया था तो भी वह सचमुच हो गया। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन् दयितं पतिम्।**
श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥६॥

श्लोकार्थ—ढूँढ़ते हुए मैंने सरस्वती के किनारे पर बिराजमान केतन रहित, लक्ष्मी के धाम रूप प्रिय स्वामी को अकेले बैठा हुआ देखा ॥६॥

सुबोधिनी—**अद्राक्षमिति**। तदा भगवत ऐश्वर्यस्य प्रादुर्भूतत्वात् षोडशाऽपि कलास्तदा भगवति दृष्टाः। स पूर्णो भवति। **अतोऽत्र** भगवतः षोडश विशेषणानि। एतान्येव गुणोपसंयारे षोडशाधिकरण्या प्रतिपादितानि। एवं सर्वार्थस्य सर्वगुणविशिष्टस्य साक्षात्कारो जात इत्यद्राक्षमित्युक्तम्, ब्रह्मसाक्षात्कारादेव पूर्वावस्थापरित्यागात्। तत्र प्रथमं भगवतोऽयमसाधारणो गुणः–यत्सर्वप्रपञ्चातीतः सर्वमुपसंहृत्य एको भवति, कारणरूपश्च भवति। किञ्च। भगवानासीनो भवति सर्वत्रैव, विशेषतो वैष्णवानां समीपे। अव्यग्रत्वाय चोक्तम्, कार्याभावात्। उपविष्ट एव हि सृष्टिं करोतीति च ज्ञापितम्। अनेन लोकेष्ववयवोपसंहारश्च ज्ञापितः। भगवतोऽपि दर्शनं भगवदिच्छयैव जातमित्याह–**विचिन्वन्निति**। सर्वत्र सरस्वतीतीरे गरुडध्वजादिरथान्वेषणेन क्वाऽस्तीति विचारयन् यत्रोपविष्टः स्थितस्तत्र दृष्ट इत्यर्थः। अनेन विचारदशायां सर्वभूतस्थितमेकमेव विचारयेत्। तदनन्तरं स प्रियत्वेनाऽऽत्मत्वेन पर्यवस्यति, ततोऽपि ब्रह्मवित्त्वे ब्रह्मात्मभावे जाते पतित्वेन पर्यवस्यति, अक्षरस्यापि पुरुषोत्तमः पतिरिति। एवं चतूरूपं प्रमेये निरूपितम्, साधनफलभेदेन। प्रमाणे तस्य रूपत्रयमाह–अर्थशब्दफलानां तत्र प्राधान्यात्। तत्रार्थः **श्रीनिकेतः** अनेन प्रपञ्चयज्ञसौभाग्यैर्युक्त इत्युक्तः। **सरस्वत्यां कृतकेतमिति** वेदैकसमधिगम्यता। **अकेतनमिति** फलम्। सर्वाश्रयराहित्येन स्वरूपस्थित इति, स्वरूपे तादृशस्यैवोक्तत्वात्। श्रीवत्से लक्ष्मीश्चाऽत्रोपविष्टा दृष्टा। सरस्वतीतीरे च शुद्धे उददेशनार्थं स्थितो दृष्टः। अनाश्रितत्वेन सर्वे हेतुवादा विरोधाश्च परिहृताः, गृहरथासनाद्यभावश्च। एवमेकेन प्रमाणप्रमेयनिर्णयः। चतुर्मूर्तिस्त्रिमूर्तिश्चोक्तः। एकः सङ्कर्षणः, आसीनो वासुदेवः, दयितः प्रद्युम्नः पतिरनिरुद्ध इति। श्रीनिकेतो विष्णुः, इतरौ ब्रह्मशिवौ ॥६॥

व्याख्या—उस समय भगवान् का ऐश्वर्य पूर्णतः प्रकट हुआ था जिससे मैंने भगवान् के स्वरूप में षोडश १६ कलाओं का दर्शन किया । वह पूर्ण थे इस कारण से यहां भगवान् के सोलह विशेषण दिए हैं । ये सोलह विशेषण (गुण) व्यास सूत्रों के तृतीयाध्याय तीसरेपाद (गुणोपसंहार) में षोड़शाधिकरणों से प्रतिपादन किए हैं—

इसी तरह सर्वगुण विशिष्ट (फलरूप) भगवान् के मैंने साक्षात्कार दर्शन किए जो भगवान् सर्व का उपसंहार कर सर्व प्रपंचातीत होने से 'एक' हो के विराजे हैं । वे ही कारण रूप हैं और विशेष यह है कि भगवान् सर्वत्र ही बैठे हुए हैं विशेष रूप से वैष्णवों के समीप उस समय व्यग्रता नहीं थी क्योंकि कोई कार्य नहीं था । इससे यह भी सूचित किया है कि मैं यों बैठे बैठे ही सृष्टि कर देता हूँ इससे श्लोकों में अवयवों का उपसंहार (छिपाने) का सूचन किया है । भगवान् के दर्शन भी भगवदिच्छा से हुए हैं, क्योंकि सर्वत्र गरुड़ध्वज वाले रथ को ढूंढ़ा कि वह कहां है ? किन्तु देखने में नहीं आया, अन्त में भगवत्कृपा हुई, उनको इच्छा से जहां विराजे थे वहां आ गया और दशन किए इससे यह जताया है कि जब भगवान् का विचार (चिंतन) किया जाए तब सर्वभूतों में स्थित उस एक का ही चिन्तन करें । जबयों किया जाता है तब वह प्रियत्व और आत्मत्व से जाना जाता है अनन्तर वही ब्रह्मात्मभाव वाला हो जाता है । ऐसी परिस्थिति के बाद ही वह पति रूप से अन्तः करण में विराजता है वह ही फलरूप आत्मा सर्व प्रकार असीम आनन्द रसपान कराता है, कारण कि अगणितानन्द अक्षर ब्रह्म का भी वह पुरुषोत्तम पति है ।

इस तरह प्रमेय में चतुरूप प्रभु ने कहे, साधन और फल के भेद से प्रमाण में उसके तीन रूप हैं । वे कहते हैं वहां अर्थ शब्द और फल की प्रधानता है इनसे ७ श्रीनिकेतनः पद से अर्थ कहा है और इससे भगवान् की प्रपंचरूप यज्ञ एवं सौभाग्य वाला कहा हैं । सरस्वती पर बैठक होने से यह सूचित किया है कि आप वेद से ही जाने व पाए जाते हैं । 'अकेतन' (जिसको किसी अन्य के आश्रय की आवश्यकता नहीं है) पद से बताया है कि यह ही फलरूप हैं । क्योंकि सर्वाश्रय रहित होने से स्वरूप में ही स्थित स्वरूप 'फलरूप' होती हैं ।

दर्शन के समय उद्धव जी ने श्री वत्साचिन्ह पर लक्ष्मी बैठी है ऐसा दर्शन किया । शुद्ध सरस्वती के तीर पर स्थित होने का कारण उपदेश देने के लिए स्थित होता है । किसी प्रकार का आश्रम आदि का आश्रय न लेने से यह सूचित किया है कि सर्व प्रकार हेतुवाद और विरोध आदि का परिहार कर लिया है । अतः गृह, रथ और आसनादि भी वहां नहीं थे । इस तरह एक ही श्लोक में प्रमाण और प्रमेय का निर्णय किया, जिससे चतुर्मूर्ति और त्रिमूर्ति बताई । एक होने से 'सङ्कर्षण' बैठने से 'वासुदेव' प्रिय होने से 'प्रद्युम्न' पति होने से 'अनिरुद्ध' रूप है । यों चार स्वरूप कहे हैं 'श्रीनिकेतन' पद से विष्णु कहा है, दूसरे दो ब्रह्मा और शिव कहे । जिसके ६-७ दो विशेषणों से ज्ञात होता है ।।६।।

आभास—एवं प्रमेयप्रमाणे निरूप्य फलरूपं भगवन्तं पञ्चरूपमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रमेय तथा प्रमाण रूप भगवान् का निरूपण कर, निम्न श्लोक में भगवान् के फलस्वरूप पाँच स्वरूपों का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् ।**
दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ।।७।।

श्लोकार्थ—श्याम और वही तेजस्वी, रजरहित, बिशेष शान्त और लाल नेत्र वाले चार भुजाओं और पीत रेशमी वस्त्र वाले प्रभु को देखा ।।७।।

सुबोधिनी—**श्यामावदातमिति** । श्यामश्चासाववदातश्चेति । मध्यन्दिनसवितृमण्डलमध्यसदृशवत् भासत इत्यर्थः । **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**' इति श्रुतेः । अनेन सारूप्यरूपा मुक्तिरप्युक्ता भवति । **विरजं** निर्मलम्, व्यापिवैकुण्ठे रजोऽभावः अनेन सालोक्यमप्युक्तम्, उत्पादकसंस्कृतभूताभावश्च; तेन सालोक्येऽपि पुनरुत्पत्तिर्निवारिता । मुक्त्युपदेष्टारमेनं प्रति तथाविधमात्मानं प्रदर्शयति फलत्वाय । अनेन षोडशकलोऽयं मनोमयो वेदात्मा सूचितः । **प्रशान्तारुणलोचनमिति** । प्रकर्षेण शान्ते अरुणे लोचने यस्य । ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती लोचने यस्येत्युक्तम् । प्रकर्षः साधनसाहित्यम्, अनेन सार्ष्टिरुक्ता । समानैश्वर्यम् । इदमेव हि सामीप्यम्, ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वस्यैव तथात्वात् । अनेन वेदार्थोऽप्येतावानेवाऽत्र प्रसिद्ध इति सूचितम् । **दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितमिति** । **विदितं** ज्ञातम् । अनेन सायुज्यमुक्तम्, उभयोर्बाहुचतुष्टयं ज्ञापितमिव । अत्र यत् पदत्रयम्, क्रियया, भक्त्या, ज्ञानेन च सायुज्यं भवतीति ज्ञापयितुम् । **दोर्भिः** क्रियाभिः **चतुर्भिः** पादसेवनादिभिः । विशेषेण दितं यस्मादिति सर्वाज्ञाननिवर्तकं ज्ञानं कालनिवर्तकं वा, अन्यथा चतुर्भुजमित्येवोक्तं स्यात्, प्रकटचतुर्भुजार्थं वा । **पीतकौशाम्बरेण चेति** । पीतं कौशं कौशेयं यदम्बरम्, तेन च विदितम् अनेन ब्रह्मभावेऽपि ज्ञानमङ्गमिति तदेव विशेषणमाह—**पीतमिति**, अहन्ताममताभावः । **कौशमिति** कुशसंबन्धिनो यमनियमादयः । **अम्बरमिति** अवस्थात्रयपरित्यागेन निर्लेपता । एतानि ब्रह्मभावे ज्ञानसाधनानि । **वैराग्यं च तपश्चैव समाधिरिति साधनम्**' एकमेवैतत्, न प्रत्येकपर्यवसायि । चकारोऽनुक्तसर्वफलसमुच्चयार्थः । सर्वफलरूपो भगवानित्यर्थ ।।७।।

व्याख्या—१ श्यामावदातं- प्रभु श्याम होते हुए भी सूर्य मण्डल स्थहिरणमय पुरुष के समान प्रकाश स्वरूप थे । 'आदित्यवर्णं तमस. परस्तात्' इति श्रुते, इस श्रुति अनुसार जैसे सूर्य का वर्ण तम से परे प्रकाश स्वरूप है वैसे ही प्रभु भी थे । सूर्य मण्डल में जो कृष्णता दिखतां है वह 'तन्मध्ये यत् कृष्ण तदन्नस्य' इस श्रुत्यनुसार पार्थिवांश है, किन्च हिरण्यमय पुरुष का भास्वर (प्रकाशमान) श्याम रूप है. कि पार्थिव श्याम, इस स्वरूप के वर्णन से यह सूचित किया है कि, सारूप्य रूपा मुक्तिदाता यह स्वरूप है ।

२—'विरजं' रज (रजोगुण) रहित निर्मल स्वरूप थे इससे यह सूचित किया कि व्यापि वैकुण्ठ में रजोगुण का अभाव है अर्थात् इसी स्वरूप में वैकुण्ठस्थ स्वरूप के भी दर्शन दिए । यह

स्वरूप सालोक्य मुक्तिदाता है । अतः वहाँ उत्पति कराने वाले रज तथा कर्म के संस्कारवाले महाभूत भी नहीं हैं, इससे यह बताया है सालोक्य मुक्ति हो जाने के अनन्तर फिर जन्म लेना नहीं पड़ता है इसलिए जिस को मुक्ति का उपदेश दे रहे हैं उसको ऐसे स्वरूप का दर्शन देकर बताते हैं कि वह मेरा ज्ञानियों के लिए फलरूप स्वरूप है एवं षोडश कलावाले मनोमय वेदरूप भी हैं ।

३—'प्रशान्तारुण लोचनम्' विशेष शान्त और लाल नेत्र वाले, इससे यह सूचित किया है कि आपके दो नेत्र ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति रूप हैं, दोनों नेत्र साधनों के साहित्य रूप हैं अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया (क्रम) दो ही साधन हैं यों दिखाया है । इसके सार्ष्टि मुक्ति की प्राप्ति कही है ।

समान ऐश्वर्य दिखा कर यह बताया है कि यहाँ ही सामीप्य है मुक्ति है क्योंकि ज्ञान और क्रिया शक्ति सम्पन्न पुरुष ही भगवान् के समीप रह सकता है । इससे यह भी बताया है कि यहां वेदार्थ भी इतना ही प्रसिद्ध है ।

४—'दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितमिति' वाम पार्श्व की दो भुजा, दक्षिण पार्श्व की भुजाएं मिला कर चार भुजा कही गई है । ऐसे चतुर्भुज स्वरूप से दर्शन दे रहें हैं । इस स्वरूप से यह सूचित किया कि सायुज्यमुक्तिदाता मैं हूं और दोर्भिः, चतुर्भिः और विदितं इन तीन पदों के साथ में कहने का भावार्थ यह है कि क्रिया (कर्म) ज्ञान और भक्ति से 'सायुज्य' मुक्ति की प्राप्ति होती है । दोर्भिः पद से क्रिया सूचित किया है 'चतुर्भिः' पद से पाद सेवनादि भक्ति कही और 'विदितं' विशेषण हितं जिसका भावार्थ है सर्व प्रकार के अज्ञान को नष्ट करने वाला ज्ञान व काल का भी निवर्तक ज्ञान यदि कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों का सूचन न करना होता तो केवल 'चतुर्भुज' ही कहते ।

५—'पति कोशाम्बरेण' पति रेशमी वस्त्र से विदित है, (जाना जाता है) । इससे बताया है ब्रह्मभान होने में भी 'ज्ञान' अङ्ग है । इस लिए इस प्रकार विशेषण दिया है 'पति' पद से वताया है कि आप में अहंता, ममता का अभाव है । जिसका भावार्थ है कि जो पुरुष अहंता ममता का त्याग करता है उसको सायुज्य प्राप्ति होती है 'कौशेय' वस्त्र से यह शिक्षा दी है कि यह वस्त्र कुश संबंधी हैं । जिससे यमनियम का सूचन किया है । यम नियमादि का पालन करोंगे तो सायुज्य पाओगे 'अम्बर शब्द से यह शिक्षा दी है कि जाग्रति स्वप्न और सुषुप्ति इन तीतों अवस्थाओं के अतिक्रमण करने पर सायुज्य प्राप्ति होगी । उपर्युक्त तीन अवस्थाओं के परित्याग से अम्बर (आकाश) (ब्रह्मा) वत् निर्लेपता आती है, वैराग्य, तप और समाधि ये तीन ही ब्रह्मभाव होने मैं ज्ञान के साधन हैं 'च' पद से यह सूचित किया है कि जो फल नहीं कहे हैं वे भी भगवान् हैं क्योंकि सर्व फल रूप भगवान् हैं ।।७।।

आभास—एवं फलरूपं निरूप्य साधनरूपं चतूरूपं निरूपयति—

आभासार्थ—इस प्रकार फलरूप भगवान् का निरूपण कर, अब साधन रूप भगवान् चतुर्रूप हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

१—ज्ञान और क्रिया दोनों शक्ति रूप ऐश्वर्य जिस मैं है ।

श्लोक—**वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् ।**
अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ।।८।।

श्लोकार्थं—वाम उरु पर दक्षिण चरण कमल को धरकर छोटे (बाल) पीपल का आश्रय कर विराजमान, अकृश (पूर्ण ज्ञान स्वरूप) जिसने कर्म फल त्याग कर दिया है ।ऐसे प्रभु के दर्शन किए ।।८।।

सुबोधिनी—वाम ऊराविति । **वामे ऊरौ दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहमधिश्रित्य** स्थितम् । दक्षिणमङ्घ्रिसरोरुहं यस्येति वा । भक्तिरनेन साधनत्वेनोक्ता । वामा मनोहरा ये भगवत्प्रतिच्छायरूपाः, तेषु भगवद्भक्तिमार्गः कमलवत्सुन्दरः सर्वाप्यायकश्च स्थापितः । सरोरुहत्वेन प्रेम्णैव तदुद्गच्छतीति सूचितम् । दक्षिणपदेन भक्तिमार्गे त्रीणि विशेषणानीति सूचितम । **चातुर्यं, दक्षिणो देशः, पाषण्डाभाव एव च** । भक्ते चोरुपदं सकुटुम्बस्य भक्तिपरत्वाय, स्त्रीपुत्रादिस्थानेऽपि भक्तिरेवेति वा । अधिश्रयणं पाकार्थे यथा सर्वोपयोगि भवति । वैष्णवैः संस्कृतो भक्तिमार्गः साधनमिति । एवं भक्ति साधनत्वेन निरूप्य, कर्माणि साधनत्वेन निरूपयति-**अपाश्रितार्भकाश्वत्थमिति** । अपाश्रित आश्रितोऽर्भकाश्वत्थो येन । आश्रितः पश्चादिति वा । अर्भाणां कं सुखं यस्मात्, बालकसुखदायी । अर्भकरूपः कोमलोऽश्वत्थो वा । तस्यैवाऽरणी भवतः । कर्माणि सर्वाणि तत्साधनान्येव । अपाश्रयपदेन च साधनत्वेनैव कर्मणामपेक्षा, न तु तद्गतं फलमप्यपेक्षत इति सूचितम् । अपाश्रिता अर्भका यस्मिन्निति बालाधिकारः कर्मणि सूचितः । **अकृशमिति** ज्ञानम्, पूर्णत्वात्, अन्येषां परिच्छेदरूपत्वात् । अनेन पूर्णमेव ज्ञानं साधनमिति, न तु खण्डब्रह्मज्ञानानि शरीरकादीनि । सर्वेषां भक्तानामुपसंहृतत्वाद्दौवल्यमाशङ्क्य निराकृतम् भक्तानां तत्रैव प्रवेशात् अनेनाऽन्येऽपि दैहिका धर्मा निवारिताः । उत्पत्तिकार्यतपस्यादीनि चाऽक्षरसाम्यान्निवारितानि । **'अस भुवि' 'डुकृञ् करणे' 'शम उपशमे'** इति धात्वादयो गृहीताः । प्रपञ्चकर्मज्ञानानि वा ज्ञानसाधनानि; ततः ससाधनं ज्ञानमुक्तं भवति । **त्यक्तपिप्पलमिति** । त्यक्तं पिप्पलं कर्म फलं येन । वैराग्यमेतत् । पिप्पाल्लातीति पिप्पलम् । पिपः पान्तीति पिप्पाः । पिब्तीति पिः कालः, अविशेषेण सर्वभक्षकत्वात् । तद्रक्षकाणि कर्माणि, कालविशेष एव विहितत्वात् । कर्माणि च फलमेवाऽऽदत्ते, फलकामनयैव कर्मकरणात् । तत्रैकवचनं सर्वं त्याज्यत्वेनैकरूपमिति । अनेन वैराग्ये लौकिकानि, दैहिकानि भक्तिमार्गस्थानि वा विरक्तस्य न निषिद्धानि, न वा नित्यानि, फलेन तेषामप्यनाकर्षात् । नैमित्तिकानि चार्द्धनिषिद्धानि, कालपोषकत्वात् । अग्निहोत्रादीन्यपि नियतकालकर्तव्यानि नैमित्तिकान्येव । सर्वदा कर्तुं शक्यान्येव नित्यानि । योगेनाऽऽत्मदर्शनम्, दानादि परार्थक्रिया, भगवद्भजनमित्यादि; एतेषां न कालपरिपालकत्वम् । अतो वैराग्ये नित्यानि कर्तव्यान्येव, नैमित्तिकानि विकल्पन्ते; काम्यानि तु त्यक्तव्यान्येवेति सूचितम् । गीतायां यद्भगवद्वचनम्–'**यज्ञदानतपः** ...' इति । तत्रापि यज्ञा नित्याः, जरामर्यादादयो वा । दानमपि ज्ञानोपदेशादयः सर्वदा दातुं शक्याः, अक्षयत्वात् । तपोऽपि नित्यमेव यत्सम्भवति, ऊर्ध्वरेतआदिरूपम्, न तु कृच्छ्रादि; तेषां सर्वदा कर्तमशक्यत्वात् । एवं षोडशकलं भगवन्तं दृष्टवान् ।।८।।

व्याख्या जिस प्रभु ने अपना दक्षिण चरण, कमल अपनी वाम ऊरू पर धरा है वैसे प्रभु स्वरूप के दर्शन किए, इस प्रकार के स्वरूप से यह सूचन किया है कि मेरी प्राप्ति का साधन

भक्ति ही है। भगवान् स्वरूप जैसे सुन्दर परम भगवदीयों में कमल सुन्दर (कोमल) तथा सर्व को तृप्ति (ग्रानन्द) देने वाला भगवद् भक्ति मार्ग मैंने स्थापित किया है, चरण को सरोरुह विशेषण देकर यह सूचित किया है कि वह भक्ति प्रेम से ही प्रकट होती है। दक्षिण पद से भक्ति मार्ग में तीन विशेषण (गुण) सूचित किए हैं ६ चातुर्य दक्षिणोदेशः पाषण्डाभावः, १—चतुराई २ — दक्षिण देश और ३— पाषण्ड का अभाव, ये तीन गुण हैं। 'ऊरू' पद से प्रकट किया है कि भक्त कुटुम्ब सहित भक्ति परायण होता है तथा उनके पुत्र स्त्री आदि में भी भक्ति होती है जिससे पाकादि सेवा में सब उपयोगी होते हैं। अतः वैष्णवों से संस्कृत (संस्कार प्राप्त) भक्ति मार्ग साधन होता है। यों भक्ति का साधनपन निरूपण कर अब कर्मों का साधनत्व निरूपण करते हैं 'अपाश्रितार्भकाश्व त्थमिति' छायार्थ जिसने छोटे (कोमल) पीपल का आश्रय लिया है। अर्भक' पद का आशय बताते हैं कि वह पीपल बालकों[1] को सुख देने वाला है अथवा छोटा होने से अभी तक कोमल है। इस वृक्ष की लकड़ी से अरणियाँ बनाई जाती हैं। वे ही अरणियाँ सर्व कर्मों के साधनरूप हैं। उनके बिना कर्म पूरा नहीं होता है। 'अपाश्रय' पद का भावार्थ है कि साधन रूप से कर्मों की अपेक्षा है, किन्तु कल को अपेक्षा नहीं है। इस लीला से यह स्पष्ट किया है कि कर्म में बालकों[2] का अधिकार है।

'अकृशं' विशेषण से भगवान् का पूर्णत्व बताया है तथा वे ज्ञानरूप हैं। इसी तरह भगवत्स्वरूप कहने का आशय यह है कि दूसरे अपूर्ण होने से परिच्छेद वाले हैं इसलिए भगवत्प्राप्ति का पूर्ण सत्य ज्ञान ही साधन है, न कि शारीरिक भाष्य में कहे हुए मायावादादि खंडब्रह्मज्ञान साधन है। 'भक्त' ज्ञानियों से दुर्बल (कम) हैं। इस शंका का निवारण भगवान् ने भक्तों को अपने में सायुज्य मुक्ति दे के किया है जिसमें वे निर्बल नहीं किन्तु सब से सबल हैं यों सिद्ध किया है, इसके दूसरे वैदिक धर्म उनमें (भगवान् में तथा भगवदीयों में) नहीं है यह भी सिद्ध किया है।

जैसे अक्षर ब्रह्म में उत्पति, कार्य तथा तपस्या आदि नहीं है, वैसे भगवान् में भी नहीं है कारण कि आप ब्रह्म होने से अक्षर के समान भी हैं,

'अकृशं' पद में असुभुवि धातु डुकृञ्करणे धातु एवम् शम उपशमे धातु इन तीनों धातुओं के प्रथम अक्षर लिए हैं, जिससे प्रपंच, कर्म और ज्ञान अथवा ज्ञान के साधन कहे हैं। इससे समझा जाता है कि साधन सहित ज्ञान कहां है।

'त्यक्तपिप्पलम्' त्यागा है पिप्पल (कर्म फल) जिसने ऐसे प्रभु के दर्शन किए, इससे वैराग्य प्रदर्शित किया है।

पिप्पल 'पिप्पाँन् लाति इति' पिप्पलम् जो कार्मो को करावे वह पिप्पल है, 'पिपः पान्ति इति पिप्पाः' काल की रक्षा करने वाले (कर्म), 'पिबति इति पिप्पलम्' सबको पी जाता है वह काल, यह काल सर्व को भक्षण करता है इस काल के रक्षक कर्म हैं, कारण कि वे समय-समय

---

[1] —'अर्भक बालक पद का गूढ़ अभिप्राय यह है कि कर्मरूप साधन बालकों (अज्ञों) के लिए है। [2] - ज्ञान एवं भक्ति के अधिकारी।

पर किए जाते हैं। कर्म फल प्राप्ति के लिए किए जाते हैं अतः कहा गया है कि कर्म निष्काम होकर करने चाहिए अर्थात् कर्मफल की इच्छा मात्र भी नहीं करनी चाहिए जिससे वैराग्य दृढ़ हो जाय।

वैराग्यानन्तर भी लौकिक, दैहिक एवं भक्ति मार्ग के सेवादि कर्म करने का निषेध नहीं है, इसी तरह नित्य कर्म (सन्ध्या बन्दनादि) करने का भी निषेध नहीं है,। कारण कि वे फल देकर चित्त को लोभ द्वारा आकर्षक नहीं करते हैं। नैमित्तिक कर्म किये वा न किए जाए स्वेच्छा है, शेष काम्य कर्म तो नहीं करने चाहिए।

गीता में यज्ञ, दान, तप रूप कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए ऐसी आज्ञा है। ये सर्व वृद्धावस्था में भी किए जा सकते हैं अतः नित्य, सदा करने की अनुमति दी गई है। किन्तु जब तक सुख पूर्वक बन सके तब तक अवश्य करने चाहिए। इसी तरह षोण्डशकला वाले परमात्मा के दर्शन किए ॥८॥

कारिका—**प्रमेय साधने चैव चतुर्मूर्तिः फले पुनः।**
पञ्चात्मकस्त्रिमूर्तिस्तु प्रमाण इति निश्चयः॥

कारिकार्थ—प्रमेय तथा साधन में चतुर्मूर्ति, फल में पाञ्चरूप वाले और प्रमाण में तीन रूप वाले भगवान् हैं इस प्रकार ६ कला वाले हैं यों निश्चय है।

आभास—यदैव मया भगवान् दृष्टः, तदैव मैत्रेयोऽपि समागतः, विदुरोद्धारार्थं तदानयनात्। अत एवं मुख्यं भागवत मैत्रेयोक्तमपि भवति, ब्रह्मसमानत्वात्, साक्षाद्भगवता त्रयाणां स्थाने निरूपितत्वात्। अतः शुकोक्तत्वमपि पृष्ठतः कृत्वा मैत्रेयोक्तत्वमेवोक्तम्। एकान्तरितत्वाल्लीलाद्वयेन कृतार्थता विदुरस्य, एवमुद्धवोक्तेऽपि भविष्यति कल्पान्तरे। ब्रह्माद्धवमैत्रेयाणां सूक्ष्मलीलामात्रश्रवणेनैव कृतार्थता। सा च लीला आश्रयरूपा, 'परमां स्थितिम्' इति वचनात्। तस्याऽप्यागमनं भगवदिच्छया। पूर्वमपि स वेदव्यासतुल्यः, शुकतुल्योऽपि, नारदन्तुल्योऽपि। अतो ब्रह्मपरम्परायां यावन्तस्ते सर्वे मैत्रेय एक एवेति, न परम्पराद्वयस्याऽल्पमपि वैलक्षण्यमिति। तादृशरूपो मैत्रेयः समागत इत्याह—

आभासार्थ—जब मैंने (उद्धवने) भगवान् के दर्शन किए तब उस समय मैत्रेयजी भी आ गए क्योंकि विदुर के उद्धारार्थ उनको (मैत्रेय को) भगवान् लाए थे, इससे मैत्रेय के कहे हुए भगवान् भी मुख्य हैं, मैत्रेय ब्रह्मा जैसे हैं कारण कि भगवान् ने जैसे ब्रह्मा को भागवत् सुनाया वैसे ही यहाँ मैत्रेय भी भगवान् से सुनेंगे, अत. ब्रह्मा, उद्धव और मैत्रेय तीनों इस बिषय में समान स्थिति वाले हैं, अतः शुक का कहा हुआ न कह कर मैत्रेय ने जो कहा वही कहा। एक के ही मध्य में रह जाने से दो लीलाओं से ही विदुर कृतार्थ हो गया, इसी तरह उद्धव प्रोक्त भागवत से कल्पान्तर में यों होगा। ब्रह्मा, उद्धव और मैत्रेय तीनों सूक्ष्म लीला मात्र श्रवण से कृतार्थ हो

गए हैं 'परमो स्थितं' इस वाक्य से जाना जाता है कि वह लीला 'आश्रय रूपा थी' उस (मैत्रेय) का आना भी भगवदिच्छा से हुआ है। प्रथम भी वह वेद व्यास के समान थे तथा शुक और नारद के समान भी है, अतः ब्रह्मा की परम्परा में जितने सर्व भागवत वक्ता हुए हैं। उतना एक ही मैत्रेय है इससे दोनों परम्पराओं में किंचित्मात्र भो विलक्षणता (भेद) नहीं है, ऐसे मैत्रेय वहां आये यों निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तस्मिन् महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा।**
लोकाननुचरन् सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥६॥

श्लोकार्थ—द्वैपायन (व्यास) का हितकारी एवं मित्र, महान् भगवदीय मैत्रेयजी लोकों में घूमते हुए अकस्मात् स्वेच्छा से वहाँ आ गए ॥६॥

सुबोधिनी—तस्मिन् महाभागवत इति। **तस्मिन्** देशे काले च। भगवद्भक्तानामपि कृतार्थकरणसामर्थ्यात् महाभागवतत्वम्। **द्वैपायन** इति तदर्थमेव पुष्टया भगवदवतारः, तथाऽयमपीति ज्ञातव्यम्। तस्य सुहृत्, तस्यापि हितकारी सखा च, पराशरशिष्यत्वात्। अनेन पुराणमेव व्यासवत् परम्परया पराशरादवगतम्, न तु भागवतमिति सूचितम्। व्यासोऽपि नारदादेव भागवतं ज्ञातवान्। अनेन मैत्रेयस्याऽपि भगवदाज्ञया पुराणकथनं न व्यासस्याऽधिकारिणो विरोधहेतुः; तत्पुत्रोपदेशाच्च। एतदर्थं मित्रत्वमुक्तम्। **लोकाननुचरन्निति** शुकवत्स सिद्ध उक्तः। शुको ह्याचरन्नेव सिद्धो जातः। **आससाद यदृच्छयेति** नारदतुल्यता निरूपिता, स हि यादृच्छिकः ॥६॥

व्याख्या— उस देश में और उसी समय मैत्रेयजी आ पहूंचे, वे(मैत्रेय) परम भगवदीय थे यों कहने से यह सूचित किया जाता है कि उनमें भगवद्भक्तों को भी कृतार्थ करने का सामर्थ्य था।

द्वैपायन इस नाम से बताया है कि भागवत के रचने के लिए ही यह भगवदवतार[1] पुष्टि (अनुग्रह) मे हुआ है, यह (मैत्रैय) भी वैसे ही हैं, मैत्रैय पाराशरजी के शिष्य होने के नाते उनका (व्यासजी को) हित करने वाले और मित्र हैं। इससे यह भी सूचित किया है कि इसने परम्परा से व्यास का तरह पुराण पाराशरजी से सीखे हैं न कि भागवत व्यास ने भी नारद से ही भागवत[2] जाना मैत्रैय पुराणों की कथा भगवदाज्ञा से करने लगे। अतः अधिकारी व्यासजी के साथ विरोध होने का कोई कारण नहीं है और शुकदेवजी को भी मैत्रैय ने उपदेश किया है जिससे भी विरोध का अभाव और मित्रता का भाव होना उचित ही है, मैत्रेय लोकाटन करता वहां पहुँचा इससे वह शुकवत् सिद्ध है। अचानक स्वेच्छता से आ गए यों कहकर नारद की समानता दिखाई है, नारद भी रटन करते रहते हैं, अचानक स्वेच्छा से कहीं भी आ जाते हैं ॥६॥

---

[1]—ज्ञानावतार व्यासजी। [2]—भगवान् की लीलाओं का वर्णन करो यह ज्ञान प्राप्त किया अनन्तर समाधि में अनुभव कर लीलाओं का वर्णन्त किया।

आभास—एवं भगवान् सर्वसंविधानं विधाय पूर्वावस्थां त्याजयितुं स्वस्य कृपामसाधारणं कारणं स्वयमेव सम्पादितवानित्याह—

आभासार्थ—इसी प्रकार भगवान् सबकी पूरी तरह स्थिति का विधान कर पूर्वावस्था को छुड़ाने के लिए जो असाधारण कारण कृपा है वह (कृपा) स्वयं ही करने लगे, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तस्याऽनुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः प्रकृष्टमोदानतकन्धरस्य।**
आशृण्वतो मामनुरागहाससमीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥१०॥

श्लोकार्थ—विशेष आनन्द से नम्रगर्दन वाले उस प्रेम पूर्ण मुनि के सुनते हुए प्रेम सहित एवं हासयुक्त द्रष्टि से मेरे श्रम का निवारण करते हुए मुकुन्द मुरारी मुझे कहने लगे ॥१०॥

कारिका—**सास्याऽनुरक्तस्येतिजनु गोप्या दयोपदेशश्च, उपदशो न हि द्वयोः।**
भिन्नप्रकारयोर्जात्या स्वरूपेण गुणेन च ॥१॥

कारिकार्थ—दया और उपदेश दोनों को गुप्त रखना चाहिए अतः जाति स्वरूप और गुण से जो भिन्न प्रकार के हों उन दोनों को साथ में उपदेश नहीं देना चाहिए।

सुबोधिनी—इत्याशङ्कयाऽऽह-**अनुरक्तस्येति**। **अनुरक्तस्य** प्रसिद्धस्य **मैत्रेयस्य आशृण्वतो मामोहेति** सम्बन्धः। अन्यत्र कथनाभावाय **मुनेरिति**। कृपाकथने हेतुः-**मुकुन्द इति**। स हि मोक्षदाता सर्वेषाम्, यथा जगत्कर्ताः, अतस्तथोक्तवान्। तह्युभयोः प्रधानत्वं कथं नोच्यते? तत्राऽऽह-**प्रकृष्टमोदानतकन्धरस्येति**। प्रकृष्टो यो मोदस्तेन आनता कन्धरा यस्य। स हि प्रेमभरेण गृहीतो ज्ञानाधारमधः कृत्वाः प्रेमाश्रु मुञ्चन्, चरणमेव पश्यन्, स्थितः। अतः साक्षादुपदेशानधिकारी, भक्त्या च कृतार्थः। अतस्तस्य शृण्वत एव सतो मामुद्दिश्यैवाऽऽह। स्वस्थे हि चित्ते उपदेशो घटते। स्वास्थ्यं च देशकालवैपरीत्यदर्शनात्, श्रमादिना च न सम्भाव्यते। अत आह-**अनुरागहाससमीक्षयेति**। अनुरागाद्भयवृत्तिः, न ह्यनुरक्तो भगवान् मारयति। हासेन च मोहः। भगवता पूर्णं कृतं पश्यन्नपि नानुसन्धत्ते। सम्यगीक्षा समीक्षणं दयासहितम्, तेन देशकालभयानि सर्वाण्यपि निवृत्तानि। विशिष्टेन श्रमाभावः। अनुरागपूर्वको यो हासस्तत्सहिता समीक्षेति ॥१०॥

व्याख्या—उपर्युक्त शंका का निवारण इस श्लोक द्वारा करते हैं—यहाँ जो उपदेश दिया है वह मुख्यतः उद्धव को ही दिया है यद्यपि हालाँकि वहाँ मैत्रेयभी थे किन्तु वे भक्ति से कृतार्थ हो गए थे इसलिए 'अनुरक्तस्थ' विशेषण से उनकी प्रेम निमग्नता कही है। और 'मुनि' विशेषण से यह सूचित किया है वह जो कुछ भी उपदेश सुनेंगे तो भी दूसरे को नहीं बताएँगे यह उपदेश प्रभु कृपाकर दे रहे हैं इसलिए यहाँ आपका नाम मुकुन्द' दिया है, जैसे आप स्वेच्छा से कृपाकर लीलार्थ जगत् की रचना करते हैं वैसे ही आप सबका मोक्ष करने वाले हैं।

यदि यों है तो दोनों (विदुर और मैत्रेय) को मुख्य श्रोता क्यों नहीं किया। इसके उत्तर में कहते हैं 'प्रकृष्ट मोदानतकन्धरस्य' अतिशय आनन्द के कारण जिसकी ग्रीवा न भी हुई है जिससे नयनों से प्रेमाश्रुओं की वर्षा करते हुए चरणों में दृष्टि वाले थे अतः प्रेमरस में मग्न हो जाने से वे श्रवण नहीं कर सकते थे जिसका अन्य कारण था कि वह इस उपदेश का अब तक साक्षात् अधिकारी नहीं हुए थे। भक्ति से ही कृतकृत्य हो गए थे अतः उसके सुनते हुए मुझे उद्देश कर उपदेश दिया, किन्तु उपदेश स्वस्थ चित्त में ही स्थिर होता है। देश काल की विपरीतता तथा परिश्रम होने से स्वस्थ चित्तता रह नहीं सकती है। मेरी दशा ऐसी ही थी, किञ्च पुष्टिस्थ, प्रभु अपने सेवकों पर कृपा करते हैं जिसमे स्वयंसाधन बन जाते हैं। इसलिए यहाँ भी आपने प्रथम अनुराग तथा हास्य संयुक्त दृष्टि से मुझे सर्वप्रकार निर्भय कर मेरी थकावट दूर की एवं स्वस्थ चित्त बना दिया जिससे हास्य द्वारा उत्पन्न मोह से देखते हुए भी अनुसंधान न रहा तो भी उपदेश चित्त में स्थिर हो गया ॥१०॥

आभास—पूर्वम् 'अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामुपैष्यसि केवलम्।' इति भगवता प्रोक्तम्, तदुद्धवस्थ सर्वथा हितमिव भवति। स हि भगवन्तमेव प्राप्तुमीष्टे, निरन्तरं च निकटे स्थातुम्। साधनानि च न कर्तुं वाञ्छति। तादृशस्य बदरिकाश्रमप्रेषणं नाऽत्यन्तमभीष्टमिति तदिच्छामनुवदन् देयान्तरमाह। अस्मिन दत्ते तदेतच्चाऽन्यार्थं भविष्यति। अहमिव तथा करिष्यतीत्यभिप्रायेणाऽऽह—

अभासार्थ—प्रथम भगवान् ने उद्धव को कहा था कि 'तीन गति' (फलों) को उल्लंघन कर केवल मुझे प्राप्त करेंगे' यह कहना सर्वप्रकार उद्धव के लिए हितकर जैसा था, वह (उद्धव) भगवान् को ही प्राप्त करना चाहता था और सदैव पास में रहने की इच्छा वाला था। साधन करने की भी उसकी (उद्धव की) इच्छा नहीं थी, ऐसे उद्धव को बदरिकाश्रम भेजना अत्यन्त इच्छा विरुद्ध था। यह इच्छा प्रकट करते हैं कि आप विचार न करें आपको अन्य फल दूँगा। इसके देने पर वह और यह अन्य के लिए होगा। जैसे मैं करूंगा, उद्धव भी वैसा ही करेगा, इस अभिप्राय से निम्न श्लोक कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच–श्लोक—**वेदाऽहमन्तर्मनसीप्सितं ते ददामि यत्तद्दुरवापमन्यैः।**
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां मत्सिद्धिकामेन वसो! त्वयेष्टः ॥११॥

श्लोकार्थ—श्रीभगवान् उद्धव को कहने लगे, कि जो तेरे मन में इच्छा है उसको मैं जानता हूँ, दूसरों को जो मिलना कठिन है वह तुम्हें देता हूँ। हे वसु! विश्व की रचना करने वाले वासुओं के यज्ञ में मुझे प्राप्त करने की इच्छा से तुमने मेरा सप्रेम यजन किया था ॥११॥

सुबोधिनी—वेदाहमिति । ते यदन्तर्मनसीप्सितं तदहं वेद । इदं वाक्यमनुवादकम्, तत् फलं दास्यामीत्येतदर्थम् । एवमुक्ते प्रथमत एवाऽऽश्वासो भवति, अन्यथा काकतालीयशङ्का च स्यात् अन्यथाभिप्रायशङ्का च । ननु तद्भगवदात्मकं लौकवेदतोऽदेयं कथं दास्यतीत्यत आह–**ददामि यत्तदिति** यत्त्वया मनसि कृतं तदेव दास्यामीत्यर्थः । तस्याऽसाधारणत्वमाह–**दुरवापमन्यैरिति** । त्वद्व्यतिरिक्तैः सर्वैरेव दुरवापम् । तां कामनां विस्मृतामिव स्मारयति–**सत्रे पुरेति 'विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमारात'** इति श्रुतौ सहस्रसमयागे विश्वसृजां मध्ये वसवोऽपि स्थिताः, तन्मध्ये त्वमेको मत्सिद्धिकामः; न हि सर्वे । **'एतेन वै विश्वसृज इदं विश्वमसृजन्त'** इति श्रुतेः, **'ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्ति'** इति श्रुतेश्च विश्वसामर्थ्यंम् ततो विश्वं सृष्ट्वा ब्रह्मसायुज्यं प्राप्नुवन्तीति सर्वेषां फलम् । तदधिकारीविशेषप्रयुक्तं विश्वकरणसामर्थ्यं यागस्य । स्वतः साम्र्थ्यं हिरण्मयशकुनिरूपब्रह्मोत्पत्तिः । तदा ते विश्वं सृष्ट्वा ब्रह्मसायुज्यं प्राप्ताः । भवांस्तु तदुभयं न काङ्क्षितवान्, किन्तु सङ्घानुरोधेन यागे प्रवृत्तो मत्सिद्धिमेव काङ्क्षितवान् । मम सिद्धिर्मद्भावः 'पुरुषोत्तमो मम भवतु, अहं वा भवामि' इति; तच्च सर्वथा दुर्लभं यागात् । अतो यागः कामितत्वाभावान्न नियतं फलं दत्तवान् । एतच्च दातुमसर्थस्त्वामेवरूपमुत्पाद्य मत्सेवां कारितवान् । अतो मया सेवाफलं बदरीस्थाने पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपं यथा सिद्धयति तथोपाय उक्तः । यागफलं तु न दत्तम्, तदिदानीं दास्यामीत्यर्थः । **वसो** इति सम्बोधनमेतदर्थानुसन्धानं भगवत्कृपया तस्य जातमिति ख्यापनार्थम् । फलार्थमेव याग इति त्वयऽहमेवेष्टः ।।११।।

व्याख्या—तुमने जो प्राप्त करने की जो इच्छा मन में की थी वह मैं जानता हूँ, यह वाक्य 'अनुवादक' है, जिसके कहने का भावार्थ है कि जो तुम फल चाहते हो वह ही दूँगा, इससे यह सिद्ध होता है कि फल प्राप्ति का पहले ही भगवान् ने आश्वासन दे दिया है, जो यों नहीं होवे तो फिर काकतालिय न्याय की तरह अचानक फल मिला, ऐसी शंका होने लगे और नहीं तो अभिप्राय की शंका होवे कि ऐसा फल क्यों और किसलिए दिया और वह फल भगवदात्मक है जिसे लोक तथा वेद से अदेय होने पर कैसे देंगे ? इसे शंका निवारणार्थ कहते हैं कि 'ददामि यत्तदिति' जो तुमने मन में चाहा है वह मैं देता हूँ (दूँगा) जो तुमने चाहा है और मैं दूँगा वह असाधारण है, अतः कहते हैं कि 'दुरवापभव्यैः' तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई इसको पा नहीं सकता है, वह जो तुम्हारी कामना है वह तुम भूल गए हो मैं उसकी याद दिलाता हूँ 'सत्रेपुरा इति' पूर्वकाल में यज्ञ में तुम ने यह कामना की थी 'विश्वसृजः प्रथमाः सत्रभासत' इति श्रुतौ, श्रुति में यों कहा है कि विश्व रचनेवालों ने पहले सहस्रवर्ष पर्यन्त सत्र किया था उनके मध्य में वसु भी बैठे थे उन वसुओं में तुम एक थे जिसको मेरी प्राप्ति की उत्कट इच्छा थी, दूसरे किसी को नहीं 'एतेन वै विश्वसृजः इदम् विश्वमसृजन्त' इति श्रुने 'ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यान्ति' इति श्रुतेश्च विश्व सामर्थ्यम् । अर्थ—इससे (सत्र करने से) विश्व रचकों ते निश्चय इस विश्व की रचना की रचना की और

ब्रह्मा का सायुज्य एवं उसकी सलोकता प्राप्त को' तथा इससे विश्व रचने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली, विश्व रचना के अनन्तर ब्रह्म सामुज्य को प्राप्त होते हैं। यह फल सर्व को प्राप्त हुआ। सत्र का विश्व रचने की सामर्थ्य रूप फल विशेष अधिकारियों को मिला और सुवर्णमय पक्षीरूप ब्रह्मा की उत्पत्ति तो यज्ञ के स्वतः सामर्थ्य से हुई, तब वे विश्व की रचना कर ब्रह्म सामुज्य को प्राप्त हुए, तुमने तो दोनों की (विश्व रचना और ब्रह्म सामुज्य की) इच्छा नहीं की, किन्तु केवल सत्र के अनुरोध (आग्रह) से सत्र में प्रवृत्ति की, किञ्च कामना तो केवल मेरी प्राप्ति की ही थी। वह कामना यह थी कि 'पुरुषोत्तम मेरा हो या मैं पुरुषोत्तम का हो जाऊँ' वह तो यज्ञ करने से दुर्लभ है। अतः यज्ञ जिन कामनाओं को दे सकता है उनमें यह कामना नहीं थी अतः वह न देकर नियत फल हो यज्ञ ने दिया, जो तुम चाहते थे उसके देने में असमर्थ होने से तुम्हें यादव कुल में पैदा कर मेरी सेवा कराई अतः मैंने सेवा का फल बदरिकाश्रम में रहने से जैसे पुरुषोत्तम प्राप्ति रूप फल सिद्ध हो (मिले) वह उपाय बताया, यज्ञ का फल तो नहीं दिया वह (जो देना है) अब दूँगा। वसो! यह सम्बोधन! कृपा कर इस अर्थ के अनुसंधान के लिए दिया है। फलार्थ ही तुमने यज्ञ किया उस यज्ञ से तुमने मेरा ही पूजन किया और मुझे ही चाहा था ॥११॥

आभास——तर्हि किं दातव्यम्? कथं दातव्यम्? इत्याकाङ्क्षायामाह——

आभासार्थ—तो क्या देना चाहिए? कैसे देना चाहिए? इस आकाँक्षा पर निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोक——**स एष भावश्चरमो भवानामासादितस्ते मदनुग्रहो यत्।**
यन्मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या ॥१२॥

श्लोकार्थ——तुम्हारे जन्मों में यह तुम्हारा जन्म अन्तिम है। अर्थात् इसके अनन्तर तुम नहीं जन्मे क्योंकि इस जन्म से तुम्हें मेरी कृपा सम्पादन करती है, और जब एकान्त में नृलोकों को छोड़ते थे उस समय भाव से मेरे दर्शन कर लिए ॥१२॥

सुबोधिनी—स एष इति। स एष भावो जन्म, ते भवानां चरमः। यदीदानीं न दत्तं स्यात्, तदा तवाऽग्रे जन्माभावात्फलं न भवेदेव। ततः किमत आह-यद्यस्मिन् जन्मनि प्राप्तःममानुग्रहः फलसूचकोऽनन्तिमजन्मनोऽप्यन्तिमत्वं साधयति। एवमन्तिमे जन्मन्यनुग्रहो जात इति फलमावश्यकम्। किञ्च, न योग्यता मात्रम्, किन्तु फलमुखमेव तज्जातमित्याह-**यन्मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तमिति।** नृलोकान् सर्वानेव एकान्ते स्थित्वा उत्सृजन्तं मां ददृश्वान् दृष्टवानसि ॥१२॥

व्याख्या—वह यह तुम्हारा जन्मों में अन्तिम जन्म है अतः जो अब फल दूँगा तो आगे तो तुम्हारा दूसरा जन्म नहीं होगा तो फल कैसे लोगे? यों कहने का क्या आशय है? इस पर कहते हैं कि जब तस अन्तिम जन्म में मेरा अनुग्रह प्राप्त किया है तो फल भी अवश्य मिलना है। वह फल भी कैसा? यदि अन्तिम जन्म न होवे तो भी उसको अन्तिम बना दे। किन्तु यह अनुग्रह केवल

योग्यता ही प्राप्त कराने वाला नहीं है बल्कि वह अनुग्रह फलमुख (फलप्रद) है। अतः सर्व नृलोकों (जन्मों को) एकान्त में स्थित हो त्याग कर उच्चता को जाने के समय मेरे दर्शन पाए ॥१२॥

आभास—एतच्च दर्शनं निर्मलया सेवया जातम्; अतः ससाधनत्वात्तत् स्थिरम् न काकतालीयम् । उत्सृजन्तमित्यनेन त्यजन्तमूर्ध्वं सृजन्तं चेत्यर्थद्वयं विवक्षितम् । तेन यागप्रयोजनं मद्भावश्च एकरूपो भवति । मद्भावेप्येतद् द्वयं कर्तव्यम्. गुप्ततया स्थित्वा विश्वजननं सर्वलोकपरित्यागश्च । जगज्जन्मनश्चरमत्वादेव परित्यागः सिद्धः । मद्भावेन जगज्जननमव शिष्यते । तत्र मत्सायुज्ये जगज्जननमन्यथासिद्धं भवति, एकीभावश्रुतेः । 'यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्' इति । भिन्नतया ब्रह्मभावे 'जगद्व्यापारवर्जम्' इति न्यायान्न जगत्कर्तृत्वम् । अतः सर्वाविरोधेन मद्भावेन जगज्जननं यथा सिद्धति तथा वक्ष्यामीत्यभिप्रायेण, ब्रह्मणोऽप्येतदेव मयोक्तमित्येतदर्थज्ञानेन यथा ब्रह्मा मद्रूपो भूत्वा मद्रूपं जगत्कृतवान्, क्रियया तस्य तथाऽधिकारात्; त्वमप्येतज्ज्ञानान्मद्रूपो भूत्वा मद्रूपं जगत् ज्ञानेन करिष्यसीत्याशयेन तज्ज्ञानमाह––

आभासार्थ—अन्तिम समय में यों मेरे दर्शन होने का कारण यह है कि तुमने मेरी शुद्ध भाव से सेवा की है, वह दर्शन से, सेवा रूप साधन से, होने के कारण स्थिर है न कि काकतालीय न्यायवत् अचानक मात्र है, किन्तु 'उत्सृजन्तं' पद के यहाँ दो अर्थ इच्छित हैं, एक शरीर 'छोड़ने के समय' 'दूसरा ऊँचे से सृष्टि करते हुए, इसलिए यज्ञ का प्रयोजन आदि मेरा भाव (पुरुषोत्तम स्थिति) दोनों एक रूप हुए हैं, मुझमें (मेरे में) स्थिति होने पर भी ये दोनों ही कर्त्तव्य हैं, गुप्त रूप से स्थित हो विश्व की उत्पत्ति करनी और सर्वलोक परित्याग तुम्हारा यह अन्तिम जन्म है, इससे सर्वलोक परित्याग तो सिद्ध ही है। मेरे भाव में स्थिति रहकर जगत् की उत्पत्ति करना शेष है, उसमें मेरे सायुज्य हो जाने पर जगत् की उत्पत्ति अन्य प्रकारसे सिद्ध होगी, क्योंकि श्रुति में एकीभाव कहा है जैसे 'सर्वसामयां समुद्र एकायनम्' सर्व जलों का समुद्र ही एक स्थान है अर्थात् सर्व जल समुद्र में मिल जाने पर समुद्र बन जाते हैं, तब जो कार्य होता है वह समुद्र ही करता है न कि नदी। वैसे ही ब्रह्मभाव होने पर 'जगद्वया पादवर्जम्' इस न्यायानुसार जीव में जगत्कर्त्तृत्व नहीं हैं। यों कहना असत्य ठहरेगा, अतः किसी का भी विरोध न होवे वैसे मेरी स्थितिवान् होते हुए भी जैसे जगत् की उत्पत्ति कर सको वह प्रकार इस श्लोक में बताऊँगा, ब्रह्मा को भी यही कहा था, उसके अर्थ के ज्ञान से जैसे ब्रह्मा ने मेरा रूप होकर मेरा रूप जगत् बनाया है, क्रिया से उसका वैसा अधिकार हो ऐसे तुम भी इस ज्ञान से मद्रूप होकर मद्रूप जगत् ज्ञान से करोगे इस आशय से निम्न श्लोक में वह ज्ञान बताते हैं।

श्लोक—पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये पद्मे निषण्णाय ममाऽऽदिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥१३॥

श्लोकार्थ—आदि सृष्टि करने के समय, मेरी नाभि से उद्भूत कमल में स्थित अज (ब्रह्मा) को, मेरी महिमा जिसमें प्रकाशित हो रही है और जिसको सूरि (कवि–विद्वान) भगवान् कहते हैं। उस (भागवत) के द्वारा वह उत्तमज्ञान दिया। जिससे वह (ब्रह्मा) सृष्टि रच सका ॥१३॥

सुबोधिनी—पुरिते। एतद्वक्ष्यमाणं ज्ञानम्, मम नाभ्ये पद्मे निषण्णाय अजाय आदिसर्गे प्रोक्तम्। तत्र हि सर्वे कृतयुगे ब्रह्मविदो ब्रह्मरूपाः मच्छिक्षया ब्रह्मा पुरुषोत्तमरूपान् कृतवान्। **'यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगे युगे'** इति भगवद्वाक्यात्। नाभौ भवं नाभ्यम्। **अज** इति योनिद्वारा न जात इति। असंबन्धेन देहे संबन्धेन वा। समष्टिव्यष्ट्युभयरूपत्वाभावात्। तस्य स्वरूपमग्रे वक्तव्यम्। **'रजोभाजो भगवतो लीलेयम्'** इत्यतोऽयमजः। यदुक्तं तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह–**ज्ञानं परमिति**। ज्ञानमध्यात्मरूपमपि भवति, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह–**परमिति** तदौपनिषदमपि भवतीति ततोऽप्युत्कृष्टमाह—**मन्महिमावभासमिति**। मन्महिम्नोऽवभासो यत्रेति यस्मिन् ज्ञाने मम पुरुषोत्तमत्वं भासते। माहात्म्यप्रतिपादका गुणाः, कर्माणि, शक्तयश्च, अलौकिकं च सामर्थ्यम्; एतत्सर्वं यत्र भासते तद्भागवतमिति लोके प्रसिद्धमान्। सूरयस्तथा वदन्तीत्यतोऽस्मिन्नपि शास्त्रे वादिनामपि वाद एव ॥१३॥

व्याख्या—यह ज्ञान जो अब कहूँगा वह मेरी नाभि से उत्पन्न कमल पर बैठे हुए अज (ब्रह्मा) को आदि सृष्टि के समय कहा था। क्योंकि उस समय में कृतियुग था जिससे सर्व ब्रह्मवेत्ता होने से ब्रह्मरूप थे, जिस कारण से उस युग के ब्रह्मा ने मेरी शिक्षा से सर्व पुरुषोत्तम रूप किए थे अतः सर्व विवेक में निपुण थे। यों भगवान् के वाक्य हैं, 'नाभ्यम्' पद का अर्थ है जो नाभि से उत्पन्न हुआ, 'अज' पद से यह सूचित किया है कि ब्रह्मा योनि द्वारा उत्पन्न न होने से अजन्मा कहा जाता है। देह से सम्बन्ध न होने से अथवा सम्बन्ध होने से वह (ब्रह्मा) समष्टि व्यष्टि दोनों रूप नहीं है। उसका (ब्रह्मा का) क्या रूप है वह आगे कहा जाएगा।

रजोगुण रूप भगवान् की यह लीला है, इस वाक्यानुसार ब्रह्मा 'अज' है। ब्रह्मा को कौन सा ज्ञान दिया इसके जानने की इच्छा होने पर, वह उत्तम ज्ञान उत्तरार्ध में कहते हैं। उत्तम शब्द से यह बताया है कि यहज्ञान जाव के सम्बन्धवाला नहीं है तो यह ज्ञान उपनिषदों में कहा हुआ वा आध्यात्म रूप होगा ? तो कहते हैं कि नहीं, उससे भी उत्कृष्ट है यों बताने के लिए 'मन्महिमावभासं' विशेषण दिया है। जिस ज्ञान में मेरी पुरुषोत्तम स्वरूप की महिमा प्रकाशित हो रही है। महात्म्य को प्रतिपादन करने वाले गुण, कर्म, शक्तियाँ और अलौकिक सामर्थ्य, यह सब जिसमें प्रकाशित हो रहा है वह ज्ञान 'भागवत' है। यों लोक में प्रसिद्ध है सूरि (विद्वान) यों कहते है अतः इस शास्त्र में भी वादियों का नाम मात्र दिखावटी वाद है ॥१३॥

आभास—तत्कथयिष्यामिति तु नोक्तम्, वस्तुनिर्देश एव परं कृतः। 'नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति शास्त्रमर्यादा। वस्तुनिर्देश एव पृच्छेत्यस्य ज्ञापकः। अतोऽधिकारी भगवदभिप्रायं ज्ञात्वा पृष्टे वक्तव्यमिति पृष्टवानित्याह——

आभासार्थ—वह ज्ञान मैं (भगवान्) बताऊँगा, यों तो प्रभु ने कहा नहीं केवल वस्तु(विषय) का निर्देश ही किया' 'विना पूछे किसी को कहना नहीं चाहिए यह शास्त्र की मर्यादा है, विषय निर्देश से ही उद्धव को पूछने के लिए इंगित कर दिया है अतः जब अधिकारी पूछे तब कहना भगवान् की ऐसी इच्छा वा आज्ञा जानकर उद्धव पूछने लगा यों निम्न श्लोक द्वारा कहते हैं।

श्लोक—**इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः प्रतिक्षणाऽनुग्रहभाजनोऽहम्।**
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं मुञ्चन् शुचः प्राञ्जलिराबभाषे ॥१४॥

श्लोकार्थ—परम पुरुष का प्रतिक्षण अनुग्रह पात्र मैं इस प्रकार आदर किया हुआ और पूछने के लिए कहा हुआ तथा स्नेह से जिसके रोमाँच खड़े हो गए हैं, बोलते हुए अक्षर भी पूरे नहीं निकलते, ऐसा मैं अश्रुओं को गिराता हुआ हाथ जोड़ नम्रता पूर्वक उन (भगवान्) को कहने लगा ॥१४॥

सुबोधिनी—इत्यादृतोक्त इति। आदृतश्चासावुक्तश्च। 'वसो' इत्यादिसंबोधनपूर्वकं पूर्वकृतसेवानुवादादादृतः, वस्तुनिर्देशादुक्तश्च। आदृत एव वा उक्तः, 'प्रष्टव्यम्' इति। अन्यथोत्तरस्य वाग्व्ययरूपस्य क्लेशरूपत्वाद्भक्तस्य प्रश्नो न घटेत आज्ञायां तु सर्वथा कर्तव्य एव। तदुक्तमुक्त इति। आदरस्तु स्फुरणार्थः। अनेन प्रमाणबलं प्रमेयबलं च दत्तमित्युक्तम्। ततः किं जातमित्यत आह—**परमस्य पुंसः प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहं** जात इति। अहमेतावत्कालं कालस्य स्थितः, इदानीं परमस्य जातः। ननु कालोऽपि पर एव। तत्राऽऽह—**पुंस इति।** ज्ञानेनाऽक्षरभावो वा परशब्देन प्राप्तः पुरुषशब्देन निर्वार्यते किञ्च। न संबन्धित्वमात्रम्, किन्तु प्रतिक्षणानुग्रहभाजनः। भक्तं दृष्ट्वा भगवदनुग्रहस्य तरङ्गा उद्गच्छन्ति, तेषां भाजनं पात्रमहमेव जातः, न त्वचेतने समुद्रे तरङ्गाणां लय इव भगवत्येवाऽनुग्रहो लीन इति, निरन्तरं मद्विषयक एव जात इति वा। तदा भगवदनुग्रहस्य कार्यं मयि जातमित्याह—**स्नेहोत्थरोमेति।** अन्तर्भक्तिरसः पूर्णः। तदा स्नेहेनोत्थितानि सर्वाण्येव रोमाण्यवयवशः। सर्वत्रैवाऽङ्गे लोमशो देवताः सन्ति, ते भगवति सन्तुष्टे सर्वे सन्तुष्टा एवोस्थिताः। तत्रापि स्नेहेन महदस्य सुखं कर्त्तव्यमिति। स्खलिताक्षरश्च जातः, पदवाक्योच्चारणं दूरे, अक्षराण्यपि उच्चारयितुं धृतानि क्षरन्तीति। अनेन मर्यादा सर्वथाऽपि शान्ता, वाचः प्रयत्नपरित्यागात्। किञ्च, **मुञ्चन् शुचः।** नेत्राभ्यां शोकाश्रूणि मुञ्चन्। अनेन ससाधनं ज्ञानं पूर्वस्थितं निवृत्तमिति ज्ञापितम्। **प्रकृष्टोऽञ्जलिर्यस्य।** अञ्जलिमेव पुरतो निधाय विज्ञापितवान्। अनेन तस्य प्रश्नाधिकारः सूचितः। **आ** ईषद्भाषे यथा कथञ्चिन्मुखाद्वर्णा निःसृता इत्यर्थः ॥१४॥

व्याख्या—हे वसो ! इस संबोधन से पूर्वकृत सेवा का स्मरण कर मेरा आदर किया तथा वस्तु (विषय) का निर्देश कर आज्ञादी कि तुझे पूछना चाहिए, अन्यथा (बिना पूछे) यदि उत्तर दिया जावे तो केवल वह वाणी के व्यय समान होने से दुःख रूप होता है, फिर भक्त का प्रश्न करना ही न बने, आज्ञा मिलने पर सर्वथा आज्ञा का पालन करना ही चाहिए अर्थात् प्रश्न करना ही चाहिए। इसलिए 'उक्तः' कहा है, 'आदर' इसलिए किया कि वह स्फूर्ति हो कि क्या पूछूँ, इस तरह भगवान् ने प्रमाण बल तथा प्रमेय बल दोनों दिए है, इनके देने का फल क्या हुआ ? इस पर कहता है कि 'परमस्य पुंसः प्रतिक्षणानुग्रह भाजनोऽहम् जातः' परम पुरुष का प्रतिक्षण कृपा पात्र में बना इससे पूर्व, काल के आधीन था अब पुरुषोत्तम का हो गया हूँ काल भी तो 'पर' है, इस पर 'पुंसः' पद देकर स्पष्ट करते है कि 'पर' शब्द ज्ञान से अक्षर भाव को जताता है अर्थात् 'काल' अक्षर सम वा अक्षर रूप है और आप उससे उत्तम 'पुरुषोत्तम' हैं। मैं केवल यादव होने से संबन्धी नहीं हूं किन्तु प्रति क्षण कृपा पात्र हूँ। भगवान् जब भक्त को देखते है तब उनके हृदय रूपी उदधिमें अनुग्रह रूप तरंग उछलने लगती है। उनका पात्र में ही हुआ हूं। अचेतन समुद्र में तो तरंग फिर लीन हो जातो है किन्तु भगवत् हृदय चेतन होने से उसमें अनुग्रह तरंग लीन नहीं होती है, इतना ही नहीं प्रति क्षण उच्छवलित होती रहती है, जिससे वह अनुग्रह मत्संबन्धी ही हुआ। जब यों हुआ, तब भगवदनुग्रह रूप कारण का कार्य (परिणाम-भक्तिरस) मुझे प्राप्त हुआ, क्या प्राप्त हुआ ? इस पर कहता है कि 'स्नेहोत्थरोया' अन्तः करण भक्तिरस से पूर्ण हौ गया जिससे (स्नेह से) सर्व रोमांच (रोंगटे) खड़े हो गए। समग्र शरीर के प्रत्येक अग में जो रोम हैं वे देवता हैं। वे भगवान् के प्रसन्न होने पर स्वयं भी सन्तुष्ट होकर खड़ हो जाते हैं कि जिसको हमारे प्रभु ने प्रेमदान देकर सुखी किया है उसको हमभी सुख देवें। ऐसी रसपूर्ण अवस्था में पद, वाक्य कहना तो दूर रहा किन्तु अक्षर भी स्पष्ट नहीं कह सकता हूँ, इससे कहने की जो मर्यादा है वह शान्त हो गई अर्थात् बोलने का प्रयत्न करना छोड़ दिया फिर नेत्रों से आँसू बहाते हुए हाथ जोड़ प्रार्थना करने लगा। पहले जो साधन सहित ज्ञान था वह निवृत्त हो गया, प्रार्थना करते समय भी जैसे-तैसे मुख से अक्षर निकलने लगे, जिससे गद्-गद् वाणी से प्रार्थना की ॥१४॥

आभास—उद्धवः स्वाभीप्सितं प्रार्थयितुमन्यनिषेधं तत्र हेतुं चाऽऽह त्रिभिः। तत्र ब्रह्मणे मया भागवतं प्रोक्तमिति श्रवणे प्रायेणाऽयं मां ब्रह्माण्डान्तरे ब्रह्माणं करिष्यतीति प्रतिभातं निवारयति—

आभासार्थ—उद्धव अपना इच्छित पाने के लिए प्रार्थना करता है और अन्य फलों के लिए निषेध करता है कि वे मुझे नहीं चाहिए जिनके लिए तीन श्लोकों से हेतु भी बताता है। उद्धव के मन में यह विचार हुआ कि भगवान् कहते हैं कि मैंने ब्रह्मा को भागवत (ज्ञान) दिया, जिससे वह सृष्टि कर्ता ब्रह्मा बना, कदाचित मुझे भी यह ज्ञान देकर अन्य ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा बनाएँगे यों मुझे भासता है, अतः उसके लिए निषेध करता हैं।

श्लोक—**को न्वीश ! ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।**
तथापि नाऽहं प्रवृमोमि भूमन् ! भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥१५॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! आपके चरण कमल के सेवकों को चारों पुरुषार्थों में से कौनसा पुरुषार्थ मिलना दुर्लभ है, कोई दुर्लभ नहीं सभी सुलभ हैं । तो भी हे भूमन् ! आपके चरणकमलों की सेवा का अभिलाषी मैं सेवा के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं चाहता हूँ ॥१५॥

सुबोधिनी—**को न्वीशेति**। **ईशेति** संबोधनं सर्वसामर्थ्यबोधनाय। ते पादसरोजभाजां संबन्धिषु चतुर्ष्वप्यर्थेषु को नु दुर्लभः ? चरणरूपा पृथिवी, ब्रह्माण्डमपि पृथिव्यात्मकमेव, तत्तु प्राप्य दुग्धपानवत्सेव्यते । तत्रापि सरोरुहं जलोद्भवं पद्मम्, जलस्यापि फलरूपम् । अनेन सर्वमेव ब्रह्माण्डे स्थितं फलम्, तापापनोदश्च त्वद्भजने स्वतः सिद्ध अत्र तीर्थैकदेशे मुक्तिः प्रसिद्धा, लक्ष्म्येकदेशेऽर्थः प्रसिद्धः, फलत्वेन सेवनया कामः प्रसिद्धः विहितत्वाद्धर्मः सिद्ध एव । अतस्तेषां को वा दुर्लभः ? **ईशेति** । संबोधनादसाध्यमपि सिद्ध्यति । **चतुर्ष्वपीति** निर्द्धारवचनम् । अवान्तरभेदेन सर्व एवैतेष्वन्तर्भवन्तीति सूचितम्, तथापि सूक्ष्मतया प्राप्तमपि स्थूलतया प्राप्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽह—**तथापि नाऽहं प्रवृणोमीति**। यदि भगवदिच्छा तथैव भविष्यति, तदा केन निवारयितुं शक्या । तथापि तन्नास्मदभिप्रेतम्, न वा याचनीयम् । किञ्च । न च ब्रह्मत्वं दुर्लभम्, बहव एव ब्रह्माणो जायन्ते, यतो भूमा भगवान् ब्रह्माण्डकोटिविग्रहः तत्र किमेकस्मिन् ब्रह्माण्डे स्थितेन ब्रह्मणा कार्यं भविष्यतीति, संपूर्णं परित्यज्य कोऽप्यंशग्रहणात् । अतोऽहं भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुक एव । चिन्तामणिवत्सर्वसाध्यापेक्षया साधनमेवाऽधिकम् न हि चिन्तामणिर्वस्त्र प्रयच्छतीति कश्चित् चिन्तामणिं परित्यज्य वस्त्रमिच्छति । तस्मात्किं ब्रह्मत्वेनेत्यर्थः ॥१५॥

व्याख्या—ईश ! यह सम्बोधन आप सर्व प्रकार की सामर्थ्य वाले हैं यह बताने के लिए दिया है । आपके चरण कमल के सेवकों को आपके संबंधवाले चारों पुरुषार्थों में से कौन सा पुरुषार्थ दुर्लभ है, कोई दुर्लभ नहीं है, पृथ्वी आपका चरण रूप है ब्रह्माण्ड भी पृथ्वी रूप है उसको प्राप्त कर दूध की तरह उसका भोग किया जाता है जैसे माता दूध पिलाकर पोषण करती है वैसे ही पृथ्वी माता सर्व प्रकार का भोज्य पदार्थ देकर सर्व प्रकार के भोग भोगाकर पोषण करती है, उसमें भी आपके चरणों को सरोरुह कह कर यह सूचित किया है कि 'सरोरुह' अर्थात् जल से पैदा हुआ कमल अतः वह भी फलरूप है । इससे यह भी बताया है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में स्थिति है वह फल है क्योंकि पृथ्वी आपका चरण है, ब्रह्माण्ड भी पृथिव्यात्मक होने से चरण ही तो फल रूप है अतः जी ब्रह्माण्ड में स्थित है वह फल रूपी कहा है भजन से ताप, क्लेश का नाश तो स्वतः सिद्ध ही है ।

इस लोक में तीर्थ के एक देश में मुक्ति होना प्रसिद्ध ही है एवं लक्ष्मी के देश में रहने से धन प्राप्त होना प्रसिद्ध है । सेवा से काम (इच्छितफल) की प्राप्ति होना प्रसिद्ध है । शास्त्र में भजन का विधान होने से धर्म सिद्ध ही है । अतः उन (सेवकों) को क्या दुर्लभ है !

ईश ! सम्बोधन से असाध्य भी सिद्ध हो जाता है, 'चतुर्षु' पद देकर यह निर्णय कर दिया है अन्य जितने भी फल है वे चारों के अन्तर्गत है । यदि कहो कि यो आपका कहना सत्य है किन्तु वह फल सूक्ष्म प्रकार से प्राप्त हुआ है । अब स्पष्ट स्थूल तरह लेलो तो, इस पर कहता है कि 'नगहं

प्रवृणोमि' मैं नहीं चाहता हूँ । यदि भगवदिच्छा वैसी हो तो उसका निषेध कौन कर सकेगा, तो भी मैं कहता हूं कि वह मुझे इष्ट नहीं अतः मैं माँगूगा भी नहीं ।

किञ्च ब्रह्मा होना कोई दुर्लभ नहीं, बहुत ही ब्रह्मा होते हैं क्योंकि आप भूमा भगवान् में ब्रह्माण्ड़ कोटि मौजूद हैं जिसमें कोटि ब्रह्मा स्थित हैं, उनमें से एक ब्रह्मा प्राप्ति (होने) से क्या फल (लाभ) होगा । अतः कोटि ब्रह्मा वाले आपको छोड़ एक लेने की मूर्खता कैसे करूँगा ? मैं तो आपके चरण कमल की सेवा का उत्सुक हूँ । अन्य कुछ भी नहीं चाहता हूँ चिन्तामणी जो सब कुछ देने में सामर्थ्य वाली उसको छोड़, उसकी दी हुई अल्प वस्तु को मूर्ख के सिवाय कौन ग्रहण करेगा ब्रह्मा बनने से कुछ लाभ नहीं ॥१५॥

आभास—तर्ह्येवं सति न किञ्चित्प्रार्थनीयमित्यायाति

आभासार्थ—यदि यों है तो कुछ भी नहीं माँगना चाहिए यह आशय है इस पर यह श्लोक कहा है —

श्लोक—कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदाऽयुताश्रयः स्वात्मम् रतेः खिद्यति धीर्विदारि ॥१६॥

श्लोकार्थ—इच्छा रहित आपके 'कर्म' अजन्मा आपका 'जन्म' कालरूप आप का दुर्ग, द्वारिका में आश्रय और शत्रु भय से भाग जाना । आत्मा में रमण कर्ता, आपका सहस्त्र स्त्रियों का भोगार्थ आश्रय इत्यादि देख कर बुद्धिमानों को खेद वा भ्रम पैदा होता है ॥१६॥

सुबोधिनी—कर्माण्यनीहस्येति । अत्र चरणभजने एकं प्रार्थनीयम्, दोषाभाव इति । तत्र दोषो द्वितीय भगवद्भजने क्रियमाणे स्वत एको दोष उत्पद्यते, भगवता चापरः क्रियते । तदुभयं यथा न भवति पायो वक्तव्यः । तच्चेद्भागवतं भविष्यति, तदा तद्वक्तव्यमिति । प्रथमतो दोषद्वयमनुवदति । दोषानिकत्वे भागवतेनाऽपि न कृत्यम, न हि भगवच्चरणारविन्दादन्यत् फलमस्ति । तत्सेवमानानां तद्बाधकनि वृत्तिरेव प्रार्थनीया । तच्च बाधकं सर्वैरेव पोष्यते, न तु बाध्यते । तदेतदत्यभीष्टमिति ज्ञापयितुं प्रथमं फलादाह—**कर्माण्यनिहस्येति** । अनैनाऽयमुत्तमोऽधिकारीति ज्ञापितम् । भगवतो विरुद्धानि कर्माणि स्वबुद्धौ स्फुरितानि बाधकानि । सामान्यदूषणद्वयम, विशेषण दूषणत्रयमिति भगवतः सेव्यत्वसिद्धये स्वस्य जन्मादिदुःखनिवृत्त्यर्थमभवः सेव्य इति भगवानभवोऽङ्गीकर्त्तव्यः । स्वस्य कर्मणा नानाविधक्लेशा भवन्ति, तदभावाय सेव्या भगवानिति तस्य तदभावोङ्गीकर्त्तव्यः । तच्च प्रत्यक्षेण भजनहेतुना विरुध्यते, वसुदेवस्य गृहे जननात्, निरन्तरं कर्मकरणाच्च । प्रत्यक्षं तु युक्तिरूपानुमानाद्बलिष्ठम् । चरणभजनं तु स्वतोऽतिरसं प्रयच्छतीति फलतो महत्त्वं च प्रत्यक्षसिद्धम् । पर्यवसाने तु बाधः । यत्र भगवानेव जायते, एवं च करोति, तत्र तदाश्रयाणामस्माकं का वार्त्ता ? भगवानेव हि फलदाता यद्यन्ततः स एव भविष्यामस्तथा प्येवंरूप इति । जननादिक्लेशस्य विद्यमानत्वात् किं भजनेनेत्य-

नास्था प्रतिभाति। किञ्च, साधारणेश्वरादप्यन्यथा प्रतिभाति। वस्तुतो ब्रह्मादीनामप्युपास्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान्महानेवाऽयमिति प्रतिभाति तथापि त्रयो दोषा बुद्धौ स्फुरन्ति। कथं भगवान् स्वकीयं स्थानं मथुरां परित्यज्य शत्रुभयात्पलायितो द्वारकास्त दुर्गमाश्रित: ? कथं वा कालयवनात्पलायते ? कथं वा स्वरूपानन्द: स्वभोगार्थं स्त्रीसहस्रं परिगृह्णाति, उपभुङ्क्ते च ता: ? अतो यावज्जन्मैवाऽन्यथाप्रतिभानाद्भजनबाधकमभगवत्त्वमेव प्रतिभाति। अथ यदि मोहनार्थमेवं करोतीत्यभिप्राय: कल्प्येत, तथापि यावदवतारं मोहकत्वात् कथमुपास्यो भवेत्। अथोपासकं न व्यामोहयतीति कल्प्येत, तदपि न सम्भवति। स्वयं सर्वज्ञोऽसर्वज्ञ इव मन्त्रेषु मामुपहूय कर्त्तव्यं पृच्छति, उक्तं च करोति। अत: केनाऽपि प्रकारेण चरित्रादिदर्शनेन भगवद्भजनबुद्धेर्नाश एव दृश्यते। व्यामुग्धानां वचनानि तु किं वक्तव्यानि ? यद्येतानि दूषणानि भागवते परिहृतानि भवन्ति, तदा तद्वक्तव्यमित्यभिप्रायेण, अन्तिमां लीलां पश्यन्नेव आन्तं दूषणान्येव सिद्धानीति तां दशां पश्यन् पूर्वदूषणान्येवाऽनुवदति। दूषणत्वाय स्वरूपं च कीर्त्तयति, सिद्धान्तसम्भावनार्थं च। **कर्माणि** पूतनासुपय:पानादीनि। **अनीहस्य** पूर्णब्रह्मण:। **अभवस्य** निर्विकारस्य। **भव:** सर्वविकारहेतुर्जननात्मा। सर्वसंहर्तु: सर्वनियन्तुश्च **कालात्मन:** स्वरक्षकत्वेन, दु:खगतिहेतुं दुर्गादिकं स्वरक्षकत्वेन मन्यते। **अथेति** भिन्नप्रक्रमेण। अनेन दुर्गाश्रयेऽपि पलायनं स्वतन्त्रतयाऽपि पलायनं सूचितम्। आत्मारामस्य च प्रमदायुताश्रयणम्। एतल्लीलापञ्चकम्। ब्रह्मत्वेन त्वाँ जानताम्, लोलापञ्चकं च पश्यतां सङ्कटे पतिता धी: खिद्यति। **इहेत्यस्मिन्नं** ।।१६।।

व्याख्या—आपकी चरण सेवा करने से कोई दोष अन्त: करण में न रहे यह एक प्रार्थना करनी है, दोष दो प्रकार के हैं। जब भगवद्भजन करने की क्रिया की जाती है तब एक दोष स्वत: पैदा हो जाता है, दूसरा दोष भगवान् पैदा करते है वे दोनों दोष जैसे उत्पन्न न होवें वैसा उपाय कहिए यदि वह उपाय भागवत है तो वह बताइये। पहले दोष कहते हैं यदि भागवत दोषों का नाश नहीं कर सकती है तो भागवत सुनने का कोई फल नहीं। भगवच्चरणारविन्द के सिवाय अन्य कोई फल नहीं है, इसलिए सेवकों को फल में जो बाधक दोष हैं उनकी निवृत्ति के लिए प्रार्थना करना चाहिए और उस बाधक का सर्व पोषण करते हैं किन्तु कोई भी उसको नहीं रोकता है। इसलिए सबसे प्रथम विघ्न करनेवाले को दूर करना चाहिए। यह सबको बहुत अभीष्ट (पसन्द) है। यों जताने के लिए पहले सेवा स्वरूप ज्ञान से उत्पन्न दोष कहते हैं 'कर्माण्यनीहस्य' इच्छारहित होते हुए भी '**कर्म कर रहे हैं**' निरीह भगवान् इच्छावालों की तरह वैसे कर्म रहे हैं जो उनके विरुद्ध हैं अत: वे बाधक हैं ऐसी बुद्धि में स्फुरणा होने से निश्चित है कि यह उत्तम अधिकारी है यों जताया है। सामान्यत: दो दूषण हैं विशेष से देखा जाए तो तीन दूषण है, भगवान् सेवा करने योग्य है। इसलिए यह सिद्ध होना चाहिए कि वह अजन्मा है, जब वह स्वयं अजन्मा होगा तब हमारे जन्मादि दु:ख निवृत्त कर सकेगा।

अपने कर्म से तो अनेक प्रकार के क्लेश होते हैं। वे न हों अत: भगवान् सेव्य होता है इसलिए भगवान् अकर्मा होना चाहिए। ऐसा न होने पर प्रत्यक्ष से वह भजन करने का मूल हेतु (कारण) जो भगवत्तत्व है उससे विरुद्ध है, जैसे कि वसुदेव के घर में जन्म लेना, सदैव कर्म करते रहना यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध है, युक्ति (तर्क) रूप अनुमान से प्रत्यक्ष बलिष्ठ है, भगवच्चरणारविन्द

का भजन तो स्वतः अति रस देता है यों फल से आपका महत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है, पर्यवसान (अन्त) में बाधक बनता है जहां भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं और इसी प्रकार कर्म करते रहते हैं वहाँ उनके आश्रित हम लोगों की क्या दशा होगी ? भगवान् ही फलदाता हैं, यदि अन्त में वह (भगवान्) ही हम बन जायेंगे तो भी वही दशा होगी (जन्म लेना, कर्म करना पड़ेगा) जन्म आदि क्लेश तो तब भी मौजूद होंगे तो फिर भजन से क्या लाभ हुआ ? इससे श्रद्धा का अभाव हो जाता हैं । कारण कि साधारण ईश्वर से भी दूसरे प्रकार के दिखते हैं, जिससे यह सबसे महान् है यों भास रहे है तो भी तीन दोष बुद्धि में स्फुरित होते हैं, जैसे कि १–भगवान् होते हुए भी उनने अपने स्थान मथुरा का त्याग कर शत्रु से डर कर द्वारिका नामवाले दुर्ग में क्यों आश्रय लिया । कालयवन से भी डर कर क्यों भाग गए ? ३. वे स्वरूपानन्द होते हुए भी कैसे अपने भोगार्थ सहस्त्र स्त्रियों को ग्रहण किया और उनसे भोग किया ? अतः जब तक अवतार है तब तक अन्यथा (भगवत्तत्व से विपरीत) भान होने से ये दोष भजनके बाधक होते हैं और ये भगवान् नहीं है यों भान कराते है । यदि कहोकि मोहनार्थ भगवान् यों करते हैं, तो भी जब तक अवतार है मोहक होगा तो फिर उपास्य कैसे होगा ?

यदि यह कल्पना की जावे कि उपासकों को मोहित नहीं करते हैं अन्यों को करते हें तो वह भी जचता नहीं क्योंकि आप सर्वज्ञ होते हुए भी असर्वज्ञ की तरह, सलाह लेने के लिए मुझे (सेवक को) बुलाकर पूछते हैं कि क्या किया जाए ? और जैसा कहता हूँ वैसा करते हैं अतः किसी भी प्रकार चरित्रों पर दृष्टि डालने से यों हो भासता है कि इनको भगवान् समझ इनका भजन करना अनुचित है । जिनको मोह हुआ है वे जो बचन कहते हैं उन वचनो के लिए क्या कहा जाए ?

जो ये सब दूषण भागवत सुनने से मिट जावें तो वह (भागवत) आप कहिए अन्तिम लीला (आसुर व्यामोह लीला) देखते ही अनन्त दूषण ही सिद्ध होते हैं यों उस दशा को देखते हुए, पूर्व कहे दूषणों को फिर दुहराता है दूषणत्व के लिए और सिद्धान्त के संभावनार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं तथा उनके कर्म कहते हैं—

१. निःस्पृह होते हुए भी पूतना के प्राण रूप पय पानादि कर्म करना,

२. निर्विकार अजन्मा होते हुए भी सर्व विकारों का कारण जो जन्म है वह लेना,

३. सर्व के संहर्ता, सर्व के नियामंक हो कर भी कालात्मारूप भगवान् ने अपना रक्षक, दुःख से प्राप्त दुर्गरूप द्वारका को माना ।

४. 'अथ' पद से सूचित किया है कि अब भिन्न प्रक्रम है, इससे यह बताया है कि दुर्गाश्रय था तो भी भागे अथवा स्वतन्त्रता से भी भागे ।

५. आत्माराम होते हुए भी रमणार्थ सहस्त्रों प्रमदाओं (महिलाओं) का आश्रय किया, ये पाञ्च लीलाऐं (दिग्दर्शन रूप है)

आपको ब्रह्मरूप से जानने वालों की बुद्धि, इन पाञ्च लीलाओं को देखते हुए संकट में पड़ गई है और इस विषय में मूढ बन खेद करती है ।।१६।।

आभास—त्वत्कायिकेन व्यामुग्धोऽहं वाचिकेनाऽपि मुग्धो जात इत्याह—

आभासार्थ—आपके कायिक कर्मों से तो विशेषकर मुग्ध बना था। किन्तु पुनः वाचनिकों से भी मोहित हो गया हूँ यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्वमकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।**
पृच्छेः प्रभो ! मुग्ध इवाऽप्रमत्तस्तन्नो मनो मोहयतीव देव ! ।।१७।।

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! आप सदैव स्वयं अकुण्ठित (तीक्ष्ण) तथा अखण्ड ज्ञान वाले एवं अप्रमत्त (सावधान) होते हुए भी मन्त्रणा के लिए मुझे बुलाकर मुग्ध की तरह (मानो आप कुछ जानते ही नहीं ऐसे) मुझसे पूछते (सलाह लेते) हे देव ! वह आप का कर्तव्य (लीला) मुझे मोहित करता है ।।१७।।

सुबोधिनी—मन्त्रेष्विति। जरासन्धवधार्थं राजप्रार्थनायाम्, यागार्थं युधिष्ठिरप्रार्थनायां च स्वयमुपायं जानन्नेव **मामुपहूय**। **मन्त्रेष्विति**-बहुवचनेन कालान्तरेऽपि स्यमन्तकादिषु पृष्टमिति प्रतिभाति। वेत्यनादरे। **आहूयेति** प्रासङ्गिकत्वं निषिद्धम्। **त्वमिति** नाऽत्र तिरोहितं किञ्चिदिति सूचितम्। सर्वशास्त्रानुसारेण न कुण्ठितः। तीक्ष्णानामप्यपरित्यज्य स्वकार्यकर्ता अकुण्ठितः। **अखण्ड**स्तैलधारावदनवच्छिन्नः, न कालादिना शङ्कितभङ्ग **आत्मबोधो** यस्य। **पृच्छे**रामन्त्रणेन पृष्टवानसि। विधिप्रयोगात् परिहर्तुमप्यशक्य इति सूचितम्। **प्रभो इति** संबोधनं पूर्वस्थितिमपि नाशयेदिति, भयादपि कथनं सूचितम्। **मुग्ध हुवेति** तदानीन्तनचेष्टया न जानातीत्येव प्रतीतिरुत्पन्ना, अन्यथा न सोपपत्तिकं वदेत्। बहूनामपि वाक्ये युक्तया बलिष्ठत्वज्ञानेऽपि पक्षान्तरे स्वाभिप्रेतमेव करोतीत्य**प्रमत्त** इत्युक्तम् अतस्तवेतादृशं चरित्र**मानो**ऽस्माकमेव सर्वेषां भक्तानां **मनो मोहयतीव**। सान्निध्याद्भजनाच्च माहात्म्यं प्रतिभातीतीवप्रयोगः।

[च] पूर्वपक्षसमाप्तिसूचकम्, देवचरित्रं मनुष्य-बुद्धया निर्द्धारणाशक्यमिति सूचनार्थं ।।१७।।

व्याख्या—जब जरासन्ध के वध के लिए राजाओं ने प्रार्थना की और यज्ञ के प्रबन्धार्थ युधिष्ठर ने आपको आने के लिए प्रार्थना की, तब यज्ञ में जाऊँ वा जरासन्ध के वध की तैयारी करूँ ? इस विषय के निर्णयार्थ आप उपाय जानते थे तो भी मुझे बुलाकर पूछा। 'मन्त्रेषु' बहुवचन कहने का भावार्थ यों आता है कि कालान्तर में स्यमन्तक मणि आदि विषय में भी पूछा। 'वा' पद अनादर सूचक है 'आहूय' बुलाकर पद से यह सूचित किया कि यों ही अचानक नहीं पूछा, किन्तु कार्य विशेष होने पर सलाह ली 'त्व' पद कहने का भावार्थ यह है कि आप में कुछ भी ज्ञान की कमी नहीं हैं, सर्व शास्त्र कहते हैं कि आपका ज्ञान अकुण्ठित है अर्थात् आपका ज्ञान ऐसा ही तीक्ष्ण है जो स्वकार्य करने में उसका कोई भी प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है, और आपका ज्ञान मध्य में टूटा हुआ भी नहीं है जैसे तैल की धारा अनवच्छिन्न चली आती है वैसा आपका ज्ञान भी अखण्ड है। इसी प्रकार आपका स्वतः स्वयं ज्ञान भी ऐसा शक्त है जो काल

भी उसको भंग नहीं कर सकता है। अतः आपके समर्थ ज्ञान को काल का भी भय नही है। ऐसे अकुण्ठित, अखण्ड एवं काल भय रहित अविनाशी समर्थ ज्ञान वाले हैं ते हुए भी मुझसे आज्ञा पूर्वक मन्त्रणा कर पूछ रहे हो कि, क्या करना चाहिए ? अतः आज्ञा मान कर सलाह देनी ही पड़ी। हे प्रभो ! इस संबोधन से यह भावना प्रकट की है कि आप सर्व समर्थ हैं अतः आपकी आज्ञा पालन से मेरी पहली स्थिति भी नष्ट होगी। आप स्वामी हैं अतः भय से भी आज्ञा मान कर सलाह दी, जिस समय सलाह लो उस समय आपने ऐसी चेष्टा की थी कि आप कुछ जानते ही नहीं, यह भाव 'मुग्धइव' पद से प्रकट किया है, यदि प्रभु ऐसी चेष्टा (मुग्धभाव) प्रकट न करते तो उद्धव ने युक्ति पूर्वक जो कहा वह न करते केवल यों कहते कि 'यों करना चाहिए'।

उद्धव ने अपने मत के समर्थंन में जो-जो युक्तियाँ दी वे सब भगवान् ने सावधान ह के सुनी, जिससे उद्धव का कहना युक्ति संगत जानकर वह कार्य किया अन्यथा आप पूर्ण जानकार होने से अपन मतानुसार करते, किन्तु समझ लिया कि उद्धव का मत मेरे मतानुकूल ही है।

आपके ऐसे-ऐसे विचित्र चरित्र हम सर्व भक्तों के मन को मानों मोह में डालते हैं, आपके सान्निध्य में रहने से एवं भजन करने से आपका माहात्म्य प्रकट देख रहे हैं इसलिए 'इव' पद दिया है। हे देव ! यह सम्बोधन पूर्व पक्षकी समाप्ति का सूचक है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य बुद्धि से देव चरित्र का निर्णय करना अशक्य है इसलिए देव ! पद दिया है ॥१७॥

आभास—तस्मात्तदर्थं भागवतं कथयेत्याह--

आभासार्थ—इस कारण से उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए भागवत कहिए यों इस निम्न श्लोक में कहता है—

श्लोक--ज्ञानं परं स्वात्मरहः प्रकाशं प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्तर्वदाऽञ्जसा यद् वृजिनं तरेम ॥१८॥

श्लोकार्थ—आपकी सकल शक्तियों का तथा आपका मर्म जो ज्ञान प्रकट करता है वैसा सम्पूर्ण ब्रह्मा को आपने बताया है। हे भर्ता ! यदि हम उस ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ हों तो हमको भी कहिए, जिससे इस दुःखसागर से पार हो जावें ॥१८॥

सुबोधिनी– ज्ञानं परमिति। पूर्वोक्तोऽस्माकं यो मोहः सोऽज्ञानकृत इति। ज्ञानेनैव तन्निवर्तते, अतो ज्ञानैकप्रतिपाद्यं तादृशं भागवतं कथनीयम्। ननु जाग्रत्स्वप्नवत् ज्ञानाज्ञाने अन्योन्यविरोधिनी, तथा चोभयतुल्यत्वादन्योन्योपमर्दसम्भवात् किं ज्ञानेनेत्यत आह—**परमिति**। प्रकृत्यादिनियन्तृ, अज्ञाननिवर्तनसमर्थम्। ननु भगवदिच्छायाः प्रधानत्वादस्य ज्ञानं नश्यत्वितीच्छया, भगवत्प्रेरितमायया वा अज्ञानादिनिवर्तकमपि ज्ञानं नश्येदेव। '**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि**

सा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति इति वाक्यात् परेणाऽपि ज्ञानेन किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य पुनर्विशिनष्टि—**स्वात्मरहः प्रकाशमिति ।** स्वकीयानां मायादिशक्तीनामात्मनो भगवतश्च रहो यन्मर्म, बन्धनमोचनलीलायां कीदृशो भगवदभिप्रायस्तदीयानां चेति; यत्र ज्ञाने इदं रहः प्रकाश्यते, तादृशज्ञानरूपं ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तमिति श्रुतम् । **कस्मा इति** द्व्यर्थवचनात् न ज्ञायते कस्मै प्रोक्तम्, अन्यथा स वै पृष्टः स्यादिति गम्यते । तत्राऽप्यवान्तरभेदाः सन्ति, भगवदभिप्रायाणामनन्तत्वात् । अतः सर्वं वाऽभिप्रायो यत्र गम्यते, तत्समग्रम् । **भगवानित्यचिन्त्यैश्वर्यतया** कदाचित्तादृशमपि ज्ञानं भवेद्वदेद्वेति सम्भावना । तत् ज्ञानं पुरुषविशेष एवं भवतीति चेत्तत्राऽऽह—तत् ज्ञानं **नोऽस्माकं ग्रहणाय क्षमं** चेत्तदा वक्तव्यम् **अपीति** सम्भावनायाम्, कृपाविषयत्वान्मम । वस्तुनिर्देशाच्च मय्यपि तत्सम्भावितम् ननु तत् ज्ञानं मद्रूपं कथमन्यस्य सम्भवति ? स तु ब्रह्मा मदवतार इति चेत्तत्राऽऽह—**हे भर्तः** । अनधिकार्यपि भार्यारूपः पतिं तदङ्ग च धर्मं बिभर्ति । अतोऽस्माकं त्वं भर्तेति स्वरूपत्वेऽपि तद्युज्यते । अतस्तत्सर्वथा वक्तव्यमित्याह—**वदेति ।** प्रार्थनायां लोट् । आग्रहे हेतुः—**अञ्जसा यद् वृजिनं तरेमेति** । वृजिनं पूर्वोक्तदुःखम्, तदनायासेनैव तरेमेति ॥१८॥

व्याख्या—पहले कहा हुआ जो हमारा मोह है वह अज्ञान कृत है । अतः वह मोह ज्ञान से ही नष्ट होगा अतः ज्ञान का ही प्रतिपादन करने वाला भागवत कहना चाहिए । ज्ञान और अज्ञान दोनों परस्पर वैसे विरोधी हैं जैसे जाग्रत और स्वप्न और दोनों समान बल वाले होने से एक दूसरे का दोनों ही मर्दन करने वाले हैं अर्थात् जैसे ज्ञान अज्ञान का नाश करता है वैसे ही अज्ञान ज्ञान को दबा लेता है, तो फिर ज्ञान प्राप्ति से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं कि साधारण ज्ञान नहीं चाहिए, किन्तु 'पर' उत्तम ज्ञान होना चाहिए जो ज्ञान प्रकृति आदि का नियन्त्रण करने वाला तथा अज्ञान को मिटाने में समर्थ हो । सबसे भगवदिच्छा मुख्य है । यदि भगवान् की इच्छा होवे कि इसका ज्ञान नाश होवे तो अज्ञान का निवर्तक ज्ञान भी भगवत्प्रेरित माया से ज्ञान नाश ही होगा जैसा कि कहा है—'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवो भगवती हि सा बलादाकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति' इस शास्त्र वाक्यानुसार 'भगवति देवी महामाया ज्ञानियों के चित्तों को बल से खेंच कर मोह को दे देती है' अर्थात् ज्ञानियों को भी मोह में डाल देती है । जिससे उनका ज्ञान नष्ट हो जाता है और वे संसारी बन जाते हैं । अतः 'पर' ज्ञान से भी क्या लाभ ? ऐसी शंका होने पर फिर दूसरा विशेषण देता है कि वह ज्ञान हो जो 'स्वात्मरहः प्रकाशं' आपकी मायादि शक्तियों के और आप भगवान् के मर्म को बताने वाले हो अर्थात् बन्धना और मोचन लीला में भगवान् का क्या अभिप्राय है और तदियों का क्या ? जिस ज्ञान से यह रहस्य प्रकट होता हो वैसा ज्ञान रूप भागवत भगवान् ने ब्रह्मा को दिया (सुनाया) यों सुना है 'कस्मै' पद के दो अर्थ हो सकते हैं, एक 'कस्मै' ब्रह्माकों, दूसरा 'कस्मै' किस को । इससे जानने में नहीं आता है कि भागवत भगवान ने किसको दिया है । यदि मालूम हो कि इसको दिया है तो उससे पूछा जाए । उसमें भी भेद हैं क्योंकि भगवान् के अभिप्राय अनन्त हैं । अतः जिससे सब कुछ अभिप्राय जानने में आवे वह समग्र भागवत कहिए, भगवान् अचिंत्यैश्वर्य है अतः कदाचित् वैसा सम्पूर्ण ज्ञान भी कहें वा हो इस प्रकार की सम्भावना है । वह ज्ञान पुरुष

विशेष ही धारण कर सकता है। यदि यों है तो वह ज्ञान यदि हम ग्रहण करने में समर्थ होवें तो कहना चाहिए 'अपि' शब्द सम्भावना से कहा है। ऐसी सम्भावना मुझे इसलिए हुई है कि आपकी मेरे पर कृपा है अतः वस्तु निर्देश से भी जाना जाता है कि उस ज्ञान को समझने की मुझ में भी सम्भावना है, वह ज्ञान तो मेरा रूप है अन्य को समझने की सम्भावना कैसे होगी ? यदि कहो कि ब्रह्मा को कैसे हुई ? इस पर कहा है कि वह (ब्रह्मा) तो मेरा ही रूप है अर्थात् मैं ही हूँ। यदि यों है तो हे भर्ता ! आप मेरे स्वामी हो, स्त्री यदि अनधिकारी हो तो भी पति को और उसके धर्म को धारण कर लेती है। अतः आप हमारे पति हो जिससे ज्ञान आपका स्वरूप है तो भी हम उसको धारण कर सकेंगे ऐसी निश्चित संभावना है। इसलिए वह सर्वथा कहना ही चाहिए। अतः कहिए कहने का आग्रह इसलिए करता हूँ कि इस ज्ञान से पूर्वोक्त दुःख-समुद्र से पार पहुँच जाऊँगा जिसमें कुछ भी आयास (परिश्रम) न होगा ॥१८॥

आभास—एवं स्वाभिप्राये प्रकटिते अधिकार्ययं भवतीति भगवांस्तदाहेत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार जब मैंने अपना अभिप्राय प्रकट किया तब भगवान् ने जान लिया कि यह 'अधिकारी' है अतः मुझे यह ज्ञान दिया। यों इस श्लोक में उद्धव ने कहा है।

श्लोक—**इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः ।**
आदिदेशाऽरविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब मैंने अपने हृदय का अभिप्राय स्पष्ट कर बता दिया तब कमलनयन 'पर' भगवान ने अपनी उत्तम स्थिति का उपदेश दिया ॥१९॥

सुबोधिनी—इत्यावेदितहार्दायेति । हार्दं हृदयस्थितम्, अभिप्रेतमिति यावत्। तदा तत् ज्ञानं भगवान् मह्यामादिदेश। सिद्धमेव वस्तु यथा किञ्चिदादिश्यते—इदमिति। आज्ञाया अपि दत्तत्वात् स्वपरव्यवहारोपयोगि भविष्यति, अन्यथा केवलनिर्देशो व्यर्थः स्यात्। भगवति स्थितमेव तत् ज्ञानमुद्धवेन ध्यवहर्तव्यम्, न तु यथा ब्रह्मणे दत्तं तथाऽस्मै दत्तम्, तथा सामर्थ्यात् तर्हि सर्वस्वं प्रदर्शितं कथम् ? तत्राऽऽह**अरविन्दाक्ष इति** । अरबिन्दवदक्षिणी यस्य। अनेन तापहारित्वेन दृष्ट्यैव तदनधिकारो निवारितः। भगवद्विचारेण सिद्धं तत्किंरूपमित्याकाङ्क्षायामाह—**आत्मनः परमां स्थितिमिति ।** परमाश्रयरूपा भगवतः स्थितिः, न ततः परमन्यत्, सा परा काष्ठा ॥१९॥

व्याख्या—'हार्दं' हृदय का अभिप्राय, जब कह दिया तब भगवान् ने वह ज्ञान मुझे इस तरह बताया जैसे कोई बनी बनाई वस्तु किसी को दी जाए तथा आज्ञा भी की है कि यह ज्ञान तुम्हारे, अपने और दूसरे के लिए भी उपयोगी होगा भगवान् में ही स्थित अर्थात् जिसको भगवान्

ही जानते हैं ऐसा यह ज्ञान उद्धव व्यवहार से लाऐगा। तात्पर्य यह है कि उद्धव दूसरों को भी इस ज्ञान का उपदेश दे अन्यों के दुःख भी दूर करेगा। यदि यों न होवे तो केवल आज्ञा व्यर्थ हो जाए, उद्धव को ब्रह्मा की तरह ज्ञान नहीं दिया है कारण कि उद्धव में वह शक्ति है जिससे भगवत्प्रोक्त ज्ञान का व्यवहार कर सकेगा क्योंकि ब्रह्मा की तरह इसमें गुण व्यथा नहीं है।

तब उद्धव को सर्वस्व (सम्पूर्ण अपना ज्ञान) कैसे दिखा दिया? इस पर कहते हैं कि भगवान् कमलनेत्र होने से दृष्टिमात्र से ताप हारक है, अतः दृष्टि से उद्धव का अनाधिकार मिटा के उसको अपने सर्वस्व का पूर्ण अधिकारी बना दिया भगवान् का विचारा हुआ वह सिद्ध ज्ञान कैसा है? जो कहते है कि 'आत्मनः परमोस्थितिम्' परम आश्रय रूप भगवान् की जो स्थिति है उससे अधिक उत्तम और कुछ नही है वह ही पराकाष्ठा हैं ।।१९।।

आभास—ततस्त्वया किं कृतमित्याकाङ्क्षामाह—

आभासार्थ—इसके बाद आपने क्या किया? इस आकाँक्षा के होने पर निम्न श्लोक करा है।

श्लोक—**स एवमाराधितपादतीर्थादधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः।**
प्रणम्य पादौ परिवृत्त्य देवमिहाऽऽगतोऽहं विरहातुरात्मा ।।२०।।

श्लोकार्थ—जिस गुरु चरण की सेवा की, उस गुरु से वास्तविक तत्वस्वरूप (ज्ञान) का मार्ग जानकर कृतार्थ हुआ, अनन्तर उनके चरणों में प्रणाम कर देव को अभिवादन किया एवं परिक्रमा कर यहां आ गया हूँ किञ्च विरह कर अन्तः करण से दुःख संतप्त हुआ है ।।२०।।

सुबोधिनी—स एवमिति। एवंप्रकारेण भगवता ज्ञापितार्थोऽहं—**पादौ प्रणम्य परिवृत्त्य विरहातुरात्मा इहागत** इति संबन्धः। इहाऽऽगत्य वा विरहातुरात्मा जात इति। तद्भागवताख्यं शब्दब्रह्म मया स्वाधोनं कृतम। तच्च गुरुसेवा व्यतिरेकेण न भवतीति, प्रभुत्वेन सेवितोऽपि भगवान् गुरुत्वेनाऽपि सेवितस्तदाह-**आराधितपाशीर्थादिति**। आराधितपादरीर्थादिति। तीर्थरूपश्च। तीर्थशब्देन गुरुरत्रोच्यते। आराधितौ पादौ यस्येति, गुरोश्चरणसेवा कृतेति गम्यते। तादृशतीर्थाद्भगवततोऽधीतो विबोधमार्गों येन। ते **च विबोधमार्गा** वहव इति प्रतीकादिव्यावृत्त्यर्थंमात्मेत्युक्तम्। आत्मविषयको विबोधमार्ग इति। तत्रापि शारीरादिपक्षाः सन्तीति तद्यावृत्त्यर्थमाह **तत्त्वेति**। तत्त्वं परमार्थरूपम्, तस्य यः सहजो भाव इति। स्वरूपेणैव प्रादुर्भुत इति स्वरूपमेवाऽत्राऽऽत्मशब्देनोच्यते। विशेषबोधः पूर्वसन्देहवारकः। तदनन्तरं विद्यासमाप्तौ पादौ प्रणम्य, पुनस्तां गुरुत्वबुद्धि परित्यज्य, देवं स्वामिनपास्यं तं परिवृत्त्य प्रदक्षिणीकृत्येहैवागतः। भगवत्प्रदक्षिणानन्तरमत्रैव ममात्मलाभो जातः, अयमहम् इति। किं भगवदिच्छया तत एकेनैव पदा अत्रागतः, क्रमेण वेति न जानामि। परं प्रदक्षिणा, इदं च स्थानं स्मर्यते। अत एवेदानीं

विरहातुरात्मा जातः, अन्यथैतावद्दूरमागमनमेव न स्यात् । अनेनाऽग्रिमवार्त्ताऽपि तत्रत्या न ज्ञायत इत्युक्तं भवति । इदानीं तु विरहेण आतुर आत्मा अन्तःकरणं विद्यते । ।।२०।।

व्याख्या—इस तरह भगवान् से ज्ञान प्राप्त कर, चरणों में प्रणाम कर तथा प्रदक्षिणा कर विरह से दुःखी अन्तःकरण वाला मैं यहाँ आया हूँ अथवा यहाँ आके विरह से दुःखी अन्तः करण वाला हुआ हूँ ।

भगवत् नाम वाला शब्द 'ब्रह्म' मैंने स्वाधीन कर लिया है वह स्वाधोनता बिना गुरु सेवा के प्राप्त नहीं होती है । अतः मैं जिसकी प्रभु रूप से सेवा करता था उसकी मैंने गुरु रूप से भी सेवा की, यह 'आराधित पाद तीर्थात्' पद से कहा है जिसके चरण (प्रभुरूप से) सेवे उसे ही तीर्थ (गुरु) रूप कर सेव्य किया है, 'तीर्थ' पद का अर्थ यहाँ 'गुरु' है । जिससे उस समग्र पद का अर्थ यों भी किया जाता है कि जिसके चरण सेवे हैं ऐसे गुरु से भगवत् ज्ञानमार्ग जिसने सीखा ऐसा मैं हूँ, ज्ञान मार्ग तो बहुत है, आपने कोंनसा सीखा ? इस पर कहते है कि जो केवल नाम मात्र ज्ञान मार्ग हैं वे नही सीखे हैं । किन्तु जिसमें 'आत्मा' के स्वरूपादि का पूर्ण ज्ञान है वह ज्ञान मार्ग जाना है, । 'आत्मा' शब्द से भी यह शंका उत्पन्न होती है कि उसमें भी 'जीवात्मा' आदि शरीर आदि पक्ष बहुत है । इस शंका निवारणार्थ कहा कि 'तत्व' परमार्थ रूप उसका जो सहज भाव अर्थात् वास्तविक भाव है, जो भाव स्वरूप से ही प्रादुर्भूत हुआ है, साराँश यह है कि मैंने जो 'आत्म' शब्द कहा है वह ज्ञान स्वरूप ही कहा है कि शरीरादि कहा है जिससे विशेष बोध होकर पूर्व उत्पन्न सर्व सन्देह मिट गए । जब इस तरह ज्ञान प्राप्त हो गया तब चरणों में प्रणाम कर गुरु बुद्धि का त्याग किया और उनको अपना स्वामी देवस्वरूप जान परिक्रमा की, अनन्तर यहां आ गया । प्रदक्षिणा करने के बाद यहाँ ही मुझे 'यह मैं हूं' यों आत्म लाभ हुआ, पश्चात् एक ही पाद से वा क्रम से यहाँ आया उसको मैं नहीं जानता हूँ जैसे भगवान् की इच्छा हुई होगी वैसे आ गया हूँ केवल प्रदिक्षणा की यह और इस स्थान पर पहुँच गया हूँ, इतना ही स्मरण में है इस कारण से ही अब अन्तः करण विरह से आतुर हो गया है अन्यथा (यदि वहाँ ऐसी विरह से आतुरता होती तो) इतना दूर आना ही न होता, इससे वहाँ वाली आगे की वार्ता भी ध्यान में नहीं है कारण कि अब तो अन्तः करण केवल विरह से आतुर है जिससे अन्य कुछ भी ध्यान में नही रहा है ।।२०।।

आभास—तर्हि किमतः परं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—तब इसके बाद क्या करना है ? इस आकांक्षा के होने पर यह निम्न श्लोक कहा है ।

श्लोक—सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभोः ।
गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—उनके दर्शनानन्द तथा वियोगार्तिवाला वह मैं उनके प्रिय बदरिकाश्रम मंडल में जाऊँगा ।।२१।।

सुबोधिनी–सोऽहमिति । तस्य दर्शनेनाऽह्लादः वियोगेन च आर्तिः, उभययुतः सन् । सर्वसन्देहानां भगवता निवारितत्वात्, प्रभोर्भगवत आज्ञा अवश्यं परिपालनीयेति, द्वारकापेक्षयाऽपि दयितं प्रियमत्यन्तम् बदरीस्थानमेव भगवत ऋषिरूपस्य आश्रममिति बदर्येवाश्रमम्, गमिष्यामि । तत्राऽधिकं विशेषमाह–**मण्डलमिति** । यथा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः, तथा बदर्याश्रममण्डलमिति तत्र भगवतो नित्यसन्निधानं बोधितम् ।।२१।।

व्याख्या—उनके दर्शन से आनन्द प्राप्त किया और वियोग से दुःख, इस प्रकार मैं आनन्द **और** वियोग दुःखवाला हुआ, सर्व सन्देहों को भगवान् ने मिटा दिया, स्वामी (भगवान्) की आज्ञा अवश्य पालन करने योग्य है । द्वारिका से भी अत्यन्त प्रिय बदरी स्थान है । ऋषि रूप भगवान् का आश्रम है वहाँ की विशेषता बताते हैं कि वह 'मंडल' है अतः जैसे सवित (सूर्य) मंडल के मध्य में नारायण रहते हैं वैसे ही बदरिकाश्रम मण्डल होने से वहां भगवान् का नित्य सन्निधान (विराजना) है, मण्डल पद से यह सूचित किया है ।।२१।।

आभास—उपपादयत्यपि

आभासार्थ—निम्न श्लोक से सिद्ध करते हैं कि भगवान् वहाँ सदैव विराजते हैं ।

श्लोक—**यत्र नारायणोदेवो नरश्च भगवानृषिः ।**
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ।।२२।।

श्लोकार्थ—जहाँ लोक के हित करनेवाले भगवान् नारायण देव और नर ऋषि मृदु तीव्र तथा दीर्घ तप करते हैं ।।२२।।

सुबोधिनी - यत्रेति । यत्र बदरिकाश्रमे उभयरूपेण भगवान् आश्रमे ऋषिः, नरश्च । **चकाराद्भगवान्** नरप्राधान्येत्र । ऋषिर्भगवानाश्रमे, नारायणप्रधानो देवो नरसहितो मण्डले अतः सूर्यमण्डलापेक्षवाऽपि तत् स्थानं समीचीनमित्युक्तं भवति, उभयोर्भगवत्त्वमृषित्वं देवत्व च । अतो **मृदु तीव्रं दीर्घं तपस्तेपाते** । देवत्वात् मृदु तपः कुर्वाते, ते हि सात्त्विका नात्युग्रतपोयोग्याः, भगवत्त्वात्तीव्रं कुर्वाते; ऋषित्वाद्दीर्घम्, ते ह्याजन्म तपः कुर्वन्ति । भगवांस्तु शीघ्रफलकं कर्म करोति, विलम्बे कारणाभावात्, अतस्तीव्रत्वमुक्तम् । तपोऽत्र समाधिरूपमाहारपरित्यागपूर्वकः । नन्वेतादृशतपःकरण को हेतस्तत्राऽऽह–**लोकभावनाविति** । लोकं भावयतः । लोकास्तु त्रिविधाः, अतः सर्वहितार्थं त्रिविधं तपः करोतीत्यर्थः ।।२२।।

व्याख्या—जिस बदरिकाश्रम में भगवान् दोनों रूप से (नर और ऋषि रूप से) विराजते, है, 'च' पद से भगवान् का सूचन किया है । आश्रम में नर की प्रधानता से ऋषि भगवान् रहते

है। नारायण प्रधान देव नर सहित बदरी मंडल में विराजते है अतः इससे यह बताया है कि सूर्य मण्डल की अपेक्षा वह बदरी मण्डल का स्थान सुन्दर है। दोनों में हो भगवत्व, ऋषित्व और देवत्व मौजूद है। अतः तीन तरह का तप मृदु, तोव्र दीर्घ कर रहे हैं। देव होने से मृदु (कोमल) तपस्या करते हैं कारण कि देव सात्विक होने से अति उग्र तपस्या करने के योग्य नही होते हैं, भगवान् होने से तोव्र तप करते हैं, ऋषि होने ने दीर्घ समय की तपस्या कर रहे हैं। क्योंकि ऋषि लोग समग्र आयु तप ही करते हैं। भगवान् जो तप करते हैं, वह शीघ्र फलदायक है। उसके फल मिलने में कोई करण नही है इसलिए उस तप को तीव्र कहा है। यहाँ तप वह है जिसमें आहार परित्याग कर समाधि लगायी जातो है। ऐसे तपस्या करने का क्या कारण है? इस पर कहते है 'लोक भावनौ' लोक का हित चाहते हैं। लोक ३ प्रकार के हैं अतः ३ प्रकार की तपस्या करते है। ॥२२॥

आभास—एवं निश्चियां बुद्धि निरूप्य, विपर्ययस्याऽत्राऽप्रयोजकत्वात् त्याज्यत्वेन तद्वदन्नेव संशयमाह। इत्युद्धवादिति त्रिभिः—

आभासार्थ—इस प्रकार[1] निश्चित बुद्धि का निरूपण[2] कर, विपरीत बुद्धि का यहाँ कोई प्रयोजन[3] नहीं है, वह तो त्याग योग्य है, यों कहते हुए संशय को श्रीशुकदेवजो ३ श्लोक से कहते हैं-

श्रीशुक उवाच—श्लोक—**इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम्।**
ज्ञानेनाऽशमयत्क्षता शोकमुत्पतितं बुधः ॥२३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि यों उद्धव से सुहृदों का असमय बध सुन कर जो शोक उत्पन्न हुआ उसको ज्ञानीक्षता (विदुर) ने ज्ञान द्वारा शान्त किया ॥२३॥

सुबोधिनी—अत्र प्रथमं सुहृदां वधं श्रुत्वा, भगवदिच्छां च श्रुत्वा, द्वयोः फले जाते शोके तदपगमे च, ततो बुधो भूत्वा सन्देहनिवृत्त्यर्थं तमेवाऽर्थमुद्धवं पृच्छतीति स्वाधिकारकवक्तृवाच्यनिरूपणाद्वाक्यत्रयम्। सन्देहस्याऽनिवृत्तत्वादग्रिमवाक्यं सन्देहस्थापकमिति नेयं बुद्धिर्निश्चयरूपा, पदार्थस्याऽनिर्द्धारितत्वात्। उपाय निर्द्धारणपक्षे तु संशयस्याऽप्रयोजकत्वात् साधननिश्चयात्मक एव स निरूप्यते। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण मदिरापानादिना सुहृदां बधमुद्धवादुपाकर्ण्य, श्रोतुमप्यशक्यं शोकादि स्वकार्यावश्यम्भावि दुःसहमुद्धवात् श्रुतमिति, विपरीतशङ्काभावात्, दूराद्वह्निरिव तस्य हृदये शोक आपतितः। तत उत्प्लुत्याऽत्रंवागत इत्यर्थः। तं शोकं ज्ञानेनाऽशमयत। तत् ज्ञानं तस्य पूर्वसिद्धमित्याह—**क्षत्तेति**। येन ज्ञानेन पूर्वमिन्द्रियजयेन रागो निवार्यते, तेनैव शोकोऽपि निवारितः। कामादस्य विशेषमाह—**उत्पतितमिति**। उद्यतो हि कामस्तेन न निवारितः, परमनुत्पत्त्यर्थमेव यत्नं कृतवान्, शोकं तूत्पतितमपि निवारयामास; यतोऽयं बुधः। भगवत्स्मरणेन तस्य ज्ञानोत्पत्तेर्मनसा भगवतैवाऽयमुपदिष्टः ॥२३॥

१—स्कन्ध के अर्थ विचारानुसार आगे बुद्धि कैसी है? इस आँकाक्षा पर कहा है। 'एवं'
२— उत्पन्नकरने योग्य कहकर ३— अधिकार में अनुकूल होने से।

व्याख्या--यहाँ प्रथम स्नेहियों ने परस्पर लड़कर अपना बधकर डाला' यह सुना और ऐसी भगवदिच्छा थी वह भी सुनी। दोनों के फल हुए अर्थात् बध सुनने से शोक उत्पन्न हुआ और भगवदिच्छा के सुनने से शोक मिटा, अनन्तर ज्ञानी होकर सन्देह मिटाने के लिए उसी ही अर्थ (विषय) को उद्धव से पूछने लगा, अपना अधिकार, वक्ता और वाच्य (जो कहने योग्य है) इन तीन का निरूपण तीन वाक्यों (श्लोको) से कहा हैं।

सन्देह के न मिटने से और आगे का वाक्य (२५ श्लोक का वावय) सन्देह का स्थापक होने से यह बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं है क्योंकि पदार्थ का निर्णय नहीं हुआ है। उपाय का निर्धारण करना है। इस पक्ष में तो संशय प्रयोजक नहीं है। अतः वह साधन का निश्त्रय रूप ही निरूपण किया जाता है। इसी तरह प्रथम कहे हुए प्रकार मदिरापान आदि से सुहृदो का वध उद्धव से जब सुना तब वह ऐसा विषय था जिसका सुनना ही अशक्य है क्योंकि वह बध अपना कार्य जो अवश्यम्भावी है वह करने के सिवाय रहेगा नहीं। अतः वह दुःसह उद्धव से सुना। उद्धव ने जो कहा वह विपरीत (असत्य) भी नहीं हो सकता है वह शोक दूर से अग्नि की तरह उसके (विदुर के) हृदय में आके पड़ा। वहाँ से कूद उछल कर यहाँ ही आ गया यों भावार्थ है। उस शोक को ज्ञान से शान्त कर दिया, वह ज्ञान उसको पहले ही सिद्ध था। इसलिए इसको 'क्षत्ता' संयमी कहा है। जिस ज्ञान से पहले इन्द्रिय जय से विषयासक्ति मिटा दी थी अब उससे शोक भी मिटा दिया।

शोक की काम से विशेषता बताते हैं कि 'उत्पतितं' शोक उछलकर दूर से आया उसे रोकने का यत्न करना पड़ा उस तरह उसी को शान्त करना पड़ा। शान्त करने में इसकी सामर्थ्य है। क्योंकि 'बुधा' ज्ञानी है, भगवत्स्मरण से ही उसको ज्ञान की उत्पत्ति हुई है एवं मन से भगवान् ने ही उसको उपदेश दिया है ॥ २३ ॥

आभास--एवँ भगवच्छिष्योऽपि भूत्वा, शोकं निवार्य विशेषाकारेण कथनार्थं तं पृच्छतीत्याह–

आभासार्थ—इस प्रकार भगवच्छिष्यता भी प्रकट की, जिससे प्राप्त ज्ञान द्वारा शोक का निवारण किया उद्धव विशेष स्पष्टता से समग्र विषय को कहे तदर्थ उसे पूछता है—यों इस श्लोक में कहते है।

श्लोक--**स तां महाभागवतां व्रजन्तां कौरवर्षभ !।**
विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे कौरवों में श्रेष्ठ! जाने वाले परम भगवदीय (उद्धव) से विश्वास पूर्वक निम्न प्रकार प्रार्थना पूर्वक पूछने लगे क्योंकि वह श्रीकृष्ण के सेवकों में मुख्य था ॥२४॥

सुबोधिनी—स तमिति। महाभागवतत्वात् प्रार्थना। भगवदनुगृहीतो भगवानिव वक्तव्यो भवति। स तमिति पदाभ्यां भगवतैवैतत्संघट्टनं कृतमिति प्रायेणैतद्द्वारैव विशेषं पक्ष्यतीति प्रश्ने हेतुः। **व्रजन्तमिति** सेवादिना मनोनुरञ्जनानन्तरं प्रष्टव्यमिति पक्षो निवारितः। स्वस्याधिकारनिरूपणार्थं **कौरवर्षभेत्युक्तम्**। एकस्वामिसेवकत्वात् पूर्वस्नेहाच्च पृष्टे वक्ष्यतीति कृतो विश्रम्भो विश्वासः, स्नेहनिश्चयो वा। **इदं** वक्ष्यमाणमभ्यधत्त। तथापि भगवद्भक्तः कथमन्यं प्रार्थयत इत्याशङ्क्याऽऽह—**मुख्यं कृष्णपरिग्रहे इति।** भगवता यावन्तः सेवकाः परिगृहीताः, तत्रोद्धवो मुख्य इति, तादृशप्रार्थने न कोऽपि भक्तिविरोध इत्यर्थः ॥२४॥

व्याख्या—उद्धव परम भागवत था इसलिए उससे प्रार्थना की जिस पर भगवान् ने अनुग्रह किया हो, उस अनुगृहित भक्त से भगवान् की तरह ही नम्रता से प्रार्थना पूर्वक बोलना चाहिए 'सत' इन दोनों पदों के कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् ने इस प्रकार दोनों का मिलाप इसलिए कराया है कि प्रभु इसके (उद्धव के) द्वारा ही विशेष कहेंगे यही प्रश्न करने का कारण है जिससे शंका निवारण करनी हो उसकी प्रथम सेवा करनी चाहिए जब वह सेवा से प्रसन्न चित्त हो जावे तदनन्तर पूछना चाहिए किन्तु आप बिना यों किए कैसे पूछ रहे हो ? जिसका उत्तर देता है 'व्रजन्त' जा रहे हैं। अतः सेवा करने का समय नहीं तथा परम भगवदीयों को ऐसी कामना भी नहीं होती है।

परीक्षित अधिकारी हैं यों जताने के लिए 'कौरवर्षभ !' यह सम्बोधन दिया है एक ही स्वामी के दोनों (उद्धव-विदुर) सेवक थे और दोनों का परस्पर पूर्व स्नेह भी था। इसलिए विदुर को विश्वास था पूछने पर सर्व सुनाएगा। यह जो श्लोक २५ में, मैं (विदुर) पूछ रहा हूँ उसका उत्तर उद्धव देगा ही, विदुर भगवद् भक्त होकर भगवतिरिक्त (भगवान् के सिवाय) अन्य को प्रार्थना कैसे करता है ? यों करने से तो अन्याश्रय दोष लगेगा जिसके उत्तर में कहते है कि विदुर को ज्ञान था कि जितने भी कृष्ण के अनुगृहित सेवक हैं उनमें यह (उद्धव) मुख्य होने से भगवान् की तरह प्रार्थनीय है। इससे किसी प्रकार का अन्याश्रय नहीं वा भक्ति में विरोध भी नहीं आता है यों तात्पर्य है॥२४॥

आभास—प्रष्टव्यंपृच्छति—

आभासार्थ—विदुर को जो पूछना है वह इस निम्न श्लोक में पूछता है।

विदुर उवाच-श्लोक—**ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते।**
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णोर्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥२५॥

श्लोकार्थ—उदुर ने कहा—योगेश्वर ईश्वर ने स्वकीयों के तथा अपने रहस्य का प्रकाशक जो परम ज्ञान आपको कहा वह आप मुझे देने के योग्य हो, क्योंकि विष्णु के सेवक अपने भृत्यों को वह ज्ञान देने के लिए ही पृथ्वी पर विचरण कर रहे हैं ॥२५॥

सुबोधिना—ज्ञानं परमिति। पूर्ववच्व्याख्यानं पदत्रयस्य। **एतादृशं यद्भगवांस्तुभ्यमाह, तद्भवान् नोऽस्मभ्यं वक्तुमर्हतीत्यन्वयः। ननु** बहव एव सन्ति ज्ञानिनो व्यासादयः, किमिति मामेव प्रार्थयसे, इत्याशङ्क्य तन्न कोऽपि जानातीति हेतुभूतं पदद्वयमाह—**योगेश्वर ईश्वर इति।** साधनतः स्वरूपश्च यः सर्वेश्वरः, स च तुभ्यमेवंप्रकारेणोक्तवांस्तदतिदुर्लभम्। न हि व्यासादय ईश्वराः, नवाऽनिरुद्धादयो योगेश्वराः। उभयभावमवलम्ब्यार्ऽपि यद्भगवान् तुभ्यमुपदष्टिवान्, तेनाऽवश्यमेतद्वक्तव्यमिति। तदाह—**वक्तुं भवान्नोऽर्हतीति** यथा भगवान् भवान्, तथा भवानहम्। अतो यथा तादृशे योगे भगवानवक्तव्यमप्युक्तवान्, एवं त्वमपि वदेत्यर्थः। ननु भगवान् भक्तोद्धाराथमेव यतते, स्वतन्त्रश्च; अत उपदेशं करोतु नाम। अस्माभिस्तु तत्कथं कर्तुं शक्यमित्यत आह—**भृत्याः स्वभृत्यार्थंकृतश्चरन्तीति।** यद्यस्मात् विष्णोर्भृत्याः। स्वामिसमानधर्मत्वात्सेवकानाम् यथा स्वामी सेवकोद्धारकः, एवं भृत्या अपि स्वभृत्यार्थमेव कृतं येषाम्, तादृशा एव भूत्वा स्वभृत्यानन्वेष्टुं चरन्ति, अन्यथा भगवदीयत्वेनैव कृतार्थाः सन्तः किमिति परिभ्रमेयुः। भगवत्स्मरणाच्चोद्धव उपदेशार्थऽमेव रक्षित इति हृदये प्रतिभातम्। अतो 'भगवदाज्ञयैवाऽऽगच्छन्तमप्युद्धवं स्वभृत्यार्थंकृतश्चरन्तीत्युक्तवान् ॥२५'।

व्याख्या – स्वकीयों के और अपने मर्म (रहस्य) का प्रकाशक २– उत्तम ३–ज्ञान, इन तीनों पदों की व्याख्या जैसे पहले (१ से १८ श्लोक में) की है वैसी ही है।

ऐसा जो ज्ञान भगवान् ने आपको कहा है, वह ज्ञान आप कहने के लिए योग्य हैं, आप उस ज्ञान को सुनने के लिए मुझमे ही प्रार्थना क्यों करते हो? व्यासादिक बहुत ही ज्ञानी है उनमे क्यों नहीं पूछते हो? इस पर कहते हैं कि यह ज्ञान आपके सिवाय कोई दूसरा नहीं जानता है, क्योंकि जिसने आपको यह ज्ञान दिया है वे योगेश्वर तथा ईश्वर हैं, जो साधन से तथा स्वरूप से सर्वेश्वर हैं। उनने आपको जिस प्रकार का ज्ञान दिया वह ज्ञान अति दुर्लभ है। व्यासादिक ऋषि ईश्वर नहीं है और अनिरुद्धादि योगेश्वर नहीं है। दोनों भावों को (ईश्वरत्व एवं योगेश्वरत्व को) धारण कर भगवान् ने जिस ज्ञान का आपको उपदेश दिया है वह अवश्य आप मुझे कहेंगे (आपको कहना चाहिए) उसको स्पष्ट शब्दों में कहता है कि 'वक्तु भावान्नोऽर्हतीति' आप हमको कहने योग्य हैं क्योंकि जैसे आप भगवान् को ज्ञान देने के योग्य समझते थे वैसे मैं आपको समझता हूँ अथवा जैसे आप भगवान् के हैं वैसे मैं आपका हूँ अतः भगवान् और आपका जैसे मिलन हुआ वैसे मेरा आपके साथ हुआ है। इसलिए जिस तरह भगवान् ने कृपा कर गुप्त भी आपको बता दिया इसी तरह आप भी कृपाकर मुझको कहिए। यदि कहो कि भगवान् भक्तोद्धार के लिए ही प्रयत्न करते हैं और स्वतन्त्र हैं इसलिए वे उपदेश कर सकते हैं, हम उसी तरह कैसे कर सकेंगे। इस पर कहते हैं कि 'भृत्या स्वभृत्यार्थं कृतश्चन्तीति' विष्णु के जो सेवक हैं वे भी वैसे ही हैं सेवकों में स्वामी के समान धर्म आ जाते हैं अतः जैसे स्वामी सेवकों का उद्धार करते हैं वैसे ही विष्णु के भृत्य अपने सेवकों का उद्धार करने के लिए विचरण कर रहे हैं कि कहीं भी सेवक मिलें तो उसका उद्धार करें। यदि यों न होवे तो वे भगवदीय होने से कृतार्थ हो गए फिर भ्रमण क्यों करें। भगवत्स्मरण से विदुर के मन में यह भाव उत्पन्न हो आया कि सर्व यादवों का भगवान् ने मूशल द्वारा नाश कराया केवल उद्धव की रक्षा की, जिस का कारण कि उद्धव अन्यों को उपदेश देकर उनका उद्धार करे अतः भगवदाज्ञा से ही आते हुए उद्धव के लिए ही कहा है कि 'स्वभृत्याथ कृतश्चरन्ति' अपने भृत्यों को कृतार्थ करने के लिए विचरते हैं॥ २५ ॥

आभास—विदुरोक्तमभिप्रायमङ्गीकृत्य, सामान्यन्यायोऽयमेवेति मत्वा, विदुरे भगवत्कृतो विशेषोऽस्तीति भगवद्वाक्यपरिपालनार्थं भिन्नेन प्रकारेणोपदिशति—

आभासार्थ—विदुर के कहने का अभिप्राय अंगीकार कर और सामान्य न्याय भी यों ही है ऐसा मानकर विदुर के लिए भगवान् ने विशेष प्रबन्ध किया है, इसलिए भगवद् वाक्यों के पालन करने के लिए भिन्न प्रकार से उपदेश देता है—

उद्धव उवाच श्लोक—**ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे ।**
साक्षाद्भगवताऽऽदिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ।।२६।।

श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा—तुम्हे तत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए कोषारव ऋषि के पास जाकर उसकी आराधना करनी चाहिए क्योंकि मर्त्य लोक का त्याग करने की इच्छा वाले साक्षात् भगवान् ने मेरी उपस्थिति में मैत्रेय को कहा कि विदुर को उपदेश देना ।।२६।।

सुबोधिनी—ननु ते इति। तत्त्वोपदेशस्तु भगवता कृत एव '**आचार्यवान् पुरुषो वेद**' इति विधिपरिपालनार्थं यदि कश्चिद्गुरुः सेव्यः तदा भगवतैव निर्दिष्ट **कौषारवो** मैत्रेयस्ते तव तत्त्व-ज्ञानार्थं संराध्यः । यतः स ऋषिः भगवदीयत्वेऽपि ऋषित्वं तत्राऽधिकमित्यर्थः । भगवता च निर्दिष्ट इति सोऽवश्यं तुभ्यं वक्ष्यति । तदाह—**साक्षाद्भगवताऽऽदिष्ट इति** । तादृशे समये आज्ञप्तः, सन्देहो वा पुनः प्रश्नो वा यत्र नोत्पद्यत एव । तदाह—**मर्त्यलोकं जिहासतेति** । अतः परमस्मिन् लोके स्थितस्तदाज्ञां चेन्न कुर्यात्सोऽपि लोकवत्त्यक्तव्य एव स्यात्, अतः सर्वांस्त्यजन् भगवांस्तं परिगृह्याऽऽह 'विदुर उपदेष्टव्यः' इति । अतः सर्वथा स उपदेक्ष्यति । भगवदाज्ञा च पुनस्त्वया मयाऽपि कर्त्तव्या, अतस्तत्र गच्छेत्यर्थः ।।२६।।

व्याख्या—तत्व का उपदेश तो भगवान् ने किया है केवल 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' वह पुरुष ज्ञान पा सकता है जिसने गुरु किया है । अतः इस शास्त्र आज्ञा का पालन करने के लिए किसी गुरु की सेवा करनी योग्य है । इसलिए भगवान् ने आज्ञा की है कि मैत्रेय की ही तुम्हे तत्त्व ज्ञानार्थ सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वह ऋषि है । भगवदीय होते हुए भी उसमें ऋषित्व होने की विशेषता दिखाते हैं । यह शंका भी नही करनी कि वह मुझे नहीं बताएगा क्योंकि भगवान् ने उसे आदेश दिया है, इसलिए अवश्य तुम्हे कहेंगे । इसलिए कहा है कि 'साक्षाद्भगवताऽऽदिष्टः' साक्षात भगवान् ने ऐसा आदेश दिया है । वह भी ऐसे समय में दिया और ऐसा दिया जो न कोई प्रश्न करने का रहे और न सन्देह रहे । वह कहते हैं कि 'मर्त्यलोकं जिहासत' जिस समय मर्त्य लोक को छोड़ने की इच्छा भगवान् को हुई, उस समय यह आज्ञा दी । इस लोक में रह कर यदि उनकी आज्ञा का पालन जो नही करता है उसका भी त्याग, लोक की तरह भगवान् करेंगे अतः सबको त्यागकर भगवान् उसको अपने पास बुलाकर कहने लगे कि '**विदुरउपदेष्टव्यः**' 'विदुर को उपदेश देना अतः वह सर्वथा उपदेश देगा' । भगवान् की आज्ञा तुम्हे और मुझे दोनो को माननी चाहिए इसलिए वहाँ जाओ जहाँ मैत्रेय है ।।२६।।

आभास—-एवं विदुरमुक्त्वा स गत इतिवक्तुम्, प्रसङ्गादन्या कथामुपसंहारव्याजेन कथयति—-

आभासार्थ—उद्धवजी विदुर को यों कहकर चले गए और प्रसंग से अन्य कथा को उपसंहार के बहाने से श्री शुक देवजी कहते हैं—-

श्रीशुक उवाच–श्लोक–**इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेर्गुणकथया सुधयाऽऽप्लुतोरुतापः**
क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ।।२७।।

श्लोकार्थ–श्री शुकदेवजी ने कहा कि यमुनाजी के किनारे पर रात्रि के समय उद्धव और विदुर ने परस्पर विश्वमूर्ति भगवान् के अमृतमय गुणानुवादों को गाते हुए उनमें अपने हृदय के महत्ताप को डुबो दिया अथवा उनसे ताप को धो डाला, वह रात्रि उनको मानो क्षण मात्र थी यों लगी, पश्चात् वहाँ से वे चले गए ।।२७।।

सुबोधिनी—इतीति । सन्ध्याकाले यमुनातीरे दृष्ट उद्धवः प्रातःकालपर्यन्तं भगवत्कथामेव कथितवान्, यथा यस्मिन्नवसरे पृष्ट्यादिलीलया स्वस्मिन् कृपां कृतवान् । एवं विदुरोऽप्युद्धव प्रति भगवत्कृपाकथां कथयति स्म । तदाह—**सह विदुरेणेति** । **इती**त्युपसंहारः । प्रसङ्गादन्यामपि कथां कथयन्तौ भविष्यत इत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह—**विश्वमूर्त्तेरिति** । विश्वमेव मूर्त्तिः यस्य । अनन्तमूर्तिर्वा भगवान्, तेन प्रासङ्गिक्यपि कथा भगवद्विषयिकैव भवति । अतस्तस्याऽनन्तगुणस्य सर्वोत्तमत्वप्रतिपादका ये धर्मास्तत्कथयैव क्षुत्पिपासाश्रमादिसर्वे तापा उभयोरपि निवृत्ताः ननु कथया कथं क्षुत्पिपासादिक निवर्त्तते, स्वाभाविकत्वाद्दोषाणाम् कथाय श्च तन्निवर्त्तकत्वेन लोके प्रसिद्ध्यभावादस्वाभाविकत्वम्. अतः कथं निवर्त्तकत्वमिति चेत्तत्राऽऽह– **सुधयेति** । अमृतरूपा हि सा । अमृतं हि तथा भवतीति लोकसिद्धम् । सा कालकृतमपि निवर्त्तयति जरामरणादिकम्, किमुत कालाधीनकर्मस्वभावकृतनिवर्त्तकत्वम् । किञ्च, अल्पयाऽपि कथया सुधया लोका अमरा जायन्ते, अत्र तु महानमृतपूर येन आ समन्तात् **प्लुत उरुतापो** यस्य । अत एव कालोऽपि तेन न ज्ञात इत्याह **क्षणमिवेति** । देशकृतोऽपि दोषस्तस्य न स्फुरितइत्याह—**पुलिने यमस्वसुरिति** । यमभगिनी हि कालिन्दी मकरादिसर्वदुष्टजन्तुसमाश्रिता, तस्याः पुलिने रात्रौ सर्वदोषाः सम्भवन्ति, तेऽपि न स्फुरिताः । अत एव तां निशां सम्यगुषितः । ननु निद्रया पीडितः कथं वार्त्तां कृतवांस्तत्राऽऽह-**औपगविरिति** उपगोरपत्यमौपमवः, तस्याऽपत्यमौपगविः । अथवा, '**एको गोत्रे**' इति निर्बन्धे बाह्वादित्वादिञेव । उप समीपे गावो यस्य स उपगुरिति, गोरक्षकत्वाद्रात्रौ जागरणाभ्यासः । तस्य चाऽयमपत्यम्, तत्स्वभाव एव । अतस्तां निशां वार्त्तयैव समुषितः । प्रातःकाले तस्मात् पुलिनात् बदरिकाश्रमं गत इत्यर्थः । भगवद्वियोगेऽपि भगवत्कथया स्थित इति सम्यगुषितः । स एव निवासः समीचीनः, यो विषयान्तराभावेन भगवत्कथयैव गच्छतीति सिद्धान्तः ।।२७।।

व्याख्या–सन्ध्या समय में यमुनाजी के तट पर विदुर ने उद्धव को देखा। उद्धव ने प्रातः काल पर्यन्त विदुर के साथ भगवद् गुणानुवाद का गान ऐसे गाया, जैसे-जैसे जिस समय में पुष्टयादि लीला से भगवान् ने उद्धव पर कृपा की थी उसी तरह विदुर भी उद्धव को वह कथा कहने लगा जैसे विदुर पर भगवान् ने कृपा की थी, इसका वर्णन करते हैं 'सह विदुरेण' यों कहने का आशय है कि अब भगवत्कथा का उपसंहार करना चाहते हैं और जाना चाहते हैं। उस समय प्रसंग आ जाने पर अन्य कथाएँ भी की होगी? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि नहीं केवल 'विश्वमूर्ते' समग्र विश्व जिसमें मौजूद है अथवा जो अनन्तमूर्ति है उस भगवान् की ही लीला व कथाएँ जो-जो भगवान् ने कृपा कर इनको कही याकी वे ही की थी, जिससे यह बताया है कि यदि प्रासंगिक की कथा की होगी तो वह भी भगवत्सम्बन्धी ही की होगी। अतः उस अनन्त गुणी के सर्वोत्तमत्व प्रतिपादक जो धर्म हैं उनको कथा से हो क्षुधा, पिपासा और श्रम आदि सर्वताप दोनों के मिट गए। कथा से क्षुधा और पिपासादि दोष कैसे मिटेंगे? क्योंकि वे दोष स्वाभाविक हैं और कथा इन दोषों को मिटाएगी ऐसा कथा का स्वभाव है यों लोक में प्रसिद्ध नहीं है तब वह कथा उन दोषों को कैसे मिटाएगी? इस शंका के निवारणार्थ 'सुधया' विशेषण दिया है। वह अन्य कथाओं के समान नही है किन्तु 'अमृतरूप' है। अमृत के गुण तो लोक में प्रसिद्ध ही हैं अतः भूख एवं प्यास मिटाना तो नाम मात्र ही है। किन्तु कालकृत जरा मरणादि को भी मिटा देते है। अल्प भी कथारूपी सुधा से लोक अमर बन जाते हैं। यहाँ इस भगवद्गुणानुवाद में तो महान् अमृत का पूर (बाढ) उभर पड़ा था जिससे यह महान् ताप वाला भक्त उस अमृतपूर में डूब गया अर्थात् उसका महान् ताप शान्त हो गया। इससे उसको, काल का भी ज्ञान न रहा यों समझा कि भगवत् चर्चा करते हुए क्षण मात्र ही हुआ है देशकृत दोष की भी स्फूर्ति न हुई। उस समय यमुना के तट पर बैठे थे। यम की स्वसा (बहिन) से कालिन्दी कहा है उसमें मगरादि सर्वदुष्ट जन्तु रहते हैं अतः उसके तट पर रात्रि के समय सर्व प्रकार के दोष (भय) होते हैं, इनको उनकी स्फुरणा भी न हुई, इससे ही सारी रात्रि वहाँ आनन्द पूर्वक रहे। रात्रि के समय नींद ने सताया होगा? कैसे वार्ता कर सके होंगे? इस पर कहते हैं कि 'औपगवि' था, अर्थात् जो गौओं को अपने पास रखता था वह 'उपगु' उसका पुत्र औपगवि, इस नाम के देने का भावार्थ है कि जो गौओं को पालते हैं वे प्रायः रात्रि को जागरण करते हैं कि कोई गौ को चुरा के न ले जावे जिससे उनकों नींद नहीं आती है। उद्धव भी उसका पुत्र है अतः नींद न आना इसका सहजधर्म है इसलिए प्रेम से निर्विघ्न गुणगान करते रहे। रात्रि क्षणमात्र सी हो गई। प्रातः काल में वहाँ से बदरिकाश्रम गया। हालाँकि भगवद्वियोग था तो भी भगवत्कथा से वहाँ सम्यक प्रकार से रहे। वह ही निवास सुन्दर है जहां समय भगवत्कथा से ही व्यतीत होता है जिससे अन्य विषयों का अभाव हो केवल भगवत्कथामृत की वृष्टि होती रहती है यही सिद्धान्त है ॥२७॥

आभास—विपर्ययबुद्धिं मायां चैकीकृत्य प्रश्नोत्तररूपेण निरूपयति—निधनमुपगतेष्विति षड्भिः—

आभासार्थ—विपर्यय (उलटी) बुद्धि एवं माया को भी मिला कर प्रश्नोत्तर रूप से (६) श्लोकों में निरूपण करते हैं—

राजो उवाच श्लोक—**निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजेष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः ।**
स तु कथमवशिष्ट उद्धवो यद्धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥२८॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि—जब वृष्णि और भोज वंशीय सर्व यादव मर गए तब अधिरथियो के सेनापतिओं की सैन्य की रक्षा करने वालों में जो मुख्य उद्धव था वह कैसे बचा ? जब कि तीन गुणों के अधीश हरि ने भी अपने स्वरूप को (आसुरव्यामोहार्थ) त्याग कर दिखाया है ॥२८॥

कारिका—**विपर्ययः प्रश्न एव, माया सिद्धान्तगोपने ।**
सिद्धान्तकथनेऽप्यस्य बुद्धिः पर्यवसानगा ॥१॥

कारिकार्थ—प्रश्न में ही विपर्यय (उलटी—विपरति) बुद्धि हुई, सिद्धान्त के छिपाने में माया है । सिद्धान्त कहने पर भी इसकी (परीक्षित की) बुद्धि में वही विचार हुआ कि मैं मरूंगा ।

सुबोधिनी—कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यतीति सिद्धान्तात्. न सभार्थी राज्ञा बुद्धा । न वा एते शब्दाः, किन्तु शब्दान्तरैरेतैश्च यथासम्भवं कथैव श्रुता । अतोऽस्य भगवत्स्वरूपाज्ञानादेवं—प्रश्नो युक्त एव । स हि शापादेव सर्वं जातमिति मन्यते, यथा स्वतक्षकम् । ततः पृच्छति—**निधनमुपगतेषु** निधनं मरणं प्राप्तेषु । **वृष्णिभोजेष्विति** षट्सु यादवेषु द्वौ बहुवचनान्तौ निर्दिष्टौ, षण्णां सात्त्विकादित्वख्यापनाय । वृष्णिभोजेषु निधनमुपगतेषु सत्सूद्धवः कथमवशिष्टः ? इति प्रश्नः । नन्वप्रयोजका बहव एव तिष्ठन्ति, शापश्च प्रधान परः; अत एव भगवद्वाक्यम्, **स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च**' इति । तथाऽयमपि सन्यासी उर्वरित इति चेत्तत्राह—**अधिरथयूथपयूथपेषु मुख्य इति ।** अधिरथानां यूथपाः सेनापतयो महामात्रतुल्याः, तेषां यूथं पान्तीति महाराजा (नो) जरासन्धप्रभृतयः, क्षत्रियाणां बलेनैवाऽऽधिक्यात् तेष्वपि मुख्यो महाबल इत्यर्थः । अतः स कथमवशिष्ट ? यस्मान्नाम्नैव स तादृश इत्याह—**उद्धवो यदिति ।** यस्मादुद्धवः, ऊर्ध्वंहवो यस्य । सर्वापेक्षया तस्य सङ्ग्राम उच्चं भवतीति । उत्सवपरत्वेऽपि क्षत्रियाणां युद्धादेवोत्सवो भवति । प्रायिकमेतदिति चेत, तथा सति शापवैयर्थ्यापत्तेः । उद्धतपरमिति चेत्तत्राऽऽह — **हरिरपीति ।** औद्धत्यशङ्काऽपि यत्र नाऽस्तीत्यर्थः । यादवाकृतिम्, यथा नरवानरादेरेकान्नजबीजत्वेऽपि पूर्वबीजसन्ततिपाताज्जात्यैव भेदो भवति, एवं ब्राह्मणक्षत्रिययोर्यादवायादवयोश्च । अतो यादवेषु कश्चन धर्मो वर्त्तते येन त इति ज्ञायन्ते, तन्निवृत्त्यर्थमेव शापः । अता यादवत्वख्यापनार्थं भगवांस्तल्लक्षणं स्वरूपे प्रदर्शितवान्, तदेवाऽऽकृतिशब्देनोच्यते: तां तत्यज इति स्वबुद्धिः **त्र्यधीश इति** गुणत्रयस्वामी, सर्वमन्यथाकर्तुं समर्थः । तादृशोऽपि शापं नाऽन्यथा कृतवानित्यर्थः ॥२८॥

व्याख्या—शुकदेवजी राजा को कथा मात्र कहेंगे यह सिद्धान्त[1] है। राजा को यह ज्ञान न हुआ कि इस कथा के सात[2] अर्थ हैं और इन शब्दो के तात्पर्य को भी न जाना किन्तु अन्य शब्दों से और इन शब्दों से जितना संभव हो सका कथा मात्र हो सुनी। अतः परीक्षित का इस प्रकार प्रश्न करना उचित ही है क्योंकि उसको भगवत्स्वरूप का अब तक ज्ञान नहीं हुआ है वह परीक्षित जानता है कि यह सर्व ब्राह्मणों के शाप से ही हुआ जैसे मुझे शाप है तो मैं तक्षक से ही मरूँगा इस कारण से पूछता है कि वृष्णिभोजवंश के ६ प्रकार[3] के सर्व यादव नाश हो गए उद्धव कैसे बच गया? छ कहने का तात्पर्य सात्विकादित्व के ख्यापन (प्रसिद्धी) के लिए है शाप मुख्यों को ही लगता है जिनका कोई प्रयोजन नहीं है ऐसे बहुत होते है उनका शाप से कौन सा सम्बन्ध है? इसलिए आगे भगवान् ने कहा है कि 'स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च' स्त्रियाँ, बालक और वृद्ध ये शाप के भक्ष्य नहीं, वैसे ही यह (उद्धव) भी त्यागी होने मे शाप से बच गए। यदि यों कहो तो उचित नहीं है क्योंकि अधिकारियों के जो सेनापति थे उनके सैन्य की रक्षा करने में मुख्य महाबलवान् यह उद्धव है। क्षत्रियों में बल मे अधिकता जानो जाती है। यों तो सैन्य के रक्षक जरासन्ध प्रभृति बड़े-बड़े बलवान राजा थे किन्तु उनसे भी विशेष बलवान होने से यह (उद्धव) सब में मुख्य रक्षक थे, अतः वह मुख्य होते हुए भी शाप से कैसे बचे यह उद्धव नाम से भी सबसे बलवान होने से मुख्ययोधा थे। 'उद्ध्वं हवो यस्य स उद्धवः' सब की तुलना में देखा जाए तो इसका संग्राम (लड़ाई) जोरदार होता। यदि उद्धव का 'उत्सव' अर्थ लिया जावे तो क्षत्रियों को युद्ध से ही उत्सव (आनन्द) होता है। यदि कहो कि शाप बहुतों के लिए था सर्व के लिए नहीं, यदि यों हो तो शाप की व्यर्थता सिद्ध होती है। यदि कहो कि यह शाप उद्धतों के लिए था तो यह कहना भी सत्य नहीं क्योंकि हरि ने भी शाप को स्वीकार कर यादवाकृति का संवरण किया, है वे उद्धत तो नहीं है किन्तु उनमें उद्धत होने की शंका किसी को भी नहीं होती है। तो भी जैसे मनुष्य और बानर एक ही अन्न खाते हैं उस अन्न से उत्तम वीर्य दोनों में समान होते हुए भी पूर्व बीज की परम्परा के सम्बन्ध से नर और बानर में भेद होता है इसो तरह ब्राह्मण और क्षत्रिय एवं यादव और अयादव में आन्तरिक भेद होने से भेद है अतः यादवों में कोई विशेष धर्म रहता है जो उनको यादव नाम से प्रसिद्ध करता है। उस धर्म की निवृति के लिए ही शाप था अतः अपने को यादव प्रसिद्ध कराने के लिए वह लाक्षण स्वरूप में दिखाने लगे उसको ही 'आकृति' शब्द से कहा जाता है उस आकृति को भगवान् ने त्यागा। ऐसी विपरीत बुद्धि राजा की थो। वास्तव में भगवान् तीन गुणों के स्वामी होने से सर्व अन्यथा करने में समर्थ हैं वैसा होते हुए भी शाप को अन्यथा (झूठा) न किया॥ २८॥

प्रकाश-१- इस सिद्धांत को आचार्य श्री कृत प्रथम स्कन्ध के निबन्ध से समझना चाहिए।

२- इच्छा रहित, भाव रहित, कालात्मा, आत्माराम अकुण्ठित तथा अखण्ड ज्ञान वाले सदा सावधान और देवरूप भगवान् हैं।

३- छ प्रकार के यादव बताने के लिए दो बार बहुबचन दिये हैं।

आभास—शुकस्तद्बुद्धिमनुसृत्यैव, भगवानिव तां बुद्धिं लोके स्थापयितुम्, प्रकारान्तरेण समाधानमाह—

आभासार्थ—उसके बुद्धि का ही अनुसरण कर भगवान् की तरह उस बुद्धि का लोक में स्थापन करने के लिए शुकदेवजा दूसरे प्रकार से समाधान निम्न श्लोकों में करते हैं—

श्री शुक उवाच श्लोक—**ब्रह्मशापापदेशेन कालेनाऽमोघवाञ्छितः ।**
संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन् देहमचिन्तयत् ।।२६।।

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् ।
अर्हत्युद्धव एवाऽद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ।।३० ।।

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ।। ३१ ।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं, जिसकी इच्छा कभी भी व्यर्थ नहीं जाती है, वैसे भगवान् ने ब्राह्मण शाप रूप काल से अपने कुल का संहारकर, अपने इस यादव देह का संवरण करने का विचार किया। इस लोक से शान्ति पाने के अनन्तर अब उद्धव ही आत्मज्ञानियों में श्रेष्ट रहा है अतः मुझ में जो ज्ञान मेरा आश्रय कर रहा हुआ है उसके लेने का एक मात्र उद्धव ही योग्य अधिकारी है, कारण कि उद्धव अणुमात्र भी मुझसे न्यून नहीं है तथा समर्थ होने से गुणों का प्रभाव उस पर स्वल्प भी नहीं पड़ता है। इसलिए लोक में मेरे ज्ञान का प्रचार करता हुआ यहाँ रहे ।।२६,३०,३१।।

सुबोधिनी—ब्रह्मशापापदेशेनेति। ब्रह्मशाप इत्यपदेशमात्रम्, किन्तु स्वाज्ञाकारिणा कालेन सर्वं कुलं संहृत्य आज्ञामपीच्छयैव कृतवान्। पश्चात्स्वयमेव सर्वमेव लोकं त्यजन्, बीजभावेन प्रवेशं कुर्वन्, एवमचिन्तयत्। तदाह—**अस्माल्लोकादिति।** निश्चयेन मया अयं लोकस्त्यक्तव्यः। तत्र गुणपञ्चकानां कार्यस्य जातत्वात् ज्ञानकार्यमवशिष्यते। तत्तु न ग्रन्थमात्रेण भवति, प्रत्यग्रसन्देहानां तत्राऽनिराकरणात्। अतः केनचित्पुरुषेण तत्प्रवर्त्तकेन स्थातव्यम्। तत्र ममाऽनन्तगुणत्वेऽपि, प्रचार्यमाणे ज्ञाने अहं वा, उद्धवो वा प्रचारणसमर्थो भवति। यतस्तत् ज्ञानं मद्विषयकमेव, न ह्यन्यो मां जानाति। अहं वा जानामि, '**भक्त्या मामभिजानाति**' इति ज्ञानपूर्णभक्तो वा। अत उद्धवं ज्ञानपूर्णं भक्तं ज्ञात्वा स्वस्थाने तं स्थापितवान्। किञ्च, तत् ज्ञानं मदाश्रयम्, मामेवाऽऽश्रित्य तिष्ठति, भगशब्दवाच्यगुणमध्यपातात्। शब्दाश्रितं तु

ज्ञानं वाक्यश्रवणात् सर्वस्यैवाऽधिकारिणो भवति इदं तु मय्येव हृदि स्थिते । मत्सङ्गेन समायाति नारदादयोऽपि शास्त्राश्रितमेव ज्ञानं समाश्रिताः, इदं तु पुष्ट्यात्मकम् । अहं तु स्वस्मिन् वा भक्ते वा तिष्ठामि, अतो भक्तोत्तमत्वात् साक्षादुद्धव एवाऽर्हति । ननु सन्ति ज्ञानिनोऽन्येपि भक्ताश्च, कोऽस्मिन् विशेष इत्याशङ्क्याऽऽह— **सम्प्रत्यात्मवतां वर इति**। सम्प्रति मज्ज्ञानधारकः कोऽपि नास्ति । अत्राऽङ्गत्रयमपेक्ष्यते; ज्ञानम्, भक्तिरतिजितेन्द्रियता च । तत्रयं कस्याऽपि नास्ति, एकेन द्वयेन वा नेदं ज्ञानं तिष्ठति । अयं च कालः सर्वनिबाऽजितेन्द्रियानेव करोति, तस्मादुद्धव एव सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥२९ ३०॥

किञ्च, **नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः** । ज्ञानाधारत्वार्थं ये गुणा अपेक्ष्यन्ते, ते मय्येव; उद्धवेऽपि सर्वे सन्ति सर्वप्रकारेण । अतोऽणुमात्रमपि मत्तो न्यूनो न भवति । तत्र प्रमाणमाह–**यद्गुणैर्नार्दित इति** । मज्ज्ञाने स एवाऽधिकारी यस्य गुणक्षोभो न भवति । गुणा हि बहुधा हृदये क्षोभमुत्पादयन्ति । किं बहुना, तत्क्षोभरहितो ब्रह्माऽपि न भवति, अतोऽयमेब गुणैर्नार्दितः । तत्र हेतुमाह– **प्रभुरिति** । प्रभुः समर्थः स्वभावनियन्ता, स एव शूर इत्युच्यते । शूर एव हि लोके प्रभुर्भवति । तथाऽस्मिन् शास्त्रे य एवं स्वभावं जयति, स एव प्रभुः ताह शश्वोद्धवः । क्षत्रियः, शूरः, सबन्धी पितृव्योऽपि भूत्वा नीचादपि नीचभावेनैव सेवते, अयमेव हि स्वभाव जयःइदमेव प्रभुत्वं भगवदवगतम् अतो **मद्वयुनं** मज्ज्ञानम्, **लोक**मधिकरिण ग्राहयन् भक्तिज्ञानोपदेशेन जितेन्द्रियत्वं च शिक्षयन् **इह** लोके तिष्ठतु । एवमचिन्तयदिति सम्बधः ॥३१॥

व्याख्या– ब्राह्मणों का शाप तो केवल बहाना (मिस) था । किन्तु अपने आज्ञानुसारी काल द्वारा अपने सर्व कुल का संहार कर पश्चात् स्वयं भी सर्व लोक का त्याग करते हुए अर्थात् अधिकारियों में बीजभाव से प्रवेश करते हुए, यों विचार करने लगे वह कहता है कि 'अस्माल्लोकादुपरते' निश्चय से अब इस लोक को प्रकट रूप से त्याग करना है किञ्च पांच गुणों का कार्य तो पूर्ण हुआ है, ज्ञान गुण का कार्य शेष रह गया है । वह तो केवल ग्रन्थों के पढ़ने से नहीं आता है कारण कि नवीन संशय उत्पन्न होते हैं उनका निराकरण ग्रन्थों में नहीं है, अतः यहां कोई ऐसा योग्य पुरुष होना चाहिए जो उसका (ज्ञान का) प्रचार करे । ज्ञानमें मेरे अनन्त गुण हैं तो भी जिस ज्ञान गुण (धर्म) का प्रचार करना है, उस ज्ञान के प्रचार (स्थापन) के लिए मैं अथवा उद्धव ही समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं है। कारण कि वह ज्ञान मत्सम्बन्धी है । उद्धव के सिवाय दूसरा मुझे नहीं जानता है अथवा मैं स्वयं को जानता हूं। 'भक्त्यामामभिजानाति' इस गीता वाक्यानुसार ज्ञान पूर्ण भक्त मुझे जानता है । अतः उद्धव को ज्ञानपूर्ण भक्त जानकर अपने स्थान पर उसकी स्थापना की, किन्तु वह ज्ञान मेरा आश्रय करके ही रहता है । 'भग' शब्द से जो मेरे ६ गुण कहे गए हैं उनमें 'ज्ञान' भी मेरा एक गुण है, शब्द का आश्रित जो ज्ञान है वह वाक्यों के (शास्त्र वचनों के) श्रवण से सब अधिकारियों को प्राप्त हो जाता है यह ज्ञान तो मदाश्रित होने से जब में हृदय मैं आकर स्थित होता हूँ तब मेरे साथ आता हैं, नारदादिकों को भी जो ज्ञान है वह शास्त्राश्रित ज्ञान है वह ज्ञान तो पुष्टिरूप (अनुग्रहात्मक) ज्ञान है । मैं तो अपने स्वरूप में वा

भक्त में रहता हूँ। अत: भक्तों में उत्तम भक्त होने से उद्धव ही इस ज्ञान लेने का अधिकारी हैं, दूसरे भी ज्ञानी और भक्त हैं। इसमें उनसे क्या विशेषता है। इस पर कहा है कि 'सम्प्रत्यात्मवताम् वर:' इस समय आत्मवेत्ताओं में यह उत्तम है और अन्य कोई भी मेरे ज्ञान को धारण करने वाला नहीं है, इस ज्ञान के तीन अंग है ज्ञान, भक्ति और पूर्ण जितेन्द्रियता। ये तीन किसी में भी नहीं है किसी में एक हो वा दो हो तो भी यह ज्ञान नहीं ठहरता है। यह काम ऐसा है सब को ही अजितेन्द्रिय कर देना है। इस कारण से तीनों गुणों से युक्त इस समय एक उद्धव ही आत्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है ।।२९,३०।

किन्तु ज्ञान का आधार बनने के लिए जिन गुणों की अपेक्षा है वे मुझमें ही हैं तथा उद्धव में भी सर्व प्रकार से सब गुण हैं, अत: मुझ मे उद्धव अणुमात्र भी न्यून नहीं हैं। उसमें प्रमाण देते है कि गुण उद्धव को अपने वश में नहीं ला सकते हैं जिससे वह गुणाधीन न होने से उनसे पीड़ित नहीं होता है। अर्थात संसार में डूबता नहीं है, इस मेरे ज्ञान का वही अधिकारी है. जिसको गुणों से क्षोभ नहीं होता है गुण ही बहुत कर हृदय में क्षोभ करते हैं बहुत क्या कहें गुणों के क्षोभ से ब्रह्मा भी नहीं छूटा है। केवल यह (उद्धव) ही गुणों से क्षोभ नहीं पाता है। उसमें कारण बताते है कि 'प्रभु' समर्थ है स्वभाव को नियम में रख सकता है जो स्वभाव को नियम में रखे वह ही शूर है। शूर ही लोक में प्रभु (समर्थ) होता है तथा इस शास्त्र में जो इस प्रकार स्वभाव को जीतता है वह ही प्रभु (समर्थ) है। वैसे उद्धव ही हैं, क्षत्रिय हैं, शूर हैं, सम्बन्धी हैं और पितृत्य (काका) होकर भी नीच से नीच भाव से (दीन से दीन भाव से) सेवा करते हैं। यह ही स्वभाव को जीतना है भगवान् ने इसको ही प्रभु (समर्थ) माना है। अत: मेरा ज्ञान अधिकारी को ग्रहण कराता हुआ भक्ति तथा ज्ञानोपदेश से जितेन्द्रियत्व सिखाता हुआ इस लोक में रहे, यों भगवान् ने विचारा यों (वाक्य का) सम्बन्ध है ।।३१।।

आभास—ततो भगवता आज्ञप्तस्तथैव कृतवानित्याह—

आभासार्थ—पश्चात जैसे भगवान् ने आज्ञा दी थी वैसे ही करने लगे। यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एवं त्रिलोकगुरुणा संदिष्टः शब्दयोनिना ।
बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ—वेद कर्ता तीन लोकों में जगद्गुरु की इस प्रकार की आज्ञा पाकर उद्धव बदरिकाश्रम जाकर समाधि से हरिका पूजन करने लगा ।।३२।।

सुबोधिनी—एवं त्रिलोकगुरुणेति । एवमेव प्रमेयंबोधयित्वा त्वं तिष्ठेत्याज्ञप्तः, **'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'** इति ममैतदसाध्यमिति ज्ञात्वाऽपि, जगद्गूरुवाक्यं स्वशक्त्यनुसारेण कर्त्तव्यमिति कृतवान् ननु भगवानेव सर्वनिवानधिकारिणो ज्ञात्वा किमित्युद्धवं स्थापितवानित्याशङ्क्याऽऽह—**शब्दयोनिनेति** । स हि वेदकर्ता, सर्वाधिकारेण पदार्थान्, वदति । यत्रैव तदधिकारेणाऽऽविशति, स्वयं स एवाधिकारी भवतीति, नास्याऽधिकाराऽनधिकारविचारः कश्चन । **'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्'** इत्युपक्रम्य **'स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत'** इत्याह । न ह्येतादृशस्तूपरः केनचिदुत्पादयितुं शक्यते । तथापि सर्वप्रकारेण क्रीडां कुर्वन्, एतत्कर्मणि यमेव यजमानं कृत्वा क्रीडितुं वाञ्छति, तमेव स्वप्रवेशेन तथा करोति । अतोऽत्रापि शब्दयोनिनोपदिष्ट इति, बदरिकाश्रमे गत्वा, भगवदुक्तार्थसिद्ध्यर्थं साधनान्तरमलभमानः, सर्वदुःखहर्तारं भगवन्तं स्वमनःक्लेशमपि निवारयिष्यतीति समाधिना तमीजे । अतो भगवदाज्ञया स्थित इति न शापादेर्बाधकत्वम्, न वा साधकत्वम, यादवभावत्यागोऽपि न परमार्थतः, इदानीमपि भगवतो यादवत्वात्, तथैव भक्तानामनुभवात् । लोकप्रतीत्या लीलायामपि स्वैच्छयैव तथात्वम् ॥३२॥

व्याख्या—इसी तरह हरि ने उद्धव को प्रमेय (ज्ञान) समझाकर आज्ञा की कि तू यहां ठहर। यह आज्ञा पाकर उद्धव ने विचारा कि, यह आज्ञा पालन मुझसे होना कठिन है किन्तु 'आज्ञा गुरूणाम ह्य विचारणीया' गुरुओं की आज्ञा पाकर बिलकुल न मानना उचित नहीं है कुछ न कुछ वह तो माननी ही है। अतः जगद्गुरु की आज्ञा स्वशक्ति के अनुसार पालन ही करनी चाहिए। यों निश्चय कर आज्ञा का पालन करने लगा। भगवान् ने जब सबको अनधिकारी जाना तब उद्धव को ऐसे कार्य के लिए कैसे स्थापित किया ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'शब्दयोनिना' वह भगवान् ही वेद के रचयिता हैं। सर्व के अधिकारानुसार पदों के अर्थो को कहते हैं जहाँ (जिसमें) ही उसके अधिकारानुसार आप प्रवेश करते हैं वह ही अधिकारी बन जाता है इसलिए भगवान् को अधिकार वा अनधिकार देखने की आवश्यकता नहीं है 'प्रजापतिरात्मनोवपामुदरिवदत् इत्युपक्रम्य' सएत प्रजापत्यमजंतूपरमालभेत' इत्याह, अर्थात् प्रजापति ने अपनी चर्बी खेंचली, यहाँ से प्रारम्भ कर उसने इस प्रजापति से बना हुआ तूपर इस प्रकार का खिलोना प्राप्त किया। इसी प्रकार तूपर कोई बना नहीं सकता है, तोभी उसमें ही सर्व प्रकार से क्रीड़ा करते थे कर्म में जिसको ही यजमान बनाकर क्रीड़ा करना चाहते हैं। उसको ही अपने प्रवेश से वैसा बना देते है, अतः यहाँ भी वेद कर्ता ने उपदेश दिया है कि बदरिकाश्रम में जाकर भगवद्भक्ति कार्य की सिद्धि के लिए दूसरा साधन बन सके। अत सर्व दुःख हर्ता भगवान् अपने मन के क्लेष को भी दूर करेगा। इसलिए समाधि मे उनका पूजन किया अतः भगवदाज्ञा से यहाँ ठहरे हैं इससे शापादि इसमें बाधक नही हो सकते हैं वा न साधक हो सकते हैं। यादव भाव का त्याग भी वास्तविक नही है। अब भी भगवान् यादव हैं ऐसे भक्तों के अनुभव से जाना जाता है। लोक प्रतीति से लीला में जो कर दिखाया (आकृति संवारण) वह भी स्वेच्छा से ही किया है, शापादि से नहीं।३२॥

आभास—एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह—

आभासार्थ—प्रसंग से की हुई कथा को इस प्रकार पूर्णकर अब इस निम्न श्लोक से चालू कथा को कहते हैं—

श्लोक—**विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मन ।**
क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाधितानि च ।।३३।।

देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् ।
अन्येषां दुष्करतमं पशूनां विक्लवात्मनाम् ।।३४।।

आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ ! कृष्णेन मनसा धृतम ।
ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ।।३५।।

कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभ ! ।
प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ।।३६।।

श्लोकार्थ—क्रीड़ार्थ देह धारण करने वाले परमात्मा श्री कृष्ण के प्रशंसीय कर्म धीर पुरुषों के धैर्य को बढ़ाने वाले तथा भयभीत पुरुषों से एवं पशुओं से जो कार्य न होने वाले तथा उसके देह त्याग का अपूर्व प्रकार उद्धव से सुना और हे कौरवोत्तम श्री कृष्ण के मन की बात भी सुनी, अनन्तर जब उद्धव रवाना हो गए तब सब बातों का ध्यान करते हुए विदुर प्रेम विह्वल हो रोने लगा, हे 'भरतर्षभः' कितने हो दिन कालिन्दी द्दर बिराज, सान्त्वनासिद्ध की, पश्चात् मित्रा का पुत्र (मैत्रेय) जहाँ देव नदी पर था वहाँ कुशलता से प्राप्त हुआ ।।३६-३६।।

सुबोधिनी—विदुरोऽपीति । सिद्धान्तस्याऽनुक्तत्वात् विपययमायासबन्धस्तत्राऽपि सिद्धः । अतस्तच्छेषत्वेन विदुरकथाऽपि कथ्यते । अत एवाऽग्रे विदुरोऽन्यथा । वक्ष्यति '**स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः**' इति । यथोद्धवो बदरिकाश्रमं गतः, एवं विदुरोऽपि "**प्रापद्यत स्वःसरितम्**' इति संबन्धः । मध्ये स्वस्य सम्यक् ज्ञानं नास्तीति ज्ञापयितुम, भागवते उद्धवे निर्गते स्वयं प्रेम्णा विह्वलः सन् रुरोद । रोदनहेतवश्च भगवच्चरित्रश्रवणम्, भगवन्मोहकलीलाश्रवणम् भक्तेषु भगवत्कृपाश्रवण च । सात्विकमेतत् । आद्यं राजसम् । अतस्त्रिभिरपि त्रिविधप्रेमोद्गमात् रोदनम् । उद्धवमुखाच्छ्रुतत्वात् । नाऽन्यथाभावशङ्का । लोकप्रसिद्धयनुसारेण च पदार्थान्नि-

रूपयति—**कृष्णस्येति** । चरित्राणां भक्तिजनकत्वाय स्वरूपमाहात्म्यमाह—**परमात्मन इति** । विदुराधिकारेणैवमुक्तम्, स्मृत्यनुसारेणैव तस्य भगवत्स्वरूपज्ञानात् । परमात्मा पुरुषोत्तमः । आत्मा भूत्वा स एव परमः । चिन्तामण्यादेर्लोकप्रतीत्या परमत्वेऽपि नाऽऽत्मत्वम् न वा जीवस्य परमत्वम्; अत उभयप्रकारेण भगवानेव ज्ञायत इति तथोक्तम् । क्रीडया बालकनटवत् कपटमानुषवेषं कृतवान्, तदेवोपात्तदेहत्वेनोच्यते । तादृशस्य सर्वैरेव श्लाघितानि कर्माणि भूभारहरणादीनि, गोवर्द्धनोद्धरणादीनि वा । **चकारात्** गुप्तान्यपि, अद्भुत चरित्रं गिपिकारमणं वा ।।३३।।

व्याख्या—सिद्धान्त न सुनने के कारण विपरीत ज्ञान और माया का सम्बन्ध विदुर को भी हुआ था अतः उसके शेष भाग रह जाने से विदुर की कथा भी कही जाती है इस कारण से ही आगे विदुर अन्यथा (विपरीत) कथा कहेगा । 'स एष भगवान् काल सर्वेषान: समागतः अर्थात् वह यह काल रूपी भगवान् सबके लिए आया है । जैसे उद्धव बदरिकाश्रम गए वैसे ही विदुर भी देव नदी पर गया, मध्य में जब तक वहाँ कालिन्दी पर था तब तक मुझे पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है यह प्रकट करने के लिए भगवदीय उद्धव के जाने पर स्वयं विदुर प्रेम से विह्वल होकर रोने लगा । रोने का कारण भगवान् के जो चरित्र सुने थे उनकी स्मृति हो आने से प्रेम उभरा जिससे रोने को रोक न सका क्योंकि चरित्रों में जो भगवान् की मोहक लीलाएँ सुनी थी और भक्तों पर भगवान् ने लीलाओं द्वारा दुःख दूर कर कृपा की थी वे चरित्र भी सुने थे । ये चरित्र सात्विक राजसादि त्रिविध थे अतः त्रिविध प्रेम बढ़ आया जिससे रोने लगा । यह भी शंका मन में न हुई कि ये सच्चे होंगे वा नहीं ? क्योंकि उद्धव के मुंह से सुने थे अतः सच्चे ही हैं यह निश्चय था ।

लोक प्रसिद्धि के अनुसार पदार्थों का निरूपण करते हैं । श्री कृष्ण के चरित्र भक्ति जनक हैं । इसलिए स्वरूप के महात्म्य दिखाने के लिए 'परमात्मन' नाम कहा है । विदुर के अधिकार से ही यों कहा है, स्मृत्यनुसार ही उसको भगवत्स्वरूप का ज्ञान है । परमात्मा का तात्पर्य है 'पुरुषोत्तम' आत्मा होकर वह ही परम (उत्तम) है । चिन्तामणि आदि भी लोक प्रतीति से उत्तम हैं किन्तु उनमें आत्मापन नहीं है और जीव में भी परमत्व नहीं हैं । अतएव दोनों प्रकार से भगवान् ही जाना जाता है । इसलिए उसी तरह 'परमात्मन' नाम कहा है । जैसे बालक नट का रूप धारण कर राजा, सेवक और चोर बनते हैं वैसे ही भगवान् ने बालक के समान कपट मानुष रूप धारण किया, जिसको ही लोक में भगवान ने देह धारण किया कहते हैं । उस लीला तनु से ही सब भू भार हरणादि कार्य और गोवर्द्धन धारण आदि लीलाएँ की 'च' पद से गुप्त चरित्र जैसे गोपिका रमण आदि अद्भुत चरित्र हैं ।।३३।।

सुबोधिनी—देहन्यासमिति । देहस्य न्यासः कारणे स्थापनम्, शब्धच्छलेन नटवत् त्यागो वा **एवमिति** श्रुतप्रकारेण । **धीराणां** वैराग्यानुसन्धानानाम् । **धैर्यं** साहसम्, सर्वपरित्यागेनैवं योगेनै-

वैतत्त्याज्यमिति । स्वरूपे गत इति फलप्रदर्शनादवान्तरक्लेशो नाऽनुसन्धेय इति धैर्यवर्द्धनम् । **अन्येषामविवेकिनां** देहात्ममानिनां दुष्करतमम्, न ह्येवं कश्चित् कर्तुं शक्तः । तत्रापि **पशुनाम**ग्रिमहिताहितविवेकानुसन्धानरहितानाम् । तत्रापि **विक्लवात्मनाम्**, विक्लव आत्मा येषाम्, वैक्लव्यमेव येषामन्तःकरणधर्मः सहजः मौर्ख्येणाऽपि येषां साहसाभावस्ते पशुभ्योऽपि विशिष्यन्ते ।।३४।।

व्याख्या 'देह न्यास' देह का कारण में स्थापन करना अथवा शब्द के छल से नट की तरह किया हुआ त्याग, उद्धव से जिस तरह सुना वैराग्य का जिनका ध्यान है ऐसे धीर पुरुषों का धैय (साहस) बढ़ाने वाला जैसे सर्व परित्याग किया वैसे योग से ही इस स्वरूप का भी त्याग करना चाहिए । स्वरूप के तिरोहित होने से फल का प्रदर्शन हो गया जिससे दूसरे किसी क्लेश का अनुसन्धान नहीं करना चाहिए इसलिए यह लीला धैर्य बढ़ाने वाली है जो देहात्मवादी अविवेकी है उनको इससे धैर्य होना अत्यन्त दुष्कर है । इस प्रकार अन्य कोई करने के लिए समर्थ नहीं है । पशु अर्थात् जो अपने हित, अहित को पहले से ध्यान में नहीं लाते हैं, उनमें भी जिनके अन्तःकरण मे सदैव मरने का भय रहता है । ऐसे मूर्ख मनुष्य जो मूर्खता से भी ऐसा साहस नहीं कर सकते हैं वे पशुओं से गए गुजरे हैं ।। ३४ ।।

सुबोधिनी—**किञ्च, आत्मानं** च भगवता **मनसा** धृतमिति श्रुत्वा । **कुरुश्रेष्ठेति** संबोधनं तत्पूर्वजैः कृतानि पुण्यान्येवं वंशीयेषूतिष्ठन्त इति ज्ञापनार्थम् **चकाराद्**उपदेशनार्थं मैत्रेयाज्ञापनम् । न केवलं स्मरणमात्रम्, किन्तु मनसि स्थापितम् । **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'** इति न्यायव्यतिरेकेणाऽपि बहिर्मुखेऽपि भक्ते पलायमानमपि मनसा धृतम् । तादृशं कृपापात्रमात्मानं ध्यायन, गुणान्तर–कथनाभावात् गते भागवते । रुरोद । प्रेम्णा च विह्वलो जातः, मूर्च्छितोऽभूदित्यर्थः ।।३५।।

व्याख्या—विदुरने यह भी सुना कि भगवान् ने मन में मुझे भी याद कर रखा है अर्थात् मेरे हित का भी भगवान् को ध्यान है । हे कुरु श्रेष्ठ ! यह संबोधन इसलिए दिया है कि उसके पूर्वजों के किए हुए पुण्य कर्म, इसी प्रकार उनके वंशजों के भीतर होने से उपयोगी होंगे 'च' पद से यह सूचित किया है कि मुझे (विदुर को) उपदेश देने के लिए मैत्रेय को भी आज्ञा दे दी है । केवल स्मरण नही किया था किन्तु मुझको मन में स्थापित किया है 'ये यथा माँ प्रपद्यन्ते' इस सिद्धांत के विपरीत वहिमुर्ख वा जो पलायन कर गया हो उसको भी हृदय में रखा ऐसे उद्धव से सुना । अतः उस भगवत्कृपा पात्र और ध्यान करते हुए का उद्धव भगवान् के अन्य भी गुण थे वे नहीं सुना सके अब तो वे भगवदीय पधार गए यों कह के रोने लगे । प्रेम से विह्वल हो मूर्छित हो गए यों भावार्थ है ।।३५।।

सुबोधिनी—ततो मूर्च्छायां भगवान् समागत्य सर्वमुपदिश्य गत इति सिद्ध एव भूत्वा, ज्ञानादिसम्पन्नो मूर्च्छात्उत्थाय, कालिन्द्यास्तीरात् निधिस्थानात् । प्राप्तपुरुषार्थः **कतिभिरेवाऽहोभिः स्वःसरितं प्रापद्यत्** । अयं मोहभावो मानुषाणामेव, न तु देबानाम् । देवत्वप्रापिका च गङ्गा, अतोऽत्र विद्यमानाऽपि स्वःसरिदव **भरतर्षभेति** सम्बोधनं फलपर्यवसायिविवेकस्य प्राप्तत्वान्न तस्य मायामोह इति सूचकम् । **अहोभिः कतिभिरिति** प्रतिबन्धककालापगमार्थमुक्तम् । **प्रकर्षेणाऽपद्यतेति** मध्ये क्लेशाभाव उक्तः । तत्र गमने हेतुमाह—**यत्र मित्रासुतो मुनिरिति** । जगन्मित्रायाः पुत्रोऽपि तादृशः, स्वस्वभावादेव सर्वान् कृतार्थान् करिष्यतीति । तस्याऽन्यत्रगमनशङ्कां वारयति–**मुनिरिति** । स हि मननशीलः, जानाति च विदुरः समायास्यतीति । एतादृश एव देशो वक्ता च भगवत्कथायां फलसाधक इति ज्ञापितम् ॥३६॥

व्याख्या– प्रेम से विह्वल हो से जब विदुर मूर्छित हुए तब भगवान् पधार कर सकल उपदेश सुना के तिरोहित हो गए । इस प्रकार सिद्ध होकर ज्ञानादि से युक्त हो मूर्छा से जगे, उठकर निधि प्राप्ति के स्थान कालिन्दी के तट से पुरुषार्थ प्राप्त कर कितने ही दिनों में देव नदी पर सुख पूर्वक आ पहुँचे

यह मोह भाव मनुष्यों को ही होता है देवताओं को नहीं होता है । गंगा मनुष्य को देव बना देती हैं अतः यह विद्यमान होते हुए भी 'देव नदी' ही कही जाती है । भरतर्षभ: ! इस सम्बोधन से यह सूचित किया है कि फल में प्राप्त होने वाले विवेक का परीक्षित ने प्राप्त कर लिया है अतः उसको माया मोह नहीं है कितने ही (थोड़े ही) दिनों में कहने का तात्पर्य है मध्य में किसी प्रकार प्रतिबन्ध (रुकावट करने वाला) काल नहीं आया अतः बिना क्लेश के सुख पूर्वक वहां (देव नदी पर) पहुँच गए । वहां जाने का कारण यह था कि जगत् की मित्रा के पुत्र मैत्रेय भी जगत् का हित करने वाले थे । वहां स्वस्वभाव से ही सबको कृतार्थ करेंगे (करते हैं) (मुझे भी करेंगे) दूसरे स्थान पर क्यों न गए ? इस शंका का निवारण करता है कि वह मुनि भी हैं और जानते हैं कि विदुर उपदेशार्थ मेरे पास आएगा, ऐसा ही देश और वक्ता भगवत्कथा में फल साधक होता है, यों जताया है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध चतुर्थ अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका)
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

भगवत्कृत सर्ग (बन्ध सृष्टि) प्रकरण

"अध्याय"—५

विदुरजी का प्रश्न और मैत्रेयजी का सृष्टिक्रम वर्णन

कारिका—**चतुर्णां सर्ग आद्योऽत्र ह्यधिकारे निरूपितः ।**
पुरुषत्वाय कृष्णस्य चतुर्भिः सर्ग ईर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इम तृताय स्कन्ध में अधिकार विषयक चार की आद्य सृष्टि कही, श्रीकृष्ण के पुरुषरूप से प्रकट होने के लिए चार से सृष्टि कही जाती है ॥१॥

कारिका—**स एव भगवल्लीलां श्रोतुमर्हति तत्त्वतः ।**
अन्यथाऽन्यो हिमनुते ह्यधिकारस्ततो हितः ॥२॥

कारिकार्थ—वह (ऐसा अधिकारी) ही वास्तव में भगवल्लीला श्रवण करने के योग्य है क्योंकि दूसरा (अनधिकारी) तो इसको (भगवल्लीला को) कल्पित मानता है, इसलिए अधिकार ही हितकर होना आवश्यक है ॥२॥

कारिका—**कृष्णार्थसृष्टौ भूतानि जातान्येवेति निश्चयः ।**
वेदे पञ्चभिरेवाऽस्य पुरुषत्व कथोदिता ॥३॥

कारिकार्थ—कृष्णार्थ उत्पन्न सृष्टि में, उत्पन्न होने मात्र से ही महाभूत हैं यों निश्चय है। वेद में न इनके (श्री कृष्ण के) पुरुषत्व की कथा आकाशादि पाँच की उत्पत्ति से ही कही है ॥३॥

कारिका—**त एव बहुधा व्यस्तास्तस्मात्तत्त्वानि तानि वै ।**
भोगः शरीर एवेति मात्रास्तत्र निरूपिताः ॥४॥

कारिकार्थ—उन पाँचों (आकाशादि) का बहुत प्रकार से अर्थात् २३ तत्व रूप से पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। भोग शरीर[1] में ही होता है इसलिए छठे अध्याय में ही 'मात्राओं' का निरूपण किया है ॥४॥

कारिका—**नानाविधानि शास्त्राणि तैः सन्देहविनिश्चयौ ।**
मनो भगवतो ह्युक्तं तेनैवेन्द्रियसंकथा ॥५॥

कारिकार्थ—शास्त्र अनेक प्रकार के हैं उनसे सन्देह और निश्चय होता है इनको भगवान् का मन कहा गया है। जिस अनुमान से सन्देह और निश्चय करने वाले शास्त्रों को मन कहा है उसी अनुमान से शेष अन्यों को इन्द्रियाँ कही हैं ॥५॥

कारिका—**बुद्धिर्भगवतो ब्रह्मा तत्कार्यं च निरूप्यते ।**
स्तुति प्रसादौ कार्याणां भूतानीत्येष निश्चयः ॥६॥

कारिकार्थ—ब्रह्मा भगवान् की बुद्धि है उसका कार्य निरूपण किया जाता है। ९ वें अध्याय में कार्यों की स्तुति तथा प्रसाद (प्रसन्नता) कही है अतः वे महाभूत[2] ही हैं यों निश्चय है ॥६॥

कारिका—**ततस्तेषां शरीराणि मात्रा एव हरेर्यथा ।**
काल एवेन्द्रियाण्येषां तत्राऽऽसक्तो म्रियेत वै ॥७॥

कारिकार्थ—इस कारण से जैसे हरि के वैसे उनके शरीर तन्मात्रा ही है, उनकी इन्द्रियाँ ही काल हैं। उनमें जो आसक्त होता है वह मरेगा ही ॥७॥

कारिका—**बुद्धिस्तेषां महात्मानो वेदा मन्वादयस्तथा ।**
तत्रोक्तैरेव यद्युक्तमुक्तं तेषां हिताय तत् ॥८॥

कारिकार्थ—वेदों (मन्त्रादि) एवं मनु आदि महात्मा गण उनकी बुद्धि है अतः वेदादि एवं मनु आदि महात्माओं ने जो कुछ कहा है वह उचित ही है क्योंकि उनके लिए हितकारी है। ८॥

कारिका—**कार्योपयोगितत्त्वानामुपक्रमे विनिरूप्यते ।**
उत्पत्तिर्यादृशैः कार्यं तद्भावश्च निरूप्यते ॥९॥

---

[1] —ब्रह्माण्ड रूप शरीर में ।

[2] --ब्रह्माण्डस्थ व्यक्ति पृथक् और साथ में रहने से तथा स्तुति, प्रसाद ऐसे ये ४ कार्य सृष्टि में महाभूत ही कहे जाते हैं ।

कारिकार्थ—कार्योंपयोगी तत्वों की उत्पत्ति और जिनसे कार्य सिद्ध हो वैसी स्थिति पांचवें अध्याय में निरूपण की जाती है ॥९॥

कारिका—**प्रश्नभिनन्दने चाङ्गं सर्व चैव हरेः कृतौ ।**
अतोऽत्र भगवत्प्रश्नः षड्विधो विनिरूप्यते ॥
वैराग्यादि; स्टष्टिमार्गे विपरीत प्रवेशतः ॥१०॥

कारिकार्थ—हरि के कार्य में सर्वत्र ही प्रश्न और उसका अभिनन्दन अंग है सृष्टि के मार्ग में विपरीत रीति से प्रवेश होने से भगवत्सम्बन्धो वैराग्यादि का प्रश्न ६ प्रकार से निरूपण किया जाता है ॥१०॥

आभास—तत्र प्रथमं तयोः कथार्थं संबन्धमाह—

आभासार्थ—इस विषय में प्रथम उन दोनों (विदुर और मैत्रेय) की कथा कहने के लिए उनके सम्बन्ध का वर्णन करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—श्लोक—**द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां मैत्रेयमासीनमगाधबोधम्**
क्षत्तापेसृत्याऽच्युतभक्तिशुद्धः पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्त ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा कि अच्युत भगवान् की भक्ति से पवित्र, जितेन्द्रिय, कौरवों में श्रेष्ठ (विदुरजी) गंगा के द्वार अर्थात् ब्रह्मकुण्ड पर विराजमान अगाध ज्ञानवाले मैत्रेयजी के पास जाकर, उनके सुशीलता आदि गुणों से पूर्ण तृप्त (प्रसन्न) होके पूछने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—द्वारीति । सर्वेषां देवत्वसिद्ध्यर्थं या देवनदी प्रवृत्ता, सा प्रथमत एव समीचीनं कार्यं करिष्यातीति भगवदाज्ञया मैत्रेयस्तत्रैव स्थितः । गङ्गाद्वारि ब्रह्मकुण्ड एवेति मे मतिः, अन्तर्वेद्यां भगवत्सान्निध्यात् । **कुरूणा मृषभ** इति महानुद्योगः फलपर्यवसायी तस्य लक्ष्यते । **मैत्रेयो** हितकर्ता । **आसीनोऽव्यग्रः** । अगाधा बोधौ यस्येति स्वबुद्धेस्तत्र **निमज्जनं** संभविष्यतीति सूचितम्, अन्यथा न **सर्वसन्देहनिवृत्तिः** । क्षत्ता प्रथमत एव जितोन्द्रियो विचक्षणश्च । अच्युता या अच्युते भक्तिः, तया शापाधिकारादिबीजपात–योनिदोषादिसर्वाशुद्धिनिवृत्त्या शुद्धः । **उपसृत्य** समीपे गत्वा, विध्यनुसारेण वा । मैत्रेयस्याऽऽर्जव–करुणादयः सौशील्यगुणास्तैरभितृप्तः । कथं वक्ष्यति नवेति सन्देहरूपा क्षुद् गुणैर्निवृत्तेति तादृशो भूत्वा पप्रच्छेत्यर्थः ॥१॥

व्याख्या—सर्वों के देवता सिद्धि के लिए प्रवृत्त हुए जो देव नदी, वह मुझसे भी पहले ही समीचीन (उचित) कार्य कराएगी इसलिए भगवदाज्ञा से मैत्रेय वहाँ ही जाकर 'गंगाद्वार' पर ठहर गए अर्थात् ब्रह्मकुण्ड पर ही बिराजे यों मेरा विचार है, वहाँ रहने का कारण यह है कि, उस

स्थान पर भगवान् का सदैव सान्निध्य रहता है, 'कौरव श्रेष्ठ' कहने का भावार्थ यह है कि इस (विदुर) ने जो साहस (उद्यम) किया है उसका फल अवश्यम्भावी है 'मैत्रेय' नाम से यह सूचित किया है कि वे सब के हितकारी हैं और शान्त बैठे हैं किसी प्रकार व्यग्र नहीं हैं और अगाध बोध (ज्ञान) वाले हैं इससे यों जताया है कि मेरी (विदुर की) बुद्धि (ज्ञान) इनके ज्ञानोदधि में डूब जाएगी अर्थात् मेरे सर्व संशय मिट जाऐंगे 'क्षत्रा' कहने का अभिप्राय है कि वह पहले से ही जितेन्द्रिय एवं निपुण हैं। अच्युत भगवान् की भक्ति से शाप अधिकारादि तथा बीजपात योनि दोषादि से अशुद्ध थी वह सर्व अशुद्धि मिट गई है, जिससे शुद्ध हो गया है, ऐसा विदुर पास जाकर और विधि के अनुसार समीप गया तो उसके सुशीलतादि गुणों से पूर्ण तृप्त (प्रसन्न) हो पूछने लगा क्योंकि यह बताएगा वा नहीं ? ऐसी सन्देह रूप जो क्षुधा थी वह गुणों के ज्ञान होने से निवृत्त हो गई (मिट गई) ॥१॥

आभास—षट्प्रश्नेषु वैराग्यार्थं क उपायः कर्तव्यः ? इति प्रश्नं कुर्वन् स्वभावतो वैराग्यहेतोरप्रयोजकत्वमाह—

आभासार्थ ६ प्रश्नों में से एक प्रश्न 'वैराग्य है, जिसके लिए कौनसा उपाय करना चाहिए यों प्रश्न करते हुए भी स्वभावतः वैराग्य के कारणों का इसके लिए कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि यह स्वतः वैराग्यवान् है--

विदुर उवाच–श्लोक–**सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं चाऽन्यदुपारमं वा**
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ॥२॥

श्लोकार्थ—विदुर ने कहा कि लोक सुख की प्राप्ति करने के लिए कर्म करते हैं जिससे न सुख मिलता है और न दुःख का अभाव होता है किन्तु उससे विशेष दुःख का ही अनुभव होता है अब इस विषय में जो कुछ करना उचित हो, हे भगवान् वह बताइए ॥२॥

सुबोधिनी—सुखाय कर्माणीति । फलं लोके द्विविधम्, दुःखभावः सुखं वा । दुःखस्य सुखप्रतिबन्धकत्वेन वा दुःखाभावः सुख एव हेतुः । अतो लोकः सुखार्थमेव सर्वं व्यापारं करोति, तेन च पुनः कदापि सुखं न प्राप्नोति । **लोक इति** प्रमाणनिर्देशः । **चकारात्** पूर्वसुखमपि गच्छति । किञ्च । **अन्यदुपारमंवा** दुःखाभावो वा न भवति, प्रतिबन्धकाभाव एव क्वचित् साधनपर्यवसानस्य दृष्टत्वात् । तत्परमपि न जातम्, तथा सति सहजं वा सुखं भवेत् । किञ्च, प्रत्युत तैरेव दुःखं भवति । भूयः सहजादप्यधिकम् । **तत एवेति** साधनान्तरनिवृत्तिः, साधनान्तरस्याऽदृष्टत्वात् । '**तदुदितः स हि यो यदनन्तरः**' इति सुखसाधनस्यैव दुःखसाधकत्वम् । ग । अनताज्ञानं त्वन्धपरम्परया । अनिवृत्तिः स्वाग्रहात्, अस्मदीयैस्तथैव कृतमिति । भूयो व्यभिचारदर्शनमपि परम्पराश्रद्धा बाधते ।

एतादृशेऽर्थे फलविपर्ययं दृष्ट्वाऽपि यदि न निवर्तन्ते, तदा वाक्यमात्रेण कथं निवर्तेरन्? तस्माद्वैराग्यार्थं किं कर्तव्यमिति प्रश्नः । अथवा, येनैवाऽव्यभिचारि सुखं भवति, तद्वा वक्तव्यमिति लोकादतिरिक्तप्रमाणत्वं तस्याऽऽह–भगवानिति । अस्माकं तु भगवदुक्तमेव प्रमाणम्, अतोऽस्माभिः स्वार्थमेव पृच्छ्यत इति नाऽप्रकृतत्वम् । वदेदिति प्रार्थनायाम् ।।२।।

व्याख्या—लोक में फल दो प्रकार के हैं १–दुःख का न होना और २–सुख होना । दुःख सुख का प्रतिबन्धक है और दुःख का अभाव भी एक प्रकार से सुख का हेतु होता है, अतः लोक जो कुछ व्यापार (उद्यम) करते हैं वह सुख की प्राप्ति के लिए ही करते हैं किन्तु देखा जाता है प्रायः उससे कभी भी सुख को नहीं पाते हैं, 'लोक' शब्द ही इसके प्रमाण को दिखा रहा है, 'च' पद से यों सूचन किया है कि सुख प्राप्ति का उपाय, पहला सुख भी गवां देता है किन्तु दुःख का अभाव भी नहीं होता है, क्वचित् फल के जो प्रतिबन्धक हैं उन प्रतिबन्धकों को रोकने में ही साधनों का पर्यवसान (अन्त) हो जाता है, यों देखा गया है, उसके परायण में भी नहीं होता है, यदि यों होवे तो सहज सुख हो जावे किन्च प्रत्युत उनसे ही दुःख हो जाता है, फिर सहज से भी विशेष दुःख प्राप्त होता है उस दुःख प्राप्ति का कोई दूसरा साधन देखने में नहीं आता है जिस साधन से सुख प्राप्ति की इच्छा की उससे ही दुःख प्राप्त हुआ, इन साधनों से सुख मिलेगा ऐसा ज्ञान तो अन्ध परम्परा से मिला है । यदि ऐसा है तो लोक उन साधनों को छोड़ नहीं देते हैं । इस पर कहते हैं कि अपना आग्रह है जिससे छोड़ नहीं सकते हैं । कहते हैं कि हमारे आगे के लोकों ने यों ही किया है । विपरीत फल देखने पर भी परम्परा की श्रद्धा उसके त्याग में बाधा डालती है, ऐसे अर्थ में (विषय में) उलटा फल देखकर भी जब उसके करने से रुकते नहीं हैं तब केवल कहने से कैसे रुकेंगे ? इस कारण से वैराग्य के लिए प्रश्न किया है अथवा जिस उपाय से अव्यभिचारादि सुख प्राप्त होवे वह उपाय कहना चाहिए वह आपका बताया हुआ प्रमाण लोक से निराला होगा, क्योंकि आप बतानेवाले 'भगवान्' हैं, इन लोगों के लिए भगवान् जो कहे वह ही प्रमाण है. अतः हम अपने लिए पूछते हैं इसलिए यों पूछना प्रसङ्गान्तर नहीं है । 'वदेत' यह क्रिया प्रार्थनार्थं में कही है ।।२।।

आभास—नन्वस्माकं भगवदाज्ञा तत्त्वोपदेशार्थं, न त्वेतादृशार्थकथनार्थ इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यदि मैत्रेयजी कहें कि हमको भगवदाज्ञा तुमको तत्वोपदेशार्थ है । न कि ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने के लिए ऐसी शंका पर यह श्लोक कहा है ।

श्लोक–**जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।**
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ।।३।।

श्लोकार्थ-दैव (भाग्य) के कारण श्रीकृष्ण से विमुख अधर्म करने के स्वभाव-वाले अतिशय दुःखीजनों पर निश्चयपूर्वक अनुग्रह करने के लिए जनार्दन के भव्य—भूत इस पृथ्वी पर परिभ्रमण कर रहे हैं ।।३।।

सुबोधिनी—जनस्य कृष्णाद्विमुखस्येति । भवत्सु द्वयमस्ति. भगवतः सामान्याज्ञा विशेषाज्ञा चेति । इदं सामान्ययाऽऽज्ञया वक्तव्यम्; यतो भगवान् भवत एतदर्थमेव सृजति, अन्यथा भगवदीया नोत्पद्येरन्, स्वार्थं तेषां प्रयोजनाभावात् । अत एव तेषु भूतपदप्रयोगः, जातानीत्यर्थः । शब्दच्छलेन ते लग्नाः स्वसमानं कुर्वन्तीति ज्ञाप्यते । यदि लोकानां तथा भाग्यमपि न भवति, तथापि त एव भाग्यरूपा भूत्वा तान् स्वसमानान् कुर्वन्तीति **भव्यानीत्युक्तम्** । अतो लोकोपरार्थं समागतानां भवतामेतदावश्यकमिति । **जनस्य** प्राणिमात्रस्य । जन्मत एव ज्ञायते भगवद्विमुखोऽयमिति, अन्यथा जन्मैव न स्यात् । प्रवृत्त्याचाऽत्रसीयते । **कृष्णादिति** मूलसच्चिदानन्दवैमुख्यं महदाश्चर्यमिति । तथापि **विमुखस्य**, जननानन्तरमपि **दैवात्** प्राचीनासुरकर्मणो विमुखस्य, दैवादेवाऽधर्मशीलस्य, स्वभावत एवाऽधर्मो रोचत इति । न हि स्वाभाविकं केनचिन्निवर्त्तयितुं शक्यते । अत एव सुदुःखितस्य, अन्यथा तदनुग्रहमपि न मन्येत । **इहाऽस्मिन्** लोके न ततोऽन्यो दुःखनिवारणहेतुः, **नूनं** निश्चितम् । सन्देहाभाव उभयत्र । भगवदीयैरेव दुःखाभावो नाऽन्यैरिति । तत्र हेतु**र्जनार्दनस्येति** । जनां सर्वलोकजननीमर्दयतीति, जनाया वा अर्दनं यस्मादिति । स हि मूलजननं निवारयति, तदीयाश्च तत्साधकाः ।।३।।

व्याख्या—आपको भगवान् की दोनों प्रकार की (सामान्य और विशेष) आज्ञाए हैं यह जो मैं पूछ रहा हूँ उसका उत्तर सामान्याज्ञा से देना चाहिए, क्योंकि भगवान् ने आपको इसीलिए ही रचा है, यदि यों न हो तो भगवदीय पैदा ही न होवें उनको अपने लिए पैदा होने का कोई प्रयोजन नहीं है, इस कारण से ही ऐसे परोपकारार्थं उत्पन्नों के लिए 'भूत' पद का प्रयोग किया है जन्म देता है यह आशय है, केवल शब्द मूल से भी वे मिल जावे तो भी अपने समान कर देते हैं। यों तात्पर्य है, यदि लोगों का ऐसा भाग्य भी न होवे तो भी वे स्वयं उनके भाग्यरूप बनकर उनको स्वसमान कर ही देते हैं इसलिये 'भव्याति' विशेषण दिया है, अतः लोकों के उपकारार्थं पधारे हुए आपको प्राणीमात्र की शंका निवारणार्थं प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है जन्म से ही जाना जाता है कि यह (जीव) भगवद्विमुख है यदि भगवद्विमुख न होवे तो जन्म ही न लेवे और इसकी प्रवृत्ति से भी जानने में आता है कि यह भगवद्विमुख है, वह विमुखता भी 'श्रीकृष्ण से है' जो श्री कृष्ण मूल सच्चिदानन्द हैं उनसे विमुखता होना महान् आश्चर्य का विषय है, जन्म के बाद भी जो विमुख रह कर अधर्म के कार्य करने के स्वभाव वाला होता है जिसका कारण, पूर्व जन्म में आसुर सम्पद् के कर्म करने से उसका दैव (प्रारब्ध) ऐसा बन गया है अतः उसको स्वभाव से अधर्म कार्य करना ही पसन्द आता है, स्वभाविक धर्म (गुण) कोई भी मिटा नहीं

सकता है, इसलिए ही वह विशेष दुःख होता है अन्यथा यदि दुःखी न होवे तो उस (भगवान्) का अनुग्रह[1] भी न माने, इस लोक में सिवाय भगवदियों के दूसरा कोई दुःख के निवारण में हेतु नहीं बन सकता है यह निश्चित सिद्धान्त है, दोनों[2] में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, इसमें कारण 'जनार्दस्य' पद से बताया है, सर्वलोक को उत्पन्न करने वाली माया को दूर करने वाले की माया का जिससे पीड़न होता है वैसे जनार्दन हैं जो जन्म के मूल कारण (माया) को ही रोक देते हैं। उनके सेवक (भगवदीय) भी वैसा ही कार्य कर लोकों पर अनुग्रह करते हैं ॥३॥

आभास—अस्योत्तरं 'भगवद्भजनं कर्तव्यम्' तदव्यभिचारिसुखहेतुर्भवतीति यदि तदा तत्रोपायं कथयेति पृच्छति—

आभासार्थ—यदि इसका उत्तर यह है कि भगवान् का भजन करना चाहिए जोही अव्यभिचारी सुख का कारण है, तो उसके लिए उपाय बताइए यों निम्न श्लोक से कहते हैं (पूछते हैं)—

श्लोक—तत्साधुवर्याऽऽदिश वर्त्म शं नः संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे साधुत्तम ! वह कल्याणकारी मार्ग बताइए जिससे समाराधित[3] भगवान्, भक्ति से पवित्र हृदय में विराजमान होके तत्वज्ञान सहित पुराण ज्ञान देते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—तत्साधुवर्येति। तत्तदा। यदि भगवद्भजनेनैव प्राणी कृतार्थो भवति, तदा तत्र वर्त्माऽऽदिश भगवत्प्रेरणया, भगवदाज्ञारूपवेदानुसारेण वा क्रियमाणेऽपि भगवान्न परितुष्यति, दुःखस्यानिवृत्तत्वात्। अतो येन मार्गेण सम्यगाराधितो भगवान् ज्ञानं प्रयच्छति, तमुपायं स्थिरं प्रहितं सर्वलोकप्रसिद्धं कथयेति प्रश्नः। कल्याणरूपमिति साधनदशायामपि सुखरूपत्वम्, यथा विमानयानम्। गूढस्याऽत्यभीष्टस्यापि ज्ञापने हेतुः-**साधुवर्येति** संबोधनम। हितमात्रं साधुरपि वदति, एतादृशं तु भगवद्भक्तो यो ब्रह्मवित् स एव वदति, स हि स्वात्मानमिव सर्वं मन्यते। येन मार्गेण प्रथमं भगवान् संराधितो भवति। भगवत्त्वाच्च संराधनं कठिनम्, **'किमासनं ते गरुडासनाय'** इति वाक्यात् स्वस्य चाऽमर्यादत्वादिगुणवैशिष्ट्यात् **पुंसामिति** बहूनां काकतालीयवदुपायो न मार्गो

---

[1] १–सत्कुल में जन्म, सुन्दर देह आदि की प्राप्ति।

[2] २–भगवदीय दुःख मिटा सकते हैं। दूसरा कोई नहीं मिटा सकता है। इसलिए भगवान् और भगवदीय।

[3] ३–सबसे आराधना न किए जाने वाले।

भवति । किञ्च, भगवानन्तर्यामी सर्वानेव नानाप्रकारेण प्रेरयति, स्वस्वभावात्, जीवस्वभावमनुसृत्य वा । उभयथाऽपि प्रेर्यधर्माविष्टो भवति । तत्र यदि पूर्ववदेव स प्रेरयेत्, तदा कृतमपि भजनं व्यर्थं स्यात् । अतस्तादृश उपायो वक्तव्यः, येन स एवाऽन्तर्यामी भक्त्या पूतो भवति । पुनः पवित्र एव प्रेरयति । भक्त्या पूतो भक्तावेव प्रेरयेत् । स हि स्वभावतः प्रवाहनिर्वाहार्थमेव नियुक्तस्तथा प्रेरयति यथा प्रवाहः सिध्यति । अयं तस्य सहजो धर्मः । तथा करणात् अपूत इव लोके प्रसिद्धः । तस्यैव च बहिरूपं कालः । यथैकेन हस्तेन ध्रियते, अपरेण च मार्यते; तत्रोभयोः पावनार्थं मार्गद्वयं सृष्टम । वेदः कालस्य, अन्तर्यामिणो भक्तिः । तन्मार्गेण प्रविष्टः सोमवत्पूतो भवति । वेदेन पूतः कालो न मारयति, भक्त्या पूतोऽन्तर्यामी नाऽन्यथा प्ररयति । इदं च पावनं नाऽशुद्धस्य शुद्धिजनकम् किन्तु सोमवत् तन्मार्गनिर्गमनम् । अन्योन्याश्रयाच्चाऽयमर्थो न सिध्यतीति प्रश्नः । गुरुपदेशाच्चाऽयमर्थो न सेत्स्यतीत्याह—**हृदि स्थित इति** । स हि हृदये स्थितः स्वेच्छया यदि प्रेरयेत, किं बहिरूपदेशेन । अतो भगवता यदुक्तम् 'इदम' विदुराय ज्ञानं वक्तव्यमिति, तदन्तर्यामिसमाधानव्यतिरेकेण न भविष्यतीति, तत्समाधानार्थं प्रथमतो भगवदाराधना, ततो भगवत्सन्तोषः, ततो भगवता दत्तस्य प्रेम्णः प्राप्तिः. ततः प्रेमभक्त्या तस्यैवान्तर्यामिणो ज्ञानार्थं प्रेरणम् । पूर्वसिद्धनानाविधज्ञानानां विद्यमानत्वात्तदस्मरणपूर्वकं यथा ज्ञानमुदेति वाक्यात्, तथा प्रेरणं पूर्वसिद्धमिति तज्जनितं ज्ञानं न कार्यं समर्पयति । अत एव महताऽपि साधनेन वाक्याज्ज्ञानं नोदेति । यदा पुनः स एवाऽन्तर्यामी स्वस्यैव गुणभूतं ज्ञानं तस्मै प्रयच्छति, तदा पवित्रमिव वाक्यं ज्ञानहेतुर्भवति । तत् ज्ञानं त्रिविधम् । शारीरात्मनो ब्रह्मत्वेनाऽनुभवः, साङ्ख्यं सर्वतत्त्वविवेचनात्मकम्, भगवतश्चाशेषविशेषप्रकारेण स्वरूपबोधकम् । तत्त्रिविधमपि ज्ञानं साधनसाध्यफलभूतभक्त्या पूतो भगवान् प्रयच्छतीति । ज्ञानं ब्रह्मभावः, तच्च सर्वतत्त्वानां ज्ञानसहितम् । तत्राऽपि तत्त्वानां मूलभूतस्य सर्वभावज्ञानं पुराणम् ॥४॥

व्याख्या—यदि भगवद् भजन से ही प्राणी कृतार्थ होता है तो वह मार्ग बनाइए भगवत्प्रेरणा से अथवा भगवदाज्ञा रूप वेद के अनुसार कर्म करने पर भी भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं क्योंकि यदि प्रभु प्रसन्न होवे तो दुःख निवृत्त हो जाता है वह निवृत्त नहीं हुआ है, जिस मार्ग से सम्यग् रीति से आराधित भगवान् प्रसन्न होके ज्ञान देते हैं वह स्थिर विशेष हितवाला, सर्वलोक प्रसिद्ध उपाय कहिए यों प्रश्न हैं ।

वह मार्ग जिसके लिए मेरी जिज्ञासा है वह कल्याण रूप हो । एवं साधन दशा में भी सुख रूप हो, जैसे विमान की सवारी सुखरूप है, ऐसा मार्ग गूढ़ है और अतिशय अभीष्ट प्रिय है जिस को आप ही बता सकते हैं, कारण कि, आप साधुओं में उत्तम साधु हैं, यों तो साधारण हित प्रत्येक साधु बता सकता है, किन्तु इस प्रकार का हित मार्ग जो साधन दिशा में भी सुख रूप हो और अन्त में भी कल्याण प्रद हो वह गूढ़ तथा अभीष्ट होने से वह साधुवर्य बता सकते हैं जो भगवद्भक्त तथा ब्रह्मवेत्ता होते हैं, कारण कि वैसे उत्तम साधु सबको अपनी आत्मा जैसा ही समझते हैं, ऐसे योग्य भक्तवर, साधुत्तम आप ही हैं । अतः जिस मार्ग पर चलने से प्रथम भगवान् प्रसन्न होते हैं भगवान् षड़ भग (गुण) वाले हैं । अतः उनको प्रसन्न करना कठिन है कोई भी ऐसी वस्तु हमारे (जीव के) पास नहीं हैं, जिस वस्तु को देकर भगवान् को प्रसन्न किया जाए जैसा कि कहा है 'किमासन ते गरुडासनाय' तथा भगवान् मर्यादारहित अनेक गुणों वाले होने से भी उनको प्रसन्न करना सरल नहीं है ।

'पुंसां' इस पद से सूचित किया है कि 'काकतालीयन्याय'[1] की तरह कोई अचानक उपाय, बहुतों का मार्ग नहीं बनता है किन्तु भगवान् अन्तर्यामी हैं वह ही अपने स्वभाव से अथवा जीव के स्वभाव का अनुसरण कर सब को ही अनेक प्रकार प्रेरणा करते हैं। दोनों तरह प्रेरणा करते हुए प्रेम धर्म[2] से आविष्ट हो जाते हैं, यदि पहले की तरह ही हृदय में प्रेरणा करे तो किया हुआ भजन भी व्यर्थ हो जाए अतः वैसा आप कहिए जिससे वह ही अन्तर्यामी भक्ति से पवित्र[3] हो जावे जब पवित्र होता है तब ही प्रेरणा कर सकता है। भक्ति से पवित्र भक्ति के लिए ही प्रेरणा करता है।

क्योंकि वह (अन्तर्यामी) स्वभाव से प्रवाह के निर्वाहार्थ ही नियुक्त किया गया है। अतः जैसे प्रवाह सिद्ध हो वैसे हो प्रेरणा करता है, यह उसका स्वाभाविक धर्म हैं यों करने से अपवित्र की तरह लोक में प्रसिद्ध है उसका ही बाहर का रूप काल है जैसे एक हाथ से पकड़ा जाता है, दूसरे हाथ से मारा जाता है वैसे अन्तर्यामो रूप से प्रवाह में यह कहता है काल रूप से मारता है अतः दोनों स्वरूपों को पवित्र करने के लिए दो मार्ग रचे हैं, काल को पवित्र करने के लिए वेद रचे हैं अन्तर्यामी को पवित्र करने के लिए भक्ति को रचा है, उस मार्ग से चलने वाला जैसे याज्ञिक सोमवल्ली पान से पवित्र होता है वैसे वे दोनों रूप भी यों पवित्र होते हैं, वेद से पवित्र काल मारता नहीं है भक्ति से पवित्र अन्तर्यामी भक्ति के सिवाय दूसरे के लिए प्रेरणा नहीं करता है। यह पवित्र होना अशुद्ध को शुद्ध करना नहीं है किन्तु सोम की तरह मारने और संसार में पटकने के मार्ग से निकालकर उस मार्ग पर ले जाने के लिए है। अन्य का अन्य पर अर्थात् परस्पर आश्रय होने से यह अर्थ सिद्ध नहीं होता है इसलिए यह प्रश्न किया है।

गुरु के उपदेश से यह अर्थ (कार्य) सिद्ध नहीं होगा, किन्तु जो हृदय में स्थित है वह जब स्वेच्छा से प्रेरणा करे तब बाहर के उपदेश की क्या आवश्यकता रहती है? अतः भगवान् ने जो आपको कहा है कि विदुर को यह ज्ञान देना वह कार्य बिना अन्तर्यामी के समाधान (प्रसन्नता) के सिद्ध नहीं होगा अतः प्रथम उसकी ही (भगवान् की ही) आराधना करनी चाहिए उस आराधना से भगवान् प्रसन्न होंगे प्रश्नानान्त्तर भगवान् के दिए हुए प्रेम की प्राप्ति होगी, पश्चात् प्रेमभक्ति से उस ही अन्तर्यामी के ज्ञान देने के लिए प्रेरणा होगी, मुझे जो जो पूर्व प्राप्त नाना प्रकार के ज्ञान हैं, वाक्योपदेश द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करें उससे वे पूर्वज्ञान के विस्मृत हो जावे, तथा पूर्व सिद्ध जो

१–कौओं के बैठते हो तालफल का गिरना इस न्याय की तरह है।

२–जिसको प्रेरणा करनी है उसके धर्म वाले हो जाते हैं।

३–मूल श्लोक में 'भक्ति पूते सतत्व' पद है जो हृदय का विशेषण दीखता है। यहाँ 'भक्तिपूतः' पाठ लिखकर भक्ति से पवित्र अन्तर्यामी होता है यों अर्थ किया है।

प्रेरणा है केवल उससे उत्पन्न ज्ञान कार्य पूर्ण नहीं कर सकता है इसलिए महान् साधन से भो वाक्य द्वारा सत्ज्ञान का उदय नहीं होता है जब फिर वह ही (भक्तिपूत) अन्तर्यामी अपना ही गुणभूत ज्ञान उसको देता है तब वह पवित्र हुआ वाक्य ज्ञान का कारण बन ज ता है। वह ज्ञान तीन प्रकार का है १–शरीरात्मा (जीव) का ब्रह्मरूप से अनुभव २–साँख्यात्मक (साङ्ख्यसिद्धान्तानुसारी) सर्व प्रकार के तत्वों का विवेचन ३–भगवान् के स्वरूप को अशेष विशेष प्रकार से बताने वाला वह त्रिविध (तीन प्रकार का) ज्ञान भी साधन साध्य फलरूप भक्ति से पवित्र भगवान् देता है। 'ज्ञान' अर्थात् ब्रह्मभाव होना वह ब्रह्मभाव भी सर्व तत्वों के ज्ञान सहित होना चाहिए उसमें भी तत्वों के मूलरूप भगवान् सर्वभाव (पदार्थ) रूप हैं ऐसा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् सिद्धान्त है ।।४।।

आभास–नन्वेतन्निरन्तरं भगवद्गुणश्रवणाद्भवतीति चेत्तत्राऽऽह–

आभासार्थ · यदि कहो कि यह निरन्तर भगवद्गुणों के श्रवण से होता है तो इस पर यह श्लोक कहता है—

श्लोक–**करोति कर्माणि कृतावतारो यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।**
यथा ससर्जाऽग्र इदं निरीहः संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ।।५।।

श्लोकार्थ–तीन गुणों के स्वामी एवं स्वतन्त्र भगवान् अवतार धारण कर जो २ कर्म करते हैं और जिसको सृष्टि करने से प्रथम किसी प्रकार की इच्छा नहीं थी उस निरीह ने यह सृष्टि जिस प्रकार रची तथा उसकी (जगत् की) स्थापना करने के वाद उसकी (जगत् की) वृत्ति (आजीविका) जिस प्रकार कराते रहते हैं यह सर्व बताईए ।।५।।

सुबोधिनी—करोति कर्माणीति। अयं च तृतीयः प्रश्नः। भगवतो हीयं श्रीः। अत्र सप्तपदार्थाः पृच्छ्यन्ते, सप्तविधभक्तिसिद्ध्यर्थम्। भगवतोऽवतारकर्माणि, जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयास्त्रयः, प्रवेशनानात्वम्, जगतः प्रकारा इति। सप्तानां पूर्वपूर्वसाधकत्वम्। तत्र भगवदवतारकर्माणि किमर्थमित्याकाङ्क्षायाम्, मोक्षार्थमिति चेत्; उत्पत्तिर्व्यर्था न भवेत् किमिति सन्देहः। अथ यदि तदर्थमेवोत्पादनम्, तदाऽवतारकर्माणि व्यर्थानि, उभयोरेकत्वात्, अमोहकत्वेनैव च कार्यसिद्धेः। तस्मादुत्पादनलीलाऽपि ज्ञातव्या। उत्पादनमात्रेण च कार्यसिद्धेर्योग्यतासिद्ध्यर्थं तावत्कालं स्थितिरपि मृग्या। यदि भगवांस्तन्नाशयेत्, तदा विहितकरणादिनाऽपि कार्यं सेत्स्यतीति नाऽवतारप्रयोजनम्। किञ्च, यदि बहुधाऽयं भगवान्न भवेत्, तदाऽवतारेण सर्वमुक्तिरेव भवेत्, अतो भिन्नस्वभावेन प्रेरणान्नानाभावाच्च सर्वा व्यवस्था सम्पद्येत। लोकाश्चेद्भगवत्कृता एकविधाः स्युः, ब्रह्माण्डाद्वा निर्गमनं न भवेत्, तदाऽप्यवतारकर्माणि भिन्नानि। ऐकात्म्ये वा यद्येकस्य साधनमन्यस्य भवेत्, तथापि व्यर्थं स्यादिति भेदनिर्माणं च ज्ञातव्यं स्यात्। अतः सप्तानायेकः

प्रश्नः, सप्ताङ्गत्वाच्छ्रयः। **कृतावतारो भगवान् यानि कर्माणि करोति।** **यानीति** प्रसिद्धिरुक्ता। बहूनि च वक्तव्यानि, तेषां कर्मत्वं च वक्तव्यम्। तानि च भगवत्कर्माणि भवन्ति न भवन्तीति, भगवतः, कर्तव्यमकर्त्तव्यं वा। दोषत्रयाभावस्तु मयैव ज्ञायत इति विशेषणत्रयमाह। भगवान् कालाधीनतया न किञ्चित्करोति, कालार्थं वा। तदाह–**आत्मतन्त्र इति**। स्वतन्त्रो न कालाधीन इत्यर्थः। कर्मस्वभावयोः स्वमध्यपातात् भिन्नतया निवारयति–**भगवानिति**। कर्माधीनता व्यावर्त्तिता, न हि पूर्णज्ञानवतः कर्माणि बन्धकानि भवन्ति। **अधीश इति** त्रिगुणनियन्ता, अतो न स्वभावाधीनः। तस्मादेतादृशेन यानि कर्माणि कृतानि, न स्वभावात्, नाऽदृष्टतः, न कालप्रेरणात्, तानि कर्माण्यलौकिकान्येव भवन्तीति श्रोतव्यानि भवन्ति। किञ्च, **यथा इदं ससर्ज**। **अग्रे** सृष्टेः पूर्वम्। एको दोषाभावस्तु ज्ञायते, यदयं चेष्टया न करोतीति, मनश्चेष्टाऽपि निवारिता, इच्छायां सन्देहः, प्रयत्नो नास्तीति निश्चयः, ज्ञानं चाऽस्तीति। किञ्च, सर्वमेवोत्पादितं सम्यक् स्थापयित्वा जगतो वृत्तिं विधत्ते, सर्वेषामेव जीविकां प्रयच्छति। अत्र दूषणाद्यभावो न श्रुतो, न ज्ञायते; प्राणिनामन्योन्याहारात्॥५॥

व्याख्या—अब यह तीसरा प्रश्न है, यह प्रश्न भगवान् के 'श्री' गुण का है सात प्रकार की भक्ति की सिद्धि के लिए सात पदार्थ यहां पूछे जाते हैं। भगवान् ने अवतार धारण कर जो-जो कर्म (लीलाएँ) किए, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीन इनमें प्रवेश कर नाना रूप धारण करना, जगत् के प्रकार[1], यहाँ जो सात प्रश्न किए हैं, वे सात क्रम से पूर्व-पूर्व के धक हैं।

भगवान् ने अवतार धारण कर, जो कर्म किए वे किस लिए किए? यदि कहो कि मोक्ष देने के लिए किए तो सृष्टि करनी ही व्यर्थ थी अर्थात् तब सृष्टि रचो क्यों? यह सन्देह है, यदि कहो कि मोक्ष के लिए ही बनाई है तो अवतार और कर्म व्यर्थ होते हैं, क्योंकि दोनों का एक ही प्रयोजन है। मोह न करने से ही 'मुक्ति' हो सकती है, फिर अवतार लेने तथा कर्म करने की क्यों आवश्यकता है? दोनों व्यर्थ दीखते हैं। इसलिए भगवान् ने जो 'सृष्टि' रचने की लीला की है उसका ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए।

केवल सृष्टि की रचना से कार्य की सिद्धि न होने से जब तक मोक्ष की योग्यता प्राप्त हो तब तक जगत् की स्थिति को भी समझना चाहिए, यदि कहो कि भगवान् अवतार लेकर मोह का नाश कर मोक्ष देते हैं तोभी भगवान् के अवतार की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि शास्त्रों में कहे हुए कर्मों से ही मोह का नाश हो सकता है। मोह नाशान्तर स्वतः मोक्ष हो जाता हैं।

यदि भगवान् जगत् में विविध प्रकार से प्रकट न होवे तो उनके अवतार से सबकी मुक्ति हो जाए अतः भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रेरणा करने से और अनेक भाव होने से समग्र व्यवस्था होती है, यदि भगवत्कृत लोक एक प्रकार के होवे और ब्रह्माण्ड से बाहर वे न निकल सकते हों, तब भी अवतार तथा अवतारों के कार्य भिन्न[2] होते हैं, यदि सबकी एकात्मता होवे और जो एक का किया

---

[1] तत्वभेद तथा स्वरूप भेद से दो प्रकार [2] व्यर्थ

हुआ साधन दूसरे का हो जाय, तो भी अवतार और कर्म की व्यर्थता होवेगी, अतः भगवान् ने जो भेद से सृष्टि निर्माण की है उसका रहस्य भी जानना चाहिए इसलिए सातों का एक ही प्रश्न है, कारण कि 'श्री' गुण के सात अंग हैं ।

भगवान् अवतार लेकर जो-जो कर्म करते हैं, वे बहुत ही करने चाहिए यानि जो-जो, पद से सूचित किया है कि भगवान् के कर्म प्रसिद्ध हैं और उनका कर्मत्व भी सिद्धकर बताना चाहिए वे कर्म भगवान् के बन सकते वा नहीं ? वे कर्म भगवान् को करने चाहिए थे वा नहीं ? उन कर्मों में तीन दोष नहीं हैं इनको मैं ही जानता हूँ, इसलिए तीन विशेषण हैं ।

१–'आत्म तन्त्र' इस विशेषण से यह बताया है कि भगवान् जो कुछ कर्म करते हैं वे काल के अधीन होकर नहीं करते हैं, कारण कि आप स्वतन्त्र हैं, स्वतन्त्र किसी के अधीन नहीं होते हैं ।
२–भगवान्, ने इस विशेषण से यह सूचित किया है कि आप षडैश्वर्य सम्पन्न होने के कारण पूर्ण ज्ञानवान हैं, पूर्ण ज्ञानवान कर्मों के बन्धनों में नहीं आते हैं, यों आप की कर्माधीनता मिटादी है
३–'त्र्यधीशः' इस विशेषण से सिद्ध किया है कि आप तो तीन गुणों के नियामक हैं अतः स्वभाव के अधीन नहीं हैं, इसलिए आपने जो कर्म किए हैं, वे न स्वभावाधीन होकर किए है, न अद्रष्ट से किए हैं और न काल की प्रेरणा से किए हैं अतः ये कर्म अलौकिक होने से सुनने के योग्य हैं 'यथा इदं ससर्ज' 'जैसे यह रचा' जब यह सृष्टि की नहीं तब इसको किस प्रकार रचा ? यह जानना चाहिए, यह सृष्टि चेष्टा से भी नहीं बनाई है क्योंकि भगवान्—निरीह हैं, यों कह कर एक दोष का निवारण किया, 'इच्छायां सन्देह' इच्छा में सन्देह, यह तो निश्चय है कि प्रयत्न नहीं किया है एवं प्रभु में ज्ञान है और विशेषता यह है कि जो कुछ उत्पन्न किया उसको श्रेष्ठ रीति से स्थापन कर जगत् की 'वृति' (आजीविका) का भी स्वयं प्रबन्ध करते हैं, अर्थात् सबको विविध आजीविका देते हैं इस विविध प्रकार की आजीविका देते हुए भी किसी प्रकार दूषण नहीं आता है, दूषण का होना न कभी सुना और न जाना, प्राणी एक दूसरे का आहार भी कर जाते है तो भी दोष कुछ भी बाधक नहीं होता है ।।५।।

आभास–किञ्च

आभासार्थ—और फिर

श्लोक–**यथा किल स्वे ख इदं निवेश्य शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।**
योगेश्वराधीश्वर एक एतदनुप्रविष्टो बहुधा यथाऽऽसीत् ।।६।।

श्लोकार्थ–जिस तरह वृत्ति से निवृत्त हुए उसने, अपने हृदय रूप आकाश में यह सब (समग्र जगत्) डालकर गुफा में, निश्चय शयन किया है और फिर

योगेश्वरों का अधीश्वर वह एक ही भगवान् इसमें प्रविष्ट होकर जैसे बहुत प्रकार के होते हैं वह कहिए ॥६॥

सुबोधिनी—यथेति। यथा वा इदं सर्वं संहृत्य, **स्वे** स्वकीये हृदयाकाशे इदं सर्वं निवेश्य, स्वयमपि **गुहायां** गुप्तस्थाने **किल शेते**। अत्रैकस्य दूषणस्य परिहारो ज्ञायते। निवृत्ता वृत्तयो यस्य, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवृत्तयो यत्र न सन्तीति। का वा गुहा, को वा संगोप्यः? इति न जानीमः। हृदये च पुनः सर्वं निवेशितवान्। किञ्च, योगेश्वराणामधीश्वरः। एक एव एतत्सर्वं सृष्टमनुप्रविष्टो यथा बहुधा आसीत्, तद्वक्तव्यम्। योगेन नानारूपाणि योगी करोति। ते ह्युपायेन स्वयोगं व्ययीकृत्य तथा भवन्ति, यथा कर्मणा। परं कर्मणा क्रमेण भवन्ति, योगेन त्वेकदैव भवन्ति। अयं तु तेषामपीश्वरः। **अधिशब्देन** च योगैश्वर्ये अप्यधिके निरूपिते भवतः। अनेन बहुधा भवनं सम्भवतीत्युक्तम्। परमखण्डः, समुदायेन वा, खण्डशो वा भवतीति सन्देहः ॥६॥

व्याख्या—जैसे इन सबका संहारकर अपने हृदयाकाश में इन सबको स्थापित कर स्वयं भी किसी गुहा में (गुप्तस्थान में) सोते हैं, यहां एक दूषण का परिहार किया है ऐसा जाना जाता है, उसमें जाग्रत स्वप्न और सुषप्ति तीनों वृत्तियाँ नहीं रहती हैं, वह गुफा कौनसी है? और किस स्वरूप[1] को छुपाना है? इसको हम नहीं जानते हैं और फिर यह सर्व हृदय में डाल रखा है कारण कि आप योगेश्वरों के भी अधीश्वर हैं, फिर आप एक ही इसको पुनः रचकर इसमें प्रविष्ट होकर जैसे अनेक हुए वह कहिए।

योगी, योग बल से अनेक रूप धारण करते हैं, वे (योगी) उपाय से अपने योग का व्यय कर अनेक रूप वाले होते हैं, जैसे कर्म से, परन्तु कर्म से धीरे-धीरे क्रम से होते हैं। योग से तो एक ही समय में होते है। यह (प्रभु) तो उनके भी ईश्वर हैं 'अधि' पद से यह सूचित किया है कि प्रभु में योग और ऐश्वर्य दोनों में उनसे अधिक हैं, इससे प्रभु में अनेक रूप होने की सम्पूर्ण सम्भावना है यों कहा, किन्तु वह अनेक किस प्रकार होते हैं, अखण्ड रहकर वा समुदाय से (अवयवों के समूह द्वारा) अथवा खण्ड-खण्ड से होते हैं, यह सन्देह है ॥६॥

आभास—नन्वेतादृशं चरित्रं भवता बहुधा श्रुतं भारतादौ, किमिति पुनः पृच्छ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तुमने ऐसे चरित्र तो भारतादि शास्त्रों द्वारा बहुत सुने हैं? फिर किसलिए वे ही पूछते हो? ऐसा यदि मैत्रेय जी कह डाले उस पर निम्न श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः।**
मनो न तृप्यत्यपि श‍ृण्वतां नः सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥७॥

---

[1] १—अपना स्वरूप किसी को भी उस समय जताना नहीं है।

श्लोकार्थ–ब्राह्मण, गौ और देवों के कल्याणार्थं अनेक अवतार धारण कर लीला से अनेक प्रकार के दिव्यकर्म करते हैं उनको भी हमें सुनाइए, उत्तम कीर्ति वाले श्री हरि के दिव्य लीला रूप कर्मों को श्रवण करते (पान करते) हुए मन तृप्त नहीं होता है ।।७।।

सुबोधिनी—क्रीडन् विधत्त इति । **द्विजगोसुराणां क्षेम याऽवतारभेदैः क्रीडन् कर्माणि विधत्ते** । किमतो यद्येवमत आह–तानि कर्माणि **शृण्वतामपि मनो न तृप्यति** । अन्येषां तृप्तावपि नो मनो न तृप्यति । तत्र हेतुः–**सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानीति** । एकं कर्तविशेषणमपरं कर्मणाम सुश्लोका उत्तमा कीर्तिर्मौलौ यस्य । यदा भगवान् दृश्यते, तदा दूरादेव तस्य कीर्तिर्दृश्यते, यथा दूरात् पुरुषस्य मुकुटं दृश्यते । अतो भगवदिच्छायां निवृत्तायां परं कीर्तीच्छा निवर्तते । भगवन्तं मान्यमानः कथं शिरोभूषणान्निवर्तेत ? किञ्च, एतानि कर्माण्यमृतरूपाणि **चरितामृतानि** । कर्माण्येव चरितानि । चरितानाममृतत्वमनुभवसिद्धम्, क्षुत्पिपासादिनिवारकत्वेन । मरणनिवर्त्तकत्वं च । **चरितमिति** प्रयत्नमात्रम् । भक्षणवाचकत्वेन वा विरोधेनामृतत्वद्भुतकर्मत्वेन । कर्माणि च पुनश्चरितेन कृत्वैव अमृतानि, उत्पन्नान्येव नित्यानीति । प्रयत्नमात्रविषयत्वेन तेषां नत्यत्वे, श्रवणादि प्रयत्नविषयाणामपि नित्यत्वात्, सर्वेन्द्रियव्यापारपूर्णत्वेन ऐहिकामुष्मिकदुःखनिवारकाणि भवन्ति, तदोभयामृतत्वं संपद्यते । **द्विजगोसुराणामिति** मन्त्रा हविर्देवताश्च यागे प्रधानभूतास्त्रयो निर्दिष्टाः, तेषां क्षेमाय कर्मकरणम् । अनेन भगवत्कर्माणि धर्मरूपाणीत्युक्तम् । ततश्च तानि मनसा भावितानि मनोयज्ञा भवन्ति, कीर्तितानि वाग्यज्ञाः, श्रुतानि ज्ञानयज्ञा इति **अवतारभेदैरिति** नानाविधैरवतारैः । भेदग्रहणेन लोके तदवतारत्वेन ज्ञातुमशक्यमिति गम्यते । मत्स्याद्यवताराविसदृशत्वात् भेदा इत्युच्यन्ते । अथवा, ज्ञानक्रियाविशिष्टभेदेन त्रयोऽवताराः । तेषां भेदाः । ज्ञानकलावतारा व्यासादयः, क्रियाकलावतारा वराहादयः उभयं कृष्णः । अवताराश्च भेदाश्वेति वा । तदा भेदा आवेशिनः । अवतारैरावेशैश्च यज्ञानां परिपालनं क्रियत इति करणे रक्षा हेतुः. अतृप्तौ चरितामृतत्वम् । अतश्चरित्राणि वक्तव्यान्येवेत्यर्थः ।।७।।

व्याख्या—ब्राह्मण, गौ और देवों के कल्याणार्थ अलग-अलग प्रकार के अवतार धारण कर भगवान् क्रीड़ा करते हुए कर्म करते हैं । जो यों कर्म करते हैं तो उससे क्या ? जिस शंका का निवारण करने के लिए कहते हैं कि उन कर्मों का श्रवण करते हुए मन तृप्त नहीं होता है । दूसरों का मन भले तृप्त हो जाता हो किन्तु मेरा मन तो तृप्त नहीं होता है । जिसका कारण यह है कि 'सुश्लोकमौले' 'चरितामृतानि', इन दोनों पदों में एक कर्ता का विशेषण है और दूसरा कर्मों का विशेषण हैं 'सुश्लोकमोलेः' पद का अर्थ है जिससे मुकुट में उत्तम कीर्ति है जिसका तात्पर्य है कि जब भगवान् दूर से पधारते हैं तब जैसे मनुष्य के मुकुट का प्रथम दर्शन होता हैं वैसे आपकी कीर्ति के प्रथम दर्शन हो जाते हैं भगवान् के दर्शन की इच्छा निवृत्त हो तो पश्चात् कीर्ति की (गुणानुवादरूप कर्मों के श्रवण की) इच्छा निवृत्त हो सके, भगवान् को चाहने वाले भगवान् के शिरोभूषण (कीर्ति) की इच्छा का त्याग कैसे कर सकते है ? नहीं करेंगे, फिर बिशेषता यह है

कि ये भगवान् के कर्म (चरित्र) अमृत रूप हैं, भगवच्चरित्र अमृतरूप हैं यह अनुभव से सिद्ध है। चरित्र अमृतरूप इसलिए कहे हैं कि उनसे क्षुधा, प्यास आदि मिट जाती है और अमृत होने से मरण भी मिटाते हैं 'चरित्र' से केवल प्रयत्न बताया है, अमृत का अर्थ भक्षण है चाहे इससे विरोध देखने में आवे तो अन्य प्रकार से उसका अर्थ करते है कि ये चरित्र (कर्म) अद्भुत होने से अमृत रूप हैं 'कर्म' भगवच्चरित्र होने से भी अमृत रूप हैं, एवं उत्पन्न होते हुए भी निश्चित नित्य हैं, केवल प्रयत्नरूप होने से भी नित्य हैं, प्रयत्न के विषय जो श्रवणादि वे भी नित्य हैं सर्वेन्द्रियों के व्यापार से पूर्णत्व होने के कारण ऐहिक और परलोक के दुःखों के निवारक होते हैं अतः दोनों लोकों के अमृत कहे जाते हैं।

'द्विजगोसुराणाँ' ब्राह्मण (मन्त्र), गौ (घृतादि पदार्थ) और देव ये तीनों ही यज्ञ में मुख्य हैं, उनके कल्याणार्थ भगवान् कर्म करते हैं, इससे भगवान् के कर्म धर्म रूप कहे हैं वे कर्म मन से विचारित होने के कारण मनोयज्ञ होते हैं, कीर्तन किए हुवे वाणी के यज्ञ होते हैं श्रवण करने से ज्ञान यज्ञ होते हैं, अनेक प्रकार के अवतारों के कारण लोक में उनको अवतार रूप से जानना भी अशक्य होता हैं, मत्स्यादि अवतार अन्य अन्य प्रकार के (से) हुए हैं, यों भेद कहे हैं, अथवा ज्ञान क्रियादि विशिष्ट भेद से तीन प्रकार के अवतार हैं उनके भेद-ज्ञान कलावतार व्यासादि है, क्रिया-कलावतार वराहादि हैं, ज्ञान क्रिया दोनों से मुक्त पूर्ण श्रीकृष्ण हैं।

अवतार और भेद (रूप) यों अर्थ करने से तात्पर्य यह है कि 'भेदाः' पद कहने से अवेशितः आवेश वाले अवतार कहे हैं, अवतारों से और आवेशों से यज्ञों का पालन किया जाता है यों करने में 'रक्षा' कारण है, तृप्ति न होने के कारण यह है कि 'चरित्र' अमृत है इसलिए चरित्र कहने ही चाहिए यह तात्पर्य है ॥७॥

आभास—किञ्च

आभासार्थ—और फिर

श्लोक—**यैस्तत्त्वभेदैरधि लोकनाथो लोकानलोकान् सहलोकपालान् ।**
अचीक्लृपद्यत्र हि सर्वसत्त्वनिकायभेदोऽत्रिकृतः प्रतीतः ॥८॥

श्लोकार्थ—जिन पृथक-पृथक तत्वों से, लोक नाथों के अधिपति ने लोकपालों समेत, जिसके भीतर, अधिकृत सकल प्राणियों के समूहों का भेद प्रतीत हो रहा है वैसे लोक और अलोक उत्पन्न किए उनका वर्णन कीजिए ॥८॥

सुबोधिना—यैरिति । यैस्तत्त्वभेदैर्लोकानलोकांश्च लोकपालसहितान् अचीक्लपत् तानि कथयेत्याह । कति तत्त्वानि लोकसर्गे व्यापृतानि, कति चाऽलोके । यदि सर्वैरेव तत्त्वैः सर्व एव कृताः स्युः; तदा लोकालोकादिभेदो न स्यात् । लोक्यत इति लोकः, प्रत्यक्षयोग्यः । लोकालोकात्परभागास्तु न प्रत्यक्षयोग्याः । अस्याऽयं भावः । स्वभावत एव लाकरूपा अलोकरूपाश्च लोकाः, न तु तेजसा प्रकाशिताः, मनुष्याणामेव तदपेक्षणात् । तदभावो वा किंमूलकः ? अत्रैव हि मेघकाष्ठसूर्यादय उत्पद्यन्ते, ते चाऽन्यत्र कुतो न भवन्ति ? अतोऽलोका केचन स्वत एवेति । तत्रापि च लोकपालाः सन्ति । तत्र चक्षुषा विषयग्रहणे आलोकापेक्षाभाव, चक्षुरभावो वा । अथवा, लोकान् स्वर्गादीन् अलोकान् लोकरहितान् उज्जटान् देशान्, लोकेऽपि लोकपाल सहितांस्त्रीनित्यर्थः । यत्राऽचीक्लपत्, तत्कथयेति प्रश्नः । ननु किमिति त्रयो भेदा गणिताः ? लोका राजसाः, अलोकास्तामसाः, लोकपालाः सात्त्विका इति । तत्राऽऽह—**सर्वसत्त्वनिकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतश्च** । सर्वाणि च सत्त्वानि जीवयोनिभेदाः तेषां निकायः समूहः, तस्य भेदः सहानऽवस्थानम् । समूहा अपि भिन्नास्तिष्ठन्तीति । न हि पिपीलिकाः पक्षिणश्च एकत्र भवन्ति । सोऽप्यधिकृतः । तत्राप्यधिकारिणः सन्ति, अन्यथा उपदिकानां मुखे जलम्, काकानामेकाक्षित्वम्, पशूनां च तूपरातूपरभेदो न स्यात् । किञ्च, प्रतीतोऽप्ययं सर्वोऽपि भेदः, यत्र प्रतीयन्ते सर्वे भेदाः, तत्राऽप्रतीताः कियन्तो वा भवन्तीति । युक्त एव महतो निर्माणे तत्त्वभेद इति हिशब्दार्थः । अनेन ब्रह्माण्डनिर्माणं सहेतुकं वक्तव्यमिति प्रश्नः ॥८॥

व्याख्या—जिन भिन्न भिन्न तत्वों से लोकपालों सहित लोक तथा अलोकों को रचा, उनको कहिए कितने तत्व लोक सृजन करने और कितने तत्व अलोक रचने में लगाए । यदि कहो कि सर्व तत्वों से सबको बनाया है तो लोक और अलोकादि का भेद नहीं दीखता, 'लोक्यत इति, लोक' जो प्रत्यक्ष दीख रहा है उसको लोक कहा जाता है, लोकालोक पर्वत के उस तरफ के भाग जो देखने में नहीं आते हैं उनको 'अलोक' कहा है, इस कहने का यही भाव है, स्वभाव सेही लोक, लोकरूप और अलोकरूप हैं तेज से प्रकाशित होने से लोक नहीं कहे हैं, मनुष्यों[1] को ही तेज की आवश्यकता है उसके[2] अभाव का मूल (कारण) क्या है ? इस लोक में ही मेघ, काष्ठ और सूर्य आदि उत्पन्न होते हैं तथा वे दूसरे लोक में क्यों नहीं होते हैं ? अतः कितने लोक स्वतः ही आलोक[3] हैं और वहां भी लोकपाल रहते हैं, वहाँ नेत्र से पदार्थ ग्रहण करने में तेज की आवश्यकता नहीं है अथवा चक्षुओं का वहाँ अभाव है अथवा 'लोकान्' पद से स्वर्गादि लोक 'आलोकान्' पद से लोक रहित शून्य प्रदेश, लोक में भी लोकपाल सहित, यों तीनों को रचा, इनको जहाँ रचा वह कहिए यह प्रश्न है, ये तीन ही भेद कैसे गिने है ? इस पर कहते हैं १. लोक राजस हैं २. अलोक तामस हैं ३. लोकपाल सात्विक हैं । इन तीनों को स्पष्टतया 'सर्वसत्वनिकाय भेदोऽधिकृतः प्रतीतश्च' सकल सत्त्व अर्थात् जीव योनियों के भेद, उनका समूह उनमें भी भेद है क्योंकि वे साथ

प्रकाश— १-मनुष्य जैसे आँख वालों को २-उल्लूकादि को सूर्य तेज) की अपेक्षा नहीं है
३-जहाँ पिपीलिका आदि ही रहती हैं ।

में नहीं रहते हैं। समूह है तो भी पृथक-पृथक रहते हैं जैसे पिपीलिका (कीड़ी मकोड़ी) और पक्षी इकठ्ठे नहीं रहते हैं, वह समूह भी अपने अपने अधिकारवाला है उसमें भी अधिकारी होते हैं, यदि यों अधिकारीपन न होता तो उपदिका (एक प्रकार की कीड़ी) के मुख में जल न होता, काक पक्षियों को एक नेत्र न होता, पशुओं में सींगवाले और बिना सींगवाले न होते, यह सर्व भेद देखने में आ रहा है। जहाँ भेद प्रत्यक्ष हो रहा है वहां अप्रत्यक्ष कितने होंगे ? महान् जगत् की रचना करने में तत्वों का भेद उचित ही है यह आशय 'हि' शब्द से कहा है, इससे ही मेरा प्रश्न यह है कि ब्रह्माण्ड का रचना हेतु सहित सुनाईए ।।८।।

आभास–किञ्च

आभासार्थ—और फिर

श्लोक–येन प्रजानामुत आत्मकर्मरूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त ।
नारायणो विश्वसृगात्मयोनिरेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ।।९।।

श्लोकार्थ–जिस (कारण) से विश्व को रचने वाले आत्म योनि नारायण ने प्रजाओं के स्वरूप कर्म और रूप एवं नाम का भेद किया, हे विप्रवर्य ! वह हमारे लिए वर्णन करिए ।।९।।

सुबोधिनी—येनेति । प्रजानामपि प्रत्येकमात्मा स्वरूपम्, **कर्म, रूपम्, अभिधा** नाम; एतेषां येन हेतुना कृत्वा भिदां व्यधत्त। एकस्यामपि योनौ अनन्ता एव भेदाः; तेषु च एको द्वितीय इव न भवति स्वरूपादिना केनाऽपि। तत् कुतः ? इति प्रश्नः। नन्वेतदकृतमेव स्यात्तत्राऽऽह–**नारायणो विश्वसृगात्मयोनिरिति** । अत्र हेतुत्रयमस्माभिर्ज्ञायते, नाऽन्य इति। तत्राह–**'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः'** तान्ययनं यस्येति, तेषु सर्वत्रैव विद्यमानत्वात्। एनेकांशेन द्वयं न क्रियत इति तदंशे विद्यमान एव भगवांस्तावद्भेदहेतुरित्येकः पक्षः। किञ्च, **विश्वसृक्** सर्वस्य कर्ता भगवान्; सर्वत्रैवोपादानगोचरापरोक्षज्ञानमस्यास्ति, अन्यथा तावतो न सृजेत्। अतो भगवज्ज्ञानमेव तावद्भेदे हेतुरिति द्वितीयम्। किञ्च, **आत्मयोनिरिति**। आत्मैव योनिः कारणं यस्य। अयं स्वस्मादेव स्वयमुत्पद्यते। अतो भगवतः कश्चन तादृशो गुणोऽस्ति, येन स्वयमेव स्वस्मादुत्पद्यत इति भिन्नो भवति, एवमेवायमनन्तमूर्तिर्जात इति स्वयमेव तावद्रूपो भवतीति, एवं तत्त्वतो ज्ञानतश्चेति हेतुत्रयं ज्ञायते। अन्यद्वक्तव्यमित्यर्थ **एतच्चेति** चकारात् पूर्वोक्तमपि प्रष्टव्यमित्युक्तम्, अन्यथोत्तरमेव वक्तव्यं स्यात् सर्वत्र। **न** इति बहुवचनमेकशिष्यत्वादवक्तव्यनिराकरणेन प्रचारणपारम्पर्यबहुत्वज्ञानार्थम्। **विप्रवर्येति**। **'प्रा पूरणे'** इति धातोर्विशेषेण पूरयतीति सर्वगुणपूर्णता निरूपिता। तेषामपि वर्यत्वात् पूर्णा भगवद्गुणा अस्मिन् सन्तीति सर्वकथने हेतुः ।।९।।

व्याख्या—प्रजाओं के भी प्रत्येक का 'आत्मा' स्वरूप, कर्म, रूप और नाम इनका जिस हेतु (कारण) मे भेद किया है यह बताईए एक ही योनि के अनन्त भेद किए हैं उनमें एक भी दूसरे जैसा स्वरूपादि से नहीं दीखता है। वह क्यों ? यों प्रश्न है।

यह कार्य, कारण के सिवाय नहीं हुआ होगा। इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि 'नारायणो विश्वसृगात्मयोनिः' इसमें तीन हेतु हैं यों हम समझते हैं, अन्य हेतु कोई नहीं है, वे कहते हैं—'नराज्जातानि तत्वानि नाराणि, इति विदुर्बुधाः' तानि अयनं यस्य स नारायणः कथ्यते, नर से उत्पन्न तत्वों को ज्ञानी पुरुष नार (जल) कहते हैं वह नार अर्थात् जल जिसके रहने का स्थान है वह नारायण है, इससे यों कहा कि उन सब (भूतों) में वह सर्वत्र ही विराज रहा है, एक अंश से दो कार्य नहीं किए जा सकते हैं, इसलिए उस-उस अंश में विद्यमान ही भगवान् तो भेद के कारण हैं, यों एक पक्ष है।

२–'विश्वसृक' भगवान् विश्व के कर्ता हैं, सर्वत्र ही इनको उपादान का प्रत्यक्ष ज्ञान है, यदि ऐसा ज्ञान न होवे तो इस प्रकार का वैसा जगत् न बना सकें, अतः भगवान् का ज्ञान ही इस प्रकार के भेद में कारण है, यह दूसरा पक्ष है ३–'आत्म व योनिः' आत्म ही स्वयं इस (जगत्) का कारण है, यह भगवान् अपने में से ही स्वयं जगत् रूप से उत्पन्न होते हैं अतः भगवान् में ऐसा कोई गुण है जिससे स्वयं ही अपने में से उत्पन्न हो विविध भेद वाले बन जाते हैं। इस प्रकार ही आप अनन्त मूर्ति हुए हैं। यों स्वयं ही वैसे रूप वाले होते हैं, इसी तरह तत्व से और ज्ञान से तीन हेतु जाने गए है। दूसरा भी कहना चाहिए 'एतश्च' यहां 'च' पद से यों सूचित किया है कि, पूर्व में कहा हुआ भी फिर पूछना चाहिए, नहीं तो सर्वत्र उत्तर ही कहना पड़े 'नः' बहुवचन कहने का अभिप्राय यह है कि मैं एक शिष्य होते हुए भी बहुवचन इसलिए कह रहा हूं कि इस ज्ञान के प्रचार की परम्परा से बहुत शिष्य हैं।

विप्रवर्य ! इस सम्बोधन मे यह सूचन किया है कि 'विप्र' पद 'प्रायूरणे' धातु से बनने के कारण विप्र में सर्वगुण पूर्ण होते हैं। आप तो उनमें भी श्रेष्ठ हैं अतः आप में भगवान् के सर्व-गुण पूर्ण हैं। यों कहने का हेतु यह है कि आप सब कुछ बता सकते हैं जिससे सर्व शंकाओं का निराकरण हो जाएगा ॥९॥

आभास–नन्वेतत्सर्वं भारते कथितमेव, तथा च पुनः किमर्थं पृच्छ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यह सर्व भारत में सुना ही है, फिर वही क्यों पूछते हो ? इस पर कहते हैं—

श्लोक—परावरेषां भगवान् ! व्रतानि श्रुतानि में व्यासमुखादभीक्ष्णम् ।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे भगवान् ! मैंने व्यासजी के मुख से बार-बार, 'पर' और अवरों (छोटों) के व्रत सुने हैं, किन्तु वे अल्प सुख देने वाले हैं इसलिए उनसे ऊब गया हूँ । श्रीकृष्ण के कथामृत रूप जो अनन्त सुखद है वह नहीं सुना है अतः वह सुनना चाहता हूँ कृपया कहिए ।।१०।।

सुबोधिनी—परावरेषामिति । श्रुतस्याऽपि श्रवणे किं दूषणम् ? आनन्त्यात्पदार्थानामपर्यवसानमिति चेत्, तत्रोच्यते । **परावरेषां** ब्रह्मादिस्थावरान्तानाम् । **व्रतानि** नियतधर्माः, कर्माणि च श्रुतान्येव । तानि व्यास मुखादभीक्ष्णशः श्रुतानि । व्यासो हि नीतिज्ञानार्थं बहुधा सर्वेषां धर्मान् कथयति, अन्यथा राज्ये स्थिरा बुद्धिर्न भवतीति । परं राज्यमेव त्यक्तमिति तेभ्य उपरता बुद्धिः । उपरमे हेतुः—**क्षुल्लसुखावहानामिति** । अल्पमेव सुखमावहन्ति । तद्वतः श्रवणेन तथा हृदयभावनायामन्ततो गत्वा तत्त्वं भवति । तस्माद्वा दोषाद्विमुच्यते । उभयथाऽप्यल्पं सुरवं फलतः । स्वरूपतस्तु तद्दुःखात्मकमेव । अत उक्तं क्षुल्लसुखमावहन्तीति । अतस्तैस्तृप्ता जाताः । अतः परं तच्छ्रवणेच्छा नोत्पद्यत इत्यर्थः । **तेषामिति** प्रसिद्धानामिति । **कृष्णकथामृतौघादृते** कृष्णकथैवामृतौघोऽमृतपूरः, तस्मात्परं न तृप्तिः । विरोधाभासश्च सूचितः, क्षुल्लसुखात् तृप्तिः, अमृतपूराच्चाऽतृप्तिरिति । अयमर्थः—इच्छा हि यथाविषयं जायते, तस्मिन् प्राप्ते निवर्त्तते च । सा च विषयसमाना भवति । विषयश्चाऽल्प इत्यल्पीयस्येव सा सर्वत्रोत्पद्यते, पिपोलिकाक्षुद्वत्; न हि पिपोलिका गजभोज्यं भोक्तुमर्हति, अतोऽल्पेनैव निवर्तते । गजस्तु कोटिपिपोलिकान्नेनाऽपि न तृप्यति । अतो भगवद्विषयिणी या इच्छा, अनन्तगुणत्वाद्भगवतः सर्वं ग्रहीतुं महत्ता कालेनाऽप्यशक्ता, न तृप्ता भवति । अतो न निवर्तत इति । **कृष्ण** इति सदानन्दः; तस्य कथा तद्रूपा, भगवद्धर्माणां भगवद्रूपत्वात् । सरसश्च पदार्थो बहु गृह्यते, अल्परसोऽल्प एवेत्यनुभवः ।।१०।।

व्याख्या—मान लो कि मैंने सुने हैं फिर भी सुनने में कौनसा दूषण है । यदि कहे कि वे अनन्त हैं उनका पर्यवसान (अन्त) होता ही नही है इसलिए जो सुने वे बस (काफी) हैं इस पर कहते हैं कि ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जो हैं उन सब के जो नियत धर्म हैं वे सब सुने ही हैं, दूसरे किसी से नहीं किन्तु व्यास जी जो ज्ञानावतार हैं उनके मुख से बार-बार सुने हैं, लोगों को नीति का पूर्ण ज्ञान हो तदर्थ व्यासजी बहुत प्रकार से सबों के धर्म कहते हैं यदि न कहें तो राज्य में स्थिर बुद्धि नहीं होती है । इसलिए कहते हैं परन्तु राज्य का ही त्याग कर दिया है अतः उनके श्रवण से वा उनसे बुद्धि ने उपराम पा लिया है । यदि कहो कि उपराम क्यों पाया है ? इस पर कहते हैं कि वे धर्म तुच्छ (विनाशी) सुख देने वाले हैं, उन धर्मों के श्रवण से उन धर्मों के भाव ही हृदय में जागेंगे, जो क्षुल्लक सुखप्रद विनाशी, होने से दोष वा भार रूप हैं उन धर्मों के न सुनने से उन दोषों से छूट जाएंगे, दोनों का विचार करने से सिद्ध होता है कि वे धर्म अल्पसुखदेने वाले हैं, वास्तव में उनके स्वरूप का पूर्णतया विचार किया जाए तो दुःख रूप ही हैं, अतः उनसे ऊब गए हैं, इसके अनन्तर, उनके श्रवण की इच्छा मात्र भी मन में नहीं होती है ।

'कृष्णकथाऽमृतौघाद्दते' कृष्णकथा ही अमृत का समूह है उससे तृप्ति नहीं होता है, वे धर्म अल्पसुख देने वाले हैं अतः उनसे तृप्ति हो जाती है यों कहने से 'विरोधाभास' दिखाया है।

इस कहने का तात्पर्य यह है कि जैसा विषय हो वैसी इच्छा होती है वह प्राप्त हो जाए तो इच्छानिवृत्ति हो जाती है। वह (इच्छा) तो विषयानुरूप होती है यदि विषय अल्प है तो इच्छा भी अल्प होती है जैसे पिपीलिका (कीड़ी) की क्षुधा अल्प है तो उसको अल्प खाद्य मिला तो उसकी तृप्ति हो गई और खाने की इच्छा (क्षुधा) मिट गई। कीड़ी हाथी जितना खाद्य खा नहीं सकती है। अतः थोड़े से ही तृप्त हो जाती है। हाथी तो करोड़ कीड़ियों का अन्न (भोजन) मिलने पर भी तृप्त नहीं होता है, अतः भगवत्सबन्धी जो इच्छा है वह अनन्त गुण वाले भगवान् के सर्व गुणों के बहुत काल से लेते हुए भी पूर्ण करने में अशक्त ही रहती है, इस कारण से वह इच्छा तृप्त नहीं होती है इसलिए निवृत होना नहीं चाहती है। 'कृष्ण' अर्थात् 'सदानन्द' उसकी कथा भी सदानन्द रूप है। क्योंकि भगवद्धर्म भी भगवद्रूप है, रसवाला पदार्थ ही विशेष लिया जाता है अल्प रसवाला अल्प ही लिया जाता है। यह अनुभव सिद्ध है ॥१०॥

आभास—अत्राऽधिकारिभेदेन व्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्क्य निराकरोति—

आभासार्थ—इस विषय में अधिकारी भेद से ही व्यवस्था होगी? इस शंका का निम्न श्लोक से निराकरण करते हैं।

श्लोक–कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात् सत्रेषु वः सूरिभिरोडयमानात्।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥११॥

श्लोकार्थ—जो (नाम) पुरुष के कान की नाड़ी में प्रवेश करते ही, संसार बढ़ाने वाले घर के प्रेम व आसक्ति को नाश करते हैं, जिन नामों का गुणगान यज्ञों में बड़े-बड़े महात्मा करते हैं, उस तीर्थ पद (जिनके चरणों में तीर्थ हैं) के ऐसे नामों से किस की तृप्ति होगी? ॥११॥

सुबोधिनी—कस्तृप्नुयादिति। अत्रेच्छैव नोत्पद्यते, उत्पन्ना चेत् न कदापि तृप्यति, वह्निराहुतिभिरिव। तद्गुणा इच्छामेव वर्द्धयन्तीति पूर्वं निरूपितम्। युक्तश्चागमर्थः, आसुराणामिच्छाभावात् देवानां मध्ये कस्तृप्नुयात्। विहितार्थ एव हि तेषां प्रवृत्तिः। तत्र विरक्ताविरक्तभेदेन. ब्राह्मणक्षत्रियभेदेन वा यज्ञास्तीर्थानि च विहितानि चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षफलकानि। तानि स्वरूपतो दुःखात्मकान्यपि फलतः समीचीनानि। भगवद्गुणास्तु चतूरूपाणि; स्वरूपतोऽप्यमृतौघानि, फलतो मोक्षफलानि, यज्ञरूपाणि, तीर्थरूपाणि च। अतः कस्तृप्नुयात। तीर्थानि पादे यस्य। **'तिस्रः कोटचोऽर्द्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत्। दिविभुव्यन्तरिक्षे च तानि वै जाह्नवीजले'**। इति

सा गङ्गा भगवत्पदी, तादृशस्य चाऽभिधानम्। शब्दमात्रमेतदिति पक्षोऽग्रे निवर्तयिष्यते। **सत्रेषु सूरिभिर्भगवद्गुणाभिज्ञैरीडचते।** सत्रेषु हरिगाथोपगायन मस्ति, यथाऽश्वमेधे **'ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायेताम्'** इति, यथा वा नारदो गानार्थमाहूतः। तेन हि सत्रं पूर्यते **'विष्णोः कर्माणि पश्यत'** इत्यादिश्रुतेश्च। किञ्च, यो भगवान् कर्णनाडीं पुरुषस्य यातः, स्वस्य हृदि स्थित्यर्थं, हृदये विद्यमानां गेहरतिं संसारदायिनीमनिष्टरूपां छिनत्ति, अमृतरूपत्वात्। इष्टरूपत्व पूर्वमेव निरूपितम, अनिष्टनिवारकत्वं चोक्तम, यागात्मकता च निरूपिता। **कर्णनाडीं पुरुषस्य यात** इत्यनेन शब्दो न केवल इत्युक्तम्। भगवत्सहितत्वे तु तीर्थानि सिद्धान्येव ॥११॥

व्याख्या—प्रथम तो भगवान् के नामों (गुणों) के श्रवण की इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती है (क्योंकि जब मनुष्यों के पाप[1] क्षीण हो जाते हैं तब कृष्ण में भक्ति उत्पन्न होती है) भक्ति उत्पन्न होने के बाद गुण श्रवण की इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा उत्पन्न हो गई तो तृप्ति नहीं होती है जैसे अग्नि आहुतियों से तृप्त नहीं होती है, कारण कि प्रभु के गुण ही ऐसे हैं वे ज्यों-ज्यों सुने जाते हैं त्यों-त्यों इच्छा को बढ़ाते ही जाते हैं, यों पहले निरूपण किया है और यह अर्थ उचित ही हैं, असुर जीवों को तो इस श्रवण की इच्छा ही उत्पन्न होगी, शेष जो देव हैं उनको तो सुनने की प्रबल इच्छा होती है। जो दैवी जीव हैं उनमें कौन तृप्त होगा ? क्यों कि उनकी (देवों की) शास्त्र विहित विषयों में ही प्रवृत्ति होती है। शास्त्र में विरक्त और अविरक्त भेद से, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भेद से, यज्ञ एवं तीर्थ करने की विधि है वे (यज्ञ तथा तीर्थ) चित्त शुद्धि कर मोक्ष फल देते हैं, हालाँकि स्वरूप से दुःख रूप हैं तो भी अन्त में फल रूप से समीचीन (श्रेष्ठ) हैं। भगवान् के गुण तो चारों रूप हैं, जैसे स्वरूप से भी अमृत निधि हैं, फल से मोक्षफल देने वाले हैं। यज्ञ रूप और तीर्थ रूप भी हैं अतः उनसे कौन तृप्त हो सकता है ? कोई नहीं। वे भगवान् कैसे हैं, 'तीर्थ पदः' जिनके चरण में तीर्थों का निवास है। 'तिस्रः कोट्योऽर्द्ध कोटी च तीर्थानाम् वायुरब्रवीत्। दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तानि वै जाह्नवीजले[2]' वह गंगा भगवान् के चरण में है ऐसे भगवान् के नाम से कौन तृप्त होगा ? यह 'नाम' केवल शब्द मात्र है, ऐसी शंका (पक्ष) का समाधान आगे किया जाएगा। यह भगवन्नामगुण, जो सूरि हैं अर्थात् भगवान् के गुणों के महत्व को जानने वाले हैं, वे यज्ञों में गाते हैं। यज्ञों में हरिकृष्ण का ज्ञान होता है, जैसे कहा है कि अश्वमेध यज्ञ के समय 'ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ गायेताम्' इति, वीणाद्वारा दो ब्राह्मण गुणगान करे' अथवा जैसे कहा है कि गुणगान करने के लिए नारद को बुलाया गया उसगान करने से ही सत्र (यज्ञ) की पूर्णता होती है।

---

[1] १—मराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।

[2] २—वायुदेव ने कहा कि स्वर्ग में, भूमि में और अन्तरिक्ष में साढ़े तीन करोड़ जो तीर्थ हैं वे सर्व गंगाजी के जल में हैं।

'विष्णोः कर्माणि पश्यत' इत्यादि श्रुतेश्च, 'विष्णु के कर्मों को देखो' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भगवद्गुणगान आवश्यक है, गुणगान से ही यज्ञ के पूर्णता की सिद्धि होती है, और विशेष गुणगान द्वारा भगवान्, पुरुष के हृदय में कर्णनाड़ी द्वारा स्थित होकर, हृदय में जो अनिष्ट कारिणी, संसार को उत्पन्न करने वाली गृहासक्ति स्थित है उसको नाश करते हैं क्योंकि गुण रूप भगवान् अमृत स्वरूप हैं, भगवान् व उन के गुणनाम सब को प्रिय हैं और वे अनिष्ट मिटाने वाले हैं, यों भी कह दिया तथा उन की यज्ञ रूपता भी कही है, 'कर्णनाड़ी पुरुषस्ययातः' इस वाक्य का आशय यह है कि कर्णनाड़ी में केवल नाम नहीं प्रविष्ट हुआ किन्तु नाम सहित भगवान् भी प्रविष्ट हुए हैं। तब भगवत्सहित प्रविष्ट होने से तीर्थों का प्रविष्ट होना भी सिद्ध ही है ॥११॥

आभास—नन्वेवं सति व्यासः कथमन्यदुक्तवानित्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—यदि यों है तो व्यासजी ने मुख्यतः भगवद्गुणगानों को न कहकर अन्य धर्म क्यों कहे ? इस शंका पर कहते हैं कि—

श्लोक—मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखाऽपि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादैर्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—मुनि कृष्ण (व्यासदेव) जो आप का भी मित्र है, वह भगवद्गुणों को कहने की इच्छा वाला था किन्तु उसने भारत कहा, जिसमें मनुष्यों के ग्राम्य सुखों के अनुवाद द्वारा उनकी बुद्धि हरि की कथा की तरफ आकृस्ट की है ॥१२॥

सुबोधिनी—मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानामिति । स हि भगवद्गुणनेव वक्तुमिच्छुः, तेषामधिकारसिध्यर्थं, भवानिव भगवदाज्ञां प्राप्य भरतवंशोत्पन्नानामेव चरित्रमाह । स हि दौष्यन्तिर्मायामत्यगादिति तद्वंश्यास्तादृशा एव । तेषां श्रवणेन देवमायामोहाभावे भगवद्गुणाः श्रोतुं शक्या भवन्ति । अतोऽनधिकारिणोऽपि भगवद्गुणश्रवणसिध्यर्थम्, **ते सखाऽपि** केवलभगवद्गुणवक्ताऽपि, नाम्ना **कृष्णोऽपि भारतमाह** । यस्मिन् भारते **नृणां** बुद्धिरुपायेनाऽऽकृष्टा भवति । तत्र ते सर्वे ग्राम्यकथास्वेवाऽऽविष्टचित्ताः, प्रवृत्ति श्च स्वरुच्यैव ! अतस्तेषां बुद्धिग्रहणार्थं ग्राम्यकथासु भगवत्कथाः प्रवेशिताः । ताः कथा ग्राम्यत्वेनाऽपि गृहीताः स्वप्रयोजनं कुर्वन्तीति प्रयत्नः सार्थको भवति । तदाह—**नु** निश्चयेनेति ॥१२॥

व्याख्या—भगवान् के गुणों के वर्णन करने की इच्छा वाले व्यासजी थे, किन्तु उन्होंने (व्यासजी ने सोचा कि मनुष्यों को भगवान् के गुण श्रवण करने का अधिकार प्राप्त हो तदर्थ, आपकी तरह भगवदाज्ञा को प्राप्त कर भरत वंश में उत्पन्नों का ही चरित्र कहने लगे। कारण कि

'स हि दौष्यन्तिर्मायाम त्यागादिति तद्वंश्यास्तादृशाएव' दुष्यन्त के पुत्र भरत, माया को पार कर गए एवं उनके वंश में उत्पन्न हुए भी वैसे ही हुए, उनके चरित्र सुनने से देवमाया मोहित न हो सकेगी जिससे भगवद्गुण सुनने में समर्थ (अधिकारी) हो सकेंगे। अतः जो पहले के अनधिकारी हो वे भी ये चरित्र सुन अधिकारी हो जावे तदर्थ भारत में वे अन्यधर्म एवं ऐसे भगवद्भक्त ज्ञानी राजाओं के चरित्र व्यासजी ने भगवदाज्ञा से कहे हैं, आपके सखा होते हुए भी केवल भगवद्गुणों के वक्ता होते हुए भी तथा नाम से कृष्ण होते भी 'भारत' कहा, जिस भारत के श्रवण से मनुष्यों की बुद्धि भगवद्गुणों की तरफ इस उपाय से आकृष्ट होती है।

वहाँ वे सर्व ग्राम्य कथाओं में ही आसक्त चित्त वाले थे, प्रवृत्ति तो अपनी रुचि के अनुसार ही होती है। अतः उनकी बुद्धि को इस तरफ (भगवद्गुणानुवाद श्रवण करने की तरफ) खींचने के लिए ग्राम्यकथाओं द्वारा भगवान् की कथा सुनाई है। ग्राम्य कथाओं में भगवत्कथाऐं डाल कर ही कथाऐं सुनाई तो वे ग्राम्य कथा प्रेम से सुनते थे किन्तु उसमें जो भगवत्कथाऐं भी सुन लेते थे वे कथाऐं अपना कार्य (हृदय में जो अनिष्टकारिणी संसार को उत्पन्न करने वाली गृहासक्ति है उसको नाश करने का कार्य) करती है, जिससे प्रयत्न सफल हो जाता है। 'नु' पद से कहते हैं कि इसमें कोई संशय नहीं है। निश्चय से यह प्रयत्न सफल सार्थक होता है ॥१२॥

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ—उसमे क्या हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में निम्न श्लोक कहा है—

श्लोक—**सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः ।**
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ॥१३॥

श्लोकार्थ—हरि के स्मरण से आनन्दित श्रद्धालु पुरुष की बुद्धि ज्यों बढ़ती जाती है त्यों अन्य विषयों से विरक्ति को पाती है जिससे शीघ्र ही समस्त दुःख समूल नाश हो जाते हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—सा श्रद्दधानस्येति । आस्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा। कथा प्रथमतः स्वकार्यं श्रद्धामेव जनयति। ग्राम्यपदार्थेषूच्चनीचभावे रसानुभवादुत्कृष्टमेव गृह्णति, न निकृष्टम्। अतः सा मतिः श्रद्दधानस्य विवर्द्धमाना, श्रद्धया निरन्तरश्रवणात् विवर्द्धमाना, अन्यत्र कृशरतया प्राप्ते विरक्तिं करोति। उत्तमान्नसम्पत्तौ न हि कश्चित्पिण्याकं भक्षयति। परमेक एव गुणोऽपेक्ष्यते, स्वातन्त्र्यमिति। तदाह—**पुंस इति**। ततोऽपि किमत आह—**हरेः पदानुस्मृतीति**। प्रवृद्धमत्या निरन्तरं भगवत्स्मरण करोति, तदा चित्ते भगवत्स्मरणस्य निरन्तरस्थितौ चित्तं निर्वृतं भवति. तत्र हि भगवानानन्दमयः प्रविष्ट इति। तदा सम्पन्नं सत्तच्चित्तं ततो न निवर्तते। तदा ततोपि,

प्रवृद्धा मतिः **समस्तानां दुःखानामत्ययं** नाशमाशु शीघ्रमव **धत्ते** । अतः परमपुरुषार्थः ससाधनो भारते निर्दिष्टः ।।१३।।

व्याख्या—आस्तिक्य बुद्धि को श्रद्धा कहा जाता है, कथा प्रथम अपने कार्य को (श्रद्धा को) ही उत्पन्न करती है, ग्राम्य पदार्थ सर्व समान नहीं होते हैं कोई उत्तम, कोई अधम होता है, उनके रसों का अनुभव कर जो उत्कृष्ट होता है उसको ही ग्रहण करते हैं। अतः श्रद्धापूर्वक निरन्तर श्रवण करने से बढ़ी हुई वह बुद्धि दूसरे पदार्थ जो खिचड़ी की तरह मिले-जुले होते हैं अर्थात् शुद्ध एक रस नहीं होते हैं उनमे विराम पा जाती है, उत्तम अन्न प्राप्त होने पर कोई भी पुरुष सड़ा गला अन्न नहीं खाता है, किन्तु एक ही गुण स्वतन्त्र्य आवश्यक है, यह आशय 'पुंसः' शब्द से सूचित किया है, उससे भी क्या होगा ? इसपर कहते हैं कि, 'हरेः पदानुस्मृप्रवृद्धमत्यानिरन्तरं' इस प्रकार की बुद्धि बढ़ते हुए पुरुष स्वतन्त्र हो निरन्तर भगवान् का ही स्मरण करता है, तब चित्त में भगवत्समरण की निरन्तर (सदैव) स्थिति होने से चित्त आनन्द मग्न हो जाता है ऐसे चित्त में ही आनन्दमय भगवान् प्रवेश करते हैं, भगवान् को प्राप्त कर लेने से फिर चित्त उपस्थिति से हटता नहीं है। उस स्थिति में स्थिति से ज्यों-ज्यों आनन्द का अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों शोघ्र ही सकल दुःखों का समूल नाश हो जाता है। अतः भारत में साधन सहित परमपुरुषार्थ का वर्णन किया हुआ है ।।१३।।

आभास--एवमप्युपाये कृते येषां चित्तं भगवति न प्रविशति, तानप्यहमनुशोचे–

आभासार्थ—इस प्रकार उपाय किए (बताए) हुए भी जिनका चित्त भगवान् में प्रवेश नहीं करता है उनके लिए ही मैं शोक करता हूँ–यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तान् शोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे हरेःकथायां विमुखानघेन ।**
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषामायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ।।१४।।

श्लोकार्थ--पाप के कारण हरि से विमुखजनों को और जो शोक करने योग्य हैं एवं उनसे भी विशेष शोक करने के योग्य पुरुषों को तथा जो इस विषय को सत्संग के अभाव से जानते ही नहीं हैं, इनके लिए मैं शोक कर रहा हूँ--जो निरर्थकवाद, गति और स्मृति वालों की आयु तो सावधान देव नाश करते हैं ।।१४।।

सुबोधिनी तानिति । भगवान् स्वसेवार्थमिन्द्रियाणि दत्तवान् । कतिपयेभ्यो न दत्तवान्, ते शोच्याः । तेषां चेदिन्द्रियाणि भवेयुः, तद्द्वारा भगवद्भजनं कुर्युरिति । ये पुनर्दानसमये आसु-

राणीन्द्रियाणि प्राप्तवन्तः, ते तां कथां श्रुत्वापि तद्रसानभिज्ञा न भजन्ते, ते शोच्यानामपि शोच्याः अथवा, ये न जानन्त्येव सङ्गाद्यभावात्; तनह शोचे। तेऽपि यदि दैवगत्या भगवत्संमुखा भवेयुः, तथाऽपि न शोच्याः; सर्वथा विमुखाश्चेत् तदा शोच्याः। तथात्वे हेतुः **अघेनेति**। पापेनैव भगवद्वैमुख्यं कार्यते, स्वनाशशङ्कया। तदा कालेऽपि तान्, ग्रसतीत्याह–**क्षिणोतीति**। स हि सर्वज्ञो देवः सर्वान् जानाति। ग्रासार्थं चा**ऽनिमिषः** सावधानः। तुशब्दः पक्षान्तरं व्यावर्त्तयति। भगवद्विमुखस्य देवतान्तरेण वा, मार्गान्तरेण वा, निस्तारोऽस्तीति पक्षः। तेषां सर्वेषामेव आयुर्हरति तस्य तदेककार्यत्वात्। ननु कायवाङ्मनोभिस्ते किञ्चित्समीचीनं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह-**वृथा वादगतिस्मृतीनामिति**। अर्थशून्यास्त्रयोऽपि वादादयः, त एव तेषां रोचन्ते, दिवाभीतानां यथा तेजः। गतिः कायिकी। तस्मात्तेषां सर्वस्वनाशात्, विद्यमानेऽपि पुरुषार्थसाधने पूरुषार्थभावाच्च, शोच्यानामपि शोच्याः ॥१४॥

व्याख्या—भगवान् ने मनुष्य को इन्द्रियां अपनी सेवा के लिए दी हैं किन्तु किसी को नहीं भी दी हैं, जिनको नहीं दी है वे एक प्रकार से शोक करने के योग्य हैं। यदि उनको इन्द्रियाँ दी होती तो उन इन्द्रियों से सेवा करते।

फिर जिनको इन्द्रियों की प्राप्ति के समय आसुरी इन्द्रियाँ मिली वे भगवत्कथा सुनकर भी उसके रस को नहीं जान सकते हैं जिससे वे भजन नहीं करते हैं, वे शोक के योग्यों में भी विशेष शोक करने योग्य हैं अथवा जो सत्संग के अभाव से इस विषय को जानते ही नहीं हैं उनका भी मैं शोक करता हूँ, तात्पर्य यह है कि इन सबके लिए मुझे दुःख होता है कि ये भगवद्विमुख क्यों रहे हैं।

वे भी यदि दैवगति से भगवान् के सम्मुख हो जावें तो वे शोच्य (शोक योग्य) नहीं होवें, जो सर्वदा भगवद्विमुख हैं वे ही शोच्य हैं, ऐसा होने में क्या कारण है? वह बताते हैं कि 'अघेन' पाप ही मनुष्य को भगवद्विमुख कराता है यदि विमुख न करावे तो पाप नाश हो जाता है इसलिए अपनी रक्षा के लिए पाप मनुष्य को भगवद्विमुख कराता है। पाप के कारण जब मनुष्य भगवद्विमुख होता रहता है तब काल भी उसको ग्रसता है, यों 'क्षिणोति' पद से कहा है।

काल सब जानने वाला देव है, अर्थात् कौन पापी (भगवद्विमुख) है उसको भी जानता है अतः वह सदैव ग्रसार्थ सावधान रहता है जो कहते हैं कि यदि भगवान् से विमुख है किन्तु देवान्तरों की सेवा अथवा अन्यमार्ग (तप आदि का पाषण्ड मार्ग) से अपना कार्य (मोक्षादि) सिद्ध कर लेंगे तो उनका कहना सत्य नहीं है। इसको बताने के लिए 'तु' शब्द दिया है, काल उन सबकी आयुष्य का हरण करता हैं, कारण कि उस (काल) का एक ही कार्य आयु हरण करना है।

यदि कहो कि काया, वाणी और मन से, कुछ श्रेष्ठ ही करते होंगे ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं–'वृथा वादगतिस्मृतीनां' उनके वे वादादि तीनों ही पुरुषार्थ हीन हैं, वे ही उनको रुचते हैं जैसे उलूक (उल्लू) को प्रकाश पसन्द नहीं आता है किन्तु अन्धकार प्रिय है।

'गति कायिको' काया की क्रिया इसमे उनके सर्वस्व का नाश होने से पुरुषार्थ साधन (मौजूद) होते हुए भी पुरुषार्थ हो नहीं सकता है, इसलिए ये शोच्यों से भी शोच्य है ।।१४।।

आभास—एवमन्वयव्यतिरेकाभ्या भारततात्पर्यमुक्त्वा, तेन भगवत्कथायां गृहीतचित्तं मां प्रति भगवत्कथैव केवला वक्तव्येत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक मे भारत का तात्पर्य कहकर कहते हैं कि अब भगवत्कथा में आसक्त चित्त वाले मुझे केवल भगवान् की ही कथा सुनाइए यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तदस्य कौषारव ! शर्मदातुर्हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवाऽऽर्त्तबन्धो ! शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ।।१५।।

श्लोकार्थ—हे आर्त्तों (दुःखियों) के बान्धव कौषारव ! जैसे मधुमक्षिका पुष्पों से सार निकालकर देती है वैसे आप भी कथाओं में से सार रूप भगवद्गुण लीला कथाओं को निकालकर मेरे कल्याणार्थ कहिए भगवान् ही तीर्थरूप कीर्त्ति वाले, सुख देने वाले, दुःख हरण करने वाले हैं अतः उनकी कथाऐं भी वैसी ही हैं इसलिए केवल वही कहिए ।।१५।।

सुबोधिनी—तदस्येति । पूर्वप्रश्नास्त्वरोऽज्ञानानिवर्तकाः । अयं तु प्रश्नो ज्ञात एव, प्रत्यहभोजनवदावश्यकोऽपेक्ष्यते । तत्तस्मात्कारणात् । **अस्य** पुरतः परिदृश्यमानस्य भयवतः, स्वभावतया सर्वेभ्यः **शर्मदातुर्दु**:खनिवारकस्य च, कथामेव कथय । ननु हरिकथा लौकिक्या संवलिता, कथं भिन्नतया केवला कथायितुं शक्यते तत्रोपायमाह–**कथासु सारमुद्धृत्येति** । सृष्टिप्रकारा बहवः सन्ति, तत्र भगवत्कर्तृकैव सृष्टिर्वक्तव्या । पालनं बहुविधमस्ति, कालकर्मादिभिः क्रियमाणम्, तत्र भगवक्रियमाणमेव वक्तव्यम् । प्रलयोऽपि तथैव । यस्यां सृष्टौ भगवानेव प्रविश्य नाना भवति, न तु जीवः पुरुषोऽन्यो वा । चरित्रमपि प्रकृत्याद्यसंवलितं वक्तव्यमिति । किं बहुना भक्तेष्टपूरणादुःखनिवारणैकप्रयोजनं केवलभगवच्चरित्रं सर्वतः सारमुद्धृत्यवक्तव्यम् । बुद्धैवाऽत्रोद्धारः । सूक्ष्मोद्धारे दृष्टान्तमाह–**पुष्पेभ्य इवेति** । यथा पुष्प एव मकरन्दोऽन्तस्तिष्ठति, परं तं भ्रमर एव पिबति, मधुमक्षिकाचोद्धृत्य स्थापयति । तथा यद्यपि भ्रमरवत् पीयते, तथापि परोपकारो न भवतीति मधुमक्षिकावदुद्धृत्य वक्तव्यम् । नन्वेतत् क्लेशात्मकं भवति, गीतस्य पुनरुद्गिरणात्

—आर्त्तबन्धो ! इति । लोकोपकारार्थं क्लेशोऽपि सोढव्यः वस्तुतस्तु पान इव निष्कासनेऽपीन्द्रियसंबन्धस्य तुल्यत्वादविकृतत्वाच्च परोपकारे सिद्धे रोमन्थ इव रसास्वादनं भवति । अतो नोऽस्माकं **शिवाय कीर्त्तय** । अधिकारो नास्तीति न मन्तव्यम् । तीर्थरूपा कीर्तिर्यस्येति, तेनैवाऽधिकारोपि भविष्यति ॥१५॥

व्याख्या—पहले जो चार प्रश्न किए थे वे अज्ञान और असत् ज्ञान को मिटाने के लिए किए थे । यह प्रश्न तो जानाहुआ ही है । नित्य भोजन की तरह इसकी आवश्यक अपेक्षा है । इस कारण से जिस प्रभु के सामने दर्शन हो रहे हैं और जो स्वभाव से ही सबका कल्याण करनेवाले हैं तथा दुःख निवारक हैं उनकी ही कथा कहिए ।

केवल उनकी कथा पृथक् कैसे कही जाएगी ? क्योंकि हरि कथा भी लौकिक कथाओं से मिली हुई है, पृथक् केवल हरि कथा कैसे कह सकोगे ? जिसका उपाय बताते हैं कि, सर्व कथाओं में से सार निकालकर कहिए जैसे सृष्टि बहुत प्रकार से बनी है. उनमें से जिस सृष्टि का स्वयं भगवान् ने अपने लिए अपने में से रची है वह सृष्टि प्रकार कहिए, एवं सृष्टि का पालन भी बहुत प्रकार से होता है जैसे काल कर्मादि से पालन होता है, उनमें से भी भगवान् के किए हुए पालन के प्रकार की कथा सुनाइए वैसे ही प्रलय भी उसी प्रकार के कहिए ।

जिस सृष्टि में भगवान् स्वयं प्रवेश कर अनेक होते हैं वह सृष्टि कहिए जिसमें जीव, पुरुष वा अन्य कोई प्रविष्ट होता है, वह सृष्टि न कहिए भगवान् के चरित्र भी वे कहिए जो चरित्र बिना प्रकृति के मिलाप के स्वयं अकेले भगवान् ने किए हैं, बहुत क्या कहें केवल भक्तों की इच्छा पूर्ण करने के लिए और उनके दुःख दूर करने के लिए भगवान् ने जो चरित्र किए हैं वे सर्व कथाओं में से सार रूप से निकालकर कहिए, यहाँ बुद्धि से उद्धार कहा है अर्थात् सर्व कथाओं में से सार निकालने में बुद्धि की आवश्यकता है । उस बुद्धि से काम लेकर सार निकालिए जैसे पुष्प के भीतर ही मकरन्द (रस) रहता है । किन्तु उसका पान भ्रमर ही कर सकता है । मधुमक्षिका तो वह मरकन्द पुष्पों से निकालकर धर देती है यदि वह भी पान कर जावे तो परोपकार न होवे, लोगों को शहद ही न मिले अतः जैसे मधुमक्षिका स्वयं पान न कर अन्यों का भला करती है, वैसे ही आप भी सार निकाल कर परोपकार "मेरा कल्याण" (मेरे साथ लोक कल्याण भी होगा) कीजिए । यों करने में तो क्लेश होता है क्योंकि पहले पान कर फिर उसको निकालना यह क्रिया कष्टवती है, इसके उत्तर में कहते हैं कि आर्त्तबन्धु ! आप दुःखियों के बन्धु हो अर्थात् दुःखियों के दुःखों को सहन न कर उन (दुःखों) को मिटा देते हो अतः लोकोपकारार्थ, कष्ट को सहन कीजिए, वास्तव में तो जैसा पान करने के समय इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है वैसा ही निकालने के समय भी इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है और कथा विकार वाली भी नहीं है । इससे परोपकार सिद्ध होगा अतः भ्रमर की तरह रस का स्वाद भी आपको प्राप्त होगा । अतः हम लोगों के लिए कहिए यों

भी न कहना कि तुम अधिकारी नहीं हो, जिसकी कीर्ति तीर्थ रूप है, वैसे तीर्थ रूप भगवान् की कथा श्रवण से स्वतः अधिकार भी प्राप्त हो जाएगा ।।१५।।

आभास—एव मुद्धृत भगवत्कथां पृष्ट्वा मूलपुरुषस्य द्वितीय चरित्रं वा प्रच्छति—

आभासार्थ—इस प्रकार कथाओं के साररूप भगवत्कथा पूछ कर फिर इस श्लोक से मूल पुरुष प्रभु का अन्य चरित्र भी पूछते हैं—

श्लोक—स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—विश्व के जन्म स्थिति तथा संयम के लिए अवतार धारण कर अपनी शक्तियों के साथ में ये जो–जो विशेष पुरुषार्थ वाले कर्म किए वे मुझे कहिए ।।१६।।

सुबोधिनी—स विश्वेति । यः पूर्वोक्तः स एव कार्यान्तरार्थेऽवतीर्णस्तस्य चरित्रं प्रथमतः पृष्टमिति । अन्ते सर्वस्याऽपि विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे यः कृतावतारः परमपुरुष, व्यष्टीनां वा जन्माद्यर्थे कृतावतारः, नतु कालादीन् आज्ञापयति, किन्तु स्वयमेवाऽऽगत्य करोति यः । ननु भगवत्कृतेऽपि इहेत्याद्यनुभवात् कथं केवलं भगवत्कृतं तद्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–**प्रगृहीतशक्तिरिति** । प्रकर्षेण गृहीताः कालादिशक्तयो येन । ते हि कालादयस्तत्र प्रतीयमाना अपि भगवता नियमिताः, न स्वतः कार्यं कुर्वन्ति । प्रतीतिमात्रं तु न दोषाय । जन्माद्यर्थमेवावतारान् जन्मादीनि करिष्यत्येव । किन्त्वन्येभ्यः पुरुषेभ्यः प्रकर्षेणाऽतिपौरुषाणि यानि चकार । साधारणं तु न करिष्यतीश्वरत्वात् । तानि केवलं मह्यमेव कथय । मया परम्परार्थमप्यन्यस्मै न वक्तव्यमिति भावः ।।१६।।

व्याख्या - जिस भगवान् के लिए पहले कहा (पूछा) वह ही अन्य कार्यों के करने के लिए अवतार धारण करते हैं उनके चरित्र पहले पूछे हैं सकल विश्व के जन्म, स्थिति और संयम के लिए जिस पुरुष ने अन्त में अवतार लिया है अथवा व्यष्टिनां के (पृथक्–पृथक् व्यक्तियों के) जन्मादि के लिए स्वयं अवतार धारण किया है, कालादि को आज्ञा नहीं दी है आपने प्रकट हो सर्व (जन्मादि) किए हैं उनके वे कर्म कहो । भगवान् के किए हुए कर्म में भी इस लोक में कराने आदि का अनुभव होने से, वह कर्म केवल भगवान् ने किए हैं, यह कैसे समझा जाय ? इस शंका के निवारणार्थ कहा है कि 'प्रग्रहीत शक्तिः' आप अपने साथ अपनी कालादि शक्तियाँ लेकर पधारते हैं, वे दीखने पर भी भगवान् ने अपने वश में ही रखी है अतः वे स्वतः कार्य नहीं कर सकती हैं केवल प्रतीति में दोष नहीं है । जन्मादि के लिए हीं अवतार लिया है अतः जन्मादि करेंगे ही किन्तु

आपने जो पुरुषार्थ किए हैं वे अन्य पुरुषों से विशेषतावाले हैं। साधारण कर्म तो नहीं करेंगे क्योंकि ईश्वर हैं, वे केवल मेरे लिए कहिए, मैं परम्परा के वास्ते भी दूसरों को नहीं कहूँगा ॥१६॥

आभास—एतादृशप्रश्नकर्ता नाऽन्यो भविष्यति, न वा प्रश्नव्यतिरेकेण वक्तुं शक्यम्। अतोऽस्याधिकारो निरूपितः अनेनैव प्रश्नेनाऽन्ये सहिता भवन्तीति, पर्यवसानत एक एव प्रश्नः सिद्धः। तस्योत्तरमध्यायद्वयेन वक्ष्यति, अवतारादिपौषप्रयोजनभेदात्। तस्मादेतदध्यायद्वयं स्वत एवाऽनेनोद्धृत्योक्तम्। अनेन चेदतृप्तः प्रश्नान्तरजिज्ञासुर्भविष्यति, तदा पूर्वोक्तानपि विशेषांस्तत्रैव कृशरे पातयित्वा जीवसन्देहनिवृत्त्यर्थं वक्ष्यामीत्यभिप्रायो मैत्रेयस्य, अतः प्रश्नाभिनन्दनं वक्तुम्, तस्याऽयं प्रश्नोऽभिप्रेत इत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार का प्रश्न अन्य कोई नहीं कर सकेगा, बिना प्रश्न किए कहा भी नहीं जाता है अतः ऐसे प्रश्नों के करने से यह दिखाया है कि विदुर अधिकारी है। यह एक ही प्रश्न ऐसा है जिसमें अन्य प्रश्न भी शामिल हैं, अन्त में एक ही प्रश्न सिद्ध होता है उस (प्रश्न) का उत्तर मैत्रेयजी दो अध्यायों में कहेंगे, कारण कि, अवतारों के तथा पुरुषातन के प्रयोजनों में भेद है। इम कारण से मैत्रेयजी ने कथाओं में साररूप से दो अध्याय निकालकर विदुरजी को कहे हैं, यदि इससे उनकी तृप्ति न होगी तो दूसरे प्रश्नों की जिज्ञासा करेंगे, तो पूर्वोक्त विशेषों को (विषयों को) भी कचरे में डालकर जीव सम्बन्धो संशयों को दूर करने वाली कथा कहूँगा मैत्रेय का ऐसा अभिप्राय है, इसलिए प्रश्न का अभिनन्दन करने के वास्ते श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं कि मैत्रेय को विदुर का किया हुआ यह प्रश्न पसन्द है।

श्रीशुकउवाच-श्लोक—एवं स भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः।
पुंसां निःश्रेयसार्थेन तमाह बहुमानयन् ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार पूछे हुए भगवान् के आवेश वाले कौषारवि मुनि पुरुषों के कल्याणार्थ बहुत मानपूर्वक उसको कहने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—एवमिति। मैत्रेये आविष्टो भगवान् वर्त्तत इति स भगवान्। केवलेनैतज्ज्ञातुं वक्तुं चाऽशक्यम्। **क्षत्त्रेति** पूर्ववत्। **कौषारविरिति** पितृनाम्ना विवेकित्वम्। **मुनिरिति** तदुक्तार्थज्ञानानुसन्धाने हेतुः। इदमतिपवित्रं चरित्रं नैकस्मै प्रयोजनाय वक्तव्यमिति **पुंसां निःश्रेयसार्थे**त्युक्तम्। परं तमुद्दिश्यैवेत्याह—**तमाहेति**। बहुमाननेन तस्य हृदये प्रविशतीति, भगवदीयत्वाच्च बहुमाननं कृतवानित्यर्थः ॥१७

व्याख्या श्लोक में 'स भगवान्' मैत्रेय का विशेषण देकर यह सूचित किया है कि मैत्रेय में भगवान् का आवेश है, मैत्रेय इस समय अकेले नहीं हैं अकेले होते तो इसको न जान सकते और न कह सकते 'क्षत्रा' का अर्थ पूर्व की तरह ही है। मैत्रेय न कहकर 'कौषारवि' कहा जिसका आशय यह है कि जैसे पिता विवेकी थे वैसे यह मैत्रेय भी हैं। 'मुनि' पद से यह सूचित किया है कि मैत्रय जो कुछ कहेंगे उस ज्ञान का विदुर अनुसन्धान करता रहेगा। यह अति पवित्र चरित्र एक प्रयोजन के लिए न कहना चहिए इसलिए कहा है कि 'पुंसां निःश्रेयसार्थाय' पुरुषमात्र के कल्याण के लिए कहा है, किन्तु विदुर के उद्देश्य से कहा, यह स्पष्ट करने के लिए 'तमाह' पद दिया है उसको (विदुर को) भी बहुत मानपूर्वक कहा है जिससे उपदेश उसके हृदय में प्रविष्ट हो जावे, बहुमान इसलिए दिया है कि विदुर भगवदीय है ॥१७॥

आभास—तत्र चतुर्भिः सन्माननं करोति—

आभासार्थ—चार श्लोकों से विदुर का सन्मान करते हैं—

कारिका—**पृष्टार्थदेहजीवानां सम्बन्धस्याऽपि सर्वतः।**
ज्ञात्वाकथनबोधाय तदुत्कर्षो निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ जो उत्तर कहा जाए उसका ज्ञान हो इसलिए उसने जो विषय पूछे हैं, उनकी चार श्लोकों में स्पष्टता करते हुए विदुर की उत्कर्षता बताते हैं—

मैत्रेय उवाच—श्लोक—**साधु पृष्टं त्वया साधो ! लोकान् साध्वनुगृह्णता।**
कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजाऽऽत्मनः ॥१८॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा, हे साधु ! लोगों पर पूर्ण अनुग्रह करते हुए, अधोक्षज भगवान् में अन्तःकरण वाले आपने लोक में अपनी कीर्ति के निस्तारार्थ उत्तम प्रश्न किया है ॥१८॥

सुबोधिनी—साधु पृष्टमिति। बहव एव पृच्छन्ति, कोप्येवं न पृच्छतीति त्वयेत्युक्तम्। न च तवायं प्रश्न काकतालीयः किन्तु ज्ञात्वैव कृतः, उत्तरमपि ज्ञायते, तर्हि प्रश्नो व्यर्थ इत्याशङ्क्याऽऽह—**लोकान् साध्वनुगृह्णतेति।** लोकोद्धारार्थमेव ज्ञात्वाऽपि त्वया प्रश्नः कृतः। अनेनाऽस्मिन् शास्त्रे परोपकारो मुख्यं साधनमित्युक्तं भवति। तवाऽप्येकमानुषङ्गिकं फल सिद्धतोत्याह—**कीर्तिं वितन्वता लोक इति।** अस्मिन् लोके आत्मनः कीर्तिं विस्तारयता भवता पृष्टम्। ननुस्वकीर्त्यर्थं करणमनुचित्तं चेत्तत्राऽऽह—**अधोक्षजात्मन इति।** अधोक्षज एवाऽन्तःकरणे यस्य। देवालयप्रतिष्ठया

देव एव प्रतिष्ठितो भवतीति । परम्पराश्रयणं तु साक्षाद्भगवत इन्द्रियागोचरत्वात् । तदाहाऽधोक्षजेति । एवमस्य प्रश्नस्य स्वपरहितत्वात् साधुत्वम् ॥१८॥

व्याख्या—बहुत से लोग पूछते ही हैं किन्तु जैसा उत्तम सुन्दर प्रश्न तुमने किया है वैसा किसी ने नहीं किया है, तुमने जो यह प्रश्न किया है वह काकतालीय न्याय की तरह अचानक नहीं है किन्तु जानकर ही किया है । उत्तर भी जानते हो, यदि यों है तो प्रश्न करना ही व्यर्थ है । यदि ऐसी शंका होवे तो, उस पर कहते हैं कि 'लोकान् साध्यनुगृह्णतेति' लोगों के ऊपर पूर्ण अनुग्रहार्थ ही प्रश्न किया है न कि अपने स्वार्थ के लिए, इस प्रकार कहने का भाव यह है कि इस शास्त्र से परोपकार ही मुख्य साधन कहा गया है, यों परोपकार कार्य करने से तुम्हें भी आनुषंगिक फल मिल जाएगा । इसमे क्या फल मिलेगा ? इस पर कहते हैं कि 'कीर्ति वितन्वता लोके' इस लोकोपकारार्थ ऐसे प्रश्न करने के कारण तुम्हारी कीर्ति का लोक में विस्तार होगा यदि यों है तो अपनी कीर्ति के लिए यों करना उचित नहीं है, इसका उत्तर देते हैं कि 'अध्योक्षजात्मनः' तुम्हारे अन्तःकरण में इन्द्रियातीत भगवान् विराजते हैं, वह इसलिए ही विराजते हैं कि आप सर्व लोकोपकारी हैं, देवालय की प्रतिष्ठा से देव की ही प्रतिष्ठा होती है भगवान् इन्द्रियों से अगोचर हैं, (दीखते नहीं हैं) अतः उनके साक्षात् दर्शन नहीं होते हैं इसलिए परम्पराश्रय ही उपाय है, जिससे तुम्हारा यह (प्रश्न) अपने और अन्य लोगों का हितकर होने से श्रेय है ॥१८॥

आभास—देहोत्कर्षमाह शूद्रायोनिदोषाभावाय—

आभासार्थ—विदुर में शूद्रयोनि के दोष का अभाव है अतः उनके देव का उत्कर्ष इस श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे ।**
गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वा या हरिरीश्वरः ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे संयमी ! वादरायण के वीर्य से उत्पन्न तुम में इस तरह का प्रश्न किया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, कारण कि तुमने हरि ईश्वर को अनन्यभाव से अपना लिया है ॥१९॥

सुबोधिनी—**नैतच्चित्रमिति क्षेत्रमेके प्रशंसन्ति बोजमन्ये मनीषिणः ।** तयोर्बीजमेवोत्तम् । **यद्बीजस्य प्रभावेन तिर्यञ्च ऋषयोऽभवन् ।** अतो वादरायणस्य वीर्यजे त्वयि चित्रं न, ताहशवक्तुः पुत्रः वक्तुमेव समर्थो भवति, किंपुनः प्रश्ने । अत एव चित्राभावः । तस्य बीजस्य फलमपि जातमित्याह-**गृहीत** इति । अनेन प्रामादिकबीजत्वशङ्का निवारिता । नह्यन्यथोत्पन्नो भगवद्भक्तो

भवति, भगतत्कर्तृकसर्गत्वात्। अत एवाऽनन्यभावेन केवलभगवद्भावेन भगवान् गृहीतः। स हि दुःखमपि शमयति योन्यादिसर्वदोषानपि दूरीकरोति, यत ईश्वरः। करणे हेतुः–हरिरिति। दीनदयालुत्वात्तथा करोतीत्यर्थः॥१९॥

व्याख्या—कितने ही क्षेत्र (माता) की प्रशंसा करते हैं। अन्य जो ज्ञानवान हैं वे बीज (पिता) की प्रशंसा करते हैं। दोनों में से बीज ही उत्तम है अर्थात् क्षेत्र (माता) से पिता विशेष है, कारण कि पुत्र में पिता के वीर्य का ही प्रभाव पड़ता है जैसे बीज के प्रभाव से क्षुद्र जीव भी ऋषि बन गए हैं. अतः वादरायण के वीर्य से उत्पन्न तेरे में वैसा होना कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसे वक्ता के पुत्र (कथा) कहने में भी समर्थ, शक्तिवान् होता है फिर प्रश्न करने में समर्थ हो तो कौनसी बड़ी बात है, इसलिए आश्चर्य का अभाव है, उस बीज का (वादरायण के वीर्य का) फल भी तुमको मिला है, इसमे प्रमाद (भूल) से प्राप्त बीज है इस शंका का भी निवारण हो गया है जो विपरीत रीति से उत्पन्न अर्थात् बिना रीति से उत्पन्न होता है वह भगवद्भक्त नहीं होता है क्योंकि ऐसी सृष्टि भगवान् की करी हुई होती है. इस कारण से ही तुमने अनन्यभाव से अर्थात् केवल भगवद्भाव से ही भगवान् को ग्रहण किया है (अपनाया है) वह भगवान् दुःखों का भी नाश करते हैं और योनि आदि के दोषों को भी दूर करते हैं। क्योंकि ईश्वर (सर्व समर्थ) हैं, यों कहने का हेतु यह है कि आप 'हरि' हैं दुःखों को हरण करने वाले हैं, कारण कि दीन दयालु हैं जिससे यों करते हैं।१९।

आभास––जीवोत्कर्षमाह––

आभासार्थ—निम्न श्लोक से विदुर के जीव का उत्कर्ष दिखाते हैं—

श्लोक––**माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजासंयमनो यमः।**
भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥२०॥

श्लोकार्थ––माण्डव्य के शाप से सत्यवती के पुत्र (व्यास) से, क्षत्रिय की भोग पत्नी में उत्पन्न हुए आप प्रजा का संयम करने वाले **भगवान्** यम हैं ॥२०॥

सुबोधिनी **माण्डव्यशापादिति**। स हि धर्मराज माण्डव्यशापाद्व्यासद्वारा क्षत्रियभोगपत्न्यां जातः। माण्डव्यो हि यमेनाऽज्ञानाद्दण्डितः। कस्यचिद्दास्ये चौरैः सह माण्डव्यनामा ऋषिस्तपः कुर्वाणः शूले आरोपितः। स हि यमं प्रष्टुं गतः। तेन पृष्टो यम आह 'त्वया बाल्ये शकुन्तायाः पृष्ठे इषीका प्रवेशितेति'। ततः क्रुद्धो मुनिः 'बाल्येन कृतं पित्रोर्भवतीति, अज्ञानात्त्वयाऽहं दण्डितइति, शूद्रो भव' इति शशाप। तस्य देवस्य शापसंबन्धे हेतुमाह–**प्रजासंयमन इति**। प्रजाः संयमयति मारयतीति तथा। अतस्तेन कर्मणा देवस्याऽपि पापं लग्नम्। ततो दैत्येषु जन्म मा

भवत्विति सर्वथा दैत्यसंबन्धरहिते भगवति व्यासे आविष्टः, शापसार्थकत्वाय तस्यैव भ्रातुः क्षेत्रे, भोगपत्न्यां भुजिष्यायां शूद्रायाम्। व्यासस्यापि सङ्क्रमणयोग्यार्थं सत्यवतीसुत इत्युक्तम्। उपरिचरवसोर्बीजान्मत्स्ययोनौ जाता, कैवर्ताधिपेन दाशेन परिपालिता दाशकन्या सत्यवती, तस्याः पुत्रात् व्यासाज्जात इति ।।२०।।

व्याख्या—वह धर्मराज ही माण्डव्य के शाप से व्यास द्वारा क्षत्रिय की भोग पत्नि में से जो उत्पन्न हुआ वह तू विदुर है, माण्डव्य ने यम (धर्मराज) को क्यों शाप दिया? इस शंका का निवारण करते हैं कि यम ने अज्ञान से माण्डव्य को दण्ड दिया था।

वह कथा कहते हैं—किसी राजा के राज्य में तपस्या करते हुए माण्डव्य ऋषि को चोरों के साथ शूली पर चढ़ाया था। वह माण्डव्य यम से पूछने गया कि मुझे शूली पर क्यों चढ़ाया गया। इस पर यम ने कहा कि तुमने बचपन में पक्षी की पीठ में सुई लगाई थी इस कारण से शूली पर चढ़ाए गए। इससे क्रुद्ध मुनि ने यम को कहा कि, अल्प अवस्था में किए हुए पाप कर्म का फल माता-पिता को लगता है, तूने अज्ञान से यह दण्ड दिलाया है, अतः तू शूद्र हो जाएगा, यों यम को माण्डव्य ने शाप दिया, जब राज्य में शूली पर चढ़ाया गया तब यम को शाप क्यों दिया? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यमः प्रजा संयमनः' प्रजा का संयम तथा मारने का कार्य यम का है जिससे पूर्णतया संयम न रखा जिससे माण्डव्य को शूली पर चढ़ाना पड़ा अतः राज्य के कर्म का पाप देव को भी लगा। मेरा (यम का) जन्म दैत्यों में न हो इसलिए सर्व प्रकार दैत्यभाव-रहित भगवान् व्यास में प्रविष्ठ हुआ, शाप की सार्थकता के लिए उनके ही भ्राता के क्षेत्र जो भोगपत्नी शूद्रा थी उसमें से व्यास के वीर्य से उत्पन्न हुआ, व्यासजी का नाम यहाँ 'सत्यवतीसुतः' कहा जिसका आशय है कि अपरिचरवसु के बीज से माछियों के यहाँ उत्पन्न सत्यवती से उत्पन्न व्यास जी भो सङ्क्रमण कार्य कराने के योग्य थे। इस सत्यवती को पाला भी माछियों के राजा ने था, उस सत्यवती के पुत्र व्यास से (विदुर) उत्पन्न हुआ है अतः जीव का उत्कर्ष है ।।२०।।

आभास—भगवदीयत्वेन प्रकृतोपयोगिमहत्त्वमाह——

आभामार्थ—जीव के उत्कर्षत्व के कारण विदुर भगवदीय हैं अतः प्रकृत विषय में उनके उपयोग का महत्त्व है-यों इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक——**भवान् भगवतो नित्यं संमतः सानुगस्य च ।**
यज्ज्ञानदेशाय च मामादिशद्भगवान् व्रजन् ।।२१।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने जाते समय जिसके लिए ज्ञानोपदेश देने की मुझे आज्ञा की, वे तुम भगवान् तथा उनके सेवकों को नित्य प्रिय हो ।।२१।।

सुबोधिनी—भवानिति । नित्यं भवान् भगवत्संमतः । सेवकसहितस्याऽपि, वैष्णवानामपि सुसंमतस्तदाह–**सानुगस्येति** । सर्वदा संमतिस्तदानीं स्मरणादवसीयते । सेवका अपि भीष्मादयः **'विदुरेण महात्मना'** इति वाक्यात् भवन्तं मन्यन्ते । तत्र हेतुमाह–**यज्ज्ञानदेशायेति** यस्य तव ज्ञानोपदेशार्थं भगवान् **मामादिशत्** । **चकारात्**स्वयमपि स्मरणेनोपदिष्टवान् । **भगवानिति** स्मरणे हेतुभावः । **व्रजन्निति** तस्याऽऽवश्यकत्वम् । देवरात्सुतोत्पत्तिर्विहितेति व्यासस्य भ्रातृपत्नीगमने न दोषः । तस्य रागसंबन्धाभावः प्रयोजक इत्यग्निहोत्रादिवत् कलौ निषिद्धः ॥२१॥

व्याख्या—तुम सदैव भगवान् को प्रिय हो, केवल भगवान् को नहीं किन्तु उनके सेवकों (वैष्णवों) को भी प्रिय हो, यह बताने के लिए 'सानुगस्य' पद दिया है, जब आप पधार रहे थे उस समय तुमको याद किया जिससे सूचित होता है कि भगवान् को तुम्हारा सदैव के लिए स्मरण है, सेवक भी साधारण नहीं बल्कि भीष्मादि जैसे प्रसिद्ध उत्तम पक्ष के जो हैं उनको आप प्रिय हैं, इसका प्रमाण (सबूत) 'विदुरेण महात्मना' पद कहने से दिया है ।

तुम भगवान् को सदा प्रिय हो इसमें हेतु यह है कि 'यज्ञान देशाय भगवान् मामादिशत्' जिस तेरे लिए मुझे भगवान् ने आज्ञा दी है कि इसको ज्ञान का उपदेश देना । 'च' पद देने का भाव यह है कि स्वयं भगवान् ने स्वतः स्मरण कर मुझे उपदेश देने की आज्ञा दी है । 'भगवान्' पद यह स्मरण होने में हेतु है, 'व्रजन्' जाते हुए कहा जिसका तात्पर्य यह है कि इस (विदुर) को ज्ञान देना आवश्यक है अर्थात् भूल नहीं जाना, देवर से पुत्र उत्पन्न करना शास्त्र में कहा है । इसलिए व्यास को भ्राता की पत्नी से संयोग करने में कोई दोष (पाप) नहीं लगा, कारण कि इस कर्म में आसक्ति का सम्बन्ध नहीं है अर्थात् राग (आसक्ति) हो तो पाप लगे कलियुग में अग्नि होत्र की तरह देवरोत्पत्ति का निषेध है । कारण कि कलियुग में अनासक्ति (अराग) हो नहीं सकेगा ॥२१॥

आभास—एवं तस्याऽभिनन्दनमुक्त्वा तत्पृष्टां भगवल्लीलामाह—

आभासार्थ—इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकों में विदुर का अभिनन्दन कर अब उसको पूछी हुई भगवल्लीला उसको सुनाते हैं—

श्लोक—**अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः ।**
विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥२२॥

श्लोकार्थ—अब योगमाया के सम्बन्ध वाली भगवल्लीला जिसमें भगवान् ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस तरह की है वह क्रम पूर्वक तुमको कहूँगा ॥२२॥

सुबोधिनी—अथेति। लोकप्रसिद्धेर्भिन्नः प्रकार इत्यथशब्दः। केवलभगवन्निर्भितचरित्रं वेद एव, तथापि तुभ्यं तद्वक्तव्यं न भवतीति, योगमायोपबृंहिता भगवल्लीला वदिष्यामीत्याह—**ते भगवल्लोलाइति**। **योगमाया** साधनभूता पूर्वोक्ता भगवन्माया, तया **उपबृंहिताः** स्पृष्टाः; केवलास्तव योग्या न भवन्तीति। तत्राऽप्यन्तिमप्रश्ने परिहार उच्यत इत्याह–**विश्वस्य स्थित्युद्भवान्ता** एवाऽर्थाः प्रयोजनानि यासां ताः। आनुपूर्व्येण, क्रमेण वर्णयिष्यामि। भगवल्लीलाया मनोऽनुरञ्जकत्वेन स्नेहजनकत्वम्। योगमायोपबृंहितत्वेनाऽऽश्चर्यरूपत्वादभ्दुतत्वम्। बुद्धन्तरविस्मरणायैतदुच्यते, विश्वोत्पत्त्यादिकं तु माहात्म्यज्ञानार्थम् आनुपूर्वीं तु बोधसौकर्याय। एवं सति भक्तिर्भवति। अनेन भगवत्कर्तृकता लीलयैवेति सर्वदोषाभावः। पुरुषोत्तमत्वाय च लीलोपायेन संबद्धेति न साऽपगच्छति। तस्या न कर्तृत्वे प्रवेशः, किन्तु सहभावमात्रम्, अन्यथा सर्ववशीकरणं न स्यात्। विश्वस्य स्वरूपं वक्तव्यम्। तदेकं भगवद्रूपम्। तासां लीलानां तदुत्पत्त्यादयो विषयाः सिद्धा एव। मया परं कीर्त्यन्ते, न तु कविवत् वर्ण्यन्त इत्यानुपूर्वी निरूपिता ॥२२॥

व्याख्या—'अथ' शब्द कहने का भावार्थ है कि मैं तुमको जो लीलाएें बताऊँगा उसका लोक में जो प्रकार प्रसिद्ध है उससे पृथक् प्रकार है, केवल भगवान् ने जो लीलाएें की हैं, उनका प्रकार वेद में ही है, तो भी वह तुझे नहीं कहूँगा। तुमको वे लीलाएें सुनाऊँगा जो भगवान् ने योगमाया को कारण बनाकर लौकिक की तरह मानादि लीलाएें की हैं, वेद में कही हुई लीलाएें जो भगवान् ने केवल स्व स्वरूप से ही की हैं वे तेरे योग्य नहीं हैं। वहाँ[1] अन्तिम प्रश्न की शंका का समाधान कर दिया है। यों कहते हैं। विश्व की स्थिति, उत्पत्ति और लय ही प्रयोजन जिनका ऐसे विशेषण द्वारा बताई है वह क्रम से कहूँगा।

भगवान् की लीलाएें मन को प्रसन्न कर स्नेह को उत्पन्न करती हैं उन लीलाओं में योगमाया के सम्बन्ध से आश्चर्य वाली होने से अद्भुतपन् आता है, भगवान् से एवं उनकी लीलाओं से बुद्धि अन्य किसी में न जावे इसलिए यह कहा गया है। विश्व की उत्पत्ति आदि तो माहात्म्य ज्ञानार्थ कहे हैं, क्रम-पूर्वक कहने का कारण यह है कि सरलता से उनका ज्ञान हो जावे, एवं स्मरण में रहे यों होने पर ही भगवान् में भक्ति होती है। भगवान् ने विश्व की स्थिति आदि की है वह लीला से ही की है इसलिए उसमें कोई दोष नहीं है। भगवान् के नित्य पुरुषोत्तमत्व का ज्ञान सदैव रहे तदर्थ लीला के उपाय से यह सृष्टि भगवान् से संबद्ध है अतः वह लीला भगवान् से पृथक् हो नहीं सकती है। अतः योगमाया स्वयं विश्व की कर्ता नहीं, किन्तु केवल करण रूप हो साथ में रहती है, यदि साथ में न रहे तो सबका वशीकरण न हो सके, अब विश्व का स्वरूप कहते

---

[1] १—१६ श्लोक में।

हैं, वह (विश्व) भगवान् का ही एक रूप है उस विश्व की उत्पत्ति आदि पदार्थ तो योगमाया के सम्बन्ध वाली लीलाओं से हो हुए हैं। ये विषय तो सिद्ध ही हैं, मैं तो केवल कहने वाला हूँ, कवि की तरह उनका वर्णन नहीं किया जाता है परन्तु आदि से अन्त तक क्रम-पूर्वक कहता हूँ ॥२२॥

आभास—एवं प्रतिज्ञाय श्रोतारं सावधानं विधाय विश्वस्योत्पत्तिनिरूपणार्थं पूर्वावस्थामाह—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रतिज्ञा कर और श्रौता को सावधान कर, विश्व की उत्पत्ति निरूपण करने के लिए सृष्टि से पहले की अवस्था का निरूपण करते हैं –

श्लोक—भगवानेक आसेदमग्र मत्माऽऽत्मनां विभुः ।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥२३॥

श्लोकार्थ—सृष्टि से पहले आत्माओं का आत्मा सर्व समर्थ भगवान् एक ही था, आत्मा के धर्म पीछे उनमें प्रविष्ट हुए, किन्तु अनेक बुद्धि के कारण आत्मरूप होने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—भगवानेक आसेदमिति। इदं सर्वं जगत्पूर्वं भगवानेवाऽऽस। शुद्धा तु भगवल्लीला भगवानेवैवंप्रकारेण भवतीति। योगमायोपबृंहिता तुइदं जगदेकं रूपं भगवतः प्रवाहानादिप्रकारेण आविर्भावतिरोभावयुक्तमनाद्यनन्तं वर्तते। तिरोभावे तद्भगवानेव भवति, यथा लवणं जलमेव भवति। तथापि न तयोः स्वरूपैक्यम्, तस्य मिष्टो रसः, अस्य च लवणः। परं विवेचयितुं न शक्यत इति भगवत्त्वम्। तदाह-**इदं** जगत्' **अग्रे** सृष्टेः पूर्वम्, **भगवानेवाऽऽस**। अनन्तमूर्तौ च भगवति न तस्य तिरोभावः, किन्त्वेकस्मिन्नेव। **आसेति** तत्र न भगवत्कर्त्तव्यता काचित्। विलीनं लवणं जले स्वत एव भवति, ततः पृथक्करणं तु महत् कठिनं भगवदेकसाध्यम्। अत इदं भगवच्चरित्रमुच्यते। स्वयं तथाभवने भिन्नतयोत्पादने वा योगिवन्मणिवन्न कोऽपि प्रयासः। ननु जीवानां तदानीन्तनानां चिद्रूपत्वात् कथमेकस्मिन् लयः? तत्राऽऽह-**आत्माऽऽत्मनामिति**। स हि भगवान् सर्वेषां जीवानामात्मा, समष्टिवन्मूलभूतश्चिद्रूप एव। तत्रैवाऽस्य सत्प्रधानस्य लयः, अन्यथा काठिन्यमेव न स्यात्। सति लये सदेव स्यात्। अमुक्तजीवानां प्रलयाज्जीवाश्रितं जगत्तत्रैव लीनम्। तस्योद्गमनसामर्थ्यायाऽऽह-**विभुरिति**। स हि सर्वसमर्थः प्रथमतोजीवान् स्वस्मिन् संपाद्य तत्रैव जगल्लयं कारितवान्। अनेन तस्याऽस्पर्शो निरूपितः। एवमैक्येऽप्यस्पर्शो विभुत्वहेतुः। ननु जीवानामिच्छादिधर्माणां विद्यमानत्वात् कथमेकभावेन स्थितिस्तत्राऽऽह-**आत्मेच्छानुगतौसत्याम्**। आत्मनां या इच्छा सर्व एव धर्मास्तेषामपि तत्रैवाऽनुगतिः। भगवतो वा इच्छाया यदा तत्र जगत्यनुगतिः, तदा तल्लीनमिति पूर्वप्रलये हेतुर्निरूपितः। तदा-

ऽयं भगवानात्मेयेव व्यपदिश्यते। आत्मत्वेन वा तस्मिन्निछा। तेन वा तदात्मभूतं जातम्। तदा भगवान् सृष्ट्यन्तरवदेकरसो न जातः, किन्तु नानामतिभिरेव उपलक्षितः। अथवा सर्वैरेव मतिभिरेक एवोपलक्षितः। यथाऽन्योन्यविजाती धानिसहस्रं लवणान्येकस्मिन् जले परिच्छिन्ने प्रक्षिप्तानि, एकरसत्वमप्यापन्नानि नानामतिभिरुपलक्षितमेकं भवति। यथा केनचित्पृष्टः सैन्धवादि क्वेति सर्वार्थे जलमेव निर्दिशति। आत्मेच्छायाः सर्वत्रानुगमादात्मत्वं वा। तेनैकदेशे एव भगवति विश्वस्य लय उक्तो भवति। **'एकांशेन स्थितो जगत्'** इति भगवद्वाक्यं तत्परमेव। आविर्भावेऽपि तथा॥२३॥

व्याख्या--यह समग्र जगत् उत्पत्ति से पूर्व भगवान् ही था, शुद्ध भगवान् की लीला तो तब होती है जब भगवान् स्वयं ही इस प्रकार के (जगद्रूप) होते हैं, दूसरी लीला योगमाया के सम्बन्ध वाली है, जिसमें वह जगत् भगवान् का एक प्रकार का रूप है, वह प्रवाह रूप से आविर्भाव तिरोभाव युक्त होने के कारण से अनादि और अनन्त है, जब जगत भगवान् की तिरोभाव शक्ति से मगवान् में तिरोहित होता है तब यह (जगत्) भगवान् ही हो जाता है, जैसे नमक जल में पड़ने पर जल में लीन होके जल रूप हो जाता है। तब नमक का रूप देखने में नहीं आता है केवल जल ही दीखता है, इतना होते हुए भी उन दोनों के स्वरूपों का ऐक्य नहीं होता है क्योंकि उसका (जल का) रस मीठा है और नमक खारा रस है, किन्तु उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिए उसका भी भगवत्पना कहा जाता है। इसलिए कहा जाता है कि यह जगत् सृष्टि से पहले भगवान् ही था। अनन्तमूर्ति भगवान् में उसका (जगत् का) तिरोभाव नहीं होता है बल्कि एक ही रूप में होता है 'आस' पद देने का भाव यह है कि यह जगत् भगवान् के एक रूप में जो लय हुआ उसमें भगवान् ने कुछ भी क्रिया नहीं की है वह (जगत्) स्वयं स्वतः भगवान् में लय हो जाता है जैसे जल में नमक स्वयं स्वतः लय हो (गल) जाता है। जल को इसलिए कुछ भी क्रिया करनी नहीं पड़ती है, उस (भगवान्) से उस (जगत्) को पृथक करना महान् कठिन है, उसको तो भगवान् ही कर सकते हैं अतः इसको पुरुषार्थवाला भगवच्चरित्र कहा जाता है, जैसे किसी कार्य करने में योगी वा मणि को कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पडता है वैसे ही जगत् का रूप आप (भगवान्) बन जावे अथवा अपने से पृथक् कर उसको उत्पत्ति करे। इसमें भगवान् को भी कुछ श्रम नहीं होता है।

उस समय के जीव चिद्रूप थे तो एक में ही कैसे लय हुए होंगे? इसका उत्तर देते हैं कि 'आत्माऽऽत्पना' वही भगवान् सब जीवों की आत्मा हैं, समष्टि की तरह मूलभूत चिद्रूप ही है, उसमें ही इस सत्प्रधान का पृथक करने में लय होता है, यदि उसमें लय न होता तो पृथक करण में प्रयास करना पड़ता, अब पृथक में कठिनाई नहीं है, सत् में लय होने से 'सत्' ही हुए, जिन जीवों की मुक्ति नहीं हुई है उनका जब प्रलय होता है तब जीवाश्रित जगत् भगवान् में लीन होता है 'विभुः'

नाम देने का आशय है कि भगवान् में जगत् उत्पन्न करने की सामर्थ्य वह ही सर्व सामर्थ्य पहले जीवों का अपने में सम्पादन कर वहाँ ही फिर जगत् का लय कराया, यों कहने से यह बताया है कि जगत् का सम्बन्ध भगवान् से नहीं हुआ यह सर्व लीला जगत् से अस्पर्श रहते हुए भगवान् ने की है । इस प्रकार ऐक्य होते हुए भी अस्पर्श रहने की सामर्थ्य भगवान् में है, कारण कि 'विभु' हैं, जबकि जीवों में इच्छा आदि धर्म मौजूद है तब फिर भगवान् में एक भाव से स्थिति कैसे बनेगी ? इस शंका का निवारण करते हैं कि 'आत्मेच्छानुगतौ सत्याम्' पश्चात् जीवों में आत्मा के धर्म भी प्रविष्ट होते हैं अथवा जब भगवान् की इच्छा होती है तब उनकी जगत् में गति (लय) होती है, तब वह लीन हुआ यों पूर्व प्रलय में कारण कहा है तब यह भगवान् आत्मा ही है यों कहे जाते हैं अथवा आत्मापन से ही उनमें ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है । इस कारण से ही वह (जगत्) आत्मरूप हुआ । तब भगवान् अन्य सृष्टि की तरह एक रस न रहे किन्तु पृथक्-पृथक् बुद्धियों के कारण नाना-विधि दाखता हैं अथवा जैसे जुदी-जुदी जाति के लवण के टुकड़े जल में डाले जावे तो वे नाना भांति वाले भी उस जल में नमक के टुकड़े एक ही दीखते हैं, उस समय यदि कोई पूछे कि नानाविधि सैन्धव के टुकड़े कहाँ हैं । तब उनके बदले में जाना जाता है कि सर्व जल ही हैं । इसी तरह सर्व मतियों से एक ही भगवान् हैं यों जाना जाता है अथवा भगवान् की इच्छा (धर्म) सब में जाने से सब में आत्मापन ही है यों भान होता है, इससे यह निश्चय होता है कि भगवान् के एक देश में ही विश्व का लय होता है यों कहा गया है 'एकांशेन स्थितोजगत्' यह भगवद् वाक्य भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है, आविर्भाव में भी यों ही समझना चाहिए, अर्थात् सृष्टि भी भगवान् के प्रकाश में स्थित है ॥२३॥

आभास—एवं पूर्वस्थितिमुक्त्वा प्रथमतो जीवानामुद्गममाह—

आभासार्थ—इस प्रकार पूर्व स्थिति बताकर पहले जीवों की उत्पत्ति कहते हैं—

श्लोक—**स वा एष तदा द्रष्टा नाऽपश्यद्दृश्यमेकराट् ।**
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरलुप्तदृक् ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह ही **भगवान्** तब **द्रष्टा** हुए, एक ही प्रकाशक आपने कुछ भी दृश्य **न** देखा, कारण कि उस समय अन्य शक्तियाँ प्रकट न हुई थी, किन्तु ज्ञान शक्ति लोप न हुई थी अतः अपने असत् जैसा समझने लगा ॥२४॥

सुबोधिनी—स वा एष इति । स एव भगवान्, स्वस्मिन् विद्यमानसर्वः । **वै** निश्चयेन । **एष** देवदत्तादिरूपेण प्रतीयमानो जीवो जातः । तदा जीवो भूत्वा तिरोभावप्रकारेणाऽऽविर्भूतः, पूर्व-

संस्कारेण तदा द्रष्टा जातः। अह द्रष्टेति पूर्वावस्थां स्मृतवान्। तदा द्रष्टृत्वनिर्वाहार्थं दृश्यालोचने क्रियमाणे दृश्यं नाऽपश्यत्। यतः स एक एव सर्वजीवानामात्मभूतो निर्गत इत्येक एव राजते। यद्यप्यात्मानमपि द्रष्टुं शन्कोति, तथापि पूर्ववासनया बहिर्मुख एव निर्गत इति स्वातिरिक्तमेव दृश्यमालोचयन्, तदभावे आत्मानवेवाऽ**सन्तं मेने**। **इवे**त्यर्द्धासत्त्वम्। आत्मांशो वर्त्तते, वेद्यांशो नास्तीत्यौपाधिकधर्माणामुपाध्यभावे धर्माभावः। अतो द्रष्टा आत्मानमद्रष्टारमेव मेने। ननु पूर्वं दृश्यस्श विद्यमात्वात्, सदृश्यस्य तस्य लयात्, स्वाभिर्भावे दृश्यमपि कुतो नाऽविर्भूतमिति चेत्तत्राऽऽह–**सुप्तशक्तिरिति**। सुप्ताः शक्तयो यस्य। ये प्रपञ्चोद्बोधकास्ते नाऽद्याप्युपस्थिता इति। एवं तर्हि ज्ञानशक्तिरप्यनुद्भूता स्यात्, तत्ततः कुतो मेने आत्मानमसन्तमिति तत्राऽऽह–**अलुप्तदृगिति**। अलुप्ता दृक् यस्य। अस्य ज्ञानशक्तिः पूर्वमपि न लुप्ता, लोपं न प्राप्ता, आत्मवदेव स्थिता, आत्माऽऽविर्भाव एव आविर्भूतेत्यर्थः। स यदा आत्मानं असन्तमिव मेने।२४।

व्याख्या—जिस के भीतर सर्व विद्यमान है वह ही भगवान् निश्चय से देवदत्त आदि रूप से प्रतीति में आने वाला 'जीव' बना, तब जीव बनकर तिरोभाव प्रकार[1] से प्रकट हुआ, प्रथम संस्कारों के कारण द्रष्टा बना, मैं द्रष्टा हूं यों पूर्वावस्था का वर्णन करने लगा जिससे यह इच्छा उत्पन्न हुई कि देखूँ, दृश्य पदार्थ ढूँढ़ने लगा किन्तु दृश्य देख न सका। कारण कि वह एक ही सर्व जीवों का आत्मारूप अकेले ही प्रकट हुए थे, हालांकि आदमी को भी देख सकते थे तो भी पूर्ववासना के कारण वहिर्मुख बनकर प्रकटा था। इसलिए अपने अतिरिक्त ही दृश्य को ढूँढ़ने लगा, दूसरा कोई नहीं था अपने को ही असत् जैसा मानने लगा था 'इव' पद से यह सूचित किया है कि पूर्ण असत् नहीं माना किन्तु अर्द्ध असत् समझने लगा। अर्द्ध असत् मानने का भाव यह है कि 'आत्मा का अंश है' जानने योग्य अंश नहीं है। जब उपाधि नहीं होती है तब औपाधिक धर्मों में धर्माभाव रहता है, अतः द्रष्टा ने अपने को अद्रष्टा ही माना।

यदि कहो कि प्रथम जब दृश्य विद्यमान था और सद्रश्य (दृश्य सहित) ही उसका लय हुआ था तब अपने आविर्भाव के समय द्रश्य भी क्यों आविर्भूत न हुआ? इस शंका के निवाराणार्थ कहते हैं कि 'सुप्तशक्ति' जो शक्तियाँ प्रयत्न की उद्बोधक थीं, वे अब तक प्रकट नहीं हुई हैं तब तो ज्ञान शक्ति भी प्रकट न होनी चाहिए, यदि ज्ञान शक्ति प्रकट न हो तो अपने को असत् जैसा कैसे माना इस शंका के निवारणार्थ कहते हैं कि 'अलुत्पदृक्' आपकी ज्ञान शक्ति का कभी भी लोप नहीं होता है, आत्मा (स्वरूप) की तरह स्थित रहती है क्योंकि आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है, अतः आत्मा

---

[1] १—'पराभिध्यानात् तत् तिरोदितम्' ३-२-५ ब्रह्म सूत्र में कहे हुए प्रकार से ऐश्वर्यादि के तिरोभाव होने से।

प्रकट होती है तब वह भी साथ में प्रकट हो जाती है इसलिए उस आत्मा ने अपने को असत् जैसा माना ।।२४।।

आभास—एतान्येवात्मासत्त्वज्ञानानि एकीभूतानि मायारूपेण जातानीत्याह—

आभासार्थ—आत्मा को असत् मनाने वाले ज्ञान इकट्ठे हो मायारूप बन गए जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ।**
माया नाम महाभाग ! ययेदं निर्ममे विभुः ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे महाभाग ! वह सत् असत् रूपा माया शक्ति उस पूर्ण रीति से देखनेवाले की ही है, जिससे सर्व प्रथम ईश्वर ने यह जगत् रचा है ।।२५।।

सुबोधिनी—सा वा एतस्येति । यदात्मानमन्यथा ज्ञातवान् एषैव माया । सा पूवोक्ता प्रसिद्धा मोहिका सदसदात्मिका । सदसद्रूप आत्मा यस्याः । स्वभावतः सन्, अन्यथाङ्गीकारादसन्, एतादृश एवाऽऽत्मा तस्याः । अयमेवात्मा, सा धर्मरूपा । तस्या वा स्नरूपमात्मैव समर्पयति । त्रितयात्मकं वा स्वरूपम् । तस्या धर्मत्वमाह—**एतस्य संद्रष्टुः शक्तिरिति । एतस्य** जीवस्य सम्यग्द्रष्टुः । अर्थादालोचनेनात्मानमेव पश्यतीति । शक्तिरुत्तरकार्ये सामर्थ्यम् । तस्या नाम मायेति ! मया सह वर्तत इति प्रत्ययस्याऽलुक्, सुबन्तप्रतिरूपको वाऽयं निपातः; ततोऽण् प्रत्ययः, सवर्णदीर्घ न ङीप् । **महाभागेति** संबोधनम् । अयमर्थो दुर्ज्ञेय इति, तज्ज्ञाने महद्भाग्यमिति सूचितम् । **ययेदं निर्ममे विभुरिति । यया** मायया चिच्छक्तिरूपया अनुद्धृतसारया इदं जगदेव निर्ममे यस्य भावरूपा शक्तिस्तस्य कर्तृत्वं व्यावर्त्तयति **विभुरिति** । भगवत्कर्तृक एव जगति जोवार्थत्वात, तन्माययैव भगवान् जगत्कृतवान् । येन केनाऽपि जगत्करणात्, **विभुरिति** ।।२५।।

व्याख्या—अपने को जिस कारण से असत माना वह ही माया है. प्रथम कही हुई सत् असत् रूपा मोह में डालने वाली जो शक्ति है वही माया है, जिसकी आत्मा सत् एवं असत् रूप है, स्वभाव से वह सत्‌रूप है अन्यथा उसका अङ्गीकार करने के कारण वह असत् है, उस (माया) की आत्मा (स्वरूप) वैसी ही है यह (द्रष्टा) ही आत्मा है, वह (माया) धर्म (गुण) रूप है, उसका स्वरूप आत्मा ही देती हैं अथवा उसका (माया का) स्वरूप त्रितयात्मक तीन तरह का है (आत्मा, सत्व और ज्ञान रूप है) वह माया गुण रूप है क्योंकि इस द्रष्टा जीव की शक्ति है, दृश्य पदार्थ का ढूँढ़ते हुए अपने को ही देखती है 'शक्ति' शब्द का तात्पर्य है, उत्तर (होने वाले) कार्य को करने की सामर्थ्य धारण करती है, अतः उसका नाम (माया) है 'माया सह वर्तत इतिमाया'

मेरे साथ रहती है वह माया, इस माया पद मे ‘म्’ में जो ‘अ’ है वह व्याकरणानुसार दीर्घ हुआ है जिससे माया से माया पद बना है।

हे महाभाग्यशाली ! सम्बोधन से यह सूचित किया है कि यह अर्थ समझना अतिशय दुरूह (कठिन) है किन्तु उसका ज्ञान आपको हुआ है अतः आप महाभाग्यवान् हैं ‘ययेदं निर्ममेविभुः’ सर्व समर्थ प्रभु ने सार को न खेंचकर जीव की उस चित्त शक्तिरूप माया से यह जगत् बनाया है, ‘विभु’ पद से उस भावरूप शक्ति के कर्तव्य का निषेध करते हैं सारांश यह है कि जगत् का कर्तापन भगवान् में ही है। (उस भगवान् ने) जीव स्वरूप के लिए ही जगत् की रचना की है, अतः उसकी चित्त शक्तिरूप माया को करण कर भगवान् ने जगत् रचा है, भगवान् किसी भी साधन से जगत् रचने में समर्थ है क्योंकि ‘विभु’ सर्व समर्थ है ॥२५॥

आभास—या (त्वया) सामान्यतः सृष्टिरुक्ता, तां विस्तरेण निरूपयति—

आभसार्थ—जिस सृष्टि को आपने सामान्य रूप से कहा उसको विस्तार से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**कालावृत्त्य तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः।**
पुरुषेणाऽऽत्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जिनको, ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं हो सकता है ऐसे वीर्य वाले भगवान् ने काल की क्रिया से गुण वाली हुई माया में अपने अंशरूप पुरुष द्वारा वीर्य का आघात किया ॥२६॥

सुबोधिनी—**कालवृत्त्येति** । तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न वा जीवः कर्ता, न वा अन्येन करोतीति । कालस्य वृत्तिः, कालस्तत्र समागत्य परिवृतः, प्रदक्षिणं कृतवान् । कालपरावृत्त्या कृत्वा मायायां गुणक्षोभोजातः । कालेन व्यापृता क्षुब्धगुणा जातेत्यर्थः । तदा सा व्यामुग्धा सती पुरुष इव कामान्धा जाता, तदा भगवानिन्द्रियातीत एव तस्या अदृश्य एव भूत्वा तस्या भर्तृयोग्यमात्मनः सकाशात् एकं पुरुषं निर्ममे । स हि भर्तृयोग्यो भगवदंशः पुरुषोत्तमात्मक एव । तस्य स्वतः प्रवृत्त्यभावात्, तं निमित्तीकृत्य भगवान् स्वयमेव तदन्तर्यामी भूत्वा, तस्यांवीर्यमाधत्त,यतः स्वयमेव वीर्यवान् । पुरूषजीवयो र्वीर्यभावात्, कोशाभावात्, शरीर एव तयोः कोशसम्भवात् । अतः पुरुषं निमित्तीकृत्य भगवत्स्थापितं वीर्यं मयायां स्थितं जीवप्रवेशात् महत्तत्वमभवत् ।२६।

१—सृष्टि की उत्पत्ति से पहले जब भगवान् के सिवाय कोई नहीं था उस समय चित्त शक्ति से कही हुई माया सदसदात्मिका भगवान् में थी—‘प्रकाश’

व्याख्या—'तु' शब्द से उस पक्ष को जिसमें जीव को जगत्कर्ता कहा गया है असत् कहते हैं, क्योंकि जीव जगत् का कर्ता नहीं है और न दूसरे किसी से जगत् की रचना हुई है, अब जगत् रचना किस प्रकार हुई वह प्रकार बताते हैं कि, काल ने आकर माया की प्रदक्षिणा की जिससे माया गुणक्षोभ हुआ अर्थात् काल से व्यपृत होने से उसके गुणों में क्षुब्धता उत्पन्न हुई जिससे वह मोह को प्राप्त हो जाने से पुरुष की तरह कामान्ध बन गई, भगवान् इन्द्रियातीत ही रहते हुए उससे अदृश्य होकर अपने में से उनने एक पुरुष उत्पन्न किया जो उस (माया) के पति होने योग्य था। वह भर्ता के योग्य भगवदंश पुरुषोत्तम रूप ही था, वह पुरुष स्वतः प्रवृत्ति करने में समर्थ नहीं होने से, उसको निमित्त बनाकर भगवान् स्वयं (खुद) ही उसके अन्तर्यामी हो गए फिर उस (माया) में वीर्य डाला, क्योंकि स्वयं ही वीर्यवान् हैं, पुरुष और जीव दोनों में वीर्य का अभाव है कारण कि 'कोश' शरीर में ही होते हैं, अतः पुरुष को निमित्त मात्र बनाकर भगवत्स्थापित वीर्य माया में स्थित हुआ, फिर जब उसमें जीव का प्रवेश हुआ तब वह महत्तत्व बना ॥२६॥

श्लोक--**ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् ।**
विज्ञानात्माऽऽत्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥२७॥

श्लोकार्थ--अनन्तर काल की प्रेरणा वालो उस माया से महत्तत्व उत्पन्न हुआ जो महत्तत्व अपनी देह स्थित जगत् के अन्धकार को नाश कर उसको प्रकाश देने वाला विज्ञानात्मा है ॥२७॥

सुबोधिनी—तस्यामेव स्थितस्य बीजस्य महत्तत्वता नाऽस्तीति, प्रसवार्थं कालक्षोभात् प्रसवकर्त्र्यास्तस्या महत्तत्त्वमभवदित्याह-**अव्यक्तात्कालचोदितादिति**। जीवधर्मादेव भगवदंशाच्च सर्वं चेतनं कार्यं जायते। सङ्घातोत्पत्तिरेवाऽत्राऽभीष्टा, सङ्घात एव च लीयते। स हि विज्ञानात्मा जातः **महत्तत्वमिति। महदिति** तस्य नाम। **तत्त्वमिति** भगवतः कारणभावः। तस्य जनने गुणभावेऽपि पश्चात्प्रधानभावात्, तत्त्वतां परित्यज्य महान् पुंस्त्वेन निर्दिष्टः। स हि विविधज्ञानात्मा जातः तद्द्वारैव च सर्वं जगज्जातम्, क्रमसृष्टिपक्षत्वात्। तदा तस्य विज्ञानेन स्वस्मिन् विद्यमानं जगत प्रकाशयुक्तं जातम्। तद्गतमावरणं च तमो दूरीभूतम्, तदाह-**स विज्ञानात्मा आत्मदेहस्थमेव विश्वं प्रकाशयस्तमोनुदो जातइति**। स जगज्जननार्थं भगवता सृष्ट इति पुनस्तूष्णीं तस्मिन् स्थिते कार्यार्थं भगवता स दृष्टः ॥२७॥

व्याख्या - उस माया में स्थित बीज, महत्तत्व नहीं है, किन्तु जब काल के क्षोभ से उस माया का प्रसव हुआ तब वह महत्तत्व बना, चेतन कार्य की उत्पत्ति जीव के धर्म (गुण) से

और भगवदंश से ही होती है। यहाँ संघात की उत्पत्ति ही इच्छित है और लय भी संघात में होती है। वह ही विज्ञानात्मा हुआ। 'महत्तत्वमिति' 'महत्' उसका नाम है 'तत्वं' कहने से बताया है कि इसमें भगवान् का कारण भाव है। इसलिये यह 'तत्व', 'महत्तत्व' कहा जाता है। वह उत्पन्न होने से गुणभाव वाला होने पर भी अनन्तर प्रधान भाव से तत्वपन का त्याग करता है जिससे वह महान् पुरुषत्व से निर्दिष्ट हुआ है। वह हो विविधज्ञानों की आत्मा (स्वरूप) बना है। क्रम से जो सृष्टि होने का पक्ष (मत) है। उसमें यों माना जाता है उसके द्वाराही सकल जगत् उत्पन्न हुआ है। तब उसके विज्ञान से अपने में विद्यमान जगत् प्रकाश से युक्त (प्रकाशित) हुआ। उस जगत् का आवरण (पर्दा) जो तम् (अन्धकार) था वह नाश हो गया। इसलिए कहा है कि 'स विज्ञानात्मा आत्मदेहस्थमेव विश्वं प्रकाशयंस्तमोनुदो जात इति' उसको (विज्ञानात्मा को) जगत् को उत्पत्ति के लिए भगवान् ने रचा है इसलिए फिर उसके मौन स्थित होते ही कार्य के लिए भगवान् से वह देखा गया ॥२७॥

श्लोक——**सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः ।**
आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्याऽस्य सिसृक्षया ॥२८॥

श्लोकार्थ——भगवान् से देखे हुए उस अंश, गुण, काल और आत्मा रूप ने विश्वात्मा होने से इस विश्व की रचना करने में अपने को संलग्न किया ॥२८॥

सुबोधिनी—कालोऽपि समागतः, कारण**गुणा** अपि समागताः सत्त्वादयः, **अंशोऽपि** पुरुषः समागतः, **आत्मा** जीवोऽपि। एते यस्मिम्, तादृशो भूत्वा चतुर्मूर्तिर्भगवदृष्ट **आत्मानं विविधमकरोत्**, व्यापाराविष्टं कृतवान्। यतोऽयं **विश्वास्याऽ**प्यात्मा, अन्यथा स्वात्मा न व्यापृतः स्यात्। तथा किमर्थमकरोदित्याशङ्क्याऽऽह–**विश्वस्याऽस्य सिसृक्षयेति**। स हि पूर्वं ब्रह्मविदिव स्थितः, पश्चात्कार्यव्यापृतो जात इत्यर्थः ॥२८॥

व्याख्या—इस विज्ञानात्मा में काल, सत्वादि कारण के गुण, अंश पुरुष और आत्मा (जीव) भी प्रकट हुए, जिससे वह भगवान् से देखा हुआ वह चतुर्मूर्ति अपने को विविध करने लगा अर्थात् कार्य करने में अपने को संलग्न किया क्योंकि यह विश्व की आत्मा है, यदि आत्मा न होती तो अपनी आत्मा कार्य में निमग्न नहीं होती। यों किस कारण से किया ? इसका उत्तर देते हैं कि इस विश्व के रचने की इच्छा से किया वह ब्रह्मवेत्ता की तरह साक्षी रूप से स्थित था, बाद में कार्य में संलग्न हुआ ॥२८॥

श्लोक——**महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहन्तत्त्वं व्यजायत ।**
कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ॥२९॥

श्लोकार्थ––वह महत्तत्व जब कार्य में विशेष निमग्न होने लगा तब उससे (महत्तत्व से) कार्य, कारण और कर्त्तारूप, भूत इन्द्रियाँ तथामनोमय अहंकार उत्पन्न हुआ ॥२९॥

सुबोधिनी–महत्तत्त्वादिति। स्वातन्त्र्याभावात् पुनः कारणभावमेवाऽऽपन्न इति महत्तत्वादित्युक्तम् स यदा **विशेषेण कुर्वाणो** जातः, कार्यमात्मार्थं कर्तुं मैच्छत्, तदा तस्माद**हन्तत्त्वमजायत**। तस्य त्रैविध्यं पूर्ववन्निरूपयति–**कार्य्यकारणेति**, कार्यमधिभूतम्, कारणमध्यात्मम्, कर्ता अधिदैवम्। स त्रितयात्मा भूत्वा भूतेन्द्रियमनोमयो जातः। भूतानामिन्द्रियाणां मनसश्च जनक स्त्रिविधोऽहङ्कारो जात इत्यर्थः ॥२९॥

व्याख्या – इस श्लोक में विज्ञानात्मा न कहकर 'महत्तत्वात्' कहा जिसका कारण कहते हैं कि 'स्वातन्त्र्याभावात्' स्वतन्त्र न होने के कारण से फिर वह पहली महत्तत्व की (कारणकी) स्थिति से प्राप्त हुआ। वह (महत्तत्व) जब कार्य करने में विशेषरीति से लगा अर्थात् अपने लिए कार्य करने की इच्छा की तब उस (महत्तत्व से) अहन्तत्व उत्पन्न हुआ। उस (अहन्तत्व) का तीन प्रकार पूर्व की तरह निरूपण करते हैं १-कार्य (अधिभूत) २-कारण (अध्यात्म) कर्त्ता (अधिदैव) वह तीन रूप आत्मा होकर भूत, इन्द्रियाँ और मनोमय बनकर अहन्तत्व हुआ अर्थात् भूत, इन्द्रियाँ और मन को उत्पन्न करने वाला अहंकार हुआ ॥२९॥

आभास––तान् भेदान् गणयति––

आभासार्थ––निम्न श्लोक से उन भेदों को गिनाते हैं––

श्लोक––**वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।**
अहन्तत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ॥
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥३०॥

श्लोकार्थ––अहंकार तीन तरह का है १-वैकारिक २-तैजस ३-तामस। जब अहंकार कार्य में विशेष मग्न होता है तब वैकारिक अहंकार से मन तथा वैकारिक देव उत्पन्न हुए, जो देवता पदार्थों का भान (ज्ञान) कराते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—वैकारिक इति। **वैकारिकः** सात्त्विकः, **तैजसो** राजसः, **तामसो** भू हेतुः। सात्त्विकात्सृष्टिमाह–**अहन्तत्त्वादिति**। '**वैकारिकाश्च ये देवाः**' इति गन्धर्वादिदेवव्युदासः। सात्त्विकाऽहङ्कारकार्यभूता ये देवाः तेऽपि सात्त्विका जाता इत्यर्थः। तेषां भिन्नत्वे प्रमाण-

माह-**अर्थाभिव्यञ्जनं यत इति** । देवाधिष्ठानव्यतिरेकेण, केवलादिन्द्रियात् शब्दज्ञानादिकं न भवतीति, सामर्थ्यं देवानामेव । इन्द्रियाणामेव तथात्वं कल्प्येतं शास्त्रं स्यात् । यथा सिद्धमत्रोच्यत इति देवाधीनैव विषयप्रकाशनशक्तिः ॥३०॥

व्याख्या—वैकारिक अहंकार सात्विक है, तैजस अहंकार राजस है, भूतों का जो कारण रूप अहंकार है वह तामस अहंकार है, सात्विक अहंकार से जो सृष्टि हुई उस को अब कहते हैं, सात्विक अहंकार से मन और वैकारिक (सात्विक) देव हुए । 'वैकारिकाश्च ये देवाः' यों कहने से यह सूचित किया है कि ये देव गन्धर्वादि देवों से पृथक हैं, सात्विक अहंकार के कार्य रूप जो देव हैं वे भी सात्विक उत्पन्न हुए गन्धर्वादिसे देव भिन्न हैं जिसमें प्रमाण देते हैं कि 'अर्थाभिव्यञ्जनं यतः' जो देव लोक में पदार्थों का ज्ञान कराते हैं वे ये हैं जो सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुए हैं । गन्धर्वादि देव पदार्थों का ज्ञान नहीं कराते हैं, यदि इन्द्रियों में वे देव न रहते तो केवल इन्द्रियाँ शब्दादि (सुनने देखने आदि) का ज्ञान नहीं कर सकती थी ज्ञान कराने का सामर्थ्य इन देवों में ही है । यदि शास्त्र कल्पित हो तो इन्द्रियाँ भी कल्पित हो, जैसे शास्त्रों द्वारा निर्णय हुआ है वह ही यहाँ कहा गया है, विषयों को प्रकाश करने की शक्ति देवों के अधीन ही है ॥३०॥

आभास—राजसात् सृष्टिमाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोक में राजस अहंकार से उत्पन्न सृष्टि का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।**
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥३१॥

श्लोकार्थ—ज्ञान और कर्म वाली इन्द्रियां तैजस (राजसाहङ्कार) से उत्पन्न होने से तैजस (राजस) हैं, तामस भूत और सूक्ष्मों का कारण है, जिससे आत्मा (भगवान्) का ज्ञान कराने वाला आकाश उत्पन्न हुआ है ॥३१॥

सुबोधिनी—तैजसानीन्द्रियाण्येवेते । एवकारः सात्विकत्वतामसत्वव्युदासार्थः । ज्ञानं सत्त्वप्रधानम्, क्रिया तमः प्रधानेति । उभयविधानामिन्द्रियाणां राजसत्वे युक्तिः पूर्वमुक्तैव । **चकाराद्बुद्धिप्राणौ** । तामसात्सृष्टिमाह **तामस इति** । भूतसूक्ष्माणामादिः शब्दतन्मात्रम् । तस्य आदित्वेनैव ग्रहणात्तामस इति पुल्लिङ्गनिर्देशः, अहङ्कारविशेषणं वा । तदा भूतानां सूक्ष्माणां च स आदिरिति, सामान्यतस्तस्यकार्यंनिर्दिष्टम् । यतोऽहङ्कारात् शब्दतन्मात्राद्वा **खमाकाशमात्मनो** भगवतो **लिङ्गम्**, बोधकं, शरीरं वा । आकाशवद्व्यापको **निर्लेपश्चे**ति । यथा वा आकाशे अभ्रतमः**प्रकाशा भवन्ति**, न भवन्ति च, तथापि न तैराकाशो **लिप्यते**, एवमात्मा, **'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति श्रुतेश्च** । [illegible] तथा कथनम् । अन्यथा तामससृष्टिरधमेति न वक्तव्या स्यात् ॥३१॥

व्याख्या—कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां ये दोनों राजस हैं ये दोनों प्रकार की इन्द्रियां राजस हैं जिसकी युक्ति पूर्व में द्वितीय स्कन्ध में कही हुई है 'एव' शब्द देने का भाव (आशय) यह है कि दोनों इन्द्रियों में न सात्विकता है और न तामसत्व है, यों तो ज्ञान सत्व प्रधान है और कर्म (क्रिया) तामसप्रधान हैं, किन्तु द्वितीय स्कन्ध में युक्ति पूर्वक इन्द्रियों का राजसत्व सिद्ध किया है। 'च' शब्द से बुद्धि और प्राण कहे हैं।

अब श्लोक के उत्तरार्ध में तामस से उत्पन्न सृष्टि कहते हैं भूत सूक्ष्मों की आदि (कारण) अर्थात् शब्द तन्मात्राऐं कारण हैं तामस होने से 'आदि' शब्द पुल्लिङ्ग दिया है अथवा अहंकार का विशेषण है। विशेषण मानने पर तब भूतों के सूक्ष्म का सामान्यत: कारण शब्द तन्मात्राओं को माना गया है क्योंकि अहंकार से वा शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न आकाश, आत्मा (भगवान्) का बोधक (ज्ञान कराने वाला) है अथवा शरीर है, कारण यह है कि भगवान् आकाश की तरह ही व्यापक तथा निर्लेप है एवं जैसे आकाश में मेघों से अन्धकार और फिर प्रकाश होता है किन्तु आकाश उनसे लिप्त नहीं होता है इस प्रकार आत्मा (भगवान्) भी किसी से लिप्त नहीं होता है 'आकाश शरीरं ब्रह्म' इस श्रुत्यनुसार ब्रह्म का शरीर आकाश है। अत: जब शरीर ही लिप्त नहीं होता है तब आत्मा कैसे लिप्त होगा ? इस सृष्टि के ऐसे प्रकार महात्म्य के लिए कहा है, अन्यथा तामस सृष्टि अधमा है यों कहना चाहिए।।३१।।

आभास–आकाशाद्वायो: सृष्टिमाह

आभासार्थ—आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई जिसका इस श्लोक में वर्णन करते हैं–

श्लोक—**कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः।**
नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—जब भगवान् की दृष्टि आकाश पर पड़ी, तब काल, माया तथा जीव के सम्बन्ध से वह (आकाश) कार्य करने लगा, जिससे आकाश में से स्पर्श उत्पन्न हुआ, स्पर्श जब कार्य करने लगा तब उससे वायु उत्पन्न हुई ।।३२।।

सुबोधिनी— कालेति। पूर्ववत् कालो गुणक्षोभकः, माया गुणरूपा, अंशः पुरुषो जीवोऽपि वा। अत्राऽपि पूर्ववद्भगवद्दृष्टिः। **भगवद्वीक्षितं नभो जातमिति** भिन्नम्। कार्योन्मुखात्सृष्टिमाह **नभस इति। नभसः** सकाशादन **सृतमुत्पन्नं स्पर्शं** स्पर्शतन्मात्रम्। तत्पुनः **विकुर्वदनिलं निर्ममे** ।।३२।।

व्याख्या—पूर्व की तरह गुणों में क्षोभ कराने वाले काल, माया तथा अंश (पुरुष या जीव) हैं इनके सम्बन्ध से आकाश कार्य में लगा तब आकाश से उत्पन्न स्पर्श तन्मात्रा ने वायु उत्पन्न की आकाश को भगवान् ने देखा, यह वाक्य-पृथक है ।।३२।।

श्लोक—**अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः।**
ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—आकाश से भी बहुत बलवान् वायु ने कार्य, निरत हो, रूप तन्मात्रा पैदा की उस तन्मात्रा ने लोक का लोचन तेज पैदा किया ॥३३॥

सुबोधिनी—एवमनिलोऽपि नभसा स्वकारणेन कृत्वा उरुबलान्वितो जातः। तदा रूपतन्मात्र ससर्ज। ततो ज्योतिर्जातम्। **लोकस्य लोचनमिति** माहात्म्यं तस्य। आलोकाभावे लोकोऽस्मदादिर्विद्यमानेऽपि चक्षुषि न पश्येत। अतो लोकस्य लोचनमित्युक्तम ॥३३॥

व्याख्या—इस प्रकार वायु भी अपने कारण आकाश से विशेष बलवान हुआ तब उसने रूप तन्मात्रा को उत्पन्न किया, उस (रूप तन्मात्रा) से लोक का लोचन रूप 'तेज' पैदा हुआ, यदि तेज न होता तो आंख होते हुए भी विद्यमान पदार्थों को लोक देख नही सकते इसलिए तेज को लोचन कहा है ॥३३॥

श्लोक—**अनिलेनाऽन्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम्।**
आधत्ताऽम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥३४॥

श्लोकार्थ—जब वायु से मिले हुए तेज पर भगवान् की दृष्टि पड़ी तब वह भी कार्य करने लगा, उस (तेज) ने काल, माया और जीव के संयोग से 'जल' पैदा किया ॥३४॥

सुबोधिनी—**अनिलेनाऽन्वितं ज्योतिरिति।** पूर्ववत्कारणाद्बलसिद्धिः। **परेण** भगवता **वीक्षितं** सत्। **अम्भो रसमयमिति**। रसतन्मात्रं जलात् पृथक् न प्रतीयत इति श्लिष्टमेवोत्पन्नमित्युक्तम्। अत्राऽपि वा क्रमः कल्पनीयः; प्रथमतो **रस**तन्मात्रम्, पश्चादम्भ इति। **कालमायांशयोगत इति**। ज्योतिरित्यस्य साधनम्। एवमग्रेऽपि॥३४॥

व्याख्या—वायु सहित तेज कहने का भावार्थ यह है कि इसने भी ऊपर कहे हुए के समान अपने कारण से बल प्राप्त किया, भगवान् के देखते ही उसने रस तन्मात्रा उत्पन्न किया जिसने जल को पैदा किया किन्तु इस तन्मात्रा जल से पृथक देखने में नहीं आती है जिससे दोनों की उत्पत्ति साथ में कही है, किन्तु यहां भी जैसे अन्यों की उत्पत्ति हुई है वैसा क्रम समझना चाहिए पहले रस तन्मात्रा अनन्तर उससे जल उत्पन्न हुआ। काल, माया और अंश (पुरुष या जीव) के संयोग से ही उत्पत्ति पूर्ववत् हुई, ज्योति (तेज) इसका साधन है यों आगे भी समझ लेना ॥३४॥

श्लोक—**ज्योतिषाम्भोऽनुसंस्पृष्टं विकुर्वद् ब्रह्मवीक्षितम्।**
महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥३५॥

श्लोकार्थ—जब जल पर ब्रह्म की दृष्टि पड़ी तथा तेज से सामर्थ्य मिली तब जल कार्य करने लगा, कार्य करते हुए काल माया और जीव से सम्बन्ध होने पर गन्ध के गुण वाली पृथ्वी पैदा की ॥३५॥

सुबोधिनी—ज्योतिषाऽनुसंस्पृष्टमम्भो दत्तसामर्थ्यं जलम्। **गन्धगुणां महीमिति** पूर्ववत्। प्रथमतो गन्धतन्मात्रम्, तस्मान्मही ।।३५।।

व्याख्या—तेज से प्राप्त सामर्थ्य वाले जल ने गन्ध गुण वाली पृथ्वी उत्पन्न की पहले गन्ध तन्मात्रा पश्चात् उससे पृथ्वी पैदा हुई ।।३५।।

आभास—तेषां धर्मानाह—

आभासार्थ—निम्न श्लोकों से उनके गुण कहते हैं—

श्लोक—**भूतानां नभआदीनां यद्भाव्यावरावरम् ।**
तेषां परानुसंसर्गाद्यथासङ्ख्यं गुणान् विदुः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—आकाश आदि भूतो में क्रमशः एक के पीछे दूसरे गुण उत्पन्न होते हैं क्योंकि उनको कारण का सम्बन्ध है, जिससे उनमें संख्यानुसार गुण हैं यों विद्वान जानते हैं ।।३६।।

सुबोधिनी—भूतानामिति। नभ आदिर्येषाम्, वायुप्रभृतीनां मध्ये यदेवोत्तरोत्तरमग्रे भाव्यं तदेवाऽधिकगुणम्। तत्र हेतुः—**तेषां परानुसंसर्गादिति** । कारणानुसंसर्गात् । **यथासङ्ख्यं** सङ्ख्यामनतिक्रम्य। आकाशस्यैको गुणः शब्दः, वायोर्द्वयं शब्दस्पर्शौ, तेजसस्त्रयः शब्दस्पर्शरूपाणि, अम्भसश्चत्वारः शब्दस्पर्शरूपरसाः, पृथिव्याअाऽधिको गन्धः। **विदुरिति** प्रमाणम् ।।३६।।

व्याख्या—जिन वायु आदि भूतों की आदि आकाश है उनमें जो कुछ उत्तरोत्तर आगे होने वाला वह ही प्रत्येक में अधिक गुण है। जिसका कारण यह है कि उनको अपने-अपने कारण से सम्बन्ध है, अतः संख्यानुसार सब अपने-अपने गुण को प्रकट करते हैं जैसे प्रथम आकाश हैं तो वह एक गुण शब्द' को पैदा करता है दूसरा वायु है तो वह दो गुण 'शब्द' और 'स्पर्श' को उत्पन्न करती है। तीसरा तेज है तो वह तीन गुण 'शब्द' 'स्पर्श' और 'रूप' पैदा करता है, चौथा जल है तो वह चार गुण, 'शब्द', 'स्पर्श', 'रूप', और 'रस' पैदा करता है तथा पांचवां पृथ्वी है तो वह पांच गुण प्रकट 'शब्द', 'स्पर्श', 'रूप', 'रस' और 'गन्ध' को पैदा करती है, सारांश यह है कि प्रत्येक भूत के इस प्रकार के गुणों को तत्वज्ञ जानते हैं ।।३६।।

आभास—एतेषां तत्त्वानां चेतनानां कार्योपयिकरूपसिद्धयर्थं भगवद्भजनमाह—

आभासार्थ—चेतन प्राणिओं को कार्य करने में जो हमारा रूप उपयोगी हो वह रूप हमें प्राप्त हो तदर्थ वे तत्व भगवान् का भजन करने लगे यों निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः ।**
नानात्वात् स्वक्रियाऽनीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयो विभुम् ।। ३७ ।।

श्लोकार्थ—काल, माया और जीव के लिङ्ग (चिन्ह) वाले ये देव, विष्णु की कलाएं है, पृथक–पृथक होने के कारण अपने ब्रह्माण्ड निर्माण के कार्य में आसक्त थे। अतः हाथों की अंजलि बाँध प्रणाम करते हुए प्रभु को प्रार्थना करने लगे ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी – एते देवा इति। देवेन्द्रियाणामैक्यविवक्षायां दशत्वम्, भूततन्मात्राणि च दश, महदहङ्कारमनांसि त्रीणि, एवं प्राकृतिकस्त्रयोविंशतिको गणः। सामान्यनिर्देशात् कालमायादयोऽपि स्तोत्रं कुर्वन्तीति ज्ञायते। सर्वे देवा **विष्णोर्भगवतः कलाः**, धर्मा इत्यर्थः। **कालमायांशाः** लिङ्गानि वर्तन्ते येषामिति, हेतुसहिताअपि गुणत्रयकार्यरूपत्वात् भिन्नभावं प्राप्ताः। अतो नानात्वाद्भिन्नभावात् **स्वक्रियायां** ब्रह्माण्डनिर्माणे **अनीशाः** सन्तः। त्रिविधत्वादमेलनम्। प्रत्येकं त्वसमर्थाः। अतो **विभुं** समर्थम्, **प्राञ्जलयो भूत्वा प्रोचुः**, स्तुतिं कृतवन्त इत्यर्थः। एतेषां देहवचनादिकं विचार्यते। तत्त्वान्येतानि भगवद्भावभूतानि। भावो नाम सर्वान् प्रति सामान्यकारणता। भगवतः कारणता पञ्चविंशतिप्रकारेण जातेत्युक्तं भवति। भावप्राधान्येन धर्मिणोऽप्राधान्यात्, सच्चिदानन्दरूपाण्यपि तिरोहितरूपाणि भवन्ति। यावद्धर्ममात्रप्राकट्यं भगवता क्रियते तादृशा एव भवन्ति। भगवतः सर्वतः पाणिपादत्वात् यदंशा एते प्रतिरूपतया निर्गताः, तत्र सर्वत्रैव कारणप्रतिरूपहस्तपादादीनां विद्यमानत्वात्, तैरेव तेषां व्यवहारः। शरीरं तूत्पन्नमेव। अभिमानिनोऽपि चिदंशा देवविशेषाः। अत एव नाऽधिकबलत्वम्। वेदे तु तत्त्वस्थानीयः प्रजापतिरेवेति, समष्ट्यनन्तरमेव तत्रत्यानां पदार्थानां निरूप्यमाणत्वात्। **'द्वया ह प्रजापत्याः'** इत्यत्राऽपि सृष्टिभेदेन उभयविधेन्द्रियाण्यपि तत्र सन्तीति, तेषामपीदमेव। रूपमिति, **'चक्षुरुदगायत्'** इत्यादि संगच्छते। यथाऽत्र महत्तत्त्वम्, तथा वेदे प्रजापतिः; यथाऽत्र पुरुषः; तथा विराट्; यथा भगवान् तथा यज्ञः; यथा कालः, तथा परमेष्ठी, यथा माया, तथा तेषां प्रयत्न इति। उत्तरकाण्डे तु यज्ञस्थानीयं ब्रह्म। यथाऽत्र भगवत्स्तुतिः, तथा तत्रोद्गीथः, आधिदैविकत्वात्तेषामस्मदादीन्द्रियनियामकत्वेनोच्यन्ते, अन्यथा दोषगुणादिनियमा भगवदाज्ञा च प्रत्येकं कर्तव्या स्यात्। अतो भगवदिन्द्रियप्रतिरूपेन्द्रियाणाँ तत्त्वेषु विद्यमानत्वात्, विसर्गे जीवेष्वपि तथात्वात्, न काऽप्यनुपपत्तिः ॥३७॥

व्याख्या इन्द्रियां और उनके देवों को साथ में गिनने से वे दश माने जाते हैं कारण कि उनको एकता बताने की इच्छा है अतः दश कहे हैं, भूत और तन्मात्राऐं दश हैं (५ भूत और ५ तन्मात्राऐं मिलाकर दश है)। महत्तत्व, अहंकार और मन ये तीन हैं, इस तरह प्राकृतिक गुण २३ का होता है, स्तुति करने का निर्देश सामान्य रूप से कहने के कारण जाना जाता है कि काल और मायादि भी स्तुति करते हैं, सर्वदेव भगवान् विष्णु की कलाऐं[2] हैं, जिनके काल, माया और अंश (जीव) चिन्ह हैं इस प्रकार अपने कारणों सहित होते हुए भी तीन गुणों के कार्य रूप होने से पृथक-पृथक भावों को प्राप्त हुए हैं, अतः नाना होने से भिन्न–भिन्न भाव वाले हुए, जिस

१—प्रकृति से उत्पन्न २—धर्म

कारण से ब्रह्मांड की रचना करने में असमर्थ हुए, तीन प्रकार के होने से उनका मेल भी न हो सका, अकेले कार्य करने में प्रत्येक असमर्थ रहा। अतः (इस कारण से) समर्थ प्रभु को हाथ जोड़कर कहने लगे अर्थात् स्तुति करने लगे।

इनके देह वचनादि का विचार किया जाता है, ये तत्व भगवान् के भाव (स्वभाव) रूप बने हुए हैं, 'भाव' का तात्पर्य है कि सर्व तत्वों के प्रति भगवान् की कारणता समान[1] है, भगवान् की कारणता २५[2] प्रकार से हुई है, क्योंकि भाव की प्रधानता जहां होतो है वहां धर्मों की प्रधानता नही होती है अर्थात् भगवद्रूपी तत्वों में भगवान् की सच्चिदानन्द रूपता नहीं है। अतः उनमें सच्चिदानन्द रूप भी तिरोहित होते हैं। भगवान् जितने ही केवल धर्म उनमें प्रकट करते हैं वे वैसे ही धर्मयुक्त होते हैं। जिस भगवान् के ये अंश रूप प्रकट हुए हैं उस भगवान् के हस्तपादादि सर्वत्र प्राप्त हैं अतः सर्वत्र ही कारण के प्रतिरूप हस्तपादादि उनमें (तत्वों में) विद्यमान होने से वे उनसे ही अपना सर्व व्यवहार करते हैं, अर्थात् तत्वों को अपने कार्य करने में किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं होता है, शरीर तो मिला ही है, उस शरीर के अभिमानी 'चिद्' के अंश रूप देव वे भी हैं ही, इसलिए ही श्रुति 'कनीयसा एव देवाः' (ये देव निर्बल हैं) कहती है वेद में तो तत्वों के स्थान पर प्रजापति कहा गया है, वहाँ समष्टि के अनन्तर ही वहां के पदार्थों का निरूपण किया है, 'द्वया, ह प्रजापत्याः' प्रजापत्य दो प्रकार के हैं यहाँ भी सृष्टिभेद से दोनों प्रकार की इन्द्रियां वहां हैं, इसलिए उनका भी यह ही रूप है, तब ही 'चक्षुरुदगायत्' (चक्षु बाहर प्रकट हुए) इत्यादि की संगति हो सकती है जैसे यहां **महत्तत्व** है, वैसे वेद में **प्रजापति** है, जैसे यहां **पुरुष** है वैसे वेद में **विराट्** है जैसे यहां **भगवान्** वैसे वहां (वेद में) **यज्ञ** है, जैसे यहां **काल** वैसे वेद में **परमेष्ठी** है, जैसे यहां **माया** वैसे वेद में उनका प्रयत्न है, उत्तरकाण्ड में यज्ञ के स्थान पर 'ब्रह्म' कहा है, जैसे यहां भगवत्स्तुति वैसे वेद में उद्गीयः है वे आधिदेविक हैं इसलिए वे हमारे[3] **इन्द्रियादि के नियामक कहे हैं**, यों न होता तो दोष और गुणादि के नियम और भगवान् की आज्ञा प्रत्येक को पालन करनी पड़ती, इस कारण से भगवान् की इन्द्रियों की प्रतिरूप इन्द्रियां तत्वों में विद्यमान होने से मोक्ष में भी जीवों की इन्द्रियां इस प्रकार की रहती हैं जिससे किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है ॥३७॥

कारिका—**सृष्टौ तु साधकं रूपं भक्त्यादेर्विनिरूप्यते ।**
तत्त्वादिस्तोत्ररूपेण सर्वलीलासु तत्स्थितौ ॥१॥
तत्त्वैस्तु भक्तिनिर्द्धारो ज्ञानस्य ब्रह्मणा तथा ।
ऋषिभिर्यज्ञनिर्धारस्त्रितयं सृष्टिहेतुकम् ॥२॥

कारिकार्थ—सृष्टि में से मोक्ष की प्राप्ति का साधक भक्ति आदि हैं, यह तत्वादि ने प्रार्थना (स्तुति) कर सिद्ध किया है, तत्वों ने यह निर्णय किया है कि मोक्ष का साधक भक्ति है, ब्रह्मा ने यह निर्णय किया कि मोक्ष का साधक ज्ञान है और ऋषियों ने कहा है कि यज्ञ द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, सकल लीलाओं में सृष्टि की स्थिति के लिए वे तीनों कारण रूप हैं ॥१॥२॥

१—समानता भगवान् का स्वाभाविक गुण है।

२—२३ प्रकार का समूह ऊपर का है उनमें काल और माया के संयोग से २५ होते हैं।

३—जीव के देह में जो इन्द्रियां हैं उनके नियामक कहे हैं।

कारिका **भगवत्कार्यसिद्धयर्थम्, कामादिरहितं तथा ।**
साधकं नाऽन्यथारूपमित्यग्रे नाश उच्यते ।।३।।

कारिकार्थ - भगवत्सम्बन्धी कार्य की सिद्धि के लिए निष्काम भक्ति का स्वरूप मोक्ष प्राप्त कराने वाला है सकामभक्ति मोक्ष की सिद्धि नहीं करती है इसलिए आगे उसका नाश हो जाने को कहा है । ३।।

कारिका—**कालप्रयुक्ता भक्तिर्हि त्रयोदशविधा यतः**
अन्यथा सृष्टिकरणं शुद्धया नैव तद्भवेत् ।।४।।

कारिकार्थ—काल द्वारा होने वाली भक्ति १३ प्रकार[1] की कही है कारण कि तत्वों ने १३ श्लोकों से स्तुति की है। यदि यों न होवे तो शुद्ध भक्ति से इस सृष्टि करने का कार्य नहीं हो सकता ।।४।।

कारिका—**भक्तिप्रपत्ती प्रत्यक्षं भक्तिज्ञाने परोक्षतः ।**
सात्त्विकीयं समाख्याता वासन्तग्रैष्मभवातः ।।५।।

कारिकार्थ—भक्ति और प्रपत्ति (शरण) दोनों प्रत्यक्ष मोक्ष कराने वाले हैं भक्ति एवं ज्ञान परोक्ष से मुक्तिप्रद होते हैं, वासना (वसन्त ऋतु के) तथा ग्रीष्म (ग्रीष्म ऋतु के) भावों से यह सात्विकी क्रिया बताई हैं ।।५।।

कारिका—**राजसे भक्तिराहित्यात् तदर्थं प्रार्थना पुरा ।**
शरणाऽऽगमनं पश्चान्निन्दया साधनं फले ।।६।।

कारिकार्थ—राजस अहङ्कार में (राजस अहङ्कार होने पर) भक्ति नहीं हो सकती है, अतः इसके लिए पहले प्रार्थना करनी पड़ती है, पश्चात् शरण ली जाती है अनन्तर निन्दा के प्रकार से साधन एवं फल दोनों कहे हैं ।।६।।

कारिका—**तामसे ज्ञाननिन्दातः परोक्षे भजनं स्तुतम् ।**
भगवत्कार्यराहित्यहेतूक्त्या स्वस्य साधनम् ।।७।।

---

[1] ब्रह्मकल्प की सृष्टि अन्य प्रकार से होने से इसको शुद्धभक्ति नहीं रच सकती है । अतः काल द्वारा होने वाली १३ प्रकार की भक्ति कही हैं ।

कारिकार्थ—तामस अहङ्कार की दशा में ज्ञान की निन्दा हो जाती है और वियोग में (परोक्ष में) भजन की प्रशंसा की है, भगवत्कार्य (सेवा स्मरणादि) आदि में निकम्मा बन जाने से उसके हेतु को बता कर स्वयं साधनरूप बन जावें ऐसी प्रार्थना करते हैं ॥७॥

कारिका—**मलवत् प्रार्थना प्रोक्ता द्विविधा सा निगद्यते ॥७½॥**

कारिकार्थ—प्रार्थना मल सम हैं वह दो प्रकार की कही[1] है ॥

आभास—तत्र प्रथमं सात्विकीमुत्तमां भक्तिं प्रत्यक्षे निरूपयति—

आभासार्थ—उसमें से प्रथम बताते हैं कि जब भगवान् प्रत्यक्ष हो तब सात्विकी उत्तमाभक्ति होती है जिसका इस श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**देवा ऊचुः । नमाम ते देव ! पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।**
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥३८॥

श्लोकार्थ—देव कहते हैं—हे देव ! शरणागतों के ताप का नाशक जो आपको चरणारविन्दरूप छतरी है, जिसके नीचे जिन्होंने आश्रय लिया है ऐसे योगीजन,[2] संसार के महादुःखों को शीघ्र ही सरलता से दूर फेंक देते हैं । इस प्रकार के आपके चरणारविन्द को हम प्रणाम करते हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—**नमामेति** । नमनातिरिक्तस्य प्रत्यक्षे भजनस्याऽभावात्, **नमोनम एतावत्सदुपशिक्षितम्**'इति वाक्याच्च, स्वामिन्, ते चरणारविन्दं नमामेत्याहुः । नमने हेतुरूपमाह—**देवेति** । यत्रैव देवरूपता प्रतिमाति स एव नमस्यः । गुर्वादिष्वपि देवत्वमेव नमनप्रयोजकम्, गुरुत्वं तु परिचर्यायाम् । तच्च नमनं त्रिवधम्; लौकिकम्, वैदिकम्, भक्तिमार्गस्थितं च । तत्रेदं भक्तिमार्गस्थितमिति ज्ञापयितुमाह—**पदारविन्दमिति** । चरणस्य सुसेव्यता बुध्द्वा स्नेहेन यन्नमनं चरणारविन्दे, सा भक्तिः । यद्रुपस्य नमनं तद्वैधम्, यत्तद्गतधर्माणामैश्वर्यादीनां नमनं तल्लौकिकम् । अनाविभूतरूपस्य नमना**दरविन्द** मेत्येकवचनम् । सगुणत्वात्, सृष्ट्यौपयिकत्वात्; सामर्थ्ये क्लेशाभावस्य सहकारित्वात्, क्लेशनिवारकत्वं चरणारविन्दस्य प्रकार**द्वयेन** निरूपयति प्रपत्तिभक्तिभेदेन । तत्राऽपि प्रपत्त्यधिकारिणस्त्यागाऽसमर्थाः; भक्त्यधिकारिणस्तु त्यागसमर्था इति । अतः प्रथमं तापनिवारणरूपमाह—**प्रपन्नतापोपशमातपत्रमिति** । प्रपन्नानां शरणा-

---

[1] इन कारिकाओं में कहे हुए विषय की ३८ श्लोक से ५० श्लोक तक के श्लोकों में स्पष्टता की गई है । [2]—सन्यासी ।

गतानां येऽन्तर्बहिस्तापाः, **तदुपशमार्थं** निकट एव दूरीकरणार्थम्, भगवच्चरणारविन्दमातपत्रं भवति। आतपात्रायत इति भगवच्चरणारविन्दं ध्रुवस्येव प्रपन्नस्योपरि तिष्ठति। अनेन यत्र क्वचिदपि स गच्छति, तत्रैव तच्चरणारविन्दं तापं दूरीकुर्वदेव गच्छतीति भक्तवश्यता चरणधर्मो निरूपितः। कालकृतोऽयं ताप इत्यातपत्रतैव निरूपिता। स्वभावकृते तु अमृतत्वादि निरूपयति, कर्मकृते तु अगदादिभावेन निरूपयति। प्रपन्नार्थं भगवान् स्वयमागच्छति सह गच्छतीत्यप्युक्तम्। सर्वतो विरक्तान् भक्तान् प्रति चरणमाहात्म्यमाह—**यन्मूलकेता इति**। यस्य चरणस्य मूलमधोभागः। भगवच्चरणारविन्दाध एव सर्वदा तिष्टन्ति, न गृहवृक्षाद्यधः; ते मूलकेताः। निकेतनं केतः, स्थानमिति यावत्। यथेच्छव्यवहाराभावादनुपसर्गः। तर्हि तदर्थमन्यद्ग्रहं कर्तव्यमितिचेत्, पञ्चाग्नितपोवत्। तत्राऽऽह-**यतय इति**। भगवन्मार्गे प्रयत्नवन्तः। तत्र पूर्वावस्थात्यागः पूर्वाङ्गम्, तावन्मात्रपर्यवसिताः सालावृकभक्ष्या एव भवन्ति। त्यागासामीचीन्ये तु पाषण्डित्वमेव। ये तु भगवदर्थं यतयः, ते अञ्जसा अनायासेनैव उरुः अधिकं संसारदुःखं क्षुत्पिपासादिकृतं बहिरुत्क्षिपन्ति। पारलौकिकं च बहिरेव वर्तत इति मूलकेतानां तन्निवृत्तमेव। अतः सर्वपुरुषार्थरूपत्वाच्चरणारविन्दस्य, तन्नमामेति मुख्यो हेतुर्निरूपिताः। येषामर्थे भगवान् समागतस्ते त्रिविधा निरूपिताः, भगवदीयाः, प्रपन्नाः, भक्ताश्च ॥३८॥

व्याख्या—भगवान् जब प्रत्यक्ष होते हैं तब सिवाय प्रणाम करने के अन्य प्रकार का भजन नहीं हो सकता है, क्योंकि 'नमोनम'[1] एतावत्सदुपशिक्षितम्' इस वाक्य में ऐसी ही शिक्षा है, अतः हे स्वामी ! हम आपके चरणारविन्द को नमस्कार करते हैं, आपको नमस्कार इसलिए करते हैं कि आप देव हैं। जिस स्वरूप में देवत्व का भान हो वह स्वरूप ही नमन योग्य है, गुरुओं को भी जो प्रणाम किया जाता है उसका भी कारण यह है कि गुरुओं में देवत्व दिखता है गुरुत्व ही सेवा कराता है—वह प्रणाम तीन प्रकार के हैं १–लौकिक २–वेदिक ३–भक्तिमार्गीय, उनमें से यह नमन् भक्तिमार्गीय है, यों जताने के लिए 'पदारविन्द' पद दिया है, चरण का सुसेव्यपन[2] देख (समझ) कर जो प्रणाम स्नेह से किया जाता है वही भक्ति है, भगवान् के स्वरूप को जो प्रणाम किया जाता है वह प्रणाम वेदिक है (वेदविधि है) और जो प्रणाम भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्मों को किया जाता है वह लौकिक प्रणाम है क्योंकि लोक में लोग ऐश्वर्यादि को ही नमते हैं।

अप्रकटित स्वरूप को नमन करने के कारण से ही 'चरणारविन्द' एकवचन दिया है, सगुण होने से चरणारविन्द सृष्टि रचना करने का साधन है अर्थात् चरणारविन्द से ही हमको (देवों को तत्व रूपों को) सृष्टि रचने की सामर्थ्य प्राप्त होगी, जिससे रचना करने में क्लेश न होगा।

---

[1] १ – बारम्बार नमन करना इतना ही सदुपदेश (शिक्षा) दिया है।

[2] २ - सरलता से सेवा होना समझकर, अर्थात् प्रणाम करने में किसी प्रकार श्रमादि नहीं है।

चरणारविन्द क्लेश मिटाने वाला है जिसको दो प्रकार से निरूपण करते हैं १–भक्ति से इन दोनों में जो शरणागति के अधिकारी हैं वे त्याग करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् वे त्याग नहीं कर सकते हैं, अतः शरण ही लेते हैं और जो भक्ति के अधिकारी हैं वे त्याग कर सकते हैं, अतः प्रथम चरणारविन्द ताप का निवारण करने वाला है यह प्रतिपादनार्थ कहते हैं कि 'प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्' शरणागतों के जो भीतर के तथा बाहर के ताप हैं उनको शीघ्र ही शाँत करने के लिए भगवच्चरणारविन्द आत पत्र (छत्री) है अर्थात् ताप से रक्षा करने (बचाने) वाला है भगवान् का चरण भक्त के ऊपर ध्रुव की तरह अर्थात् सर्वत्र एवं सर्वदा विराजमान रहता है। इससे यह कहा है कि भक्त जहां कहीं भी जाता है तो चरणारविन्द भी वहां ही ताप दूर करता हुआ जाता है इससे भगवान् के चरणारविन्द की भक्तवश्यता निरूपण की है, यह ताप काल कृत है, इसलिए सर्व प्रकार के ताप से बचाने वाला चरण है यों कहा है, स्वभाव से ताप हो तो जिसके लिए चरण का अमृतत्व निरूपण किया है। यदि ताप कर्म के कारण व्याधिरूप में है तो उसके लिए चरण ओषधि आदि रूप कहा है जो शरणागत हैं तदर्थ भगवान् स्वयं ही आते हैं एवं साथ में चलते हैं यों भी कहा है।

सर्वतः जो विरक्त भक्त हैं उनके लिए चरण माहात्म्य कहते हैं कि 'यन्मूलकेता' ऐसे विरक्त भक्त सर्वदा भगवच्चरणारविन्द के नीचे ही रहते हैं, गृह तथा वृक्ष का आश्रय नहीं करते हैं सर्वथा केवल भगवच्चरणारविन्दाश्रय होकर रहते हैं, अर्थात् भगवच्चरणारविन्दही उनका मूल स्थान है। वे स्वच्छन्द व्यवहार नहीं करते हैं यह बताने के लिए 'केतु' शब्द के आगे उपसर्ग नहीं दिया है, तब तो उनके लिए पंचाग्नि तप करने वालों की तरह दूसरा कोई गृह निर्माण करना चाहिए? इस पर कहते हैं कि वे योगी (सन्यासी) हैं जिससे वे केवल भगवन्मार्ग में प्रयत्न वाले हैं प्रथमावस्था का (गृहस्थ विषयादि का) त्याग पूर्व अङ्ग है यदि केवल पूर्वाङ्ग हो कर स्थित हो जाते हैं तो वे वृकादि (विषयादि के) भक्ष्य हो जाते हैं वह त्याग दोष रहित नहीं होता है अतः वह समीचीन (सम्पूर्ण) न होने से उस त्याग का पाखण्डत्व पर्यवसान (अन्त) हो जाता है और जो सन्यासी पूर्वाङ्ग करने के अनन्तर अपनी सर्वक्रिया भगवत्प्राप्ति के लिए करते हैं वे शीघ्र बिना परिश्रम से महत् संसार दुःख को भूख प्यासादि तृष्णा रूप को) बाहर फेंक देते हैं। परलोक का दुःख तो उनको होता ही नहीं है वह तो उनका निवृत्त हो गया है। अतः सर्व पुरुषार्थ रूप जो भगवच्चरणारविन्द है उसको ही हम प्रणाम करते हैं–यों मुख्य हेतु का निरूपण किया है जिनके लिए भगवान् पधारे हैं वे (१) भगवदीय (२) शरणागत और (३) भक्त ये तीन प्रकार के कहे हैं ॥३८॥

आभास—अन्यार्थमागतं ये भजन्ते, तेषां स्वरूपं कथयन्तो मध्यभावेनाऽऽश्रममाहुः—

आभासार्थ—दूसरे कार्य के लिए अर्थात् सृष्टि के लिए आये हुए भगवान् को जो भजते हैं उनका स्वरूप निम्न श्लोक में कहते हुए मध्य भाव से उनका आश्रय सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**धातर्यदस्मिन्भव ईश ! जीवास्तापत्रयेणाऽभिहता न शर्म ।**
आत्मँल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रिच्छायां सविद्यामत आश्रयेम ।।३९।।

श्लोकार्थ—हे विधाता ! (पिता) हे ईश ! तीन तापों से **तप्त** जीवों को इस जगत् में शांति होती ही नहीं है, इसलिए हे भगवन् ! आपके चरणारविन्द की विद्यायुक्त छाया का आश्रय करते हैं ।।३९।।

सुबोधिनी – धातरिति । अन्यार्थं सृष्टयेर्थं समागत इति ज्ञापितम् । **धाता** विधाता, कर्ता; पितेत्यर्थः । **अस्मिन् भवे** संसारे यद्यस्माद्धेतोः **जीवास्तापत्रयेणाऽभिहता** एव भवन्ति, **शर्म** क्वाऽपि **न लभन्ते । ईशेति** संबोधनं तद्दूरीकरणसामर्थ्यार्थं प्रथमत एव निरूपितम् । एकेनाऽपि तापेनाऽभिहतः स्वाभाविकं शर्म न प्राप्नोति, शर्मान्तरस्य च का वार्त्ता ? त्रयेण त्वभिहतः सुतरामेव न शर्म प्राप्नोति । अतो वयं प्रथमत एव, संसारे प्रवेशमकृत्वैव, तवाऽङ्घ्रेश्छायामवेऽऽश्रयेम । प्रार्थनायां लिङ् । **भगवन्निति** संबोधनं सर्वतापनिवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टसिद्धिनिरूपणार्थम् । छायया बहिस्तापो गच्छति । अन्तस्तापनिवारणार्थमाह-**सविद्यामिति** । यथा सजलं छत्रं भवति । छाया प्राधान्यं भगवदभिप्रायप्राधान्यार्थम् । सूर्यादिवशात् कदाचिच्छाया चरणारविन्ददेशादन्यत्र पतति, तदाऽन्यत्र स्थितैरेवाऽऽश्रयः कर्त्तव्य इति । अङ्घ्र्यधस्तात्तु घर्म एव भवति । निकटे न स्थातव्यमिति भगवदिच्छायां निकटे न स्थातव्यमिति भावः । सम्प्रतं तथात्वात् वयमतो हेतोश्छायामेवाश्रयेम । विद्या उपासना, ज्ञानं वा । भगवद्गुणानुसन्धानेन बा, भगवत्परिचर्यया वा क्वचित्स्थातव्यमित्यर्थः । एवं साक्षाद्भगवत्संबन्धे भक्तिप्रपत्ती निरूपिते ।।३९।।

व्याख्या—सृष्टिकार्य के लिए पधारे हुए हैं 'धाता' पद देने का आशय कहते हैं कि वे जगत् रचने वाले, कर्त्ता एवं पिता हैं, इस संसार में जिस कारण से जीव तीन तापों से तप्त होने से कहीं भी शांति पा नहीं सकते हैं, हे ईश ! यों संबोधन देकर यह सूचित किया है कि उन तापों से उत्पन्न दुःखों को दूर करने में आप समर्थ हैं, एक ताप से भी जो तप्त होता हैं उसको भी स्वाभाविक (आत्म सुख) सुख प्राप्त नहीं मिलता है तो अन्य सुखों की वार्ता ही क्या की जावे ? जो तीन तापों से तप्त हैं उनको तो स्वल्पमात्र भी शांति नहीं मिलेगी, इसलिए हम पहले से ही संसार में प्रवेश कर आपकी चरणच्छाया का आश्रय करते हैं, हे भगवान् ! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि आप निवृत्तिकर, सर्व प्रकार के इष्टफल को देने वाले हैं, छाया से बाहर का ताप निवृत्त होता है, भीतर के ताप की निवृत्ति के लिये कहा कि 'सविद्यां' जैसे छत्री जलवाली होती है वैसे यह छाया विद्या (उपासना व ज्ञान) युक्त हो तब भीतर का ताप निवृत्त करती है । छाया की प्रधानता भगवान् की प्रधानता कहने के अभिप्राय से कही है, तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य आदि के वश होने से

छाया कभी चरणारविन्द के स्थान से **अन्यत्र** होती है तब जहां छाया होती है वहां ही रहना पड़ता है क्योंकि छाया के आश्रय से ताप निवृत्ति होती है, चरण के नीचे तो घाम पड़ती है अतः यदि भगवान् की इच्छा ऐसी हो कि मुझ से दूर रहकर ही उपासनादि करो इसलिए भगवदिच्छानुसार हम आप (भगवान्) चरणारविन्द की छाया का ही आश्रय करते हैं, वह छाया उपासना व ज्ञान युक्त होने से उसका आश्रय कर कहीं भी रहना उचित समझते हैं, वहां ही भागवद्गुणों का अनुसन्धान वा भगवत्परिचर्या (सेवा) का आनन्द ले सर्व प्रकार के तापों को मिटाते हैं। इसी प्रकार साक्षात् भगवत्सम्बन्ध होने पर भक्ति और शरण लेने का सिद्धान्त निरूपण किया है ॥३९॥

आभास––तथाऽनधिकारे परोक्षे गङ्गातीरे स्थित्वा, श्रुतितात्पर्यं विचार्य, भगवच्चरणानुसंधानं कुर्वाणेन स्थातव्यमित्याह––

आभासार्थ—यदि वैसा अधिकार न होवे तो परोक्ष में गङ्गाजी के तट पर स्थित हो श्रुति का तात्पर्य विचारकर भगवद् गुणानुसंधान करना चाहिए यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक––**मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडैश्छन्दः सुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते ।**
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः ॥४०॥

श्लोकार्थ––तीर्थपद[1] आपके पाप नाशक जल से पूर्ण नदी के स्थानरूप चरणों के आश्रित जो ऋषि लोग हैं वे एकांत में बैठकर आपके मुख कमलरूप नीड़ों (घोसलों) से उत्पन्न[2] वेदरूप गरुडों द्वारा आपके चरणों का विचार करते रहते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—मार्गन्तीति यद्यस्माद्दृषयो। मन्त्रद्रष्टारः। ते **मुखपद्मनीडैश्छन्दः सुपर्णैः ते पदं मार्गन्ति** विचारयन्ति। वेदा हि गरुडप्रायाः पक्षिणः, तेषां मूलस्थानं भगवतो मुखपद्ममेव। यथा पद्मे मकरन्दादिपानार्थमागन्तुका अपि पक्षिणस्तिष्ठन्ति। एतेषां तु तन्नीडमेव। ते हि तत्रैव लब्धजन्मानस्तत एवोद्गच्छन्ति। अन्यत्र चरन्तोऽपि नीडतात्पर्या एव ते। छन्दसां सुपर्णत्वं श्रुतिसिद्धमेव। **'छन्दांसि रथो मे भवत'** इत्यत्र तेषामेव रथत्वम्, **'छन्दांसि सौपर्णेयाः'** इति श्रुतेः। सुपर्णपदेन च गरुडरूपतया भगवन्मन्त्रं जानन्ति। एवंप्रकारेण गङ्गातीरे स्थितो भगवान् स्वपदं प्रापयिष्यतीति। अत एव एकान्ते एकाकिभिरेव स्थीयत इत्यर्थः, बहूनां प्रापणाभावात्

१—तीर्थ जिसके चरणों में रहते हैं वैसे आपके (भगवान् के)   २—निकले (प्रकट हुए)

यस्येति प्रसिद्धस्य ते। **तीर्थपदः** तीर्थानि पादे यस्य। प्रसिद्धत्वान्न सन्देहः। तीर्थपदत्वात् सर्व-पापक्षयहेतुत्वमधिकारसिद्धये। तीर्थपदत्वमेवोपपादयति–**अघमर्षोदसरिद्वरायाः पदमिति। अघस्य** पापस्य मर्षो येन तादृशमुदमुदकं यस्याः, तादृशी या सरिद्वरा गङ्गा, तस्याः पदं स्थानमिति पद-विशेषणम्। गङ्गातीरे तीरे गमने पदपर्यन्तं गच्छति। वेदानां च पुनस्तात्पर्ये विचार्यमाणे भगवत्पदं जानन्ति। जलेन पापनाशनमानुषङ्गिक-फलत्वेनोक्तम्। चरणादन्यत्र गच्छन्त्यपि गङ्गा वेदवत्पुनस्तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति वेदानां दृष्टान्तार्थे निरूपितम्। माहात्म्यं च यथा गङ्गायाः पद-संबन्धात्, एवं वेदप्रामाण्यमपि भगवत्प्रामाण्यादेव **'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'** इति स्मृतेः ॥४०॥

व्याख्या—जो मन्त्रद्रष्टा होते हैं उनको ऋषि कहा जाता है, वे आपके मुख कमल रूप नीड़ों (घोसलों) से प्रकट हुए वेद रूप गुरुड़ों द्वारा आपका चरण ढूँढ़ते (विचारते) हैं, वेद निश्चय से गरुड़रूप पक्षी हैं, उनका मूल स्थान भगवान् का मुख कमल ही है, जैसे कमल पर मकरन्दादि के पानार्थ पक्षी आकर बैठते हैं। वैसे इनका[1] भी तो यह नीड़ ही है, वेदों का पक्षीरूपत्व श्रुतियों से सिद्ध ही है। 'छन्दासि रथो मेमवतः' इस श्रुति में वेदों को रथ कहा है 'छन्दांसि सौपर्णेयाः' इस श्रुति में वेदों को सुपर्णपद से गरुड़रूप कहा है, गरुड़ पर भगवान् विराजते हैं इसलिए उसकी लोक में प्रसिद्धि हुई है। इसी प्रकार वेदों में भी भगवान् विराज रहे हैं। अतः वे वेद लोक में यज्ञरूप भगवान् का बोध (ज्ञान) कराते हैं, ऋषि ही मन्त्रद्रष्टा हैं जिससे वे मन्त्रों को जानते हैं, इस प्रकार गंगा के तट पर स्थिति करने से भगवान् अपने चरण की प्राप्ति कराएंगे। इस कारण से एकान्त में एकाकी होकर ही रहा जाता है, यदि बहुत होवें तो चरण प्राप्ति नहीं होती है कारण कि बहुत होने पर भगवद् गुणानुसन्धानादि चिन्तन नहीं हो सकता है। यस्य' पद कहने का भाव यह है कि आप जो प्रसिद्ध हैं, क्यों प्रसिद्ध हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तीर्थपद' आप के चरण में तीर्थ रहते हैं, तीर्थ पद का तात्पर्य है कि सर्व पापों को वे क्षय करने वाले हैं, पापों के नाश हो जाने से अधिकार की सिद्धि प्राप्ति होती है, 'तीर्थपदत्व का प्रतिपादन करते हैं कि पापों को नाश करने वाला जल जिसमें ऐसी जो उत्तम नदी 'गङ्गा' उसका निवास स्थान भगवच्चरण ही है, 'पद' का अर्थ स्थान है। दूसरा 'पद' शब्द विशेषण है, अतः इसका भावार्थ होता है कि गंगाजी के तीर पर से जाते-जाते 'पद' चरण (गंगा) तक पहुँच जाते हैं और फिर वहाँ वेदों का भावार्थ विचारते हुए भगवच्चरणारविन्द को जान जाते हैं। जल से पापों का नाश होना तो गौण फल है।

चरण से अन्यत्र जाती हुई भी गंगा फिर वेद की तरह वहां ही (चरण में ही) प्रविष्ट होगी। यों वेदों के द्रष्टान्त के लिए निरूपण किया है जैसे पद के सम्बन्ध से गंगा जी का महात्म्य

---

[1] —वेद रूप गरुड़ पक्षियों का

है, यों वेद कि प्रामाणिकता भी भगवान् की प्रामाणिकता से हो है, मन्त्र और आयुर्वेद की तरह उसका प्रमाण आप्तों की (सत्य वक्ताओं की) प्रामाणिकता के कारण ही है, यों स्मृति कहती है ॥४०॥

आभास––अत्र मार्गणकर्तारः प्रपन्ना एव भवन्ति, नाऽन्यैर्मार्गणं कर्तुं शक्यते । अन्ये पुनस्तत्राऽप्यशक्ताः केवलं ज्ञानमार्गेण चरणारविन्दमाश्रित्य त्तिष्ठन्तीत्याहुः

आभासार्थ – जो शरणागत हैं वेही चरण को ढूंढ़ने में समर्थ होते हैं दूसरे नहीं । जो शरणागत नहीं हैं वे केवल ज्ञान मार्ग द्वारा चरण का आश्रय लेकर रहते हैं जो निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक––**यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या संमृज्यमाने हृदयेऽवधार्य ।**
ज्ञानेन वौराग्यबलेन धीरा व्रजेम तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥४१॥

श्लोकार्थ––जिस (प्रभु) की श्रद्धा तथा श्रवण भक्ति से शुद्ध हुए हृदय को आपके चरणकमलों का निश्चित सिहासन बनाकर एवं वैराग्य बल वाले ज्ञान से धीर हो आप (भगवान्) के चरणों को ही अपना स्थान बनाते हैं ॥४१॥

सुबोधिनी—यच्छ्रद्धयेति ! यस्मिन् भगवति **श्रद्धा** आस्तिक्यबुद्धिः, **श्रुतवती च भक्तिः** श्रवणादिना पोषिता । ज्ञानमार्गे श्रद्धाभक्ती अन्तःकरणशोधिके । चकारात् **'यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ'** इति कीर्त्तनरूपयाऽपि भक्त्या **संमृज्यमाने** सम्यक् शोध्यमाने हृदये अङ्घ्रिसरोजपीठमवधार्य निश्चित्य तेन निश्चयात्मकेन ज्ञानेन वैराग्येण बलं यस्य, तादृशेन धीरा भवन्ति । तादृशं **तेऽङ्घ्रिसरोजपीठं व्रजेम** प्राप्नुम । वयं ततोऽप्यनधिकारिणोऽतस्तद्धृदये स्थितं निर्द्धारितं वयं भजेम । श्रद्धाश्रवणादिना वैराग्यसहितात्मज्ञाने जाते विदितात्मतत्त्वो ब्रह्मभूतो भवति, तदाऽक्षरं भगवत्पादपीठं तत्राऽभिव्यक्तं भवति । तदा तदुपदेशात्. तद्धृदये वा प्रविश्य, तत्तत्त्वभावं वा प्राप्य, तच्छरणं गतानि तत्त्वानि । अतश्चतुर्थी कक्षा भक्तिमार्गे ह्येषा । सा द्विधा, स्वतो हृदये भजनम्, भक्ताश्रयणं वेति । ज्ञानिनां पादाभिव्यक्त्यभावात् पीठमित्युक्तम् । स्वस्वोपयोगिरूपनिरूपणाय अङ्घ्रिसरोजपदम् । धीरभवनमेव तत्र फलम् । वस्तुतः, भगवान् भगवदाज्ञया वा कालादिः करोति, नाऽन्यथा वा । अतो भयहेत्वभावात व्यर्थमेव प्राणी धैर्याभावात् क्लेशाननुभवति । अतः पूर्वोक्तपक्षाभावे धैर्यफलकोऽयमेव पक्षः समीचीनः । एवं सात्त्विकप्रकारे पञ्चपक्षा निरूपताः ॥४१॥

व्याख्या—भगवान् में श्रद्धा (आस्तिकता पूर्ण बुद्धि) और श्रवणादि से पुष्टभक्ति, ये दोनों (श्रद्धा और भक्ति) ज्ञानमार्ग में अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले हैं 'च' पद देकर यह सूचित

किया है कि कीर्तवरूप भक्ति से भी हृदय को विशेष शुद्ध करने में आता है, जैसा कि कहा है 'यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ' ज्यों-ज्यों अन्तःकरण शुद्ध होता जाता है त्यों-त्यों उसमें चरण कमल के आसन को निश्चितरूप से धारण करने से वैराग्यबल वाला ज्ञान प्राप्त कर वे ज्ञानी हो धीर बन जाते हैं, वैसा जो आपका चरण कमलरूप आसन है उसको हम प्राप्त करें, हम उसके भी अधिकारी नहीं है अतः वह हृदय में स्थित है ऐसा निर्धार कर उनको भजते हैं। श्रद्धा श्रवणादि से वैराग्य सहित जब ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान, आत्मतत्व का रूप समझाता व प्रकट कराता है तब ज्ञानी (ब्रह्मरूप) होता है। उस समय भगवच्चरणारविन्दकाआसन जो अक्षर है प्रकट होता है, तब उसकें[1] उपदेश से अथवा उस ज्ञानी के हृदय में प्रवेश कर वा उसके तत्वभाव[2] को प्राप्त होकर वे तत्व उस (अक्षर) के शरण जाते हैं, अतः भक्ति मार्ग की वह चतुर्थी कक्षा है। उस कक्षा में आने पर दो प्रकार से भजन होता है। स्वतः हृदय में भजन होता है अथवा भक्त का आश्रय ले भजन करते हैं। ज्ञानियों के आगे भगवान् अपने चरण को प्रकट नहीं करते हैं अतः 'आसन'[3] कहा है,प्रत्येक के लिए उपयोगीरूप निरूपणार्थ[4] 'अङ्घ्रि' सरोज पद दिया है, इस ज्ञानमार्ग में 'धीर' बनना ही फल है। वास्तव में जो सब कुछ हो रहा है वह भगवान् स्वयं अथवा भगवदाज्ञा से काल करता है न कि अन्य प्रकार[5] से कुछ बन सकता है। जब भगवान् वा काल के सिवाय अन्य कोई भी कुछ नहीं कर सकता है तब भय करने का कोई भी कारण नहीं है, प्राणी व्यर्थ ही धैर्य का त्याग कर क्लेशों का अनुभव करता है। अतः पूर्वोक्त पक्ष (स्थिति) का अभाव हो तो, धैर्य फल देने वाली यह स्थिति श्रेष्ठ है इसी तरह सात्विक प्रकार में पाँच पक्ष निरूपण किए हैं ॥४१॥

आभास—राजसप्रकारेणाऽप्याह। तत्र प्रथमं सकामतया शरणागतिमाहुः—

आभासार्थ—अब इन निम्न श्लोकों में राजस प्रकार कहते हैं—जिसमें पहले सकाम हो, शरणागति करनी कहते हैं—

श्लोक—**विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते ।**
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश ! स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—विश्व के जन्म, स्थिति तथा लय के लिए अवतार धारण करने वाले आपके चरणारविन्द की हम शरण लेते हैं। क्योंकि हे ईश ! वह शरण भक्तों को अभय देती है ॥४२॥

---

[1]—ज्ञानी के [2]—उसके स्वभाव की स्थिति को [3]—अक्षर [4]—चरणकमल
[5]—भगवान् वा काल के सिवाय।

सुबोधिनी—विश्वस्येति। यो भगवान् विश्वस्य सृष्टयाद्यर्थमेवाऽवतीर्णः, अक्षररूपविशेषेण । **'प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा'** इति निबन्धोक्तप्रकारेण यो भगवानवतीर्णः, तस्य पदाम्बुजं शरणं व्रजेम । स ह्यस्मदनुगुणः । नन्ववतारिता एव भवन्तः सम्यक्प्रकारेण, किमतः परं शरणगत्या ? तत्राऽऽह—**स्मृतिं प्रयच्छतीति** । यद्यस्मात्कारणात् **स्वपुंसां** भक्तानां सम्बन्धि, **अभयम्**, न विद्यते भयं यस्मात्तादृशं स्वरूपं वा प्रयच्छति, स्मृतिं प्रयच्छति । स्वकीयानामस्माकं वा तदयं प्रयच्छेदित्यवतारिता अपि वयं स्मृत्यभयहीनाश्चेत्, तदा सर्वं व्यर्थम् । भगवदीयानां वा स्मरणं भवेत । भगवत्स्मृतिः पूर्वसिद्धस्वरूपस्मृतिः, प्रकृतोपयोगिकार्यस्मृतिर्वा । स्मृत्यभयदाता विश्वकर्ता भगवान्, तस्य चरणशरणगमने जन्मादौ सुखं भवतीति फलार्थं क्रियाव्यापृतस्य भक्तिः प्रथमा राजसी ॥४२॥

व्याख्या—जिस भगवान् ने विश्व के सृष्टि आदि के लिए विशेष अक्षर रूप से अवतार धारण किया 'प्रकृतिः' पुरुष श्चोभौ परमात्माऽभवतपुरा' अर्थ-प्रथम परमात्मा प्रकृति और पुरुषरूप हुए इस निवन्धोक्त प्रकार से जो भगवान् अवतीर्ण हुए, उनके चरण कमल की शरण हम लेते हैं, कारण कि शरण जाना ही हमारे अनुकूल है, जब आप सम्यक प्रकार से अवतीर्ण हो चुके हैं, तो फिर शरणागति लेने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का निवारण करने के लिए कहा है कि 'स्मृति प्रयच्छति' अपने भक्तों को उस रूप का दान करते हैं जिसके प्राप्त होने पर, भय नहीं रहता है अर्थात् भक्त कालादि के भय से भी छूट जाते हैं सर्वथा निर्भय हो विचरते हैं। भगवान् का अवतार इसी लिए ही कराया है, तब यदि उसके अवतरित होते हुए भी हम (भक्त) निर्भय न होवें तो सब (अवतीर्ण होना आदि) व्यर्थ हो जाऐंगे ।

अथवा भगवद्भक्तों का (भक्तों के चरित्रों का) स्मरण हो अथवा भगवान् की स्मृति हो अथवा भगवान् के पूर्वसिद्ध स्वरूप की स्मृति का होना विश्व की रचना करने वाले भगवान् स्मृति तथा अभय दोनों के दाता हैं, उनके चरण की शरण लेने पर जन्म के आरम्भ में ही सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार फलार्थ क्रिया करने में तत्पर की भक्ति प्रथमा[1] राजसी है ॥४२॥

आभास – द्वितीयामाह––

आभासार्थ—इस श्लोक में दूसरी[2] कक्षा का वर्ण करते हैं।

श्लोक––**यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे ममाऽहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।**
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां भजेम तत्ते भगवन् ! पदाब्जम् ॥४३॥

---

[1]—उत्तम　　[2]—शरण आने की दूसरी कक्षा।

श्लोकार्थ—हे भगवान् ! दोष वाले, असत् देह और गृह में जिनका मैं और मेरा ऐसा दुराग्रह बढ गया है । उनके हृदय में विराजते हुए भी, आपका चरणारविन्द उनसे दूर रहता है अर्थात् ऐसे लोग चरणों का आश्रय नहीं लेते हैं, हम तो उन (चरणों) का ही आश्रय करते हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—यत्सानुबन्धेऽसतीति । जगत्कर्ता भगवान्, सर्वं सृष्ट्वा, सर्वत्र प्रविष्टः सर्वेषां हृदये प्रकाशते । तथापि स न प्रतीयते, दोषवशात् । तादृशस्यैव, तमदृष्ट्वैव, केवल हृदये वर्तत इति ज्ञात्वा, तच्छरणगमनं द्वितीयम् । दोषनिराकरणार्थं वा दोषकोर्त्तनम् । तत्र दोषस्य त्रैविध्यमाह । **सानुबन्धे** पुत्रादिसहिते, **देहे गेहे चाऽसति** दुष्टे **ममाहमिति** दुष्टाग्रहः । तत्र केवलाग्रहे यथाकथञ्चिन्निर्वाहे, धर्मार्थम्, भगवद्भजनार्थं वा आग्रहे त्रैविध्यं भवति । देहगेहयोर्वा असत्त्वाभावे, अन्यतरासत्त्वे, उभयासत्त्वे च त्रैविध्यं भवति । अनुवादो वा । नियमेन द्वयोरसत्त्वमेव । तत्र स्थिते रूढश्चाऽऽग्रहो भवतीति तादृशानां हृदये पदाब्जं सुदूरम् । यद्यपि भगवान् पुर्यामेव वसति, तथापि तत्र चरणारविन्दौ न स्तः । केवलमन्तःकरणप्रेरणार्थं हस्तौ वा, इच्छामात्रं वा, प्रकटीकरोति । अतो येषामभिमानस्तेषु भक्तिर्नाऽस्तीति मुख्यः पक्षः । संसाराभिमानाभावेन केवलभगवदीयाभिमाने गौणः पाक्षिको भगवानस्तीत्यर्थः । सर्वथाभिमानाभावे सर्वथाऽस्तीति सिद्धान्तः । तस्मात् प्रकृते तादृशप्रकारेण क्वाचित्प्रकाशाप्रकाशौ कुर्वतो भगवतः पदाब्जं शरणं व्रजेमेति ॥४३॥

व्याख्या—जगत् कर्ता भगवान् सर्वं रचकर सब में प्रविष्ट हो गए हैं सबों के हृदय में प्रकाशते हैं, तो भी उसकी प्रतीति नहीं होती है क्योंकि हममें दोष हैं, ऐसे परमात्मा के जिसके दर्शन नहीं होते हैं तो भी केवल वह हृदय में विराजते हैं यों जानकर उनकी शरण जाना यह दूसरा प्रकार है । राजसभक्ति का मध्यम प्रकार है । दोष हैं यों कहने का भावार्थ यह है कि हम उन दोषों को मिटावें । वे दोष तीन तरह के हैं (१) असत् पुत्रादि में मोह आदि पूर्वक दोष (२) देह में अहम्भावरूप (मैं हूं) यह दोष, (३) यह देह और गेह आदि मेरे हैं । यह दोष इसी तरह आग्रह भी तीन तरह का है (१) केवल आग्रह होवे तो किसी तरह भी उसका निर्वाह किया जा सकता है (२) आग्रह धर्म के लिये अथवा (३) भगवद्भजनार्थ आग्रह होता है ।

आग्रह के अन्य तीन प्रकार कहते है १–देह और गृह दोनों दोष वाले न होवें २–दोनों में से एक दुष्ट न होवे ३–दोनों (देह गृह) दुष्ट होवे । ये तीन आग्रह के हुए, आग्रह दुष्ट दोषवान् है । यों कहना 'अनुवाद' है । नियम से तो दोनों देह और गेह दुष्ट ही है । देह तथा गृह में रहने से आग्रह दृढ़ हो जाता है । इसलिए ऐसों क हृदय से चरण कमल दूर ही होते हैं । हालाँकि भगवान् देह के भीतर ही विराजते हैं तो भी आपके चरणारविन्द वहाँ तिरोहित हैं, केवल अन्तः करण

की प्रेरणा के लिए हस्तों का अथवा इच्छा का प्रादुर्भाव रहता है अर्थात् उनको प्रभु प्रकट करते हैं अतः इतना कहने का भावार्थ यह है कि जिनको अभिमान है उनमें भक्ति नहीं रहती है यही मुख्य पक्ष (सिद्धान्त) है । संसारी अभिमान न होवे केवल भगवदीयत्न का अभिमान होवे तो भी वहां भगवान् गौण हैं । सर्वथा अभिमान का जब अभाव होता है तब उस निरभिमानी दीन के यहां भगवान् सर्वथा सदैव विराजते हैं, इस कारण से प्रकृत प्रसंग में उस प्रकार से कभी प्रकाशते हैं, कभी नहीं प्रकाशते हैं तो भी हम भगवान् की ही शरण लेते हैं ।।४३।।

आभास––एतादृशा अपि यदि भगवद्भक्तानां सेवका भवेयुः, तदाऽपि तृतीया राजसी भक्तिर्भवेत्, यथा भक्तभक्ताः; तेऽपि भक्ताः भगवच्चरित्राभिज्ञाश्चेत् । नन्वयं सुगमः पक्षः किमिति नाऽऽश्रीयते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ ऐसे भी जो भगवान् के भक्तों के सेवक बने वो भी राजसी तृतीयाभक्ति सिद्ध होवे, जैसे भक्तों के भक्त वे भी यदि भगवान् के चरित्रों के अभिज्ञ (पूर्ण ज्ञाता) होवे तो, यह पक्ष तो सुगम है फिर क्यों न इसका आश्रय लिया जाता है ? इस प्रकार निम्न श्लोक कहते है ।

श्लोक––**तान्वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये पराहृतान्तर्मनसः परेश ! ।**
अथो न पश्यन्त्युरुगाय ! नूनं ये ते पदन्यासविलासलक्ष्याः ।।४४।।

श्लोकार्थ––हे परेश ! हे महती कीर्तिवाले ! आपके चरण विलास की शोभा से जो पहचाने जाते हैं ऐसे भक्तों को, आसुरी वृति वाली इन्द्रियों ने जिनके भीतर के मन को अपने वश कर लिया है वे देख भी नहीं सकते हैं तो वे भजन कैसे कर सकेंगे ? वह (भजन) तो उनसे दूर ही है ।।४४।।

सुबोधिनी—तान्वै ह्यसद्वृत्तिभिरिति । तान् भगवद्भक्तान् ते **न पश्यन्त्यपि**, भजनं दूरे । तत्र हेतुः-**असद्वृत्तिभिरक्षिभिः पराहृतान्तर्मनस इति** । असत्स्वेव वृत्तयो येषाम्, तान्यासुराणीन्द्रियाणि । आसुराणि स्वभावतोऽसत्पदार्थानेव गृह्णन्ति, यथा मक्षिका अमेध्यं गृह्णाति, न तु चन्दनम् । अत एव तादृशैरक्षिभिरिन्द्रियैः पराहृतं वशीकृतमन्तःकरणं मनश्च येषाम् । '**इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैः**' इति न्यायेन इन्द्रियाणि विषयैराकृष्यन्ते, इन्द्रियैश्च मन आकृष्यते । मनसो रूपद्वयमस्ति, आन्तरं बाह्यं च । आन्तरं यदधीनं तद्वशो भवति पुरुषः । तदाह—**पराहृतान्तर्मनस इति** । तर्हि तेऽप्येके स्वतन्त्रताः कुशलिन इति, किं तेषामेतददर्शनेनेत्यत आह—**परेशेति** । **परे** ब्रह्मादयस्तेषामपीशेति संबोधनं तान्नाशयितुं भगवाँस्तथाकरोतीति ज्ञापयति । **अथो** अथ अतो हेतोस्तान्न पश्यन्ति । पूर्वेण संबन्धः । ननु दर्शनाभावः कथमुच्यते ? दृष्ट्वाऽपि परं न भजन्तीत्येव मन्त-

व्यम्, तत्राऽऽह—**उरुगायेति** । उरुभिर्गीयत इति । यदि ते तान् पश्येयुः, तदा यथा भवान् सर्वैरेव गीयते, तथा तैरपि गीतः स्यात् । तदभावादेवं लक्ष्यते, नूनं तैस्ते न दृष्टा इति । तान् साधारण्यव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि **ते पदन्यासविलासलक्ष्या इति** । ते पदयोर्न्यासः, तत्र यो विलासः, तेन लक्ष्याः । तेषां लक्षणं भगवत्पादन्यामविलासः । ते तदैव ज्ञायन्ते यदि भगवांम्तेषां स्थाने गमनार्थम्, तेषु स्वविलासख्यापनार्थं च विलासेन पदविन्यासं करोति । तेषां हृदये वा पदस्थापनार्थं विलासं प्रेमादिकं करोति, तदा ते ज्ञाता भवन्तीत्यर्थः । भगवत्पदसंबन्धादेव येषां महत्त्वम्, न प्रकारान्तरेण । अतस्तस्य लक्ष्यार्थस्य गुप्तत्वात् तान्न जानन्तत्युक्तम् । **विलासलक्ष्म्या इति पाठे** विलासस्य या लक्ष्मीः शोभा तस्यास्ते । ते विलामलक्ष्मीसंबन्धादेव प्रसिद्धा इति पूर्ववत् । अनेन तादृशभगवद्भक्तज्ञाने तद्द्वारा भगवद्भजनं तृतीयं राजसम्, तेषामेव ज्ञानं वा ॥४४॥

व्याख्या—उन भगवद्भक्तों को वे देखभी नहीं सकते हैं, भजन तो दूर रहा जिसका कारण कहते है कि 'असद्वृत्ति भिरक्षिभिः पराहृतान्तर्मनसः' भीतरी आसुरी वृतिवाली इन्द्रियों ने उनका मन अपनी तरफ खींच लिया है । आसुरी इन्द्रियाँ स्वभाव से असत् पदार्थों को ही ग्रहण करती हैं जैसे मक्षिकाऐं अपवित्र (रक्त विष्टा आदि) पदार्थों को ही ग्रहण करती हैं अर्थात् उनपर ही जाकर बैठती है, न कि चन्दनादि सुगन्धित पदार्थों पर, इस कारण से ही आसुरी इन्द्रिय वश भीतरी मन वाले पुरुष उनके ही अधीन होते हैं, वे इन्द्रियाधीन पुरुष भी एक प्रकार से स्वतन्त्र तथा सुखी तो हैं, उन्होंने यदि इन (भगवाद् भक्तों) को न देखा तो कोनसी उनकी हानि हुई ? इस पर हे परेश ! सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि भगवान् की इच्छा उनको नाश करने की है जिससे वे भक्तों को देख नहीं सकते हैं अर्थात् पहचान नहीं सकते हैं । यदि पहचाने तो भगवद्भजन कर उत्तम गति को प्राप्त कर सकें परन्तु वह नहीं कर सकते हैं यह ही उनकी हानि है, इन्द्रियाधीन होकर जो विषयादिक सुखभोगकर अपने को सुखी समझते हैं यह अज्ञान है, वह सुख-दुःख रूप हैं । देखते नहीं यों कहने का भाव (आशय) यह है कि यदि वास्तविकता से देख सकते तो उनको पहचानते तो उनकी तरह आपका भजन करते, आप 'उरुगाय' है अर्थात्, आपको कीर्ति एवं गुणों का ज्ञान बहुत बड़े-बड़े भक्त जैसे करते हैं वैसे ये भी करते, ये ऐसा नहीं करते हैं इसमें कहा गया है कि वे उन भक्तों को देख (पहिचान) नहीं सकते हैं ।

वे भक्त साधारण पंक्ति वाले नहीं हैं, यों बताने के लिए कहते हैं कि 'ते पदन्यास विलासलक्ष्या' आपके चरणों के धरने में विलास है उससे पहिचाने जाते हैं, वे तब ही पहचाने जाते हैं, जब भगवान् उनके पास जाने के समय उनमें अपने प्रेम प्रकट कराने के लिए विलास से चरण विन्यास करते हैं (प्रेम पूर्वक चरण धरते हुए जाते हैं) अथवा उनभक्तों के हृदय में चरण स्थापनार्थ विलास (प्रेमादि) करते हैं, तब (उस समय) उनकी पहिचान हो सकती है । उन भक्तों का महत्व भगवान् के चरण कमल के सम्बन्ध के कारण ही है नहीं कि अन्य किसी प्रकार के कारण में है । अतः उनका लक्ष्यार्थ गुप्त है जिससे उनको जानना कठिन होने से वे नहीं जान जा सकते हैं ।

यदि श्लोक में ७ विलास लक्ष्याः के स्थान पर 'विलास लक्ष्म्या' पाठ लिया जावे तो उसका अर्थ होगा विलास (प्रेम) को जो शोभा उसके सम्बन्ध के कारण ही वे सो प्रसिद्ध है. यों पूर्व की तरह समझ लेना। इससे ऐसा भगवद्भक्तों का ज्ञान (पहिचान) हो जावे तो उनके द्वारा भगवान् का जो भजन सिद्ध होता है वह भजन तृतीय राजस भजन करते हैं, उनको हा ज्ञान होता है ।।४४।।

आभास—चतुर्थमाह—

आभासार्थ—चतुर्थ कहते है ।

श्लोक—**पानेन ते देव ! कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।**
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाऽञ्जसाऽन्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ।।४५।।

श्लोकार्थ—हे देव ! आपकी कथा रूपसुधा के पान से बढी हुई भक्ति द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले, वैराग्य का साररूप ज्ञान प्राप्त कर जैसे शीघ्र सीधे कृत्रिम बैकुण्ठ में जाते हैं ।।४५।।

सुबोधिनी पानेनेति । **हे देव ! ते कथासुधायाः पानेन प्रवृद्धभक्त्या** कृत्वा **ये विशदाशयाः, ते वैराग्यसारं बोधं प्रतिलभ्य यथा अनायासेन ते अकुण्ठधिष्ण्यमीयुः, तथा परेऽपीयुरिति** संबन्धः । एते तु राजसाद्राजसेषु निकृष्टाः, ये अन्तःकरणशुद्ध्यर्थमन्तःकरणतापत्रयनिवारणाय भगवत्कथां पीत्वा तेन प्रक्षालितान्तःकरणाः । प्रक्षालनार्थं च मध्ये भक्तिमपि कल्पयित्वा, तेनापि शुद्धान्तःकरणा एव । एवं साधनसाध्यभक्तिमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमेव ये नियुञ्जते, ते कर्ममार्गा इव राजसप्रथमाः । शुद्धे चाऽन्तःकरणे वैराग्यमेव सारभूतं यस्य । येन ज्ञानेन विषयवैतृष्ण्यं भवति, तादृशं ज्ञानं प्राप्य । **अञ्जसा** सामस्त्येन ते **अकुण्ठधिष्ण्यं** कृत्रिमवैकुण्ठमीयुः **देवेति** संबोधनात् विष्णुलोकं गच्छन्तीत्युक्तं भवति । ध्रुवस्थान वा । **अकुण्ठामिति** न कदाचिदपि कुण्ठितम्, तत्र सर्वदा भोगः सिद्ध एव । अथवा, तेऽक्षरसायुज्यं प्राप्नुवन्ति ।।४५।।

व्याख्या—हे देव ! आपकी कथा रूप सुधा पान से बढ़ी हुई भक्ति द्वारा जिन का अन्तः करण शुद्ध हो गया है वे वैराग्य के सार रूप ज्ञान को प्राप्त कर जैसे बिना परिश्रम के कृत्रिम बैकुण्ठ को जाते है वैसे दूसरे भी जाते हैं ।

जो अन्तःकरण की शुद्धि के लिए एवं अन्तःकरण के तीन तापों की निवृत्ति के लिए भगवान् की कथा रूप सुधा का पानकर उससे शुद्ध अन्तःकरण वाले हुए हैं तो फिर मध्य में भक्ति द्वारा अन्तःकरण को विशेष शुद्ध करते हैं, इस प्रकार साधन तथा साध्य भक्ति को अन्तःकरण की शुद्धि

के लिए जो करते हैं (अपनाते हैं) वे कर्म मार्ग वालों की तरह राजसों से सभी प्रथम (निकृष्ट) है। अन्तःकरण शुद्ध होने पर वैराग्य ही जिसका सार है अर्थात् जिस ज्ञान से विषयों की तृष्णा मिट जाती हैं वैसा ज्ञान प्राप्त कर शीघ्र ही कृत्रिम बैकुण्ठ को जाते हैं, देव ! इस संबोधन से यों सूचित करते हैं कि वे विष्णुलोक को जाते हैं अथवा ध्रुव के स्थान को पाते है, 'अकुण्ठम' पद का भावार्थ है किसी समय भी उनको किसी प्रकार रुकावट नहीं आती है अर्थात् वहां सदैव भोग (आनन्द) सिद्ध ही है अथवा वे अक्षर का सायुज्य पाते हैं ।।४५)

आभास—तथा केवलज्ञानिनोऽपीत्याह—

आभासार्थ—वैसे केवल ज्ञानी भी प्राप्त करते हैं यों इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तथा परे चाऽऽत्मसमाधियोगबलेन जित्वाप्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ।।४६।।

श्लोकार्थ—वैसे ही अन्य धीर भी आत्म समाधि योग के बल से बलिष्ठ प्रकृति को जीतकर पुरुष रूप आप में प्रविष्ठ होते हैं, यों करने से उनको श्रम होता है, सेवा से श्रम नहीं ।।४६।।

सुबोधिनी—तथा परे चेति । फलतो भगवदीयत्वाद्भक्तत्वम् । परे अन्ये, इदानीं न भगवदीयाः **चकारात्** भगवदीया अपि केचित् । स्वभावगुणानां बलिष्ठत्वादात्मपर्यवसायी आत्मविषयको वा । **'यतो यतो निःसरति'** इति प्रकारेण निरन्तरस्थितिरूपसमाधिपर्यन्तज्ञानेन पूर्वतामसवासनां जित्वा, त्वामेव विशन्ति । परं पुरुषरूपम् । विराट्सायुज्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एतदेव वा अकुण्ठधिष्ण्यम् । चतुर्विंशतिप्राकृतसंबन्धाद्विमुक्ताः पुरुषं प्रकृतिभर्तारं वा ईयुः । **त्वामेवेति** पुरुषान्तरव्युदासः साधनभक्तापेक्षया फलभक्ताहीना इत्याह-**तेषां श्रमः स्यादिति** । साधने भक्तेरप्रवेशात् ।।४६ ।

व्याख्या—ये ज्ञानी फल मे भगवदीय होने से भक्त हैं 'परे' दूसरे शब्द कहकर यह बताया है कि वे अब भगवदीय नही हैं। 'च' पद से यह सूचित किया है कि कितने ही भगवदीय भी हैं, स्वभाविक गुण वाले होने से आत्मा में परिणाम वाली वा आत्मा के सम्बन्ध वाली निरन्तर स्थिति रूप[1] समाधि तक ज्ञान द्वारा पूर्व की तामस वासना पर विजय प्राप्त कर पुरुष रूप आप में प्रविष्ट

---

[1] १—चंचल मन जहाँ भी जावे वहां से खींचकर अपने वशकर वासना पर विजय प्राप्त करना है

होते हैं अर्थात् विराट् का सायुज्य प्राप्त करते हैं। यह ही कृत्रिम वैकुण्ठ है अथवा प्रकृति से उत्पन्न २४ पदार्थों के सम्बन्ध से छूटकर प्रकृति के पति पुरुष को प्राप्त करते हैं 'त्वमेव' पद से यों सूचित किया है कि दूसरे किसी को प्राप्त नहीं करते हैं, किन्तु आप को ही प्राप्त करते हैं साधनभक्तों से भी 'फलभक्त' (फल दशा में जो भक्त होते हैं वे) हीन हैं। उनको श्रम होता है क्योंकि साधन में भक्ति का प्रवेश नहीं है ॥४६॥

आभास—एवं सर्वानुक्त्वा, तामसभेदान् स्वान् मन्यमानाः, आत्मन एव त्रिविधानाहुः

आभासार्थ—इस प्रकार तत्त्व सत्रों को कहकर अपने को तामसों में मानते हुए अपने ही तीन प्रकार निम्न श्लोक में कहते हैं –

श्लोक—तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाऽद्य त्वयाऽनुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्मः ।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते ॥४७॥

श्लोकार्थ—आपने सृष्टि बनाने की इच्छा से हमको त्रिगुणों वाले बनाए हैं अतः भिन्न भिन्न होने से आपके लिए विहारार्थ जो सामग्री चाहिए उसके बनाने में अशक्त हैं इसलिए विहार की मनचाही (सामग्री) आपको अर्पण नहीं कर सकते हैं ॥४७॥

सुबोधिनी—तत्ते वयमिति। तत्तस्मात्कारणात्, **ते वयं** त्वदीयास्तामसा वा, **लोकसिसृक्षया त्वयाऽद्य सृष्टाः**। **त्रिभिरात्मभिरिति** आत्मस्थाने स्थापितैस्त्रिभिर्गुणैरहङ्कारैर्वा। त्रिविधजीवैरित्येके। अस्मिन् पक्षे प्रत्येकं भेदत्रयम्। **अनु** पश्चात् **सृष्टा** इति परोक्षेण सृष्टा ज्ञानरहिता जाताः **अद्येति** सृष्टयन्तरव्युदासः। अन्यदा तु **'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारणी'** इति भगवत एव साक्षात् सर्वं भवतीति तन्निवारणार्थमद्येत्युच्यते। अत एव त्रिभिरात्मभिरित्युक्तम्। अतः **सर्वे वियुक्ताः**। **चकारादस्मत्सामग्र्यपि** सर्वा भगवता त्रिविधा सृष्टा, अतोऽपि वयं वियुक्ताः। अत एव **स्वस्य**, तव **विहारतन्त्रं** विहरणसामग्रीम्, न शक्नुमः। ते तुभ्यम्, **प्रतिहर्तवे** प्रतिहर्तुम्। **'तुमर्थे से से'** इत्यनेन तवे प्रत्ययः। तत् प्रतिहर्तुम्, यदर्थं वयं स्टष्टाः तत्प्रयोजनं प्रति हर्तुंदातुं समर्थयितुमिति यावत्। तत् किमित्याकाङ्क्षायाम्, तत् प्रसिद्धं स्वविहारतन्त्रमिति संबद्धयते। तत्स्वविहारतन्त्रं प्रतिहर्तुं न शक्नुम इत्यर्थः। तामसमध्यमा एते। यदर्थं भगवता सृष्टास्ते, सर्वे दुरात्मानः स्वस्वाभिमानेन नष्टा भगवत्कार्यमकृत्वाऽपि स्थिता इत्येतादृशा भक्तास्तामसमध्यमाः। भगवता भिन्नतया सृष्टा इति तेषां मध्यमत्वम्, अन्यथा अधमा एव स्युः ॥४७॥

व्याख्या—उन कारणों से वे हम, जो आपके त्वदीय हैं वा जो तामस हैं जिनको अब आपने लेकर रचना की इच्छा से तीन गुणों से अथवा अहंकारों से बनाया है। कितने ही कहते हैं कि

तीन प्रकार के जीवों से बनाया है, इस पक्ष में हर एक के तीन भेद हैं, हमको आपने पीछे बनाया अर्थात् परोक्ष में बनाया, जिससे हम अज्ञानी ही रह गए हैं। 'अद्य' पद से यह सूचना दी है कि यह सृष्टि उस सृष्टि से निराली है जो सृष्टि 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इस श्रुति में निरूपण की गई है। यह श्रुति निरूपित सृष्टि साक्षात् भगवान् से ही प्रकटी है, अतः हम (तत्वों द्वारा प्रकटी हुई) सृष्टि से 'अद्य' पद से सूचित सृष्टि पृथक प्रकार की है इसलिए कहा है 'त्रिभिरात्मभिः' अर्थात् अपने तीन गुणों से अथवा अहंकारों से बनाई है जिससे अब जुदी-जुदी[1] हो गई है 'च' पद से बताया है कि केवल हम पृथक रूप नहीं हुए हैं किन्तु हमारी (सृष्टि रचने की) सब सामग्री भा भगवान् ने तीन तरह की बनाई है. इस प्रकार से भी हम जुदे-जुदे हो गए हैं इसलिए ही हम आपके लिए जो विहार करने की सामग्री है वह आपको अर्पण करने में अशक्त हैं। आपने हमको विहार करने की सामग्री समर्पण करने के लिए तो बनाया किन्तु हम यों करने में अशक्त हो गए हैं। ये (जो कहते हैं हम अशक्त हैं वे) **तामसमध्यम** हैं, भगवत्कार्य न करके भी स्थित हैं अतः वे दुष्टात्माएं अपने-अपने अभिमान से नष्ट अधम ही हैं किन्तु भगवान् ने इनको भिन्नपन से बताया है। इसलिए इनका मध्यमत्व है ॥४७॥

आभास--तादृशा अपि वयं जाता इत्याहुः—

आभासार्थ—ऐसे भी हम हुवे हैं, यों इस श्लोक में कहते हैं:—

श्लोक--**यावद्बलिं तेऽज ! हराम काले यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।**
यथोभयेषां त इमे हि लोका बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः ॥४८॥

श्लोकार्थ--हे अजन्मा ! जब तक हम आपको समय पर बलि अर्पण करें, उस समय तक, जिस तरह और जहां हम भोजन का रस लेवें यों आपको करना चाहिए और जिस प्रकार ये रचे हुए लोक आपको एवं हमको बलि देवें तथा वे भी निश्चिन्त हो भोजन करें (इस प्रकार के नेत्र हमें दीजिए) ॥४८॥

सुबोधिनो—**यावद्बलिमिति** । हे **अज** न जायते इति संबोधनम् ब्रह्माद्युत्कृष्ट यावत्ते वलि हराम, तावद्यथा वयमन्नमदाम, तथा त्वया कर्तव्यमित्यभिप्रायः। **यावदिति** प्रलयावसानता, तु सृष्टिमात्रम्। काले स्वस्वावसरे । यथा वयं चाऽन्नमदाम, यत्र चाऽन्नमदाम, यथा वा उपयेगां

प्रकाश—१. किस प्रकार जुदे हुए हैं ? ज्ञानी, साधन दशा में केवल समाधि करते हैं भक्ति नहीं करते हैं फलदशा में भक्ति करते हैं, भक्त साधन दशा में भी भक्ति करते हैं अतः वे उत्तम हैं।

तवाऽस्माकं च इमे सृष्टा लोकाः बलिं हरन्ति, निष्प्रत्यूहाः सन्तःस्वयमन्नमदन्ति, यथा चक्षुः परिदेहीत्यग्रेण संबन्धः। अत एवैतेषां वषैम्यम्। केचन स्वार्थनिरपेक्षा भगवदर्थमेव कार्यं कर्तुमिच्छन्ति। केचित्स्वार्थापेक्षिणोऽपि भगवदर्थमेव कुर्वन्ति कार्यम्, भगवानेव पश्चाद्दास्यतीति। केचित्तु स्वस्य, स्वसेवकानां च, भगवतश्च कार्यं तुल्यतया कर्तुं वाञ्छन्ति, त एते ॥४८॥

व्याख्या—भगवान् का जन्म (मनुष्यवत्) नहीं होता है किन्तु प्राकट्य ही होता है अतः हे अज ! यह सम्बोधन दिया है, इस सम्बोधन से ब्रह्मादि देवों से भगवान् की उत्कृष्टता (उत्तमपन) बताई है, जब तक आपको हम बलि देवें, तब तक जैसे हम अन्न खावें (भोजन कर सकें) वैसे आपको करना चाहिये जब तक कहने का भाव है कि प्रलय तक केवल सृष्टि का समय नहीं 'काले' पद देने का तात्पर्य है कि आपने अपने समय में अर्थात् योग्य समय में जैसे हम अन्न खावें अथवा जैसे ये बनाए हुए लोक, आपको और हमको बलि देवें तथा स्वयं बिना किसी रुकावट के आप भी भोजन करते रहें, इसी प्रकार के नेत्र दीजिए (इसका सम्बन्ध ५०वें श्लोक से है) इसी कारण (नेत्र होने के कारण) ही इनकी विषमता है।

कितने ही ऐसे हैं जिनको अपना स्वार्थ नहीं है किन्तु केवल भगवान् के लिए ही काय करना चाहते हैं, दूसरे ऐसे भी हैं जो स्वार्थी होते हुए भी जो-जो कार्य करते हैं वह भगवदर्थ ही करते हैं और समझते हैं कि भगवान् अवश्य पश्चात् (इच्छित पदार्थ देंगे ही), तीसरे इस प्रकार के हैं जो अपना अपने सेवकों का तथा भगवान् का कार्य समान रूप से करते हैं, ये तत्व इस प्रकार के हैं ॥४८॥

आभास—ननु किमर्थमेवं प्रार्थ्यंते ? प्रथमतोऽस्मदर्थं ब्रह्माण्डं कुरुत, पश्चात्स्वार्थमित्याशङ्कयाऽऽहुः—

आभासार्थ—इस प्रकार प्रार्थना क्यों करते हो ? पहले हमारे (भगवान् के) लिए ब्रह्मांड बनाओ, अनन्तर अपने लिये बनाओ ऐसी शङ्का का इस निम्न श्लोक द्वारा निवारण करते हैं—

श्लोक—त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः।
त्वं देव! शक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥४९॥

श्लोकार्थ—परिकर सहित हम देवों के, आप अविकारी, आद्य (पहले ही मौजूद) पुराण पुरुष हैं, हे देव ! गुण तथा कर्मों की योनि जो अजा शक्ति है उसमें आप अजने अपने वीर्यरूप कवि को स्थापित किया है ॥४९॥

सुबोधिनी—त्वं नः सुराणामिति । नोऽस्माकं सुराणां देवानां **सान्वयानां** सपरिकराणां त्वमेव आद्य उत्पादकः । यद्यपि वयमपि स्वकार्योत्पादकाः, तथापि वयं विकृताः, भवांस्तु कूटस्थोऽविकृतः । किञ्च, पुरुषो भवान् स्वतन्त्रः, वयं प्राकृता अस्वतन्त्राः । किञ्च, भवान् पुराणः पूर्वसर्ववृत्तान्ताभिज्ञः, वयं नूतना आधुनिकाः । अतस्त्वयैवाऽस्माकं सर्वं कर्त्तव्यम् किञ्च, पुत्ररूपा वयं तव । अतस्त्वया प्रथमतो वयं पालनीया इत्याहुः—**हे देव ! त्वं देवरूपायां शक्त्यां** मायायाम् । गुणाः कर्माणि च योनिर्यस्याः । गुणकर्मात्मिका योनिः, गुणरूपाः कर्मात्मकाश्च ततो जायन्त इति । तस्यामजायां बर्कराद्युत्पादनार्थं **रेत आदधे** । अजाशब्दोऽत्र न यौगिकः, नाऽपि रूढः, किन्तु कल्पनोपदेशः । **'कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः'** इत्यधिकरणेनाऽयमर्थः समर्थितः । अन्यथाऽत्र मायाया उत्पत्तेरुक्तत्वात् योगो विरुध्येत । रूढिरप्याकृत्यभावात् । सृष्टो कामः प्रधानमिति तन्निरूपणार्थमजशब्दकल्पनाऽत्र निरूपिता । कविं महत्तत्त्वम् । पूर्वावस्था रेतः, उत्तरावस्था कविरित्युभयोः साजात्याभावे कार्यमेकविधं न भवेदिति भगवतोऽप्यजत्वं निरूपितम् । अयमेव तामसहीनभावो भक्तेः, यद्भगवत एवंप्रकारेण निरूपणम् ॥४६॥

व्याख्या—परिकर सहित हम देवों के आप ही उत्पादक (पैदा करने वाले हैं) हालांकि हम भी अपने कार्य के उत्पादक हैं तो भी हम विकार वाले हैं । आपतो 'कूटस्थ' अविकारी हैं, आप 'पुरुष' हैं अर्थात् स्वतन्त्र हैं । हम प्राकृत होने से परतन्त्र हैं किन्तु आप 'पुराण' है अर्थात् सबसे प्राचीन होने से पहले के सब बृतान्तों को जानने वाले हैं, हम तो नवीन हैं, इस समय में उत्पन्न हुए हैं जिससे आगे का कुछ भी नहीं जानते हैं, अतः आपको ही हमारा सर्व कर्तव्य करना है और विशेष में हम आपके पुत्र रूप हैं, इसलिए पहले हमारी पालना आपको ही करनी चाहिए उसका प्रकार कहते हैं ।

हे देव ! आप देवरूपा शक्ति में (माया में) जिसकी योनि गुण और कर्मरूप है उसमें आपने बकरे आदि उत्पन्नार्थ वीर्य स्थापित किया है, अजा की योनि गुण और कर्मों को कहा है जिसका हेतु यह है कि उसमें से ही गुणरूप और कर्मरूप कार्य उत्पन्न होते हैं । यहां 'अजा' शब्द न योगिक[1] है और न रूढ़ि है, किन्तु कल्पना से संयुक्त है अतः 'अजा' पद यहां गौणी है 'कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोध' इस ब्रह्मसूत्र के अधिकरणानुसार 'अजा' पद का भावार्थ यहां कहा है । यदि 'अजा' पद का भावार्थ अधिकरणानुसार न माना जाएगा, तो ब्रह्मसूत्र में माया की उत्पत्ति कही है उसका अजा के यौगिक अर्थ से विरोध होगा, अजा में माया की आकृति न होने

१– व्याकरणानुसार व्युतपत्तिकर पद का जो अर्थ किया जाता है वह यौगिक, जैसे 'न जायते' इति अजा, जो पैदा नहीं होती है ।

से रूढ़ि अर्थ भी नहीं बन सकता है अतः अधिकरणानुसार कल्पना अर्थ ही उपयुक्त है ।

सृष्टि में 'काम' प्रधान है इसलिए उसके (काम के) निरूपण के लिए अजा शब्द कल्पनायुक्त कहा गया है, 'कवि' शब्द का अर्थ 'महत्तत्व' है । प्रथम अवस्था रेत है उत्तरावस्था 'कवि' है । यदि दोनों एक जाति न होवे तो कार्य एक प्रकार का न होवे, अतः भगवान् को भी 'अज' कहा है । भगवान् का इस प्रकार वर्णन करना, यह ही 'भक्ति' का तामस हीन भाव है ।।४९।।

आभास––ततस्तत्सजातीया एव वयमुत्पन्ना इत्याह—

आभासार्थ—उससे उसके जाति[1] वाले ही हम उत्पन्न हुए हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक––**ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे बभूविमाऽऽत्मन् करवाम किं ते ।**
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या देव ! क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम् ।।५०।।

श्लोकार्थ––हे आत्मरूप ! जिनमें सात्विक मुख्य हैं वैसे हम जिस कार्य के लिए उससे उत्पन्न हुए हैं वह कार्य हम कर सकें इसलिए हे देव ! उस कार्य करने के वास्ते आपके अनुग्रहीत हम लोगों को आप शक्ति सहित अपना (चक्षु) ज्ञान दीजिए ।।५०।।

सुबोधिनी–**ततो वयमिति । सत्प्रमुखाः** सात्विकाहङ्कारप्रमुखाः । **यस्य** भगवतः कार्यार्थे **बभूविम**ोत्पन्नाः । तर्ह्यन्यानुत्पादयिष्यामत्याशङ्क्याऽऽह-हे **आत्मन्निति** । सर्वेषां त्वमात्मा । न हि कार्याणां स्वभावतः कश्चन गुणो दोषो वास्ति, त्वत्त एव जातत्वात्त्वद्रूपत्वाच्च । अतोऽन्यानप्युत्पाद्य तेषु यदि शक्तिं दास्यसि, तदा तेऽप्युपयुक्ता भविष्यन्ति । अतो लाघवादस्मभ्यमेव तत्सामर्थ्यं देयमिति भावः । नन्वनाज्ञाकारिणो भवन्तः, यतोऽप्रवृत्ता एव तूष्णीं स्थितास्तत्राऽऽह–**करवाम किं इति** । ते तुभ्यं किं करवाम । आज्ञापनाभावात्, विशेशतोऽज्ञानाद्वा तूष्णीं स्थितिः । अतो वस्तुतो न दुष्टत्वम् । तर्हीदानीं ब्रह्माण्डनिर्माणं कुरुतेत्याशङ्क्याऽऽहुः—**त्वन् इति** । नोऽस्माकं त्वमेव सर्वार्थे तत्र साधकं स्वचक्षुः परिदेहि, येन चक्षुषा वयं निष्पादिताः । तत्र क्रियाशक्तिरेवाऽस्मासु प्रतिष्ठिता, न ज्ञानशक्तिरिति । अतः स्वचक्षुः परिदेहि । पारितो दानम्, सर्वेभ्यः क्रियाशक्त्या सह पुनर्देयम् । विशकलिततयोभयप्राप्तावपि न कायसिद्धिः । अतः स्वशक्त्या सह स्वचक्षुर्देहीति । ननूभयदानं सहदानं चाऽशक्यम्, उभयोरेकदा स्थित्यभावात्, एकं शब्दे अपरं क्रिययामित्याशङ्क्याऽऽह–**हे देवेति** । यद्यपि लौकिकन्यायेन, लौकिकेन वा, नैवं कर्तुं शक्यम्; तथापि भवान् देवः, अतोऽलौकिकसामर्थ्यात् मिलितमपि दांतु शन्कोतीति । ननु नियमेन भवद्भ्य एव देयमिति

---

[1] —उसके समान ही ।

कोऽयं निर्बन्धस्तत्राऽऽह—**क्रियार्थे यदनुग्रहाणामिति**। ब्रह्माण्डकरणार्थमेव यस्य भगवतोऽनुग्रहो येषाम्। येनाऽनुग्रहेण वयमुत्पादिताः, तेनैवाऽनुग्रहेण चक्षुः शक्त्या सह देयमित्यर्थः ।।५०।

व्याख्या—मुख्य सात्विक अहंकारी (हम), जिस (भगवान्) के कार्यार्थ उत्पन्न हुए हैं, यदि आप वह कार्य न करोगे तो हम अन्यों (दूसरों) को उत्पन्न करेंगे, ऐसी शंका का उत्तर देते हैं कि 'हे आत्मन्' आप सबकी आत्मा हैं, कार्यों का कोई स्वभाविक गुण वा दोष नहीं है क्यों आपसे ही उत्पन्न हुए हैं एवं आपके ही रूप हैं अतः अन्यों को पैदा करोगे तो उनको जब शक्ति दोगे तब वे भी उपयोगी हो सकेंगे, अन्यथा नहीं अतः अन्योत्पत्ति करने में विशेष श्रम वा समय लगेगा जिससे अच्छा है लाघवता में (थोड़े ही में) कार्य बन जाय इसलिए हमको ही वह सामर्थ्य दे दीजिए। यदि कहो कि आप आज्ञाकारी नहीं है जिससे कार्य में प्रविष्ट न होकर मौन धारण कर बैठे हो, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'करवामकि इति' आपके लिए क्या करें ? आपने यों करो, ऐसी कोई आज्ञा दी नहीं है और विशेष यह भी है कि हम अज्ञानी हैं इसलिए चुप हो कर बैठे हैं अतः जान लेना चाहिए कि हममें वास्तविक दुष्टता नहीं है, यदि आपमें दुष्टता नहीं है तो ब्रह्माण्ड का निर्माण कीजिए, इसका उत्तर देते हैं कि सर्व कार्य करने में हमारे सहायक (साधक) आप ही हैं। अतः वह अषनी चक्षु दीजिए जिस चक्षु (ज्ञान) से आपने हमको बनाया है वहां केवल क्रियाशक्ति ही हम लोगों में धरी है न कि ज्ञान शक्तिधरी है। अतः अब वह अपनी चक्षु (अपना ज्ञान भो दीजिए वह दान पूर्णतः कीजिए अर्थात् सर्व के लिए क्रिया शक्ति के साथ ज्ञान भी दीजिए टुकड़े टुकड़े होने से दोनों की प्राप्ति हो जाने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं होती है। अतः अपनी शक्ति (क्रियाशक्ति) के साथ अपनी चक्षु (अपनाज्ञान) दीजिए। दोनो का ज्ञान एक साथ में देना अशक्य है, दोनों की एकदा शक्ति हो नहीं सकती है। यदि कहा जाय कि एक की स्थिति क्रिया में और एक की ज्ञान में रहतो है तो इसके उत्तर में कहते हैं कि हे देव ! आप देव हैं अतः लौकिक नियम आपमें लागू नही हो सकते हैं लौकिक में दोनों की एकदा स्थिति नही हो सकती है किंतु आप देव है अतः अलौकिक सामर्थ्य आपमें हैं जिससे दोनों साथ में रह सकते हैं एव आप दोनों को साथ में दे भी सकते हैं। नियमपूर्वक आपको ही देवें ऐसा निर्बन्ध (आग्रह) आप कर रहे हो। इस पर कहते हैं, हम पर आपका अनुग्रह है। ब्रह्माण्ड रचना के लिए हम को अनुग्रह के कारण हो रचा अतः उसी अनुग्रह से क्रिया शक्ति सहित आपका ज्ञान भी दीजिए ।।५०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध पञ्चम् अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित भगवत्कृत सर्ग (बन्ध सृष्टि) प्रकरण
श्री सुबोधिनो (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री हरिः ॥

तृतीय स्कन्ध के कथांश के पद

अविगत-गति जानी न परै ।　　　　　　राग सारंग
मन-बच कर्म अगाध अगोचर केहि बिधि सँचरै ॥१॥
अति प्रचण्ड पौरुष बल पाऐ केहरी भूख मरै ।
अनायास बिन उद्यम कीन्हें, अजगर उदर भरै ॥२॥
रीतै भरै, भरैं पुनि ढोरे, चाहै फेरी भरै ।
कबहुंक तृन बूड़े पानी में, कबहुंक सिला तरै ॥३॥
बागर तै सागर करि डारै, चहुँ दिसि नीर भरै ।
पाहन बीच कमल बिकसावे, जल में अगिनि जरै ॥४॥
राजा रंक रंक तैं राजा, ले सिर छत्र धरै ।
सूर पतित तरि जाइ छिनक में, जो प्रभु नैकु ढरै ॥५॥

ऊद्धव-विदुर संवाद ।　　　　　　राग विलावल

जब हरि जू भए अंतर्धान । कहि ऊधव सौं तत्वहि ज्ञान ।
कह्यौ मयत्रेय सौं समुझाय । यह तुम विदुरहिं कहियो जाइ ॥१॥
बदरिकाश्रम दोउ मिलि आई । तीरथ करत करत दोउ अलगाइ ।
ऊधव विदुर तहाँ मिलि गए । दोउ कृष्ण प्रेम बस भए ॥२॥
ऊधव कह्यो हरि कहै जो ज्ञान । कहि हैं तुम्हैं मयत्रेय आन ।
यह कहि ऊधव आगे चले । विदुर मयत्रेय बहुरि मिले ॥३॥
जो कछु हरि सौं सुन्यो सुज्ञान । कह्यो मयत्रेय ताहि बखान ।
सोइ मोंहि दियौ व्यास सुनाई । कहौं सो सूर सुनो चितलाइ ॥४॥

विदुर जन्म　　　　　　राग विलावल

विदुर सु धर्मराइ अवतार । ज्यौं भयौं कहौं सुनो चित धार ।
मांडव ऋषि जब सूली दयो । तब सो काठ हरौ ह्वै गयौ ॥१॥
मांडव धर्मराज पै आयौ । क्रोधवंत यह वचन सुनायो ।
कौन पाप मैं ऐसौ कियो । जातें मोकौं सूली दियो ॥२॥
धर्मराज कह्यो सुन रिषिराइ । छमा करो तो दैउँ बताइ ।
बाल अवस्था में तुम धाई । उड़ती भँभीरी पकरी जाई ॥३॥
ताहीसूल पर सूली दयो । वाको बदलो तुम सौं लयौ ।
रिषि कही बाल दसा अज्ञान । भयौ पाप मोते विनु जान ॥४॥
बालापिन कौ लगत न पाप । ताते देऊँ तुम्हे मैं साप ।
दासी पुत्र होहु तुम जाय । सूर विदुर भयौ सौ इहि भाइ ॥५॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

भगवत्कृत सर्ग (बन्ध सृष्टि) प्रकरण

"अध्याय"—६

विराट् शरीर की उत्पत्ति

कारिका—**एवं भगवतः सृष्टौ भूतोत्पत्तिर्निरूपिता ।**
कालोत्पत्त्यर्थमधुना ब्रह्माण्डोत्पत्तिरुच्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार भगवान्[१] की सृष्टि में भूतों की उत्पत्ति कही, अब काल की उत्पत्ति के लिए ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति[२] कही है ॥१॥

कारिका - **स्वशक्तिदानभोगौ तु विषयत्वार्थमुच्यते ।**
विषयानन्त्यसिद्ध्यै हि माहात्म्यं विनिरूप्यते ॥२॥

---

[१] वेदोक्त भगवद्सृष्टि में भगवद्धर्म रूप भूतों की उत्पत्ति पूर्व अध्याय में कही गई है।

[२] अब इस अध्याय में भोग्य मात्राओं का निरूपण करना है, इसलिए भोग को सिद्ध करने वाला जो चेष्टारूप काल है उसकी उत्पत्ति के लिए उस (काल) के आधारभूत ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कही जाती है जिससे विषय की संगति हो सकेगी। ‘प्रकाश’

कारिकार्थ—भोग विषय की प्राप्ति के लिए ही अपनी शक्ति[१] का दान और भोग कहा है, विषयों की अनन्तता सिद्ध करने के लिए ही माहात्म्य[२] का निरूपण किया है ॥२॥

कारिका—**एवं भगवतो मात्राश्चतुर्द्धा विनिरूपिताः ।**
स्पर्शो भगवतो नाऽस्ति नद्भावाद्देहवद्भुजिः ॥३॥

कारिकार्थ—इस प्रकार भगवान् की तन्मात्राओं का निरूपण चार[३] प्रकार से किया, भगवान् को स्पर्श नही होता[४] है, क्योंकि वह सर्वत्र सबमें हैं अतः देहवत् उसका भोग स्वतः होता है ।।३॥

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते तत्वा प्रार्थनमुक्तम्तत्प्रा।र्थनमुपसंहरति—

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में तत्वों ने जो प्रार्थना की उसका वर्णन किया, अब निम्न श्लोक से उसका उपसंहार करते हैं।

१—तत्व भोग्य है अतः भगवान् उनका भोग करते हैं यों न कहकर उनको शक्ति देना और उनका भोग करते हैं यों कैसे कहा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि ब्रह्माण्ड की जो उत्पत्ति कही है वह इस लिए कही है कि ये तत्व भगवान् के भोग करने के विषय हैं, कारण कि ब्रह्माण्ड में ये तत्व अवयव हैं, उनके द्वारा ही अवयवी (भगवान्) भोग करते हैं। इस शक्ति के बिना नहीं हो सकता है इसलिए ही विषयत्व के लिए ही ये-दो (शक्तिदान और भोग) कहे हैं।

२—इनको लोकपाल रूप कहने से इनका महात्म्य प्रकट किया है तथा वे भोग विषय है ।

३—भोगायतन ब्रह्माण्ड शरीर में ही थे तत्व प्रविष्ट हुए हैं, वे जब तन्मात्रारूप होवे तब भोग्य हो सकते हैं। वे ऐसे (तन्मात्रारूप) किस प्रकार होते हैं ? इस शंकानिवारणार्थ 'एवं भगवतोमात्राश्चतुर्द्धा विनिरूपिताः' कहा है, ब्रह्माण्डोत्पत्ति, शक्तिदान और भोग तथा महात्म्य प्रकार से भगवान् ने मात्राऐं चार प्रकार की कही हैं, ब्रह्माण्ड में पृथ्वी प्रधान होने से उसकी मात्रा 'गन्ध' कही है, शक्ति मिलने पर परस्पर मिलाप गुण वाले रस (जल) की प्रधानता होने से उसकी 'मात्रा' भी रस है, भोग में रूप से प्रवेश करने के कारण उसकी मात्रा 'रूप' हैः महात्म्य में शब्द मुख्य है अतः 'शब्द' मात्रा कही है, इस प्रकार इन रूपों से इनका भोग्यत्व है ।

४—यहां यह शङ्का होती है कि 'स्पर्श' मात्रा क्यों नहीं की है, जिसका उत्तर देते हैं कि भगवान् अस्पृश्य हैं अर्थात् भगवान् को स्पर्श हो नहीं सकता है कारण कि स्पर्श से जो भोग होते हैं वे दुःख

● (शेष पृष्ठ २५९ पर देखें)

श्लोक—ऋषिरुवाच—**इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः ।**
प्रसुप्तलोकतन्त्राणांनिशाम्य गतिमीश्वरः ॥ १ ॥

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः ।
त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—ऋषि ने कहा—विद्यमान अपनी शक्तियों का मिलाप न देख तथा जिनसे लोक समूह निष्क्रिय हो रहा है, ऐसी स्थिति में महान् पराक्रमी भगवान् ने काल नाम वाली देवी शक्ति को धारणकर, तेबीस तत्वों के समूह में साथ ही प्रवेश किया॥१-२॥

सुबोधिनी—इतीति। एतावत्येव प्रार्थना। **तासां गतिं निशाम्य** निरीक्ष्य **शक्तिं बिभ्रद्युगपदाविशदिति** सम्बन्धः। तासु भगवत्प्रवेशो न युक्त इत्याशङ्क्याऽऽह—**स्वशक्तीनामिति**। **तासामिति**। स्त्रीत्वेन तासां विज्ञापनं न दोषाय, स्वस्यैव सामर्थ्यरूपत्वात्। तासां कृत्यभावे स्वसामर्थ्याभाव एव भवेत्। स्त्रीरूपाश्च ताः। भार्यासक्तं स्वयमेव करोति कारयति च। शक्तित्वादेव भिन्नतया स्थितिर्न दोषाय। न हि ता वाक्येन मिलन्ति, स्वेनैव तु मिलन्ति। पुरुषालिङ्गता एव ता एकीभवन्ति, न स्वभावतः। समानप्रतिपत्तेर्न वैमनस्यम्। अत एव स्वभावतः, **असमेत्य** अमिलित्वा, **सतीनां** विद्यमानानाम्। किञ्च, स्वप्रवेशव्यतिरेकेण तासु विद्यमानपि रजो न प्रकटीभवति। तदाह—**प्रसुप्तलोकतन्त्राणामिति**। प्रकर्षेण सुप्तानि लोकानां **तन्त्राणि** रचना यासु; तन्त्रं समूहो वा। प्रसुप्ता वा ये लोकाः। येषां जीवानां कर्म न प्रबुद्धं तदधीनास्ताः। प्राण्यदृष्टप्रेरिता एव ताः कार्याणि कुर्वन्ति। समष्टेर्गृहत्वेन व्यष्टीनामेव मुख्यत्वमिति पक्षः। पक्षद्वयमप्यत्र भगवतः पुरुषरूपद्वयसम्पत्त्यर्थं निरूप्यते। तदुक्तम्—**असमेत्य सतीनां प्रसुप्तलोकतन्त्राणामिति**। तासामन्योन्यमेलने ब्रह्माण्डोत्पत्तिः। कर्मप्रबोधने व्यष्टीनामुत्पत्तिः। एतत्सर्वं निशाम्य ज्ञात्वा अग्रे प्रकारभूतां गतिं च निशाम्य। सर्वप्रकारकरणसामर्थ्यार्थमाह—**ईश्वर इति** ॥१॥

(पृष्ठ २५८ का शेष)

के कारण होने से दुःख देनेवाले हैं, भगवान आनन्दमय हैं अतः उनमें सर्वथा दुःखाभाव है जिससे उनमें स्पर्श नहीं कहा है।

द्वितीय स्कन्ध में कहा है कि स्पर्श द्वारा ही गाढ़ सम्बन्ध होने पर भोग हो सकता है, तो उसके न भोग सिद्धि कैसे होगी? जिसके उत्तर में कहते हैं 'तद्भावाद्हवद्भुजिः' भगवान् ब्रह्माण्ड में सर्वत्र मौजूद हैं अतः ब्रह्माण्ड ही भगवान् की देह है इसलिए उनको स्पर्श की आवश्यकता नहीं है वह इस ब्रह्माण्ड रूप देह से ही देहवत् भोग कर सकते हैं (करते ही हैं)।

कारिका प्रकाश सम्पूर्ण

व्याख्या—तत्वों की इतनी ही प्रार्थना हुई अर्थात् तत्वों ने इतनी ही प्रार्थना की, तदनन्तर उनकी स्थिति देखकर शक्ति को धारण करते हुए भगवान् ने उनमें (तेवीस तत्वों के गुण में) साथ ही प्रवेश किया ।

भगवान् उनमें प्रवेश करें यह उचित नहीं, ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि, वे तत्व मेरी ही (भगवान् की ही) शक्तियां हैं एवं स्त्री रूपा हैं । इसलिए वे प्रार्थना करें उसमें कोई दोष नहीं तथा भगवान् उनमें प्रवेश करें जिसमें भी कोई अनौचित्य नहीं है वे तत्व (शक्तियां) अपनी ही (ईश्वर को ही) सामर्थ्य रूप होते हुए भी यदि कार्य न करें तो अपने में (भगवान् में) सामर्थ्य नहीं है यों सिद्ध होगा । वे (तत्व) तो स्त्रीरूपा हैं, यदि पति का आज्ञप्त कार्य स्त्री न करे तो स्त्री आसक्त पति स्वयं ही करता है अथवा उससे करवाता ही है, शक्ति होने से अलग स्थिति में भी दोष नहीं है, वे (शक्तियां) स्त्रीरूपा होने से केवल वचन (कहने) से नहीं मिलती हैं, जो अपना (स्वामी) है उससे ही मिलती है, जब पुरुष स्वयं आलिगन करता है तब वे साथ में आ जाती हैं, किन्तु स्वतः (अपने आप) नहीं आती हैं क्योंकि उनका स्वभाव (प्रकृति) ही ऐसी है मिलने में दोनों को (पुरुष एवं स्त्री को) समान लाभ है अतः उनको (स्त्री तत्वों को) अप्रसन्नता (नाराजगी) नहीं होती है, स्वभाव से स्वतः न मिलने के कारण रजोवती होते हुए भी बिना पुरुषरूप भगवान् में प्रवेश के वह रज प्रकट नहीं होती है, इसलिए लोकों की रचना नहीं हो सकने से लोक वहां उनमें जड़वत् पड़े थे, क्योंकि जीवों के कर्म अब तक जाग्रत नहीं हुए हैं, वे तत्वशक्तियां उन कर्मों के अधीन है, प्राणियों के प्रारब्ध से प्रेरित होकर ही वे (शक्तियां) कार्यों को कर सकती हैं, तत्व समूह 'गृह' के समान है अतः वह कुछ नहीं कर सकता है किन्तु पृथक पृथक शक्ति व्यक्तिरूप होने से कार्य करने में समर्थ हैं जैसे घर के मनुष्य ही कार्य कर सकते हैं न कि गृह ।[1]

यहां दो पक्ष भगवान् के दो पुरुषरूप धारण सम्पत्ति के लिए कहा है उनके परस्पर मिलने पर ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है । कर्म के जागृत होने पर व्यष्टियों की उत्पत्ति होती है । यह सर्व जानकर आगे जिस प्रकार की स्थिति होने वाली है उसका विचार कर, सर्व प्रकार कार्य करने की शक्ति को धारण कर प्रवेश किया अतः 'ईश्वर' नाम दिया है ॥१॥

आभास—एवं समर्थो निश्चित्य यत्कृतवांस्तदाह–

आभासार्थ—इस प्रकार समर्थ ईश्वर ने निश्चय कर जो किया वह दूसरे श्लोक में कहते हैं ।

सुबोधिनी—कालसंज्ञामिति । काल इति संज्ञा यस्याः । कालोऽप्येका भगवच्छक्तिः, अन्यथा पुरुषद्वयप्रवेशे शक्तिषु रसाभासः स्यात् : कालेन संज्ञा बोधो यस्याः सा, तां वा । मर्यादारूपा सा शक्तिः सृष्टिकाले प्रबुध्यते, अन्यास्तु भगवता प्रबोध्यन्ते । तया सह भगवद्दर्शनेन तासां मात्सर्य

---

[1] १—दो पक्ष हैं-समूह भी मुख्य है और व्यवित भी मुख्य है अतः कार्य करने में दोनों का संयोग होना आवश्यक है ।

मा भवत्विति **देवीमित्युक्तम्** । सा हि देवतारूपा अतिसूक्ष्मा, तया विना कर्मप्रबोधो दुर्घटः । कर्म कालाधीनमेव, अत एव काले कर्मविधानम् । तस्या अप्रयोजकत्वं निराकरोति—**शक्तिमिति** । **बिभ्रदिति** प्रेवेश्यरूपव्यावृत्त्यर्थमुक्तम् । तत्र भगवतोऽतिसामर्थ्यं वक्तुम्, तादृशसामर्थ्यं भगवतो वर्तत इति ज्ञपयति—**उरुक्रम इति** । अद्भुतचरित्रत्वमुरुक्रमे सिद्धम्, तेनैवाऽद्भुतचरित्रेण **त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत्**। प्रकृतिपुरुषौ परित्यज्य शिष्टास्त्रयोविंशतिर्भवंति । युगपत्प्रवेशोऽद्भुतचरित्रम् । तप्तयोः सन्धिरिव नैकतरप्रवेशे कार्यसिद्धिः । गणप्रवेशो गणादेव कार्यमिति सूचयितुम् । अत्र प्रवेशो न जलादेरिव, किन्तु **तेजस इवाऽयोगौलादावावेशः** यथा गणकार्यं भगवत्कार्यं भवति, अन्यथा भगवच्चरित्रताऽस्य सर्गस्य न स्यात् । तदाह—**आविशदिति** ॥२॥

व्याख्या—भगवान् ने काल के साथ ही तैंवीस तत्वों के गुण में प्रवेश किया यों कहने से शङ्का उत्पन्न होती है कि तत्व (स्त्रोरूप हैं) उनमें दो पुरुषों के प्रवेश से रसाभास होगा । जिसके उत्तर में कहते हैं कि काल पुरुष रूप नहीं है किन्तु भगवान् की एक स्त्रीरूप शक्ति ही है केवल उसका नाम 'काल' है । जिस नाम से पुरुषत्व की भ्रांति होती है । काल भगवान् की मर्यादा रूप शक्ति है बह सृष्टि करने के समय ही जागृत होती है । दूसरी शक्तियों को भगवान् स्वयं जगाते हैं ।

भगवान् के साथ काल नाम वाली स्त्री शक्ति को भी अपने में प्रविष्ट देखकर उनको (अन्य स्त्रीरूप तत्व शक्तियों को) तो मात्सर्य (डाह) हुवा होगा ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि उनको मात्सर्य नहीं हुआ है क्योंकि यह कालरूपा शक्ति 'देवी' है अर्थात् देवतारूप होने से अति सूक्ष्म है, उसके बिना कर्मों का जागृत होना दुर्घट (मुश्किल) है, कारण कि कर्म काल के अधीन है, इसलिए ही काल में ही कर्म करने की आज्ञा है, यदि कहो कि वह अप्रयोजक है तो यों कहना उचित नहीं है क्योंकि वह 'शक्ति' है और इसका रूप प्रवेश्य नहीं है, यों बताने के लिए विभ्रत पद दिया है, इस विषय में भगवान अतिशय सामर्थ्य वाले हैं, भगवान् में अति विशेष (अनन्त) सामर्थ्य है जिसके सिद्धयर्थं भगवान् का नाम यहां 'उरुक्रम' दिया है । इस स्वरूप से भगवान् ने अद्भुत चरित्र कर दिखाए हैं यह सिद्ध ही है । उसही तरह अद्भुत चरित्र दिखाते हुए २३ तत्वों के गण में साथ में ही प्रविष्ट हुए, प्रकृति और पुरुष के सिवाय शेष तत्व २३ होते हैं । साथ में प्रवेश करना अद्भुत चरित्र है, लोह के दो टुकड़ों को मिलाना हो तो दोनों को तपाना पड़ता है तब वे परस्पर मिल जाते हैं । यदि एक को ही तपाया जाय तो वे नहीं मिल सकते हैं वैसे यहां भो समझना चाहिए अर्थात् एक तत्व में पृथक प्रवेश से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । अतः सर्व तत्वों में साथ ही प्रविष्ट हुए जिससे ही सम्पूर्ण कार्य को सिद्धि हो गई । भगवान् का गण में यह प्रवेश जल के समान नहीं है किन्तु जैसे लोहे के गोले में अग्नि प्रविष्ट हो उसको अग्निमय कर देती है वैसे ही भगवान् ने प्रवेश कर तत्वों को भगवन्मय बना दिया, जैसे गण का कार्य भगवत्कार्य हो, यदि यों न होवे तो इस सृष्टि

का उत्पादक भगवान् है यह न कहा जावे, अतः सृष्टि रचना वाला समग्र चरित्र भगवान् का ही चरित्र है, इसलिए ही कहा है कि 'अविशत्' प्रविष्ट हो स्वयं कार्य किया ।।२।।

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ—अनन्तर क्या हुआ ? इस पर कहते हैं—

श्लोक—सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् ।
भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ।।३।।

श्लोकार्थ—सोये हुए कर्मों को जगाते हुए, उस तत्वसमूह में चेष्टा रूप से पीछे प्रविष्ट भगवान् ने पृथक-पृथक जो तत्व थे उनको इकट्ठा किया ।।३।।

सुबोधिनी—सोऽनुप्रविष्ट इति । यद्यपि ताभिः क्रियया सह ज्ञानमेव प्रार्थितम्, न सहप्रवेशः । तथापि भगवदेवकार्यं न ताभिः सेत्स्यतीति भगवान् स्वयमेव प्रविष्ट । अतः परं प्रार्थितस्य प्रयोजनाभावान्न प्रार्थितं दत्तम् । **ननु** स्वभावत एव सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपो भगवानस्ति, तथापि चेत्कार्यं न सिध्यति, किं प्रवेशेनाऽपि भवेत् ? तत्राऽऽह—**चेष्टारूपेणेति** । **चेष्टा** प्रयत्नः । कार्योपयोगिज्ञानेच्छाप्रयत्नरूपेण, केवलप्रयत्नरूपेण वा तत्र प्रविष्टः । प्रविश्य पुनस्तं गणं भिन्नं संयोजयामास । सृष्टावेव कार्यजननसमर्थास्ते सृष्टाः, परं भिन्ना इति योजनमेव कर्तव्यम् । सम्यक् योजनं यथा कार्यमुपपद्यते । सङ्गे नितायाः शक्तेः प्रयोजनमाह - **सुप्तं कर्म प्रबोधयन्निति** । प्राणिनां यत् सुप्तं कर्म, तत् कालशक्त्या प्रबोधयन् । प्रबोधनप्रवेशयोः समानकालत्वे उभयविधं कार्यमेकदा सिध्यति । प्रबोधनस्य भिन्नहेतुकत्वान्न प्रधानक्रियासम्बन्धः ।।३।।

व्याख्या—हालांकि तत्वों ने क्रिया के साथ ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रार्थना की थी, न कि भगवत्प्रवेशार्थ प्रार्थना की थी. तोभी भगवान् ने सोचा कि जो कार्य मुझमे होने वाला है वह कार्य ये (तत्व) नहीं कर सकेंगे । इसलिए भगवान् खुद ही इनमें प्रविष्ट हुए, इसके बाद जिस (ज्ञान प्राप्ति) के लिए प्रार्थना की थी उस (ज्ञान) का प्रयोजन न होने से वह प्रार्थित (ज्ञान) नहीं दिया ।

जबकि स्वभाव से ही सकल वस्तुओं में वस्तुस्वरूप भगवान् हैं, तब भी यदि कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है तो प्रवेश होने पर भी क्या होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए कइते हैं कि 'चेष्टारूपेण' पहले सर्व वस्तुओं में केवल वस्तुस्वरूप मे थे । अब कार्योपयोगी ज्ञानेच्छा और प्रयत्न रूप से अथवा केवल प्रयत्न रूप से उनमें प्रविष्ट हुए हैं, प्रवेश कर जो तत्व भिन्न भिन्न थे उनको मिलाया वे सृष्टि में कार्य कर सके ऐसे बनाये थे किन्तु वे पृथक पृथक थे अतः उनको मिलाना था बिना मिलने के कार्य नहीं कर सकेंगे अतः इस प्रकार इनको मिलाया जिससे सृष्टि कार्य करने में समर्थ हो

सके. भगवान् ने अपने साथ जिस शक्ति (काल) को लेकर प्रवेश किया उसका प्रयोजन बताते हैं 'सुप्तंकर्म प्रबोधयन्' प्राणियों के कर्म जो सोये हुए थे कार्य करने में शक्त नहीं थे उनको काल शक्ति द्वारा जागृत कर कार्य योग्य बनाया, जागृत करने तथा प्रवेश होने का कर्म एक ही समय साथ में होने पर दोनों प्रकार के कार्य (समष्टि और व्यष्टि रूप कार्य) साथ ही सिद्ध होवे, जागृत का हेतु भिन्न होने से प्रधान क्रिया से उसका सम्बन्ध नहीं है ।।३।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः ।**
प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिराधिपूरुषम् ।।४।।

श्लोकार्थ—दैव ने जिस तत्वसमूह के गण **के** कर्मों को जगाया तथा प्रेरणा की उस गणने अपनी मात्राओं से ब्रह्माण्ड की रचना **की** ।।४।।

सुबोधिनी—प्रबुद्धकर्मा दैवेनेति । सुप्तैः सह करणमप्यशक्यम् । प्रबुद्धे साहाय्यमपि तेन सिद्धयति । **दैवेनेति** देवतारूपया शक्त्या । स्त्रिया प्रबोधे स्मार्थं भवेदिति नपुंसकनिर्देशः । तया सहितं भगवद्रूपं वा दैवशब्देनोच्यते । सर्वत्र कर्मप्रबोधार्थं पुनस्त्रयोविंशतिको **गण** इत्युक्तम् । पुनर्भगवत्कार्यान्तरमाह **प्रेरित इति** । मेलनं प्रेरण च **भगवत्कार्यम्** । भगवतः प्रवेशात्तस्य गणस्य व्यापकता जाता । ततो गणांशैरल्पैरेव ब्रह्माण्डनिर्माणं जातमित्याह—**स्वाभिर्मात्राभिरिति** । **अधिपुरुषं** ब्रह्माण्डम् । पुरुषमधि पुरुषशरीरत्वात् । पूरुषशब्दोऽप्यस्ति । पुरुषादप्यधिकं वा, आवरणानामपि जननात् । भगवत्प्रेरणया गणेन कृतत्वात् भगवत्कृतमेव ।।४।।

व्याख्या—जो सोये हुए हैं उनके साथ कार्य करना भी कठिन है। जागृत हो तो सहायता भी कर सके, 'दैवेन' पद का आशय है देवता रूप शक्ति से, स्त्री यदि जागृत होकर करती है तो अपने स्वार्थ के लिए करती है, किन्तु यह जागृत करने वाली शक्ति स्त्री नहीं है इसलिए 'दैवेन' यह नपुंसकलिंग दिया है । जिसका भाव यह है कि उसने अपने स्वार्थ के लिए जागृत नहीं किया है अथवा उसके साथ जो भगवद्रूप है 'दैव' शब्द से उसका सूचन किया है, **सर्वत्र** कर्मों के जागृत करने के लिए फिर त्रियोविशंति को गणः' २३ तत्वों का गण कहा है, **पुनः** भगवान् का दूसरा कार्य कहते हैं "प्रेरितः" भगवान् से प्रेरणा किया हुआ भिन्नों को मिलाना वा **प्रेरणा** करना दूसरा भगवत्कार्य है, भगवान् के प्रवेश से उस गण की व्यापकता हुई. पश्चात् उससे **गण के** अल्पांशों से हो ब्रह्माण्ड निर्माण हुआ यह स्वाभिर्मात्राभिः' पद से दिखाया है । 'अधिपुरुषम्' पद का अर्थ ब्रह्माण्ड है 'पुरुषंअधि' 'अधिपुरुष' पुरुष शरीर त्वात्, पुरुष शरोर होने से अधिपुरुष कहा गया है, पुरुष शब्द भी है

अथवा पुरुष से भी अधिक आवरणों के भी उत्पन्न होने से **'ब्रह्माण्ड'** पुरुष से अधिक (विशेष) है। गण ने जो कार्य किया वह भगवत्प्रेरणा से किया अतः वह भगवत्कृत ही है ।।४।।

आभास—एवं ब्रह्माण्डसृष्टिमुक्त्वा द्वितीयपुरुषमुपपाद्य तृतीयमुपपादयितुं तत्रैव पुन:कार्यमाह —

आभासार्थ इस प्रकार ब्रह्माण्ड की सृष्टि कहके द्वितीय पुरुष का उत्पादन बता के अब तृतीय पुरुष (समष्टि तथा व्यष्टि रूप देह) की उत्पत्ति कर वहाँ ही कार्य होने का वर्णन करते है:—

श्लोक—**परेण विशता स्वस्मिन् मात्रया विश्वसृङ्गणः ।**
चुक्षोभाऽन्योन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः ।।५।।

श्लोकार्थ—जब भगवान् ने अंश रूप से अपने उस शरीर में प्रवेश किया तब विश्व को रचनेवाले महत्तत्वादि परस्पर मिला कर परिणाम को प्राप्त हुए अर्थात् स्वरूप धारण में समर्थ हुए, वह ही (तत्वों के मिलन से उत्पन्न परिणाम ही) विराट् पुरुष है जिसमें चराचर जगत् विद्यमान् है ।।५।।

सुबोधिनी—परेण विशतेति । स्वस्मिन् विशता परेण भगवता हेतुना कृत्वा विश्वसृङ्गणश्चुक्षोभ । परं **मात्रया**, एकदशेन अन्तः स्थितेन, अन्यथा ब्रह्माण्डभेदः स्यात् । अन्त:कार्यार्थमेव **स्वस्मिन् विशतेत्युक्तम्**, अन्यथा भगवत्प्रवेशेन क्षुब्धो जात इति वदेत् । अतः प्रवेशेनाऽक्षोभ एव । तदैकं ब्रह्माण्डं निष्पन्नम् । यदा पुनः स नियामकेन रूपेण, भिन्नरूपेण वा स एव गणः स्पृष्टः, तदा मध्ये सहस्रधा विदीर्णश्चुक्षोभ, अन्यथा व्यष्टिपुराणि न सृष्टानि भवेयुः। क्षोभफलमाह—**अन्योन्यमासाद्येति** । स हि विश्वसृजां गणः, विश्वसृष्टिस्तस्य स्वतः कार्यम् । अत एकस्मिन्नपि व्यष्टौ सर्वतत्त्वानां कार्यसिद्ध्यर्थमन्योन्यमासाद्य चुक्षोभ । एकस्मिन्नपि द्वाविंशतितत्त्वानाँ प्रवेशः । एवं प्रस्तारे आनन्त्यं भवत्याकृत्यधिकरणन्यायेन । अतस्तदर्थमेवाऽन्योन्यासादनम् । ततो यज्जातं तदाह **यस्मिन्न**न्योन्यासादनपूर्वकक्षोभयुक्ते गणे चराचरा एव लोकाः ।।५।।

व्याख्या—अपने में भगवान् का प्रवेश होने से विश्व रचने वा गणों में क्षोभ (हलचल) उत्पन्न हुआ, किन्तु भीतर एक देश **स्थित** मात्राओं से एक भाग में ही क्षोभित हुए, नहीं तो ब्रह्माण्ड में भेद हो जाता । भगवान् भीतर **कार्य** करने के लिए ही समूह में प्रविष्ट हुए यों कहा है, नहीं तो कहते कि भगवत्प्रेरणा से क्षुब्ध **हुए** अत: **प्रवेश** से समस्त में क्षोभ न हुआ तब एक ब्रह्माण्ड बना, यदि समस्त में क्षोभ होता तो **अनेक** प्रकार के ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाते ।

जब फिर भगवान ने **नियामक** रूप से अथवा भिन्न-भिन्न रूप से उस ही गण का स्पर्श किया

तब मध्य में सहस्र प्रकार से विदीर्ण हो क्षोभित हुआ यदि यों न होता तो इतने व्यष्टि देह न बनते क्षोभ का फल कहते हैं—'अन्योऽन्यमासाद्य' अर्थात् जो पृथक थे वे परस्पर मिल गये जिससे वह गण अपना सृष्टि रचने का कार्य करने में सशक्त हुए अतः प्रत्येक व्यष्टि में भी सर्व तत्वों की कार्यसिद्धि के लिए परस्पर मिल हलचल करने लगे। हर एक तत्व में शेष २२ तत्व प्रविष्ट हुए, यों विस्तार होने से आकृति के अधिकरण के न्यास से व्यक्तियों की अनन्तता हुई। इसलिए ही मिले थे. इसका जो फल हुआ वह कहते हैं कि, इससे उस गण में चर और अचर लोक स्थित हुए ।।५।।

आभास—एवं समष्टिव्यष्टिदेहानामुत्पत्तिमुक्त्वा तत्र सर्वत्र भगवत्प्रवेशार्थं जीवानामप्रवेशः, तत्त्वान्यपि भगवत्प्रवेशार्थं सर्वसामग्रीं सम्पादयन्ति स्थितानीत्याह—

आभासार्थ – इसी तरह समष्टि तथा व्यष्टि देहों की उत्पत्ति कहकर अब कहते हैं कि सर्वत्र भगवान् प्रविष्ट हो इसलिए जीवों ने प्रवेश नहीं किया। तत्वों ने भी भगवान् का प्रवेश हो, इस लिये सकल सामग्री सम्पादन करने लगे—

श्लोक—**हिरण्मयः स पुरुषः (स पुरुषः) सहस्रपरिवत्सरान् ।**
आण्डकोश उवासाऽप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ।।६।।

श्लोकार्थ—समस्त सत्त्व सहित वह सुवर्णमय पुरुष सदंशों से सम्बद्ध हो एक सहस्र वर्ष पर्यन्त ब्रह्माण्ड के कोश के भीतर स्थित हो जल में रहा ।।६।।

सुबोधिनी—हिरण्मय इति । स हि ब्रह्माण्डात्मा हिरण्मयः सुवर्णात्मकः। पृथिव्यप्तेजसां समानांशतया अन्योन्याभिभवाभावेन यत्कार्यंतत्सुवर्णमित्युच्यते। जलाधिक्ये रौप्यम्, पृथिव्याधिक्ये त्वन्ये धातवः, द्वयोः कारणप्रवेशे मृण्यानि। मृदस्तेजसाऽतितापे सिकताः मध्यतापे पाषाणाः, अल्पतापेत्विष्टकाः। जीवसंबन्धेन स्थावरास्थिभेदाः काष्ठादयः। तत्र स विराट्पुरुषो हिरण्मयः, सुवर्णप्रतिमावत्। स एव पुरुषो देहरूपेण, पुरुषसहितो वा, सहस्त्रपरिवत्सरपर्यन्तं स्वयमण्डात्पृथग्भूत एव, नालिकेरफलवत्, तस्मिन्नेवाऽण्डकोशे अधस्तात्स्थितगर्भोदके, देहात् स्वत एव सृतोदके, स्वसृष्टे वा उदके, शयनं कृतवानित्याह—**उवासाऽप्स्विति** । व्यष्टीनामपि तदा शयनमेवेत्याह—**सर्वसत्त्वोपबृंहित इति सर्वाणि सत्त्वानि** जीववद्देहाः सदंशत्वात्सत्त्वानीत्युच्यन्ते। तैरुपबृंहितः संबद्धः। नरायणोदर एव सर्वाणि भूतानि स्थितानीत्यर्थः। अस्मिन् पक्षे न निरात्मकः कियत्कालं स्थितः, पूर्वमेव भगवत्प्रवेशात्। सृष्ट्वा प्रवेशपक्षे तु निरात्मकस्थितिः। अत एवाऽत्र सपुरुष इत्युक्तम्। अत्र तु सहस्त्रवर्षपर्यन्तमन्तः कार्यं न कृतवानिति केवलं सत्त्वैरुपबृंहितः कार्यप्रकारपर्यालोचनार्थं स्थितिः ।।६।।

व्याख्या—क्योंकि वह ब्रह्माण्ड की आत्मा सुवर्णमय पुरुष है। पृथ्वी, जल और तेज, ये तीन ही समान अंश से परस्पर मिलकर जब रहते हैं तब वह सुवर्ण होता है। यदि उनमें जल का भाग अधिक हो तो रौप्य हो जाता है यदि उनमें पृथिव्यंश विशेष हो तो अन्य धातु बन जाती है।

जल और तेज कारण में प्रवेश करे तब मृत्तिका का कार्य (पदार्थ) हो जाता है मृत्तिका को तेज का विशेष ताप मिलने से 'रेत' बनती है यदि मृत्तिका तेज का मध्यम ताप मिले तो पाषाण बनते हैं मृत्तिका को अल्प ताप मिले तो ईंटें बन जाती है। मृत्तिका से यदि जीव का कुछ संबन्ध हो जावे तो वह मृत्तिका स्थावर रूप काष्ठ आदि के रूप में वा उनके अनेक भेदों में परिणत होती है।

वहां वह सुवर्णमय विराट् पुरुष, सुवर्ण प्रतिमावत् रहता है। वह ही पुरुष देहरूप से अथवा पुरुष के (जीव) साथ नारियल के फल के समान स्वयं अण्ड से (ब्रह्माण्ड से) पृथक रहा, उसी ही ब्रह्माण्ड कोश के नीचे स्थित गर्भरूप उदक में स्वत एव देह से उत्पन्न जल में अथवा आपने ही जिस जल को उत्पन्न किया उस जल में सहस्त्र परिवत्सर पर्यन्त शयन किया 'सर्वसत्वोपबृंहितः' पद से कहते हैं कि उस समय व्यष्टि भी सोये हुए थे। किस तरह वह बताते हैं कि देह सदंश होने से जीव की तरह सत्व कहे हैं उनसे सम्बन्धित होकर जल में वास किया अर्थात नारायण के उदर में ही सर्वसत्व (भूत) स्थित हुए हैं। इस पक्ष में अर्थात् इस सिद्धांत में यह सिद्ध किया है कि कभी भी आत्मा के बिना वह ब्रह्माण्ड नहीं था क्योंकि भगवान् ने सबसे पहले ही उसमें प्रवेश कर रखा था, रच कर फिर प्रवेश किया इस पक्ष में तो प्रथम आत्मा रहित स्थिति थी, इस कारण से ही यहां कहा है कि पुरुष सहित प्रवेश किया, यहां अर्थात् इस सिद्धान्तानुसार सहस्त्रवर्षपर्यन्त कार्य किए बिना ही भीतर रहे किन्तु भीतर केवल सत्वों से कार्य के प्रकार का विचार करने के सम्बद्ध रहकर स्थित हुए ॥६॥

आभास––ततः कार्यं कृतवानित्याह––

आभासार्थ—अनन्तर कार्य किया जिसका वर्णन निम्न श्लोक में किया है—

श्लोक––**स वै विश्वसृजां गर्भो दैवकर्मात्मशक्तिमान् ।**
विबभाजऽऽत्मनाऽऽत्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥७॥

श्लोकार्थ––दैव, कर्म और आत्मा की शक्ति वाले विश्व की रचना करने वालों के उस गर्भ (बालक) ने स्वयं अपने एक, दश और तीन प्रकार (विभाग) किए ॥७॥

सुबोधिनी – स वै विश्वसृजां गर्भ इति। विश्वसृजां तत्त्वानां गर्भो बालकः, अन्तः सामर्थ्यरूपो वा; त्रिविधकर्मात्मको जातः। चेष्टारूपस्य भगवतः प्रवेशात् कर्मशक्तियुक्तो जातः। कर्मप्रेरककालशक्तिप्रवेशात् दैवशक्तियुक्तो जातः। विश्वसृजां सहजसामर्थ्यात् कारणधर्मेणाऽऽत्मशक्तियुक्तो जातः। अतस्त्रिविधशक्तिमानात्मानमेव विबभाज। केचनाऽऽत्माधीनाः कृतास्तेऽध्यात्मिकाः, केचन दैवाधीनास्ते आधिदैविकाः, कालाधीना इत्यर्थः, केचन क्रियाधीनास्ते आधिभौतिकाः। अतो भगवतः क्रियारूपस्य प्रवेशात् क्रियया भगवत्कार्यमेव कर्त्तव्यम्, भगवत्क्रियया‌ऽन्यकरणे तु स्पष्टो दोषः। तदाह—**विबभाजेति**। अतः परं तस्य कारणान्तरं नाऽपेक्षितमित्याह—**आत्मनाऽऽत्मानमिति**। तत्र त्रैविध्यमवान्तरभेदान् वदन्नाह—**एकधेति**। प्रथमभेदे सात्त्विके दैवे एक एव भेदः, द्वितीये राजसे दश भेदाः, तृतीये तामसे त्रयो भेदा इति ॥७॥

व्याख्या – विश्व की रचना करने वाले तत्वों का वह गर्भ अर्थात् बालक था अथवा भीतर का सामर्थ्यवाला था जो तीन तरह का बना कैसे ?—चेष्टारूपभगवान् के प्रवेश से कर्म की शक्ति वाला बना २– कर्म की प्रेरणा करने वाली काल की शक्ति के प्रवेश से देव शक्तिशाली बना, विश्व रचकों की सहजसामर्थ्य से कारणधर्म द्वारा आत्मा की शक्ति से युक्त हुआ, अतः त्रिविध शक्तिवाले ने अपने विभाग किए, कितने ही विभाग आत्मा के आधीन किए वे आध्यात्मिक, कितने ही देव के आधीन किए वे आधिदैविक (अर्थात् कालाधीन) कितने ही क्रिया के आधीन किए वे आधिभौतिक, अतः क्रियारूपभगवान् के प्रवेश से क्रिया द्वारा भगवत्कार्य ही करना चाहिए भगवान् की क्रिया से यदि दूसरे का कार्य किया जाएगा तो दोष लगेगा, वह दोष उत्तरार्द्ध में 'विबभाजात्मना' से कहते हैं कि 'आत्मनाऽऽत्मानम्' अपने विभाग आपसे ही तीन प्रकार के अवान्तर भेद कहते हैं एक प्रकार का भेद, वह सात्विक देव था जो एक ही प्रकार का था दूसरा राजस था जिसमें दश भेद थे तीसरा तामस था जिसमें तीन भेद थे ॥७॥

आभास—नन्वेतावद्भिरेव भेदैः कथं सर्वं कार्यं सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽह—

आभासार्थ—इतने ही भेदों से सर्व कार्य कैसे सिद्ध होंगे ? इस शंका का उत्तर इस श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः।**
आद्योऽवतारो यत्राऽसौ भूतग्रामो विभाव्यते ॥८॥

श्लोकार्थ—निश्चय से इन सकल प्राणियों की आत्मा परमात्मा अंश प्रथम अवतार है, जिसमें यह भूत ग्राम (भूतों का समूह) देखने में आता है ॥८॥

सुबोधिनी—एष हीति। अशेषसत्त्वानामात्मा। हि युक्तश्चायमर्थः। बीजं यादृशमेव भवति तादृशमेव कार्यं भविष्यतीति, सर्वेषामात्मत्वात् स चेदेवंप्रकारेण त्रिरूपो जातः, तदा सर्वाण्येव सत्त्वानि तथा भविष्यतीति सर्वमेव कार्यं सेत्स्यति। किञ्च, किमनेनैकेन, एतादृशा भगवतः कोटिशः सन्त्यंशाः; अतो भगवताऽप्यनेके भेदाः सेत्स्यन्तीत्यभिप्रायेणाऽऽह—**परमात्मनोंश इति**। अयं गर्भः पुरुषोत्तमस्यांशः, कोट्यंशानामप्यंशः। परमयमानन्दांशइत्याह—**आद्योऽवतार इति**। चिदंशास्तु जीवाः। सर्वेषां ब्रह्मांण्डान्तर्वर्त्यवताराणामयमाद्योऽवतारः। स ह्यक्षरात् परतो विद्यमानो भगवान् प्रथममस्मिन् विराजि उत्तीर्णः, पश्चान्मध्ये। इदमेवाऽवतरणम्। संबन्धश्च बहिर्वदिति पूर्वमुक्तम्। अस्याऽवतारस्य स्वरूपात् प्रच्युतिः केनाऽप्यंशेन नाऽस्तीत्यभिप्रायेणाऽऽह **यत्राऽसौ भूतग्रामो विभाव्यत इति**। प्रपञ्चाश्रयत्वमेव भगवत्त्वम् अतो नारायणोऽयं प्रपञ्चाधारत्वाद्भगवानेव। असौ परिदृश्यमानो भूतग्रामो यस्मिन् पुरुषे विशेषेण भाव्यते, शबलतया निष्ठतीत्यर्थः ॥८॥

व्याख्या—यह समस्त प्राणियों की आत्मा है 'हि' पद से यह भाव बताया है कि यह अर्थ उचित है क्योंकि जसा कार्य (फल) होता है (होगा) सर्व की आत्मा होने से वह जब इस तरह तीन रूप हुआ तब सर्वसत्व वैसे ही होंगे. यों सर्व कार्य पूर्ण होगा। किन्तु क्या इस एक से भगवान के इतने करोड़ अंश हुए हैं? यदि यों है तो भगवान् से भी अनेक भेद होंगे? इस अभिप्राय से अर्थात् इस संशय निवृत्यर्थ कहा है कि 'परमात्मनोंऽशः' यह परमात्मा का अंश है। यह गर्भ (विश्व रचना करने वाले तत्वों का गर्भ अर्थात् बालक अथवा (अन्तः सामर्थ्य) पुरुषोत्तम का अंश है अर्थात् करोड़ों अंशों का भी अंश है, किन्तु यह आनन्दांश है। इसलिए कहा है कि 'आद्योऽवतारः यह आद्य अवतार है, जीव तो चिदंश है ब्रह्माण्ड में जो सर्व अवतार हैं उनमें यह आद्य (प्रथम) अवतार है।

जो अक्षर से परे विद्यमान् भगवान् हैं उन ने प्रथम इस विराट पुरुष में अवतार लिया पश्चात् मध्य में दूसरे अवतार लिए इसको ही अवतार कहा जाता है, सम्बन्ध तो उनकी तरह है जो पहले ही कहा गया है, इस अवतार के स्वरूप से कभी भी हानि नहीं होती है, इस अभिप्राय से कहा है कि जहां यह भूतग्राम (भूतों का समूह) सदैव स्थित है, भगवत्व अर्थात् भगवान्-पन उसे कहते हैं जिसमें प्रपंच आश्रय लेवे। अतः यह नारायण प्रपंच का आधार (आश्रय) होने से भगवान् ही हैं, यह देखने में आनेवाला (दृश्य जगत्) जिस पुरुष में विशेष रीति से देखने में आता है अर्थात् यह जगत् उसमें एक होते हुए भी पृथक-पृथक देखने में आता है यह भी उनका भगवत्व है ॥८॥

आभास—पूर्वोक्तभेदान् गणयति—

आभासार्थ—पूर्व कहे हुए भेदों का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा ।**
विराट्प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥९॥

श्लोकार्थ—तीन प्रकार बताते हैं १- साध्यात्म २- साधिदैव ३- साधिभूत, विराट् के प्राण दश प्रकार के हैं एवं हृदय से एक प्रकार है ॥९॥

सुबोधिनी–साध्यात्म इति । अन्यथाऽन्योऽन्यथा वर्णयेत् । त्रैविध्यं प्रथमतो निरूपयत्यस्य जगतः, तामसप्राधान्यात् । देहप्राधान्यादित्यर्थः । तत्रैकः साध्यात्मो भेदः । आत्मानमधिकृत्य यो वर्तते स आध्यात्मो देहः, तद्गतो वा आत्मा जीवः, भगवदंशो वा । तेन आध्यात्मेन सहितो विराड्देहांशः साध्यात्मो भवति । एवं साधिदैवः । देवा अन्तर्यामिदिगादयः, तानधिकृत्य यो वर्तते इन्द्रियवर्गः, तदभिमानिनो जीवा भगवदंशा वा, ते अधिदेवाः, इन्द्रादयो वा । तैः सहितो विराड्देहांश उपरिभागः साधिदैवः । एवमधिभूतश्च । अत्र चकारोऽवान्तरभेदेषु आध्यात्मिकादिसंग्रहार्थः । साधिभूतो विराडधोभागः । इत्यमुना प्रकारेण त्रिधा । इदं हि गणशस्त्रैविध्यम् । दशविधमाह—**विराट्प्राणो दशविध इति** । विराजो यः प्राण आसन्यरूपः । षष्ठ्या संबन्धात् विराडासन्यावतार इत्युक्तम् । महत्तत्त्वस्यैव क्रियाशक्त्यंशः सूत्रात्मा, स एव विराट् । प्राणादयः **पञ्च**, तथा नागादयः । **'नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनंजयः'** इति वाक्यात् । एतेषां देहे कार्यं नियतम्, **कासश्छिक्का तथोद्गारो जृम्भा शोषस्तथैव च'** । तस्यैकः प्रकारो **हृदयेन** । हृदयमिति वक्तव्ये तस्य करणत्वेन निर्देशस्तदवान्तरभेदनिरूपणार्थः, मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति । चकारात्तस्याऽधिभूतादिभेदाः संगृहीता इति । हृदयम्, मनः प्रभृतयस्तद्देवाश्चेति ॥९॥

व्याख्या—यदि इस श्लोक में इसका सत्य प्रकार वर्णन करें तो दूसरा कोई अन्य प्रकार से वर्णन कर देग। वह वर्णन भागवत् सिद्धान्त सम्मत नहीं होगा ।

पहले इस जगत् के त्रैविध्य का वर्णन करते हैं, क्योंकि यह जगत् तामस प्रधान है, तामस पद से देह समझना चाहिए, इन तीन भेदों में 'साध्यात्म' भेद है साध्यात्म किस प्रकार को कहते हैं वह बताते हैं कि आत्मा को अधिकार में लेकर अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित जो वर्तता है वह आध्यात्म (देह) है अथवा उसमें रहा हुआ जीव अथवा भगवदंश जो है उसको 'आध्यात्म' कहते हैं, उस आध्यात्म के साथ विराट् के देह का जो अंश है वह साध्यात्म है. इसी प्रकार साधिदेव देव अर्थात् अन्तर्यामी दिगादि देव है, उनमें सम्बन्धित जो इन्द्रियों का वर्ग है, उनके अभिमानी जीव वा भगवदंश वे अधिदेव हैं अथवा इन्द्र आदिदेव हैं, उनके साथ जो विराट् में देह का ऊपर के भाग वाला अंश है वह सादि देव है । इसी तरह अधिभूत भी समझना चाहिए ।

यहाँ जो 'च' शब्द दिया है उसका आशय यह है कि अवान्तर भेदों में भी आध्यात्मिकादि के सङ्ग्रहार्थ है. विराट् का अधोभाग, साधिभूत है, यों इस प्रकार से तीन विभाग समझने चाहिए यह ही तत्वगण का त्रैविध्य है । अब दश प्रकार बताते हैं 'विराट्प्राणो दशविधः' विराट् का प्राण दशविध है । विराट् का जो प्राण है वह आसन्यरूप है. उसके दश भेद हैं. 'विराट्-प्राण' पदों का षष्ठी से सम्बन्ध के कारण '**विराट्**' आसन्य का अवतार है, महत्तत्व का ही जो क्रियाशक्त्यंश सूत्रात्मा है वह ही 'विराट' है प्राण, अपान, समान उदान और व्यान ये पांच प्राण हैं वैसे ही नाग कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय पांच प्राण हैं। इनका देह में नियत कार्य कास (खांसी). छींक, डकार, ओबासी और शोषण करना है ।

उसका एक प्रकार हृदय से होता है, यों **हृदय से** करण कारक देने का आशय यह है कि यों कहना अवान्तर भेद के निरूपणार्थ ही है अर्थात् हृदय पद से मन, बुद्धि अहंकार और चित्त इन चारों को लेना और 'च' पद से उसके अधिभूतादि भेद भी लिये हैं अर्थात् उन चारों के देवता भी ग्रहण करते हैं ।।९।।

आभास—एवं तस्य विराजस्तदन्तर्गतानां चैकप्रकारेण स्वरूपमुक्त्वा, स्वप्रवेशेनैव विश्वसृजां कार्यं विधाय, ज्ञानक्रियाशक्तिअदत्त्वा **'यथा वयं चाऽन्नमदाम यत्र'** इति यद्विज्ञापितम्, तदपि चेन्न दद्यात् तत्त्वानां नाशः खेदो वा भवेदिती तेषां विज्ञापनं सत्यां कृतवानित्याह—

आभासार्थ—उस विराट् के और उसके भीतर जो रहते हैं उनके स्वरूपों का एक प्रकार से स्वरूप कहकर तथा अपने प्रवेश से ही विश्व रचने वालों का कार्य पूर्ण कर ज्ञान एवं क्रियाशक्ति न दे के 'यथा वयं चाऽन्नमदाम यत्र इति' जैसे हम जहां अन्न खाते हैं, ऐसी जो प्रार्थना ५वें अध्याय के ४८ वें श्लोक में पूर्व की है, यदि वह प्रार्थना भगवान् स्वीकार न करें तो तत्वों का नाश हो जावे अथवा उनको खेद हो इसलिए उनकी प्रार्थना सत्य (पूर्ण) करने लगे, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स्मरन्विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः ।**
विराजमतपत् स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ।।१०।।

श्लोकार्थ—इन्द्रियातीत भगवान् ने विश्वरचकों की प्रार्थना का स्मरण कर उनके वास स्थान के निर्माणार्थ अपने तेज से विराट् को तपाया ।।१०।।

सुबोधिनी - **स्मरन्विश्वसृजामिति** । विश्वसृजामित्येनेन तेषां महत्त्वमुपकारश्च सूचितः । दाने हेतुः—**विज्ञापितमिति** । स्वार्थं तु न कृतवानित्याह—**अधोक्षज इति** । अधोऽक्षजं यस्मात् । यत्किञ्चिदिन्द्रियैरुत्पद्यते ज्ञानं क्रिया वा, तभ्दगवन्तमप्राप्यैव परागेव निवर्त्तते । अतः स्वोपयोगाभावादुभोपयोगे भक्तिविरोधाच्च तेषामेवोपकारं कृतवान् । किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह—**विराजमतपदिति** स हि सर्वसमर्थ; । सिद्धेऽपि कार्ये तेषामुपयोगार्थं स्वतेजसा पुनस्तत्कार्यं संतप्तं कृतवान् । स्वतेजसा तप्तत्वान्न बृथानाशप्रकारेण तस्य भङ्गः, किन्तु एषां तत्त्वानां विविधवृत्तये स्थानसिद्धये । **यथा** तेषां स्थित्यर्थं मध्ये छिद्राणि स्थानानि भवन्ति, तथा तापं कृतवानित्यर्थः ॥१०॥

व्याख्या—तत्वों के लिए 'विश्नसृक्' शब्द देकर उनका महत्व और उपकार सूचित किया है । दान क्यों किया ? जिसका कारण बताते हैं कि उन्होंने 'प्रार्थना' की थी अर्थात् दान का कारण उनकी प्रार्थना है । यहां भगवान् का नाम 'अधोक्षज' दिया है जिसका आशय है कि इन्द्रियों से जो कुछ ज्ञान वा क्रिया उत्पन्न होती है वह भगवान् तक पहुँचने में समर्थ नहीं है, वे पीछे लौट आती है, अतः वह दान भगवान् के उपयोग में आने वाला नहीं है, यदि दोनों का उपयोगी होवे तो भक्ति का विरोध हो जाए, भक्त ने दान देकर उनका ही उपकार किया, कैसे उपकार किया? 'विराजमतपत्' विराट् को तपाया, भगवान् सर्व करने में समर्थ हैं, कार्य (विराट्) उत्पन्न हो गया अर्थात् यह कार्य सिद्ध हो गया तो भी तत्वों के उपयोगार्थ अपने तेज से फिर उस कार्य (विराट्) को तपाया । तपने से तो उसका नाश हो जाएगा इस शंका को मिटाने के लिए 'स्व तेजसा' कहा है अर्थात् अपने तेज से तपाया जिसे बृथा नाश के प्रकार से उसका भङ्ग न हुआ, किन्तु इन तत्वों के स्थानों की ही सिद्धि हुई अतः स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने इस तरह ताप किया जिससे उनके निवास के लिए मध्य में छिद्र (स्थान) बन जावे यह तात्पय है ॥१०॥

आभास—तेषां छिद्राणां स्वोपयोगाभावात् भिन्नप्रक्रमेण निरूपयति—

आभासार्थ—उन छिद्रों (वास स्थानों) का उपयोग (भगवदर्थ, अपने लिए) न होने से भिन्न प्रकार से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**अथ तस्याऽभितप्तस्य कति चाऽऽयतनानि ह ।**
निराभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु ॥११॥

श्लोकार्थ—अनन्तर तपाये हुए उसमें देवों के कितने स्थान प्रकट हुए ? जितने भी हुए वे मैं कहता हूं तुम सुनो ॥११॥

सुबोधिनी—अथेति । तस्य विराजः । भगवत्तेजसा अभितस्तप्तस्य कति आयतनानि निरभिद्यन्त ? तानि चेज्जानासि तदा न वक्तव्यम् अथ न जानासि तदा वक्तव्यमित्यभिप्रायेण **कतीत्युक्तम् । चकरात्** जीवार्थं स्वार्थं च तत्रैवं प्रकाराः संगृहीताः । भेदेन नाशशङ्कां वारयति— **आयतनानीति** । भिन्नान्यपि गृहरूपाण्येव तत्त्वानां जातानीति । **हेत्याश्चर्यं ।** देवानां स्थानत्वान्नाऽङ्गविकत्वम् । तानि न जानासि चेन्मे गदतः शृणु । **मे गदतः** सतः । मया त्वदर्थमेवोच्यत इति न देवानां मर्मोद्घाटनेन दोषः स्यात्, किन्तु मया कीर्त्यते देवानां स्थानस्वरूपम्, त्वयाऽपि श्रोतव्यम् । आज्ञाभावे चौर्यं स्यादिति ॥११॥

व्याख्या—भगवत्तोज से तप्त विराट् में से कितने स्थान प्रकट हुए, उनका तुम्हे ज्ञान होवे तो न कहूँ, यदि नहीं जानते हो तो कहूँ, इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए 'कति' शब्द कहा है 'च' पद का स्वारस्य प्रकट करते हैं कि जोव के लिए अथवा अपने (विराट् पुरुष) के लिए वहाँ ऐसे प्रकारों का समावेश किया है तपाने से जो भेद (छिद्र) हुवा होगा तो उससे उसका (विराट्) नाश होना चाहिए ? इस शङ्का का 'आयतनानि' पद देकर निवारण करते हैं कि वे छिद्र तो उन तत्वादि के रहने के स्थान हुए, अतः नाश नहीं बल्कि तपाने से कार्य सिद्धि ही हुई है । विराट् की देह में देवों के स्थान होने से भो देह के अङ्ग विकल नहीं हुए यह आश्चर्य का कार्य हुवा जिसका 'ह' पद से वर्णन किया है । उन स्थानों को नहीं जानते हो तो हम कहते हैं आप सुनो, हम यह वर्णन आपके लिए ही करते हैं, इसलिए देवों के गुप्त विषय को प्रकट करने से भी दोष नहीं लगेगा किन्तु हम देवताओं के स्थानों का स्वरूप वर्णन करते हैं सो आपको भी सुनने चाहिए क्योंकि बिना आज्ञा के सुना जाय तो उसे 'चोरी' कही जाती है ॥११॥

आभास---तान्यायतनानि निरूपयति--

आभासार्थ—निम्न श्लोकों से उन स्थानों का निरूपण करते हैं—

श्लोक--**तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम् ।**
वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययाऽसौ प्रतिपद्यते ॥१२॥

श्लोकार्थ--उस विराट् का मुख प्रकट हुआ जिससे लोकपाल अग्नि ने अपने अंश वाणी के साथ प्रवेश किया अर्थात् उस (मुख) को अपना निवास स्थान बनाया, जिस वाणी से वाणी की यह क्रिया होती हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—**तस्याऽग्निरास्यमिति । तस्य** बिराजो **निर्भिन्नमास्यं** वक्त्र**मग्निराविशत्** । वाचि जायमानो भोगोऽग्नेर्भवति । **लोकपाल** इति विशेषणमग्नेस्तत्त्वरूपस्य विज्ञापनासिद्धर्थम्। आग्ने–

यदिशि ये लोकास्तेषां पालकत्वं दत्तम; आस्ये च स्थानं दत्तम्, तत् पदम् । तस्य लोकास्तु पाल्या रक्ष्या एव, भोगस्तु वाच्येव । **वाचा स्वांशेनेति ।** वागिन्द्रियमग्नेराध्यात्मिकं रूपम् । आसङ्गदोषसहितोऽग्निर्वागित्युच्यते । अत एवाऽग्नेः स्वांशभूता वाक् । अनेनाऽग्निरिज्यरूपो निवारितः । किं तया देवतया वाचा वा ? तत्राऽऽह–**यया** वाचा, **असौ** विराट्पुरुषः, **वक्तव्यं** वाग्व्यापारं, शब्दोच्चारणमिति यावत्, तद्देवताधिष्ठितेन्द्रियेण प्रतिपद्यते ॥१२॥

व्याख्या—उस विराट् में प्रकट हुए मुख में अग्नि ने प्रवेश किया, वाणी में उत्पन्नभोग अग्नि का होता है, तत्वरूप अग्नि की प्रार्थनासिद्धि के लिए ('लोक बलि धरें' इस प्रार्थना के सिद्धर्थ) ही लोकपाल विशेषण दिया है अर्थात् अग्नि लोकपाल है, आग्नेय दिशा में जो लोक है उनकी पालना करने का कार्य इस (अग्नि) को दिया है और मुख में वास स्थान दिया है वह उसका स्थान है, उसके लोक तो पाल्य[1] पालने के ही योग्य हैं भोग तो वाणी में ही है। 'वाचास्वांशेन' स्वकीय अंश वाणी से, यों कहने से यह सूचित किया है कि वाग्रूप इन्द्रिय अग्नि का आध्यात्मिक रूप है[2] सङ्ग दोष होने पर ही अग्नि वाणी बनती है, इसलिए ही अग्नि के अपने अंश से उद्भूत को वाणी कहा है इससे वाणी के अभिमानत्व[3] कहने से यों कहा कि यह अग्नि पूजनीय नहीं है।

उस देवता अथवा वाणी से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं कि, 'यया वाचा असौ विराट् पुरुषः' जिस वाणी से विराट् पुरुष हुआ जिससे वाणी का व्यापार अर्थात् शब्दोच्चारण हो सका तथा वह बनी हुई इन्द्रिय से ही देवता का स्थान प्राप्त कर सकता है ॥१२॥

---

[1] १—लोक भोग के योग्य नहीं है एवं आधारभूत भी नहीं है, यहां सब श्लोकों में यह भी समझना. 'जहां अन्न को खावें' इस प्रार्थना का फल मुखादिस्थान है और 'जिस तरह अन्न को खावे' इस प्रार्थना का फल वाक् आदि इन्द्रियां भोग्य है क्योंकि वागादि उन देवों की स्त्रियां हैं, अन्न तो सकलभूतों का जोवन रूप है। बलि का दान तो विराट् पुरुष के वाणी की क्रिया का साधक है, स्तुति आदि तो भगवदर्थ की जाती है, आग्निय आदि दिग्भाग और देह तो लोगों का निवास स्थान है, सकल देवता इन्द्रियां और गोलक ये सब लोकों के रहने के प्रकार हैं, प्रत्येक प्रदेश में उत्पन्न अन्न तो अपने अदृष्ट द्वारा प्रत्येक को खाने के लिए प्राप्त होता है। बलि धरने का तात्पर्य है उस-उस देवता तथा भगवान् की पूजा (सेवा) आदि करनी है।

[2] २– गोलक से संसर्ग होने पर ही आसक्ति रूप दोष लगता है उस आसक्ति के कारण ही, शरीर से सम्बन्धित होने से आध्यात्मिक' कहने में आया है जब अनासक्त होता है तब देवता होकर रहता है, सम्बन्धित होने का हेतु रजोगुण है, अनासक्ति का कारण सतागुण है वास्तव में तो ये दोनों अहंकार से ही उत्पन्न हुए हैं जिससे दोनों का परस्पर अंशांशी भाव है।

[3] ३– अभिमन्तव्य होने से अंशभूत हैं और वैसे जिस राजस को सात्विक का अभिमानी बनने के लिए भगवान् ने प्रेरणा दी वह राजस उस सात्त्विक का अंश है। 'प्रकाश'

आभाष—स्थानान्तरमाह

आभासार्थ—अब इस श्लोक में अन्य स्थान बताते हैं—

श्लोक—**निर्भिन्नं तालु वरणो लोकपालोऽविशद्विभोः ।**
जिह्वयांऽशेन च रसं ययाऽसौ प्रतिषद्यते ॥१३॥

श्लोकार्थ—विराट् में प्रकट तालु स्थान में लोकपाल वरुण ने अपने जिह्वारूप अंश से प्रवेश किया, जिस (जिह्वा) से रस प्राप्त किया जाता है ॥१३॥

सुबोधिनी - निर्भिन्नं तालिवति । तत्रैवाऽऽस्ये यो वक्रसंमित आकाशः, तत्राग्निर्देवता, वागिन्द्रियम् । तत्रैव पुनस्तालुलोके जिह्वापदवाच्यं गोलकं निर्भिन्नम् । **तन्निर्भिन्नं तालु वरुणो** देवता **अविशत्** । **लोकपाल** इति पूर्ववत् । **विभोरिति** विराजः । स हि विभोर्नानारसानुपस्थाप्य ग्राहयति । अतो वरुणस्य तत्र महाभोगः, प्रभोर्भोगस्थाने विद्यमानत्वात् । **जिह्वयांशेनेति** । जिह्वाऽपीन्द्रियं वरुणस्यांशः यया जिह्वया **असौ** विराट् **रसं प्रतिपद्यते** ॥१३॥

व्याख्या—उसी ही मुख में जो मुख से मिला हुआ पोल (आकाश) देखने में आया जिसमें अग्निदेवता और वागिन्द्रिय ने निवास किया, अनन्तर उसी ही आकाश (पोल) में जो तालु प्रकट हुआ था उसमें 'जिह्वा' नामक गोलक प्रकटा विराट् के उस तालु में वरुणदेव ने प्रवेश किया। क्योंकि वह वरुण भी पश्चिम दिशा का लोकपाल है। अतः लोकपाल अग्नि की तरह इसने भी अपने वास स्थान में स्थिति की, वह वरुण अनेक प्रकार के रस उत्पन्न कर विराट् को ग्रहण कराता है इसमें वरुण विराट् के भोग स्थान में रहने से नाना भोग भोगता है, वरुण अपवे अंशरूप जिह्वा इन्द्रिय से विराट् को रस प्राप्त कराता है ॥१३॥

आभास—अन्यद्विवरद्वयमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में दूसरे दो विवर (स्थान) कहते हैं—

श्लोक—**विनिर्भिन्नेऽश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम् ।**
घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—विराट के मुख में दो नासापुट देखने में आये जिनमें उत्तर दिशा के लोकपाल दो अश्विनी कुमारों ने घ्राणेन्द्रिय के साथ प्रवेश किया, जिससे गन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है ॥१४॥

सुबोधिनी—विनिर्भिन्ने ऽश्विनाविति । आश्वनीकुमारौ निर्भिन्ने नासापुटे पदमाविशताम् । नासापुटद्वयं गोलकम् विष्णोर्विराजः । घ्राणमिन्द्रियम् । **गन्धस्य प्रतिपत्तिर्गन्धज्ञानं** घ्राणदेवताभ्यां हेतुभ्यां भगवतो भवति । सर्वत्र विवरं गोलकं देवतायाः स्थानम्, देवता इन्द्रियप्रेरिका, इन्द्रियं च तस्यांशः, इन्द्रियदेवताभ्यां चाऽभिमानिनस्तद्विषयानुभव इति ।।१४।।

व्याख्या—उत्तर दिशा के लोकपाल दो अश्विनी कुमारों ने विराट् के मुख में प्रकट हुए नासापुट (नथनों) में प्रवेश किया, दो नासापुट 'गोलक' हैं, नाक (घ्राण)इन्द्रिय है, घ्राणेन्द्रिय और उसका देवता दोनों साधनों से विराट् पुरुष को गन्ध का ज्ञान प्राप्त होता हैं, सर्वत्र जो छिद्र हैं वे गोलक होने से देवता के स्थान हैं, इन्द्रिय को प्रेरणा करने वाले को देवता कहते हैं, इन्द्रिय उस (देवता) का अंश है देहाभिमानी को इन्द्रिय तथा देवता द्वारा उस विषय का अनुभव होता है ।।१४।।

आभास—इन्द्रियान्तरस्य चक्षुषो विषयं निरूपयति—

आभासार्थ—निम्न श्लोकों में अन्य नेत्रादि इन्द्रिय के विषय का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः ।**
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ।।१५।।

श्लोकार्थ—विराट् पुरुष में प्रकट नेत्र के २ गोलकों में सूर्य ने अपने अंश रूप नेत्र सहित प्रवेश किया ।।१५।।

सुबोधिनी—निर्भिन्ने अक्षिणी इति । अक्षिणी गोलके । त्वष्टा सूर्यः । अभिमानिनो निर्देशश्चक्षुषः प्रायिकासुर त्वख्यापनाय । चक्षुरिन्द्रियम् ।।१५।।

व्याख्या—नेत्रेन्द्रिय के रहने के दो स्थान (गोलक) जब विराट् में देखने में आये तब उनमें त्वष्टा (सूर्य), ने अपने नेत्र इन्द्रिय के साथ प्रवेश किया यहाँ सूर्य के लिए अभिमानी त्वष्टा नाम देने का भावार्थ यह है कि त्वष्टा का अर्थ दुर्बल करना है, आँख इन्द्रिय है ।।१५।।[1]

श्लोक - **निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत् ।**
प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनांऽसौ प्रतिपद्यते ।।१६।।

श्लोकार्थ—विराट् की त्वचा में प्रकट हुए छेदों में लोकपाल वायु ने अपने अंश रूप प्राण सहित प्रवेश किया, जिससे इसको स्पर्श का ज्ञान होता है ।।१६।।

---

[1] १—आँख छोटा देखती है या करती है इसलिए वह आसुरी कही गई है क्योंकि असुरों का कार्य दुर्बल बनाना है, इसलिए अभिमानी त्वष्टा कहा गया है जो पूर्व दिशा का लोकपाल है ।—'प्रकाश'

सुबोधिनी—निर्भिन्नान्यस्य चर्माणीति । रोमकूपच्छिद्रानन्त्याद्बहुवचनम् । एषा त्वग्रूपा । त्वक्शब्देन चाऽग्रिमः सूक्ष्मोंशो निरूप्यते । तस्मादत्रे न्द्रियद्वयम् । यश्चर्मोपरि सूक्ष्मोंशः सात्वक्, **'त्वक् चर्म'** इति क्रमात् । तत्र चर्मण्यनिलो देवता, प्राण इन्द्रियं लोके त्वक्शब्दवाच्यम् । प्राणस्योपष्टम्भकत्वात् तच्छब्देनोच्यते ॥१६॥

व्याख्या—विराट् की त्वचा में बहुत छिद्र प्रकटे इसलिए बहुवचन दिया है । यह 'त्वचा' रूप इन्द्रिय है । त्वक् शब्द से आगे के सूक्ष्म अंश को कहा है । इससे यहाँ दो इन्द्रियाँ हैं अर्थात् प्राणों के रहने के दो गोलक हैं । एक ऊपर का सूक्ष्म अंश त्वचा, दूसरा नीचे का स्थूलांश चर्म है वहाँ चर्म में (छिद्रों में) वायु देवता रहता है । प्राण इन्द्रिय लोक में त्वक् शब्द से प्रसिद्ध है, प्राण आधार होने से त्वचा[1] शब्द से कहा जाता है ॥१६॥

श्लोक—**कर्णावस्य विनिर्भिन्नो धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः ।**
श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥१७॥

श्लोकार्थ—दो कर्ण रूप गोलक जब प्रकटे तब उन अपने स्थानों में दिग्देवों ने अपने अंश श्रोत्र इन्द्रिय सहित प्रवेश किया, जिससे शब्द का ज्ञान होता है (सुना जाता है) ॥१७॥

सुबोधिनी—कर्णाविति । दिशो देवताः । श्रोत्रमिन्द्रियम् । **शब्दस्य सिद्धिः** शब्दज्ञानम् । **कर्णौ** गोलकम् ॥१७॥

व्याख्या—दिशाएँ भी देवता हैं, श्रोत्र इन्द्रिय है, सुनना कार्य है, कान गोलक है ॥१७॥

श्लोक—**त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः ।**
अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥१८॥

श्लोकार्थ—इस विराट् में प्रकट त्वचा रूप गोलक में औषधि देवताओं ने अपने अंश रूप रोमों से प्रवेश किया, जिससे इसको खुजली उत्पन्न होती है ॥१८॥

सुबोधिनी—त्वचमिति । त्वग्गोलकम् । ओषधीर्देवताः लोमानीन्द्रियाणि । कण्डूस्त्वग्घर्षणसुखम् ॥१८॥

---

[1] १–त्वचा को यहाँ प्राण क्यों कहा ? त्वचा को प्राण इसलिए कहा कि जैसे प्राण देह का आधार है वैसे त्वचा भी देह का आधार है, अतः इसको प्राण कहा है । 'प्रकाश'

व्याख्या—त्वचा गोलक (रहने का स्थान) है, औषधियाँ[1] देवता हैं, रोम इन्द्रियाँ, खुजली (खारिश) त्वचा के घर्षण से सुख प्राप्ति होती है ॥१८॥

श्लोक—**मेढ्ं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् ।**
रेतसांशेन येनाऽसावानन्दं प्रतिपद्यते ॥१९॥

श्लोकार्थ—इस विराट् में प्रकट लिङ्ग रूप गोलक (अपने वास स्थान) में प्रजापति ने अपने अंश (वीर्य)[2] सहित प्रवेश किया, जिससे इसको आनन्द प्राप्त होता है ॥१९॥

सुबोधिनी—**मेढ्ं** गोलकम् । **को** देवता । | **रेत** इन्द्रियम् । **आनन्दः** स्त्रीसम्भोगसुखम् ॥१९॥

व्याख्या—लिङ्ग गोलक है अर्थात् प्रजापति का निवास स्थान है, प्रजापति देवता है (जिसने अपने निवास स्थान लिङ्ग में प्रवेश किया है) । वीर्य इन्द्रिय प्रजापति का अंश है, आनन्द का तात्पर्य स्त्री के साथ किए हुए भोग से प्राप्त सुख ॥१९॥

श्लोक—**गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् ।**
पायुनांशेन येनाऽसौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥२०॥

श्लोकार्थ—विराट् में गुदा प्रकटी, जिसमें लोकेश मित्र ने अपने अंश पायु सहित प्रवेश किया, जिससे मल त्याग किया जाता है ॥२०॥

सुबोधिनी—**गुदं** गोलकम् । **मित्रो** देवता । | **पायुरिन्द्रियम् । विसर्गो मलत्यागः** ॥२०॥

व्याख्या—गुदा गोलक है, मित्र देवता है, पायु इन्द्रिय है और विसर्ग मल का त्याग ॥२०॥

श्लोक—**हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत् ।**
वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥२१॥

---

[1] हालाँकि औषधियाँ वायु की अंश हैं और रोम त्वचा के अंश हैं उसको दो गोलक में दो रूप से भोग सिद्ध होता है, औषधियाँ तथा रोम पृथक नहीं है क्योंकि गण तेवीस ही सिद्ध किए गए हैं ।

[2] 'वीर्य' शब्द से उपस्थ इन्द्रिय का बोध करना ।

श्लोकार्थ—इस (विराट्) के प्रकटे हुए हस्तरूप दो गोलकों में स्वर्गपति इन्द्र ने अपने अंश वार्ता (बल) सहित प्रवेश किया, जिससे पुरुषवृत्ति (अपना कार्य) कर सकता है ।।२१।।

सुबोधिनी—हस्तौ गोलकम् । **इन्द्रो** देवता । **स्वर्पतिरिति** लोकपालः । **वार्ता** कृतिः, करणसामर्थ्यम्, बलमिति यावत्, इन्द्रियम् । वृत्तिर्हस्तव्यापारः ।।२१।।

व्याख्या—दोनों हाथ गोलक हैं, इन्द्र देवता है, स्वर्ग का पति होने से लोकपाल है, 'वार्ता' पद का यहाँ आशय है कार्य करने का बल, न कि वैश्यावृत्ति अथवा वार्ता, यह इन्द्रिय है । 'वृत्ति' शब्द का भाव है हस्त की क्रिया (व्यापार) जो हाथ से किया जा सके ।।२१।।

श्लोक—**पादावस्य विनिर्भिन्नो लोकेशो विष्णुराविशत् ।**
गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ।।२२।।

श्लोकार्थ—इसके प्रकट दो पादों (पैरों) में लोकपाल विष्णु ने अपने अंश (गति-जाना) के साथ प्रवेश किया, जिससे जहाँ जाना चाहे वहाँ जा सकता है।।२२।।

सुबोधिनी—पादौ गोलकम् । **विष्णुर्देवता ।** **गतिरिन्द्रियम्** । **प्राप्यं** चरणकर्म, ग्रामादिसंबन्ध इति यावत् ।।२२।।

व्याख्या—दो पाद (चरण) गोलक विष्णु देवता हैं, गति इन्द्रिय है, कहीं भी ग्रामादि में जाकर पहुँच जाना चरणों का कर्म है[1] ।।२२।।

श्लोक—**बुद्धिं चाऽस्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत् ।**
बोधेनांशेन बोद्धव्यप्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ।।२३।।

श्लोकार्थ—इसमें प्रकट बुद्धि रूप गोलक में वाक् पति ने अपने अंश (बोध ज्ञान) के साथ प्रवेश किया, जिसके द्वारा जो कुछ जानना हो वह समझा जा सकता है ।।२३।।

सुबोधिनी—अन्तःकरणचतुष्टयस्य हृदयमेकं गोलकम् । तदेवांशभेदेन बुद्ध्यादिशब्देनोच्यते । बुद्धिर्गोलकम् । **वागीशो** ब्रह्मा देवता । **बोध** इन्द्रियम् । **बोद्धव्यादेर्घटादेः प्रतिपत्तिर्ज्ञानमिन्द्रिय**व्यापारः ।।२३।।

---

[1] १–इस तरह बाहर की दश इन्द्रियों से ११ स्थानों में भोग कहा है ।

व्याख्या—अन्तःकरण[1] चतुष्टय का 'हृदय' एक गोलक है, वह ही अश भेद से बुद्धि आदि शब्द को पहचाना जाता है। अतः 'बुद्धि' गोलक है, वागीश वाणी का ईश 'ब्रह्मा' देवता है, 'बोध'[2] इन्द्रिय है, घटादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय का कार्य है ॥२३॥

श्लोक--**हृदयं चाऽस्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत् ।**
मनसांशेन येनाऽसौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥२४॥

श्लोकार्थ--यदि इस विराट् में प्रकट हृदय रूप गोलक (स्थान) में चन्द्रमा ने अपने अंश मन के साथ प्रवेश किया, जिसके द्वारा यह विकार को प्राप्त होता है ॥२४॥

सुबोधिनी—**हृदयं** गोलकम्। **चन्द्रमा** देवता। **मन** इन्द्रियम्। **विक्रिया** विविधक्रिया सङ्कल्पविकल्परूपा इन्द्रियव्यापारः ॥२४॥

व्याख्या हृदय गोलक है: चन्द्रमा देवता है, मन इन्द्रिय है। इस मनरूप इन्द्रियका कार्य सङ्कल्प विकल्प द्वारा विविध प्रकार की क्रिया करना है ॥२४॥

श्लोक--**आत्मानं चाऽस्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदय् ।**
कर्मणांशेन येनाऽसौ कर्त्तव्यं प्रतिपद्यते ॥२५॥

श्लोकार्थ--इसके प्रकट हुए हृदयरूप गोलक (वासस्थान) में अभिमान ने अपने अंश रूप कर्म के साथ प्रवेश किया, जिससे यह अपने कर्तव्य में तत्पर होता है ॥२५॥

सुबोधिनी—**आत्मा** अहङ्कारः, अन्तःकरणांशः। **अभिमानो** देवता. रुद्रात्मक इति केचित्। नूतनसृष्टित्वा त्तच्छब्दवाच्या एव तथाविधास्ते। **कर्म** अभिमतिः, देहादावहंबुद्धिरिन्द्रियम्। **कर्त्त**व्यमहङ्कारकार्यम् ॥२५॥

व्याख्या –आत्मा अर्थात् अहङ्कार वह अन्तःकरण का **ही एक** भाग है, अभिमान देवता है,

---

१–अन्तःकरण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार।

२–राजसी बुद्धि इन्द्रिय है, जिससे बोध (ज्ञान) होता है, वह बुद्धि राजस होने से इन्द्रिय है, अन्य बुद्धि गोलक है—'प्रकाश।

कोई कहते है कि वह[1] रुद्रात्मक अभिमान देवता है, नवीन सृष्टि की रचना होने से उस-उस शब्द से वाच्य ही वे उसी प्रकार के हैं। कर्म का तात्पर्य है 'अभिमान' अर्थात् देह आदि में अहं बुद्धि यह (देह ही मैं हूँ) ही **इन्द्रिय** है 'कर्तव्य' अहंकार का कार्य है, अहङ्कार न होवे तो कर्तव्य हो न सके ।।२५।।

श्लोक--**सत्त्वं चाऽस्य विनिर्भिन्नं महान् धिष्ण्यमुपाविशत् ।**
चित्तेनांशेन येनाऽसौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ।।२६।।

श्लोकार्थ--इस विराट् के प्रकट सत्वरूप गोलक (वास स्थान) में महतत्त्व ने अपने चित्तरूप अंश के साथ प्रवेश किया, जिससे इसको चैतन्य प्राप्त होता है ।।२६।।

सुबोधिनी--**सत्त्वं** गोलकम् । **महान्** देवता । **चित्त**मिन्द्रियम् । **विज्ञानं** चेतना, इन्द्रियव्यापारः । एवं सात्त्विकाहङ्कारकार्ये मनसि महत्तत्त्वाहङ्कारयेर्बुद्धेश्चैक्यविवक्षया तेषामपीन्द्रियत्वं परिकल्प्य तत्र देवतादिभेद उक्तः ।।२६।।

व्याख्या--'सत्व' गोलक है, उस (गोलक) में स्थित महत्तत्व देवता है उस देवता का 'अंश चित्त' **इन्द्रिय** है, विज्ञान अर्थात् चेतना[2] इन्द्रिय की क्रिया है, इस प्रकार सात्विक अहंकार के कार्य मन में, महत्तत्व, अहङ्कार और बुद्धि की एकता कहने की इच्छा से उन का भी इन्द्रियत्व कल्पना कर, वहाँ देवतादिकों का भेद कहा है ।।२६।।

आभास--इदानीं मध्ये अवयवैर्लोकनिर्माणमाह--

आभासार्थ--अब निम्न श्लोकों से मध्य में विराट् के अवयवों से लोक का जो निर्माण हुआ वह कहते हैं--

श्लोक--**शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत ।**
गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ।।२७।।

श्लोकार्थ--इस विराट् के मस्तक से स्वर्ग दो पादों से पृथ्वी और नाभि से आकाश उत्पन्न हुआ, जिनके भीतर ही गुणों की वृतियाँ तथा देव देखने में आते हैं ।।२७।।

---

[1] १--'रुद्रोऽभित्वा हृदयम्' रुद्र ने अभिमान से हृदय में प्रवेश किया यों आगे कहा जायेगा, इस वाक्यानुसार कोई कहते हैं अभिमान 'रुद्रात्मक' है क्योंकि प्रकरण की समानता है, यह पक्ष आचार्य श्री को अभिमत नहीं है, कारण कि वहां चित्त अंश सहित चैत्य ने प्रवेश किया, यों कहेंगे और यह निम्न २६ वें श्लोक में कहा है कि महत्तत्व ने चित्त अंश सहित हृदय में प्रवेश किया, इससे यहाँ और वहां के देवों में भेद है ।

[2] २--चैतन्य, समग्रदेह में व्याप्त चेतनता ।

सुबोधिनी—**शीर्ष्णोऽस्येति** । **अस्य** विराजः शीर्ष्णः सकाशात् **द्यौरुदपद्यत** । **नाभेः** खमन्तरिक्षमुदपद्यत । **पद्भ्यामिति** पञ्चमी । धरा पृथ्वी । विपरीतकथने प्रयोजनं वक्तव्यम् । ननु किमर्थमेतन्निरूपणम् ? विज्ञापिते हि संतापः कृतः, तत्त्वानां च भोगार्थं स्थाननिर्माणमुक्तम्, धरादिनिर्माणस्य क्वोपयोगः ? इत्याशङ्क्याऽऽह-**गुणानामिति** । पूर्वमहङ्कारस्य मायाया वा गुणा निरूपिताः । तेषां प्रत्येकवृत्ति स्थानं वक्तव्यम् । तदभिमानिदेवानां नियतभोगार्थं **वृत्तयो** विलासप्रकाराः । **येषु** द्यौरादिषु । ननु गुणानां का वृत्तयः ? विलासश्चेतनानां भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—**येषु प्रतीयन्ते सुरादय** इति । येषु प्रतीयन्त इति पुनरनुषज्यते । **सुरा** देवाः **आदिशब्देन** नरा भूतानि च ॥२७॥

व्याख्या—इस विराट् के मस्तक से स्वर्गलोक उत्पन्न हुआ, नाभि से अन्तरिक्ष (आकाश) का उद्भव हुआ 'पद्भयाँ' यह पांचवीं विभक्ति है यों विभक्ति कहने का आशय यह है कि 'पद्भयां' तृतीया विभक्ति में भी आता है, यदि तृतीय विभक्ति मानी जाएगी तो पाद कारण हो जाऐंगे किन्तु पाद पृथ्वी के उत्पन्न होने में करण नहीं है बल्कि उत्पादन है यह जानने के लिए कहा है 'पद्भयां' पंचमी है उपादान में पंचमी विभक्ति दी जाती है, दो पादों से पृथ्वी उत्पन्न हुई ।

विपरीत क्यों कहां जिसका कारण कहना[1] चाहिए यह (विज्ञप्ति का) निरूपण किसलिए ? विज्ञप्ति करने पर ही सन्ताप किया तत्वों के भोगार्थ ही स्थानों के निर्माण का वर्णन किया, धरा आदि के निर्माण का कहाँ उपयोग होगा ? इस शङ्का के निवारणार्थ ही श्लोक के उत्तरार्ध में कहते हैं कि 'गुणानांमिति' प्रथम अहंकार और माया के गुण कहे हैं, उन प्रत्येक की वृत्ति एवं स्थान कहना चाहिए उन गुणों के अभिमानी देवों के नियमित भोग के लिए वत्तियाँ अर्थात् विलास के प्रकार भी कहने चाहिए और वे विलास जिन स्वर्गादिकों में करें वे भी कहने आवश्यक हैं ।

गुणों की वृत्तियों (विलासों) का कौनसा प्रकार है ? विलास तो चेतनों का होता है ? ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं कि 'येषु प्रतीयन्त सुरादयः' जिनके भीतर देवादिकों की प्रतीति होती है, जिनके भीतर यह पद फिर लेना चाहिए । 'सुराः' अर्थात् देव आदि शब्द से नरा (मनुष्य) भूतानि च और भूत भी दीखते हैं ॥२७॥

आभास—तदेव विभज्य स्पष्टयति—

आभासार्थ—इस श्लोक में उसका ही विभाग कर स्पष्ट करते हैं—

श्लोक—**आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे ।**
धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च तानु ॥२८॥

---

[1] —२८ वें श्लोक में कहा जाएगा ।—'प्रकाश'

श्लोकार्थ––विशेष सतोगुणी होने से देवों ने स्वर्ग प्राप्त किया। मनुष्यों ने राजस स्वभाव के कारण पृथ्वी प्राप्त की और जो इन (मनुष्यों) के पीछे के गौ आदि हैं, उन्होंने भी पृथ्वी प्राप्त की ।।२८।।

सुबोधिनी आत्यन्तिकेनेति । आत्यन्तिकं गुणान्तरास्पृष्टम्, सत्त्वाधिक्यं वा। **देवाः** पूर्वोक्ता अन्ये च। पूर्वमप्याधिदैविका निरूपिताः, अन्ये च त्रयस्त्रिंशत्। ते सर्वे अतिसात्त्विका इति। सत्त्वविलासस्थानं **दिवं प्रपेदिरे**। विपरीतकथने हेतुं वदन् व्युत्क्रमेण निरूपयति–**धरामिति**। गुणक्रम एवाऽत्र क्रमः, न त्ववयवक्रमः। **रजःस्वभावेन पण्यो** नरा धरां प्रतिपद्यन्ते। ते हि कर्मणा पणन्ते, कर्म दत्त्वा फलं गृह्णन्तीति। कर्मणैव व्यवहार इति पण्यो नराः। **ताननु ये गवादयः,** तेषां तमसत्वेऽपि नरोपकाराद्भूमिमेवाश्रिताः ।।२८।।

व्याख्या – 'आत्यन्तिक' पद का भाव है कि अन्यगुण से जिस सतोगुण का स्पर्श भी न हुआ है वैसा शुद्ध सतोगुण जिनमें है अथवा विशेष सतोगुण वाले अर्थात् किञ्चित मात्र अन्य गुण भी हैं, वैसे पूर्वोक्त देव और अन्य देवों ने भी स्वर्ग प्राप्त किया, पूर्व आधिदैविकों का निरूपण किया है और दूसरे तेतीस, वे सर्व अतिसात्विक हैं, इसलिए सत्त्व के विलास का स्थान स्वर्ग प्राप्त किया। विपरीत कथन में हेतु कहते हुए उलटे क्रम से निरूपण करते हैं 'धरामिति' यहाँ गुणों का क्रम ही क्रम है, न कि यहाँ अवयवों का क्रम लिया गया है, मनुष्यों ने राजस स्वभाव वाले होने से पृथ्वी प्राप्त की है। वे (मनुष्य) कर्म से ही खरीददारी करते हैं अर्थात् कर्म देकर फल ग्रहण करते हैं इन (मनुष्यों) का व्यवहार कर्म से ही होता है इसलिए मनुष्यों को 'पणय' कहते हैं अर्थात् व्यापारी कह कर बुलाते हैं, उन (मनुष्यों) के पश्चात् (अनन्तर) जो गौ आदि हैं वे तामस होते हुए भी पृथ्वी का ही आश्रय करने लगी, कारण कि वे मनुष्यों का उपकार करने वाले जीव हैं ।।२८।।

आभास––तृतीयस्थाने हेतुमाह––

आभासार्थ—इस निम्न श्लोक में तीसरे स्थान में रहने का हेतु कहते हैं—

श्लोक––**तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः ।**
उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदा गणाः ।।२९।।

श्लोकार्थ––रुद्र के पार्षद गण तमोगुणी होने से भगवान् के नामरूप, दोनों के मध्यभाग शून्य स्थान में रहने लगे ।।२९।।

सुबोधिनी—**तार्तीयेनेति। तार्तीयं** तृतीयम्। प्रकृतेर्गुणत्वाय **स्वभावेने**त्युक्तम्। **भगवन्नाभिमन्तरिक्षम्**। तामसस्य मध्ये निवेशने हेतुरुच्यते–**उभयोरन्तरं व्योमेति**। अन्तरिक्षं शून्यं तेषां

स्थानम्। रुद्रा घातुका अनायतनाः। अतस्तृतीयत्वेऽपि मध्यस्थानस्य शून्यत्वात् रुद्रैस्तत्स्थानं गृहीतमिति। आधेयाधारयोर्बलिष्ठत्वेन अन्तरालमेव स्थानम्। तत्र स्थितान्निर्दिशति–ये रुद्रपार्षदा इति। रुद्रस्य पर्षदि सभायां योग्याः। कदाचित्तत्र रुद्रसभायां सनकादयो देवा वा आगच्छन्तोति यद्यावृत्त्यर्थं गणा इत्युक्तम्। ये महादेवस्य गणा भूत्वा पार्षदाः, ते मध्ये तिष्ठन्ति। एवं व्यष्टिसृष्टौ गुणैः स्थानभेदा निरूपिताः ॥२६।

व्याख्या—'तार्तीयं अर्थात् तोसरा प्रकृति का गुण होने से उसको स्वभाव कहा है। भगवान् की नाभि 'अन्तरिक्ष' (आकाश) है तामस का मध्य में प्रवेश का कारण कहते हैं 'उभयोरन्तर व्योम' दोनों के (स्वर्ग और पृथ्वी के) मध्य जो अन्तरिक्ष शून्य स्थान हैं, अतः यह तामसों के रहने का स्थान है 'रुद्र' पद का भाव है कि ये घातक (हत्यारे) हैं और इनको कहीं भी रहने क लिए स्थान नहीं है, इस कारण से मध्य स्थान शून्य और तीसरे होते हुए भी रुद्रों ने इस स्थान को ग्रहण किया, आधेय और आधार दोनों बलिष्ठ होने से उनके लिए अन्तराल ही उचित स्थान है, वहां अन्तराल (मध्य) में जो स्थित हैं उनको बताते हैं कि वे कौन और वे कैसे हैं, वे रुद्र के पार्षद्[1] हैं: 'गणाः' शब्द कहने का कारण बताते है कि रुद्र की सभा में कभी सनकादि देव भी आकर बैठते हैं, पार्षद् शब्द से देवों को भी कोई समझले इस भ्रम के निवारणार्थ 'गणाः' पद दिया है अर्थात् रुद्र की सभा में जो उसके गण बैठते हैं, वे मध्य में रहते हैं, इसी तरह व्यष्टि सृष्टि में गुणों के स्थान भेद कहे हैं ॥२६॥

आभास—गुणैरेव वर्णभेदा इति वर्णानवयवेभ्य उत्पन्नान्निरूपयति भजनार्थम्, मुखतोऽवर्त्ततेति चतुर्भिः—

आभासार्थ—वर्णों के ४ भेद सत्व आदि गुणों के कारण ही हुए हैं, इसलिए भजनार्थ ही उनकी उत्पत्ति अवयवों से हुई है यों निम्न चार श्लोकों में बताते हैं—

श्लोक—**मुखतोऽवर्त्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह ! ।**
यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे कौरव श्रेष्ठ ! पुरुष के मुख से ब्रह्म उद्भूत हुआ जिसने फिर ब्रह्म की तरफ ही दृष्टि की जिससे वह वर्णों में मुख्य ब्राह्मण वर्ण हुआ एवं वर्णों का गुरु हुआ ॥३०॥

प्रकाश-१—रुद्र की सभा में बैटने योग्य।

सुबोधिनी—भगवतो मुखतो ब्रह्म देवतारूपम्, शुद्धसत्त्वपरिणामभूतम्, यदधिष्ठानात् ब्राह्मणा भवन्ति, तज्जातम् । **अवततेति** । विद्यमानमेव मुखात्प्रकटीभूतम् । **पुरुषस्य** भगवतो नारायणस्य । **कुरूद्वहे**ति विश्वासार्थम्, एतच्छ्रवणाधिकारार्थं वा । यस्तु **वर्णानां** मध्ये मुख्यो-ब्रह्मोन्मुखत्वाद्**ब्रह्मणो**ऽभूत्, **गुरुश्चा**ऽभूत् । तुशब्देन स्वतो ब्राह्मणस्य सुखत्वं वारयति । ब्रह्मणि स्थितो ब्राह्मणः । **'तत्र भवः'** वा **'तस्येदम्'** इति वा अण् । उन्मुखोऽग्रे प्रवृत्तो मुख्यो वर्णं ऊर्ध्वमुखो भवति । उर्ध्वं मुखं यस्य । उपदेशाद्यर्थमाद्यस्योर्ध्वं मुखं भवति । ब्रह्माऽप्यूर्ध्वमुखम्, भगवन्मुखात् यतउर्ध्वं जातम् उर्ध्वं मुखंयेनेति ब्रह्मोत्तपत्यर्थमेव भगवतो मुखमूर्ध्वं जातमिति । अतः समष्टिव्यष्टयोर्बीजाङ्कुर भावेनैक्यादुन्मुखत्वसाम्येन वाणानां मध्ये मुख्यः, मुखे भवः प्रथमं जातश्च, ब्राह्मणो जातः । अत एव गुरुः भगवानेव हि गुरुः, स हि मुखेनोपदिशति । तत उपदेशनार्थमेव ब्रह्म आधिभौतिकं निर्गतम् आध्यात्मिकं ब्रह्म वेदः, आधिदैविकं त्वक्षरमिति अतो भौतिकब्रह्माविर्भावादुन्मुखत्वसाम्येन तद्ब्रह्म वर्णद्ये प्रविशतीति ब्राह्मण एव द्वितीय ब्रह्मणों वेदस्याऽऽध्यात्मिकस्य तृतीयब्रह्मज्ञानार्थमुपदेष्टा भवतीति गुरुः ॥३०॥

व्याख्या—भगवान् के मुखारविन्द से शुद्ध सत्व का परिणामरूप देवता रूप ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मी देवता प्रकटा, जिसके अधिष्ठान से ब्राह्मण होते हैं अर्थात् उस अधिष्ठान से ब्राह्मण वर्ण हुआ, किन्तु नया नहीं बना, जो वर्णमुख में विद्यमान था उसका ही आःविर्भाव हुआ 'पुरुषस्य' पद का भावार्थ भगवान् नारायण, है। 'कुरुद्वह' विशेषण से बताया है कि आपको इस उक्ति में विश्वास है वा रखना चाहिए क्योंकि कुरुकुल में श्रेष्ठ हो अथवा यह 'कुरुद्वह' विशेषण इसलिए दिया है कि आपको इस विषय में सुनने का अधिकार है, जो कि, वर्णों में मुख्य है, और ब्रह्म की तरफ ही अपनी दृष्टि वाला होने से ब्राह्मण वर्ण बना और वर्णों के गुरु हुए। 'तु' शब्द से ब्राह्मण का स्वतः ब्रह्म के मुखत्व का निषेध करता है। जिसका कारण बताते हैं कि जो ब्रह्म में रहे वह ब्राह्मण अथवा ब्रह्म में से उद्भूत ब्राह्मण अथवा ब्रह्म का यह है इसलिए ब्राह्मण, यह अर्थ 'अण्' प्रत्यय होने से निकलता है 'उन्मुख' पद का भावार्थ है कि, सबसे पहले प्रवृत मुख्य वर्ण होने से उसका मुख सबसे ऊंचा रहता है कारण कि यह वर्ण उपदेश देने में तत्पर रहता है और आद्य होने से उसका मुख ऊर्ध्व होता है, एवं भगवन्मुख भी ऊर्ध्व है, भगवन्मुख से आविर्भाव के कारण भी ब्राह्मण ऊर्ध्वमुख होते हैं।

भगवान् का मुख भी ऊर्ध्व ब्रह्म के उत्पत्ति के लिए ही हुआ है, अतः समष्टि एवं व्यक्ति परस्पर बीजाङ्कुरभाव वाले होने से ऐक्य होने के कारण तथा उन्मुखत्व की समानता से वर्णों में मुख्य (मुखसे उद्भूत) पहले हुआ वह ब्राह्मण कहलाया इसलिए ही वह वर्ण गुरु है, भगवान् ही गुरु है, वह ही मुख से उपदेश देते हैं उससे उपदेश देने के लिए ही आधिमौतिक ब्रह्म प्रकट, हुआ आध्यात्मिक ब्रह्म वेद है—अक्षर आधिदैविक ब्रह्म है।

ब्राह्मण वर्ण गुरु है जिसका प्रतिपादन करते हैं—**अतः** भौतिक ब्रह्म आविर्भूत होते ही ब्रह्म के समान ऊँचे मुख वाला होने से उस आधिदैविक **अक्षर** ब्रह्म ने प्रथम उत्पन्न ब्राह्मण वर्ण में प्रवेश किया, इसलिए ब्राह्मण ही द्वितीय आध्यात्मिक **ब्रह्म**वेद का और तृतीय आधिदैविक अक्षर ब्रह्म का ज्ञानार्थ उपदेशक होता है इसलिए 'गुरु' है ।।३०।।

आभास—द्वितीयवर्णोत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में दूसरे वर्ण की उत्पत्ति का प्रकार कहते हैं—

श्लोक—**बहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।**
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ।।३१।।

श्लोकार्थ—दो भुजाओं से क्षत्र प्रकटा, उसका अनुसरण करने वाला, क्षत्रिय वर्ण हुआ, जो वर्ण पुरुष से उत्पन्न होने से पौरुष पराक्रम रूप हुआ, जिससे जन्मते ही अन्य वर्णों का कांटों के भय से भी रक्षा करता है ।।३१।।

सुबोधिनी—बाहुभ्योऽवर्ततेति । क्षत्रं नाम भगवतो वीर्यं लोकरक्षात्मकं किञ्चित्, तद्बाहुभ्यो निवृत्तम् । अन्तः स्थितं सद्बहिर्निर्गतमित्यर्थः । वर्णानां मध्ये द्वितीयस्तदनुव्रतः । क्षत्रमनुव्रतं यस्य । यथा क्षत्रं रक्षार्थमेव प्रवृत्तम्, तथाऽयमपीति । सहजातत्वादेकोपादानकत्वाच्च । क्षत्रसेवकत्वात् '**क्षत्राद्धः**' इति नियतधर्मवाचकत्वेन जातिवाचकत्व एव घप्रत्ययादनुवृत्तत्वार्थो नियुक्तः । तदेव विशदयति—**यो जात इति** । क्षतात्त्रायत इति क्षत्रियः, यो जात एव स्वव्यतिरिक्तान् त्रीन् वर्णान् कण्टकक्षतात् त्रायते । रोगात् त्राणव्युदासार्थं कण्टकादित्युक्तम् । **कण्टका** दैत्यांशः ते हि भूमेः कण्टकप्राया गतिप्रतिबन्धकाः धर्मप्रतिबन्धका इति यावत्, अन्यथा मारकत्वात् विपरीतता स्यात् । अनेन कण्टकानां वर्णता निषिद्धा । क्षता **दिति** सम्भावनायाम् । **पौरुषोऽयं** क्षत्रियः । पुरुषाज्जात पौरुषः । सामर्थ्यकथनायां पौरुष इत्युक्तम् ।।३ ।।

व्याख्या—'क्षत्र' पद का भावार्थ है भगवान् का लोक रक्षात्मक कोई किंचित् वीर्य वह वीर्य (क्षात्रशक्ति) भगवान् की दो भुजाओं से प्रकटा जो वीर्य भगवद्भुजाओं के भीतर स्थित था वह बाहर निकला उस वीर्य (क्षात्र शक्ति) का अनुयायी हुआ वह वर्णों के मध्य दूसरा वर्ण हुआ जैसे 'क्षत्र' रक्षार्थ हो प्रवृत्त हुआ, वैसे वह वर्ण भी उसके लिए प्रवृत्त हुआ क्योंकि एक ही स्थान से उद्भूत होने से और एक ही उपादानवाले होने से दोनों में क्षत्र और दूसरे वर्ण (क्षत्रिय) में वही शक्ति रही, क्षत्रियवर्ण, क्षत्र शक्ति का सेवक हुआ इसलिए भी उसमें यह शक्ति प्रकटी **'क्षत्राद्ध'** इस पाणिनीय व्याकरण नियमानुसार 'घ' प्रत्यय के होने से नियत धर्म एवं जाति वाचक धर्म दो

उसमें रहते हैं, उसको स्पष्ट कर समझाते हैं 'क्षतात् त्रायत इति क्षत्रियः' जो जन्मते ही अपने से शेष तीन वर्णों की काँटों से रक्षा करता है, काँटों से रक्षा कहने का आशय यह है कि रोग से रक्षा नहीं करता है किन्तु 'काँटे' अर्थात् पृथ्वी पर जो दैत्यांश उत्पन्न हो प्रजा की उन्नति में बाधक होते हैं एवं धर्म के प्रतिबन्धक होते हैं उनसे जनता की (मनुष्य-पशु-पक्षी आदि की) रक्षा करता है, यदि रक्षा न करे तो क्षत्रिय मारक होने से उनमें क्षात्रत्व से विपरीतता प्रकट देखने में आवे। इससे यह बताया है कि जो कण्टक दैत्यांश होते हुए भी क्षत्रियों में कर्मवश प्रकट हुए हैं वे क्षत्रिय नहीं हैं "क्षतात्" पद का भावार्थ है जब कि भय को सम्भव देखते है तब रक्षण करते हैं 'पौरुष ही क्षत्रिय है पुरुष से उत्पन्न को पौरुष कहा जाता है, सामर्थ्य को जताने के लिए 'पौरुष' पद दिया है ॥३१॥

आभास—तृतीयवर्णोत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में तीसरे वैश्य वर्ण की उत्पत्ति का प्रकार कहते हैं—

श्लोक—**विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।**
वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ॥३२॥

श्लोकार्थ—उस विभु के दो उरुओं से लोकों की वृत्ति (आजीविका) करने वाली विशो (वैश्य देवता) निकली, उससे वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ, जो वर्ण मनुष्यों की वृत्ति का व्यवहार चलाता है ॥३२॥

सुबोधिनी **विशोऽवर्तन्तेति**। **विश** इति सर्वेषामेव वर्णानां जीविकावृत्तय उक्ताः, कृष्यादयः। शिलोञ्छादीनामपि तन्मूलकत्वम्, देयमपि तत एवोत्पद्यन्त इति। तत्रोत्पादकं द्वयम्, कृषिर्गोरक्षा च। वाणिज्यकुसीदे वृद्धिप्रापके। यद्यपि धातुभिर्व्यवहारे वैश्यस्य न प्रयोजकत्वम्, तथापि न धातुभिर्जीवन भवतीत्यन्नोत्पत्त्यर्थं रसोत्पत्त्यर्थं च कृषिगोरक्षयोरेव प्रयोजकत्वम्। कण्टकादेव रक्षा क्षत्रियस्य। तत एवोत्पन्नमुपदेशात् ब्राह्मणो लभते, रक्षातः क्षत्रियः। आरण्यानां मूलफलादीनां च यद्यपि जीवनोपयोगित्वम्, तथापि न सर्वेषां सर्वदा तदुपयोगः। तस्य भगवत उर्वोरूरुद्वयात् वार्ता उत्पन्नाः। तासां प्रयोजनमाह—**लोकवृत्तिकरीरिति**। लोकानां वृत्तिं जीविकां कुर्वन्तीति। नन्वमूर्तास्ताः, पदार्थानां च नियतत्वात्, हान्यादीनामपि दर्शनात्, कथं तासां सर्वनिर्वाहकत्वम्? अत आह-**विभोरिति**। स हि समर्थ, वृत्त्याश्रयणमात्रेणैव सर्वानपि दोषान् दूरीकृत्य तं जीवयत्येव। तासाममूर्त्तानामाधारार्थं तेभ्य एव निर्गतो वैश्यस्तृतीयो वर्णः। नृणां वार्तां जीविकां सम्यगवर्त्तयत्। **य** इति प्रसिद्धः। अथवा **वैश्यस्तदुद्भव** इति भिन्नम्। य इत्यनुवादः। **नृणामिति** देवादिव्युदासः। अनेन साधारणा एव पुरुषास्तद्वृत्त्या जीवन्ति, न त्वधिगतपरमार्थाः। सम्यग्वर्तनं नाम अनायासेन नित्यनिर्वाहकत्वम् ॥३२॥

व्याख्या—'विशः' पद से सकल वर्णों की आजीविका जिससे होती है ऐसे कृषि (खेती) आदि पदार्थ, शिलोच्छादि (खेती में पड़े रहे अन्न कणों को चुनना आदि) का भी वह ही मूल है, दान भी उससे ही उत्पन्न होता है अर्थात् जब खेती आदि धन को पैदा करते हैं तब हा दान किया जा सकता है। धन पैदा करने वाली दो ही वस्तु हैं। १-खेती २-गोरक्षा, व्यापार और व्याज (सूद) तो उस धन को बढ़ानेवाले हैं, हालाँकि धातुओं से जो व्यवहार होता है उसमें वैश्यवर्ण का प्रयोजकत्व नहीं है अर्थात् प्रायः धातुओं का व्यवहार (धंधा) वैश्यों का नहीं हैं, वे नहीं करते हैं कारण कि, धातुओं से जीवन निर्वाह (उदरपूर्ति) नहीं होती है, अन्न दूध से हो जीवन निर्वाह (उदर पूर्ति) होती है। अतः खेती और गोरक्षा करना ही उपयोगी है।

क्षत्रियों का काँटों से अर्थात् दुष्टों से रक्षण करना कर्तव्य है उससे ही खेती और गौओं से उत्पन्न अन्न रसादि को, ब्राह्मण उपदेशकर प्राप्त करते हैं उनसे अपनी आजीविका चलाते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय दुष्टों से जनता की रक्षाकर वह (अन्न तथा रस) प्राप्तकर आजीविका (पोषण) करते हैं। हालाँकि अरण्यों (बनों) में उत्पन्न कन्दमूल फल आदि से जीवन निर्वाह हो सकता है तो भी वे सबके लिए सर्वदा उपयोगी नहीं होते हैं।

उस भगवान् के दो उरुओं (जंघाओं) से लोकों की आजीविका करने वाली वार्ताऐं[1] उत्पन्न हुई वार्ताऐं तो निराकार हैं पदार्थ तो आकारवाले हैं उनसे साकारवाले पदार्थ कैसे प्रकटे? उनको हानि आदि होना भी प्रकट दीखता है। इस पर कहते हैं कि जिससे ये 'वार्ताऐं' उत्पन्न हुई, वह (विभु) सर्व समर्थ है वृत्ति (धंधा) आदि के केवल आश्रय करने से ही सर्वदोषों को दूर कर उसको जिलाता ही है, उन अमूर्तों के आधार के लिए उनसे ही तीसरा, वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ। मनुष्यों की आजीविका को वह प्रसिद्ध वैश्य[2] अच्छी तरह चलाता है अथवा उससे उत्पन्न वैश्य वर्ण, 'य' पद अनुवाद मात्र है, 'नृणां' पद का आशय है कि देवों की आजीविका नहीं चलाता है, इससे साधारण पुरुष ही आजीविका पाते हैं न कि जिन्होंने परम अर्थ को प्राप्त कर लिया है 'सम्यग्वर्तन' अच्छी तरह चलाने का आशय है कि उसकी नित्य प्राप्ति के लिए विशेष प्रयास नहीं करना है ॥३२॥

आभास—चतुर्थोत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—चतुर्थ वर्ण की उत्पत्ति इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये ।**
तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥३३॥

---

[1] वार्ताऐं अर्थात् धन्धे [2] 'वैश्यदेवता' जो जीविका का रूप है

प्रकाश-

श्लोकार्थ—भगवान् के दो चरणों से धर्म (कर्म) की सिद्धि के लिए शुश्रूषा देवता प्रकटा, उसमें से पहले शब्दवर्ण उत्पन्न हुआ जिसकी वृत्ति से भगवान् प्रसन्न होते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—पद्भ्यामिति। भगवतः सर्वात्मकस्य पदार्थचतुष्टयमभिप्रेतम्। ज्ञानम्, क्रिया रक्षारूपा, जोविका, सेवेति। ततो **भगवतः पद्भ्यां शुश्रूषा** नाम सेवारूपा काचित्। भगवद्भक्तिरूपा अन्तरङ्गा काचिच्छक्तिरुत्पन्ना। तस्याः प्रयोजनमाह–**धर्मसिद्धय इति**। धर्मः सेवयैव भवति, गुरुसेवा, देवतासेवा, अरण्यसेवा, आत्मसेवेति। किं बहुना, सर्व एव धर्माः पातिव्रत्यादयोऽपि सेवायामेव पर्यवसिनाः। अतो धर्मसिद्धयर्थं सेवा गतिदात्री भगवद्गतिहेतोरुत्पन्ना। अनेन पूर्ववर्णानां पुरुषार्थान्तरहेतुत्वमर्थादुक्तम्। विशोऽर्थसाधकत्वम्, क्षत्रस्य कामसाधकत्वम्, ब्रह्मणो मोक्षसाधकत्वमिति। अन एव ब्राह्मण एव मुक्तिः, क्षत्रियेभोगः, वैश्येऽर्थः, धमः शूद्र इति। उत्तरस्य पूर्वहेतुत्वादुत्तरार्थमेव पूर्वग्रहणम्। अतो मोक्षार्थमेव धर्मादीनामन्यधर्माणां करणं ब्राह्मणस्य। तथा भोगार्थमेव क्षत्रियस्य धर्मादिकरणम्। तथा वैश्यस्य धनार्थमेव धर्मकरणम्। शूद्रस्य तु धर्मार्थमेव सेवाधर्मकरणम्। अतोऽयं महान्, अन्यार्थं धर्माकरणात्। अत एव **'यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः' इति**। किञ्च, हरिः सर्वेषां दुःखहर्ता, सेवया च दुःखं गच्छति। अतः स्वकर्तव्यकरणादपि तुष्यति। तादृशसेवायां जातः शूद्रः, तन्निर्वाहार्थं वा। पुरा कल्पादौ। इदानीन्तनानां तु तदुद्भवत्वम्। शुश्रूषायां भव इति शकारोकारौ मिलितौ द्विरुक्तावेकशेषण शू भवतः, सन्प्रत्ययश्च जश्त्वेन दत्वमापद्यते, रेफस्य च परोक्षार्थं व्यत्ययः, **'अप्रत्ययात्'** इति सन्नन्तादकारो भवति, स्त्रीत्वाभावान्न टाप्। अण् प्रत्ययो वा तद्धितः, वृद्धयभावः परोक्षार्थः। **'शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात्'** इति तु योगेनाऽन्यथा शूद्रशब्दो निरुक्तः, स न जात्युपयोगी। तं वा निर्वचनं कालभेदेन स्थापयति-**पुरा शूद्र इति**। स हि यावत्पर्यन्तं सेवां न करोति तावत्पर्यन्तं शुचैव द्रवति। तस्याऽर्थाद्यभावाद्धर्मोऽपि यदि न भवेच्छोको भवेदिति, तेन चाऽऽद्रवतीति, पुराऽयं शूद्रो भवति, पश्चात्तु वर्णमात्रम्। शोकाभावे हेतुः–**यद्वृत्त्या तुष्यते हरिरिति**। हरितोषात् सर्वमेव सिद्धं भवतीत्यर्थः ॥३३॥

व्याख्या—सबके आत्मारूप भगवान् को चार पदार्थ (१-ज्ञान २-क्रिया (रक्षा) ३-जीविका और ४-सेवा) अभिप्रेत हैं इस कारण से भगवान् के चरणों से 'शुश्रूषा नाम वाली सेवारूप' कोई देवता प्रकटी, वह देवता भगवान् की कोई भक्ति (सेवा) रूपा अन्तरंग शक्ति है उससे प्रकट होने का कारण कहते हैं कि 'धर्मसिद्धय' धर्म की सिद्धि के लिए धर्म सेवा से ही सिद्ध होता है, गुरु सेवा, देव सेवा, अरण्य की सेवा आत्मा की सेवा बहुत क्या कहे सर्व धर्म पातिव्रत्य आदि भी सेवा में ही गिने जाते हैं, अतः धर्म की सिद्धि के लिए सेवा आगे बढ़ाने वाली है, जिससे भगवान् तक पहुँचा जाता है। इसलिए ही यह शुश्रूषा देवाता प्रकट हुई है इससे यह सूचित किया है कि पूर्व कहे हुए ब्राह्मणादि वर्णों के कर्म अन्य पुरुषार्थों के लिए हैं वैश्य अर्थ साधक हैं, क्षत्र काम

साधक है, ब्रह्म मोक्ष साधक है, अतएव ब्राह्मण वर्ण में ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, क्षत्रिय में भोग, वैश्य में अर्थ और शूद्र में धर्म सिद्ध होता है।

उत्तर में कहा हुआ धर्म पहले कहे हुए का हेतु (कारण) है, पीछे कहे हुए के लिए ही पहले का ग्रहण किया गया है। अतः मोक्ष के लिए ही धर्म आदि अन्य धर्म ब्राह्मण वर्ण करता है, वैसे ही क्षत्रिय भी धर्मादि भोग की प्राप्ति के लिए करते हैं। वैश्य भी धन प्राप्ति के लिए धर्मादि करते हैं. शूद्र तो धर्म के लिए ही सेवा धर्म करते हैं। इसलिए यह शूद्र वर्ण महान् है क्योंकि दूसरे की प्राप्ति के लिए नहीं करता है, किन्तु धर्म प्राप्ति के लिए सेवा धर्म पालता हैं, 'यद्वृत्या तुष्यते हरिः' शूद्र अपनी वृत्ति सेवाधर्म पालता है, इसलिए भगवान् शूद्र पर प्रसन्न होते हैं, भगवान् का नाम यहाँ हरि देकर यह भाव प्रकट किया है की भगवान् सर्व के दुःखों को हरण करने वाले हैं और सेवा से भी दुःख नष्ट होता है इसलिए अपने कर्तव्य करने के कारण उन (शुद्रों) पर प्रभु प्रसन्न होते हैं।

अतः कल्प के आदि में शूद्र ऐसी सेवा में ही उत्पन्न हुआ है अथवा सेवा का निर्वाह हो सके (सेवा हो सके) इसलिए पैदा हुआ है। अभी के शूद्र तो उस शूद्र से उत्पन्न हुए हैं 'शूद्र' शब्द शुश्रूषा पद से कैसे बना? जिसका वर्णन आचार्य श्री ने पाणिनीय व्याकरणानुसार यों किया है 'शुश्रूषा' के दो 'श' और दो 'उ' (उकार) मिलकर 'शू' बना है अन्तिम मूर्धन्य 'ष' सन् प्रत्यय का है और वह 'ष' जश् प्रत्याहार का होने से **'झलाँजशोऽन्ते'** पाणिनीय सूत्रानुसार उसको 'द्' हुआ है और 'श्रू' में जो 'र' है। परोक्ष का अर्थ दिखाने के लिए उसका व्यत्यय (फेर फार इधर का उधर) हुआ है। अन्त में 'अप्रत्ययात्' पाणिनीय सूत्र से सन्नन्त होने से 'अ' प्रत्यय हुआ है अथवा अण् प्रत्यय तद्धित है. स्त्री लिंग न होने से 'टाप्' प्रत्यय न लगा है वृद्धि न होने का कारण परोक्ष अर्थ है।

'शुगस्य तदनादर श्रवणात् तदाद्रवणात्' व्यासजी के रचित ब्रह्मसूत्र ने 'शूद्र' शब्द की व्युत्पत्ति अन्य प्रकार से की है जिसका भावार्थ है, हंस द्वारा अपना अनादर सुनकर उसको शोक हुआ जिससे 'शूद्र' कहलाया, वह व्युत्पत्ति वर्ण के उपयोगी नहीं है अथवा कालभेद से उसकी व्युत्पत्ति कहते हैं 'पुरा शूद्र' वह जब तक सेवा नहीं करता है तब तक शोक के कारण गलता है, उसको अर्थ आदि भी नहीं होने से धर्म भी यदि न बने तो शोक होवे और उससे गलता है, इस लिए पहले यह शूद्र होता है, पीछे नाममात्र शूद्र बनता है, फिर जब अपने सेवा धर्म का पालन करता है तब हरि की प्रसन्नता से उसका सकल शोक नष्ट हो जाता है हरि की प्रसन्नता से सर्व सिद्ध होता है ॥३३॥

आभास—एवं वर्णानामुत्पत्तिमुक्त्वा भगवति तेषां विनियोगमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार वर्णों की उत्पत्ति कहकर उनका विनियोग भगवान् में किस प्रकार होता है ? जिसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम् ।**
श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्धयर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥३४॥

श्लोकार्थ—ये चार वर्ण अपने-अपने धर्म के पालन से अपने गुरु (पूज्य) हरि का श्रद्धा से यजन करते हैं किस लिये करते हैं ? इसके उत्तर में कहा है कि अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए करते हैं क्योंकि इनकी उत्पत्ति वृत्तियों के साथ ही हुई है ॥३४॥

सुबोधिनी—एते वर्णा इति । स्वधर्मेण वागादिव्यापारेण । स हि तेषां स्वधर्मं औत्पत्तिकः । वाग्व्यापारेण भगवद्भजनं ब्राह्मणस्य, रक्षादिना भगवद्भजनं क्षत्रियस्य, सेवोपयोगिपदार्थसमर्पणेन वैश्यस्य, सेवया शूद्रस्येति । तत्र सेवा प्रथमकक्षा सर्वसुलभा । यदि सर्वेऽपि भगवत्तोषमेव केवलं कामयन्ते, तदा सेवैव कर्त्तव्या । यदि स्वधर्मेण सेवितुमिच्छन्ति, तदा स्वधर्मसिद्धयर्थं सेवा कर्तव्या । तदा स्वधर्मस्य फलं वक्तुं तदुपयोगिभगवद्गुणानाह - **स्वगुरुं हरिमिति** । स्वधर्मेण स एवोपास्यः, यस्त्वावश्यको भवति । तत्र धर्मोपदेष्टृत्वात् भगवानेवोपास्यः । स हि स्वगुरुः, धर्मेण सहोत्पादनात् । यथार्थं ज्ञापयन् शब्दो ह्युच्चारयिता गुरुर्भवति, एवमेव भगवान् वृत्ति स्वधर्मं प्रथमत यत्पाद्य पश्चात्तदर्थमात्मानमुत्पादयतीति । किञ्च, तथैव कृते अस्य दुःखाभावो भवतीति नियमात् तथा कर्ता हरिर्भवति । **यजन्तीति** सिद्धवन्निर्देशः । उत्पत्त्यैव धर्मप्रकारयोर्ज्ञातत्वात्, विलम्बाभावाच्च, अपर्यवसितत्वाच्च सर्वदैव भागवद्भजने वर्तमानता । **यजन्तीत्यनेन** तत्प्रीतिजननप्रकारेण स्वधर्मः कर्तव्य इति सूचितम् । **श्रद्धयेति** हेतुः सर्वत्र । आत्मविशुद्धिरन्तः करणशुद्धिः । सर्वत्राऽपाखण्डिनां नियतं फलम् । शुद्धे त्वन्तःकरणे सर्वत्राऽधिकारो भवति, पश्चात्सर्वं सुलभम् । ननु निरन्तरसेवायां कोऽयं निर्बन्धस्तत्राऽऽह—यद्यस्मात् स्ववृत्तिभिः **सहजाताः** । अभजने कालान्तरे अवृत्तीनुत्पादयिष्यतीति ॥३४॥

व्याख्या—"स्वधर्मेण" अपने २ वाणी आदि कर्तव्य से भगवान् का भजन करते है क्योंकि यह उनका अपना सहज धर्म है, जैसाकि, वाणी की क्रिया (उपदेश-अनुष्ठान आदि) से भगवान् का भजन ब्राह्मण का सहजधर्म है, दुष्टों से रक्षा करने से भगवद् भजन क्षत्रिय का सहज धर्म है । सेवा के उपयोग में आने वाले अन्न, रस आदि पदार्थ जनता को पहुँचाने रूप धर्म से वैश्य भगवान् की पूजा करता है, सर्व की पूर्वोक्त प्रकार से सेवाकर शूद्र अपना धर्म पालता है । यह ही उसका भगवद्भजन है जिससे तुम्ह (शूद्र वर्ण) पर भगवान् प्रसन्न होते हैं उनकी प्रसन्नता से शूद्र के

सर्वकार्य सिद्ध हो जाते हैं, सर्व कर्त्तव्यों में 'सेवा' उत्तम कक्षा का धर्म है और सर्व सुलभ है । जो सकल वर्ण भगवान् की प्रसन्नता ही चाहते हैं तो सबको सेवा ही करनी चाहिए। यदि स्वधर्म से भगवान् का भजन करना चाहते हैं तो सब अपने धर्म का सिद्धि के लिए सेवा करनी चाहिए अब स्वधर्म का फल बताने के लिए उसके उपयोगी भगवद्गुणों का वर्णन करते हैं 'स्वगुरु हरिम्' स्वधर्म से भी वह हरि सेव्य है, हरि सेवा ही आवश्यक है, वहाँ भगवान् धर्मोपदेष्टा हैं अतः वह ही उपास्य हैं, वह ही अपने गुरु हैं, क्योंकि धर्म के साथ ही सबको उत्पन्न किया है, यथार्थ (ठीक अर्थ) जताते हुए शब्द का जो शुद्ध उच्चारण कराते हैं वे ही गुरु हैं, इसी तरह ही भगवान् वृत्तिरूप स्वधर्म को पहले उत्पन्न कर, फिर उसका पालन करने या कराने के लिए अपना आविर्भाव करते हैं, किन्तु यों ही करने पर इस (इस वर्ण) का दुःख दूर होगा। यह नियम होने से वैसे कर्ता हरि होते हैं 'यजन्ति' पूजन करते हैं, इस पद से यह सूचन किया है कि भजन सिद्ध ही है, 'उत्पत्ति' से ही धर्म और उसके करने का प्रकार जाना गया होने से उनमें बिलम्ब का कोई कारण नहीं है, अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् भजन की कोई अवधि नहीं है अतः सर्वदा ही करते ही रहना चाहिए। 'यजन्ति' पद का यह भी भाव है कि भजन, स्वधर्म समझ इसी तरह करना चाहिए जैसे भगवान् में प्रेम उत्पन्न होवे, प्रेम से ही आसक्ति आदि की उत्पत्ति होती है वह भजन 'श्रद्धा से ही कर्तव्य है, वह हेतु सर्वत्र समझना चाहिए, अर्थात् श्रद्धा ही कार्य करने में साधन है और सेवा शुद्ध अन्तःकरण से करनो चाहिए देखा देखी वा पाषण्ड से नहीं करनी चाहिए, जो पाषण्ड बिना श्रद्धा से सेवा करते हैं उनको निश्चित् फल भगवत्प्रेम व प्रसन्नता आदि) मिलता है तथा जब अन्तःकरण शुद्ध है तब ही अधिकार प्राप्त हुआ है यों समझना चाहिए, अधिकारान्तर सब सुलभ है, हमेशा सेवा करने का आग्रह क्यों? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि इसी कारण से यह धर्म अपनी वृत्तियों के साथ उत्पन्न हुए हैं—अतः यदि ऐसे स्वधर्म का पालन न किया जाएगा, तो कालान्तर में वृत्तिहीन होना पड़ेगा—जिससे लौकिक और पारलौकिक दोनों बिगड़ेंगे ॥३४॥

आभास—एवं भगवतः समष्टिव्यष्टिरूपोत्पादनम्, सर्वदेवानां तत्रोपभोगः, स्वार्थवर्णचतुष्टयोत्पादनम् तेषां च भगवद्भजनप्रकार इति चतुष्टयमुक्त्वा उपसंहरति——

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् ने समष्टि व्यष्टि सृष्टि का उत्पादन किया और उसमें समस्त देवों का वहाँ उपभोग किया, अपने भू लोक का सृष्टि कार्य चलाने के लिए चार वर्ण बनाये तथा उनके लिए भगवद्भजन करने का प्रकार कहा यों ये चार कह कर अब इस विषय का निम्न श्लोक से उपसंहार करते हैं—

श्लोक—एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः ।
कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे क्षत्तः ! दैव कर्म और स्वभावरूप भगवान् के योगमाया के बल के उदयवाले इस चरित्र के आरम्भ करने की श्रद्धा कौन करे ? ॥३५॥

सुबोधिनी—एतत्क्षत्तर्भगवत इति । एतच्चतुष्टयमेवाऽस्माभिर्निरूपितं सूचनार्थम् । अधिकं तु स्वयमेव ज्ञातव्यमिति नैपुण्यार्थं संबोधनं **क्षत्तरिति ।** एकस्य वीर्यस्यांशभूतायाः क्रियाशक्तेः कोटयंशलेशो निरूपितः, अतिरिक्तो भगवान् पूर्ण एव । तदाह**—भगवत इति ।** तत्राऽपि त्रितयसंयोगमाह**—दैवकर्मात्मरूपिण इति ।** दैवं कालः, कर्म प्राणिनाम्, आत्मा स्वभावः, एतान्यपि स्वस्यैव रूपाणि । तानिरूपाणि वर्तन्ते यस्य । एकस्य ऽपि रूपस्य यत्राऽऽनन्त्यम्, तत्र को वा तं चतूरूपमानन्त्यचतुष्टयात्मकं निरूपयेत् ? किञ्च, योगमायाया बलस्योदयो यत्र, एतादृशं चरित्रम् । योगमाया हि क्षणमात्रेण कोटिब्रह्माण्डानि कर्तुं शक्नोति, तस्या अपि बलं भगवद्गुणैरेवेति । अथवा, योगमाया करणम्, योगमायया यो बलोदय इति । **उपाकर्तुम्,** यथा वेदा आरभ्यन्ते उपाकरणेन, समाप्यन्ते च उत्सर्गेण । तत्र भगवद्गुणानामपि मुख्यविद्यात्वात् तदुपाकरणं युक्तम् । समाप्तिर्दूरे, उपाकर्तुमपि कोऽपि न शक्नोति । उपाकरणमपि दूरे, करिष्यामीति प्रारम्भमपि कः कुर्यात् ? अन्ततो गत्वा श्रद्धामपि कः कुर्यात् ? अतो मया भगवतश्चतुर्मूर्तेरापाततो गुणाः कथितः ॥३५॥

व्याख्या—ये चार ही हमने केवल सूचना देने के लिए निरूपण किए हैं, अधिक आप खुद ही समझ लेओ । क्योंकि आप निपुण हैं, निपुणता के लिए ही 'क्षत्रः' संबोधन दिया है, एक वीर्य की अंशभूत क्रियाशक्ति का यहाँ करोड़वाँ अंश लेश मात्र निरूपण किया है, भगवान् तो पूर्ण ही हैं, इसलिए 'भगवतः' पद दिया है, उसमें भी देव, कर्म और स्वभाव इन तीनों का संयोग है, दैव का तात्पर्य है **काल**, कर्म से प्राणियों के कर्म समझने और 'आत्मा' का आशय है 'स्वभाव' ये तीनों भी भगवान् के ही रूप हैं, ये रूप जिसके हैं वैसे भगवान् के एक रूप भी अनन्त हैं, वह कौन है ? जो उनके चतुरूप वा चतुष्टय की अनन्तता का वर्णन कर सके किन्तु भगवान् चरित्र में योगमाया के बल का सर्वथा उदय ही है । योगमाया ऐसी बलवती है जो क्षणमात्र में कोटि ब्रह्माण्ड बना सकती है । उस (योगमाया) का बल भगवद्गुणों के कारण ही अथवा योगमाया करण (साधन) है अर्थात् योगमाया के बल का जो उदय है वह करण मात्र है ।

'उपाक्तुं' पद के भाव की स्पष्टता करते हैं कि जैसे वेदों का प्रारम्भ उपाकरण से किया जाता है और उत्सर्ग से पूर्णता की जाती है भगवान् के गुण भी मुख्य विद्या (ज्ञान) रूप हैं उसका भी उपाकरण करना उचित है समाप्ति तो दूर रही, विशेष स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि उपा-

करण भी जब कोई नहीं कर सकता है वह ही करना दूर है तौ फिर उत्सर्ग का तो नाम ही नहीं लिया जा सकता है, प्रारम्भ के समीप जाकर करने की श्रद्धा, विश्वास,साहस भी कौन करे ? अतः मैंने चतुर्मूर्ति भगवान् के गुणों का ऊपर-ऊपर से ही वर्णन किया है ॥३५॥

आभास—न चैतावताऽहं निवृत्तः, किन्तु गुणानामानन्त्यमेव । तदाह—

आभासार्थ—इतना कहकर ही मैं रुकता नहीं हूँ क्योंकि भगवान् के गुण अनन्त हैं वे निम्न श्लोक में कहे जाते हैं—

श्लोक—**अद्याऽपि कीर्तयाम्यङ्ग ! यथामति यथाश्रुतम् ।**
कीर्ति हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! अन्य वर्णन से दूषित अपनी वाणी को पवित्र करने के लिए अब भी मैंने अपनी मति के अनुसार जैसा सुना है, वैसा भगवान् का यश गाता हूं ॥३६॥

सुबोधिनी—अद्याऽपि कीर्तयामीति। अङ्गेति कोमलसंबोधनमप्रतारणाय । **अद्याऽपोति**। यत आरभ्याऽहमुत्पन्नस्ततप्रभृत्यद्याऽपि मरणपर्यन्तं कीर्तयाम्येव स्वधर्मत्वात् । परं सूक्ष्मजीवत्वान्मयि विशेषः । **यथामतीति** मतिमनतिक्रम्य यावज्जानामि तावदेव कथयामि. न तु कल्पयित्वा । तत्राऽपि **यथाश्रुतम्**, गुरोः सकाशात् श्रवणनतिक्रम्य । अनेनाऽऽवृत्तिर्भगवद्गुणानामुक्ता । तत्र प्रयोजनमाह—**कीर्तिहरेरिति** । नूतनश्रवणे सामर्थ्यमुपायश्च नाऽस्ति, प्रयोजनाभावश्च; आनन्त्यात् स्वधर्माभावाच्च । अतो यावत्कीर्तयितुं शक्यते तावदेव श्रोतव्यम्, इत्यल्पं श्रुत्वा तदेव कीर्तयामि; तदाहैकबचनेन । **हरेरिति** तावतैव भगवान् दुःखं दूरीकरिष्यतीति । पुनः पुनः कीर्तनस्य तु प्रयोजनमस्ति । **स्वां गिरं सत्कर्तुम्** । **अन्यपदार्थानामभिधया** कथनेनेयं मद्वाणी **असती** जाता । भगवता स्वार्थमेव वागुपदि । वाणीं च स्वां समर्पितवान् स्वसेवार्थम् । तस्याः पति भंगवान् । भगवदर्थे स्वयं प्रेरकः । तथा च स्वतो वा, मत्प्रेरणया वा, अन्यमभिधाय वाणी व्यभिचारिणी जाता । तामिदानीं संस्करोमि, संस्कृता सा भगवति योजयीयेति। अतः संस्कारार्थे बहुधा कीर्तयामीत्यर्थः । अनेन यस्य यस्य साधनं भगवता स्वार्थे यद्दत्तम्, तदन्यत्रोपयोज्य तच्छुद्धयर्थं भगवति तत्पुनः पुनरुपयोज्यमिति ॥३६॥

व्याख्या—हे अङ्ग ऐसे प्रेम भरित कोमल सम्बोधन देने का आशय है कि मैं जो कुछ गुण वर्णन कर रहा हूँ वह तुमको धोखा देने के लिए नहीं है, किन्तु भगवान् के ऐसे ही अप्रतिम अनन्त-गुण है । जबसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ वहां से लेकर आज तक एवं मरण तक भगवान् का गुणानुवाद

गाता हूं और गाता रहूँगा क्योंकि मेरा यह धर्म है किन्तु विशेषता यह है कि मैं सूक्ष्म जीव होने से अल्पज्ञ हूँ, जिससे अपनी स्वबुद्धि (अल्पबुद्धि) अनुसार जितना जानता हूं, उतना ही कहता हूँ न कि कल्पना करके कहता हूँ, जैसा बुध्यनुसार गुरु से सुन पाया है वैसा ही सुनाता रहता हूँ. इससे यह सूचित किया है, मैं यों पुनः पुनः सुनाने से भगवद् गुणों की आवृत्ति (अभ्यास) कर रहा हूँ, अभ्यास करने का प्रयोजन बताते हैं कि **'कीर्ति हरेः'** भगवान् की कीर्ति ऐसी ही है जो पुनः पुनः कहने व सुनने के लिए आकर्षित करती ही है, नवीन सुनने की शक्ति तथा कोई उपाय भी नहीं है और प्रयोजन भी नहीं है क्योंकि भगवान् के गुण अनन्त हैं, अनन्तता के कारण उनके सुनने की जो शक्ति (बुद्धि) च हिए वह अपने में न होने से उन (गुणों) को सुनना अपना धर्म (कर्म) नहीं है। अतः जितना कीर्तन हो सके उतना ही सुनना अपना धर्म है। इसलिए अल्प बुद्धि के अनुसार अल्प सुनकर उतना ही कीर्तन करता हूँ। इसलिए एक वचन से कहा है 'हरेः कीर्ति' भगवान् की कीर्ति, भगवान् इतने से ही दुःख मिटायेंगे इसलिए विशेष सुनने की आवश्यकता नहीं है, पुनः पुनः गुणानुवाद करने का प्रयोजन है, वह प्रयोजन यह है कि अन्य पदार्थों के वर्णन करने से वाणी अपवित्र हो गई है, अतः इस अपवित्र वाणी को पवित्र करने के लिए बार बार गुणगान करने की आवश्यकता है, भगवा् ने अपने लिए ही अर्थात् अपने गुण वर्णन करने के लिए अपने को उत्पन्न किया है और वाणी भी इसलिए दी है जिससे कीर्तन कर सकें, उस (वाणी) के पति भगवान् हैं, उस वाणी का भगवदर्थ प्रेरक भी स्वयं है किन्तु वैसे होते हुए भी यदि स्वतः अथवा मेरी प्रेरणा से वह वाणी अन्य विषय के वर्णन में प्रवृत्त हुई तो व्यभिचारिणी हुई, उस अपवित्र व्यभिचारिणी वाणी को गुणगान से शुद्ध करता हूँ, शुद्ध हो जाने पर भगवान् में उसका उपयोग किया जाएगा, अतः शुद्ध करने के लिए भगवत्कीर्ति का गान बहुत प्रकार से करता हूँ।

इससे जिस जिसको भगवान् ने अपने लिए जो-जो साधन दिये हैं यदि उनका विनियोग दूसरे में करने से वह अपवित्र हो गया हो तो उसकी शुद्धि के लिए उसको बार-बार भगवान् में वे साधन लगाने चाहिए ॥३६॥

आभास—एवमुपसंहृत्य सर्वेषां निर्द्धारितं जन्मफलमाह—

आभासार्थ—इसी तरह उक्त विषय का उपसंहार कर इस श्लोक में सर्व का निश्चित निर्णय किया हुआ जन्म फल कहते हैं—

श्लोक—एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः ।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसंप्रयोगम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—उत्तम कीर्ति रूप मुकट वाले भगवान् के गुणों का गान ही, पुरुषों

का एवं वाणी का सम्पूर्ण लाभ है एवं विद्वानों ने प्रारम्भ की हुई कथारूप सुधा का ध्यानपूर्वक श्रवण करने में कान तथा पुरुषों का सम्पूर्ण लाभ है ॥३७॥

सुबोधिनी—एकान्तलाभमिति । अन्यानीन्द्रियाणि केवलं भगवदर्थं योजयितुमशक्यानि, देहार्थं तदुपयोगावश्यकत्वात् । दुष्टानि च न भगवति योजनीयानि । हस्तौ नित्यममङ्गलस्पर्शौ, तथा चक्षुषी; तथाऽन्यान्यपि देहनिर्वाहार्थमवश्यमन्यत्र योजनीयानि चेत् भगवदर्थे किञ्चिद्रक्षणीयम्; स्वतः शुद्धम्, शुद्धं कृत्वा वा । तदा द्वयं रक्षयणीयम्, वागिन्द्रियं श्रोत्रं च । अनयोर्न देहोपयोग आवश्यकः । तस्मादेते चेद्भगवत्कृपया स्वार्थं प्राप्ते भवतः, तदा भगवद्गुणा वक्तव्याः श्रोतव्याश्च । नाऽन्यद्वक्तव्यं श्रोतव्यमित्याह । **वचसो** वागिन्द्रियस्य । **एकान्तलाभः** एक एव भगवान् स्वार्थोऽन्तो यस्य । लाभो भगवत्प्राप्त्यैव समाप्यते । स को लाभ इत्याकाङ्क्षायामाह— **सुश्लोकमौलेर्गुणवादमिति** । सुष्ठु श्लोकाः कीर्तिप्रतिपादका भागवतादिरूपाः, तत्प्रतिपादिता कीर्तिर्वा मौलौ यस्य । अनेन तस्य कीर्तिर्मुकुटरूपा भवतीत्युक्तम् । तां चेदयं सं कुर्यात् '**सर्वस्य गात्रस्य शिरः प्रधानम्**' इति प्रधानमेव भूषितं भवेत् । तादृशस्य भगवतो गुणवादमुत्कर्षप्रतिपादकानां धर्माणां भावपूर्वकं निरूपणं लाभमाहुरिति संबन्धः । **आहुरिति** प्रमाणम् । न केवलं वचस एवायं लाभः, किन्तु **अनु** पश्चात् नु निश्चयेन वा, **पुंसामपि** लाभः । तदुपयोगार्थमन्येन्द्रियव्यापारात् स्वोपयोगेऽपि.स्वस्य तत्रोपयोगात्, कीर्त्तनद्वारा सर्वाण्येवेन्द्रियाणि स्वयं च सफलो भवति । श्रोत्रस्य चाऽयमेव लाभः । **चका**रात्तदनुवर्त्तिनां पुंसामपि । **विद्वद्भिरुपाकृतायां** भगवत्कथायामारब्धायाम् । **उपसंप्रयोगम्**, समीपे सम्यक् प्रकर्षेण योगो यस्य, तादृशं श्रवणम्, अमृतकथाश्रवणमिति यावत्, तच्छ्रुतेर्लाभः । श्रोत्रस्य विशेष उच्यते—भगवत्कथैव श्रोतव्या; तत्राऽप्यमृतरूपा प्रेम्णा निरूपिता; तत्राऽपि विद्वद्भिरेव निरूपिता. अन्यथा अज्ञैरन्यथा निरूपणसम्भवात् । तेषां पदार्थानां वस्तुतो भगवदीयत्वाभावाद्भगवत्कथायां तच्छ्रवणे श्रोत्रस्य व्यभिचार एव भवेत् । अतो भगवदीयपदार्थश्रवणार्थं विद्वद्भिरेव निरूपितं श्रोतव्यम् । तैरप्यन्यार्थनिरूपणे प्रकृते तात्पर्याभावात्, तन्न श्रोतव्यम् । तदाह — **उपाकृतायामिति** । कथा संबद्धा वार्ता, सैव सुधारसजनिका मृत्युनिवर्तिका च तदपि श्रवणं न दूरतः । अन्तः करणशुद्धि द्वारा ज्ञानं भविष्यतीति द्रविडमण्डकन्यायो भगवद्गुणेषु न कर्तव्यः । **सम्यक्त्वं** च स्वपर्यवसानात् । **प्रकर्षो** विस्मरणराहित्यम् । यद्येवं शृणुयात्, तदा श्रोत्रं स्वयं च **भगवदर्थं** भवेत्, अन्यथा व्यर्थो भवेत्, कालार्थः काकार्थो वा ॥ ३७ ॥

व्याख्या—वाणी एवं कानों के सिवाय अन्य इन्द्रियां केवल भगवदर्थ ही लगानी कठिन ही नहीं किन्तु अशक्य है क्योंकि उन अन्य इन्द्रियों का उपयोग देह के लिए आवश्यक है और जो दूषित हैं उन इन्द्रियों का उपयोग भगवान में नहीं करना चाहिए जैसे कि हस्त दूषित है क्योंकि नित्य अमङ्गल वस्तुओं का स्पर्श करता रहता है, वैसे ही नेत्र भी अमङ्गल पदार्थों को देखते रहते

हैं, यों अन्य इन्द्रियाँ भी देह निर्वाह के लिए अवश्य दूसरी वस्तु आदि में लगानी पड़ती है ऐसा होने पर कुछ इन्द्रियाँ तो भगवदर्थ रखनी ही चाहिए. वे इन्द्रियां स्वतः शुद्ध हों अथवा उनको स्वयं शुद्ध अवस्था में रखना चाहिए, वे कौनसी इन्द्रियाँ हैं जिनको शुद्ध रखा जा सकता है । इस पर कहते हैं 'वागिन्द्रियं श्रोत्रं च' वाणी और कान, इन दोनों का देह के लिए उपयोग आवश्यक नहीं है, इसलिए ये दोनों यदि भगवत्कृपा से भगवदर्थ लगाई जावे तो वाणी से भगवान् के गुण गाने चाहिए और कानों से भगवद्गुण सुनने चाहिए । वाणी से भगवत्सम्बन्धी विषय के सिवाय अन्य कुछ कहना ही नहीं चाहिए और न अन्य कुछ सुनना चाहिए, वाणीन्द्रिय का एक भगवान् ही अन्तिम सत्य स्वार्थ (अपना धन) है । अतः उस सत्यधन भगवान् की प्राप्ति से ही पूर्ण लाभ होता है अन्यथा नहीं होता है, वह कौनसा लाभ है ? इस पर कहते हैं कि सुश्लोकमौलेर्गुणवादमिति' उत्तम कीर्तिरूप मुकुट वाले भगवान् के गुणों का गान होना ।

कीर्ति का प्रतिपादन करने वाले भागवतादि शास्त्रों में जो कीर्ति प्रतिपादित है वह कीर्ति जिसके मुकुट में हैं । इससे यह बताया है कि उसकी कीर्ति मुकुट रूप है, अर्थात् ऐसी उत्तम कीर्त्ति अन्य किसी को नहीं है ऐसी उत्तम उस कीर्ति को बार बार रटे तो जैसे सर्वगात्रों में सिर मुख्य है वैसे यह कीर्ति का गान भी सर्वफलों वा साधनों में प्रधान भूषण हो जाय, अतः ऐसे भगवान् के उत्कर्ष प्रतिपादन करने वाले धर्मों का भाव सहित निरूपण ही लाभ है यों कहते हैं। 'आहुः' इस पद का तात्पर्य है यह प्रमाण है यह केवल वाणी का ही लाभ है, किन्तु इससे पीछे पुरुषों को भी लाभ प्राप्त होता है ।

उस (वाणी) के उपयोग के लिए अन्य इन्द्रियों का भी व्यापार (क्रिया) करने से अपना वहां उपयोग होने से कीर्तन द्वारा सर्व इन्द्रियों की तथा अपनी भी सफलता, सार्थकता सिद्ध होती है ।

अब श्रवण (सुनने) से श्रोत्रों (कानों) को भी यही लाभ मिलता है च' पद से यह बताया है कि श्रोतों को लाभ मिलता है वैसे जो पुरुष कानों के अनुवर्ती हैं अर्थात् कर्ण द्वारा सुनते है उन पुरुषों को भी यही लाभ मिलता है ।

विद्वानों ने जो अमृत रूप भगवत्कथा प्रारम्भ की हो उसको ध्यानपूर्वक सुनना, यह कानों का लाभ है । कानों के लिए विशेष कहते हैं कि वह कथा किस प्रकार की हो जिसको श्रोत्र सुने ? इस पर कहते हैं कि कथाकर्ता विद्वान् शास्त्र तत्व जानने वाला हो एवं प्रेम से उस अमृत रूप भगवत्-कथा को कहता हो ऐसी भगवत्कथा सुननी चाहिए, यदि कथाकर्ता शास्त्रतत्वज्ञ विद्वान नहीं है. केवल पल्लवग्राही (अज्ञानी) पण्डित है तो वह सत्य तत्व न बताकर अन्यथा बतायेगा अतः ऐसी यदि कथा कोई करे तो वह नहीं सुननी चाहिये । वह अज्ञ (अज्ञानी) कथाकार जो कहेगा उसमें वस्तुतः भगवदीयत्व का अभाव होगा अतः ऐसी भगवत्कथा के श्रवण से श्रोत्र व्यभिचारी होंगे ।

होंगे । श्रोत्र व्यभिचारी न होवे इसलिए भगवत्सम्बन्धी पदार्थों के श्रवण के वास्ते शास्त्र तत्वज्ञ विद्वानों, जो कुछ भगवदीय पदार्थों (लीलादि रहस्य) का वर्णन करते हैं वह श्रवण करना चाहिए वे भी यदि अन्य विषय कहे तो उसको नहीं सुनना चाहिये क्योंकि उस (अन्य विषय) से प्रयोजन नहीं है । इसको स्पष्ट करते हैं कि 'उपाकृतायां' जिस विषय के लिए कथा प्रारम्भ की है वह ही अमृत रस पैदा करने वाली और मृत्यु मिटाने वाली है । वह श्रवण भी दूर से (बिना मन लगाए) नहीं करना चाहिए, श्रद्धापूर्वक गुरु या कथा कर्ता के सन्निधि में प्रणिपात पूर्वक बैठ कर सुननी चाहिए । यों श्रवण करने से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त होगा । भगवद्गुणों के सुनने में द्रविड़ मण्डक न्याय[1] नहीं करना चाहिए । इसी तरह गुण श्रवण करना चाहिए जैसे उनकी स्थिति अपने (श्रोता के चित्त) में स्थिर रहे कभी भी उसका विस्मरण नहीं होवे । इस तरह जो श्रवण किया जावे तब कान और पुरुष भगवत्सम्बन्धी हो जावे नहीं तो श्रवण व्यर्थ हो जाय अर्थात् वह काल[2] तथा काक का उपयोगी बने ।।३७।।

आभास---नन्वल्पमेवोक्त्वा कथमुपसंहारः कृतः, कथं वा स्वार्थं निरूप्यते ? इत्युच्यते । भगवन्माहात्म्यं ज्ञातव्यम्, ततो भक्तिः, ततो भगवत्सायुज्यमिति । इमं क्रमं परिहृत्य वाक्शुद्ध्यर्थं गुणानुकीर्तनम्, इन्द्रियलाभार्थं, च श्रवण कीर्तने, इति कथमेवमुच्यते ? इत्याशङ्क्याऽऽह---

आभासार्थ—थोड़ा ही कहकर उपसंहार कैसे किया अथवा स्वार्थ के लिए कहते हैं यों कैसे कहा ? भगवान् का माहात्म्य जानना चाहिए, पश्चात् उससे भक्ति होती है । भक्ति से भगवत्सायुज्य प्राप्ति होती है इस क्रम का त्याग कर वाणी की शुद्धि के लिए गुणगान इन्द्रियों के लाभार्थ श्रवण और कीर्तन करना, यों कैसे कहा ? इस शङ्का के निवारणार्थ यह श्लोक कहते हैं ।

श्लोक--**आत्मनोऽवसितो वत्स ! महिमा कविनाऽऽदिना ।**
संवत्सरसहस्त्रान्ते धिया योगविपक्वया ।।३८।।

श्लोकार्थ---हे वत्स ! आत्मा की महिमा आदिकवि ने एक सहस्त्र संवत्सर के बाद योग से परिपक्व हुई बुद्धि से जानी है ।।३८।।

---

[1] —द्रविड़ देश में 'मालपुवे' नहीं बनते हैं वहाँ का एक पुरुष मध्य प्रदेश में गया वहां उन्हें देख कर पूछने लगा कि ये कैसे खाये जाते हैं, तब उपहास (हंसी मजाक) से उसको किसीने कहा कि पीछे से हाथ को फिराके दो पैरों के बीच में से 'मालपुआ' मुख में डाल कर खाया जाता है । यह उल्टा क्रम बताया है । 'प्रकाश'

[2] —जिस प्रकार काग (कौवे) की बोली—'काँ, काँ सुनने से कुछ समझ में न आने से सुनना और समय व्यर्थ है ।

सुबोधिनी—आत्मनोऽवसितो वत्सेति । आत्मनो भगवतो वासुदेवस्य महिमा, **आदिकविना** ब्रह्मणाऽपि सवत्सराणां सहस्रपर्यन्तं तपो योगं च कृत्वा, तत्परिपाके सति, संवत्सरसहस्रान्ते योगविपक्वयाऽपि बुद्ध्या अवसितः किम् ? अपि तु न ज्ञात एव । ब्रह्मणाऽपि, तपः कृत्वाऽपि, महताऽपि कालेन, महिमा चेन्न ज्ञातः; यस्य कथा अग्रे वक्तव्या; अन्यः को वा ज्ञास्यति । एतदर्थमेव तां कथां कथयिष्यामीति भावः । अत इन्द्रियलाभ एव । भगवद्गुणे कथिते, क्रमात्सर्वस्मिन्नपि संघाते स्वाधीने जाते, सुखेन साक्षाद्वैकुण्ठे भगवत्सेवा कर्तुं शक्यत इति मैत्रेयसिद्धान्तः । इमं पक्षं निराकृत्य योऽन्यथा वक्ष्यति, तमग्रे भ्रान्तत्वेन निराकरिष्यति **आत्मन इति** वस्तुप्राप्त्यभावेन दुर्लभता निराकृता । आत्मत्वेनाऽपि । प्रकाश मानस्य । किमित्यध्याहारेण वा, काकुस्वरकल्पनया वा, तथा वक्तव्यः । अथवा, ब्रह्मणैवाऽवसितः । तस्य साधनत्रयम्–प्रथमं भगवानात्मत्वेन प्रकटः, स्वयं चाऽऽदिकविर्वेदगर्भः । अनेन प्रमाणं प्रमेयं च तस्य सिद्धमित्युक्तम् । **संवत्सरसहस्रान्ते** इत्यादि साधनम् । तदा फलं युक्तमिति । तदापि वा न फलमिति चिन्त्यम् ।।३८।।

व्याख्या—आत्मा (भगवान् वासुदेव) की महिमा आदि कवि (ब्रह्मा) ने भी एक सहस्त्र वर्ष पर्यन्त योग तपस्या की जब वह योग और तप परिपक्व हुए तब उस शुद्ध परिपक्व बुद्धि से क्या जाना ? तब भी नहीं जाना जब ब्रह्मा ने सहस्त्र बहुत वर्ष (बहुत समय) तक तप करते हुए भी नहीं जाना तो (जिसकी कथा आगे कही जाएगी) उसे दूसरा कौन जान सकेगा इसलिए ही उस कथा को कहूँगा यह भाव है, अतः इन्द्रिय लाभ ही कहा, भगवद्गुणगान से क्रमशः समग्र संघात (देहादि) स्वाधीन होता है अर्थात् भगवत्परायण हो जाता है और भगवदीय हो जाता है, जिससे वह सुखपूर्वक साक्षात् वैकुण्ठ में मगवत्सेवा करने में समर्थ होता है, यों मैत्रेयजी का सिद्धान्त है । इस पक्ष का निराकरण (खण्डन) कर जो अन्यथा कहेगा उसको आगे भ्रान्त कहकर निराकरण किया जाएगा ।

'आत्मना' इस शब्द से यह भाव प्रकट किया है कि वह दुर्लभ नहीं है, क्योंकि 'आत्मा' स्वयं प्रकाश है, आत्मत्व के कारण भी प्रकाशित हो रहा है अथवा 'किम्' शब्द का अध्याहार कर अथवा काकुस्वर की कल्पना कर वैसे कहना चाहिए ।

अथवा 'ब्रह्मणैवाऽवसितः' ब्रह्मा ने ही जाना, उसने जाना जिसका कारण उसको जानने के लिए तीन साधन थे १-पहले भगवान् आत्मापन से प्रकटे २-ब्रह्मा स्वयं आदि कवि है क्योंकि वेद उसके भीतर है । इससे प्रमाण प्रमेय दोनों इस (ब्रह्मा) के सिद्ध हैं । सहस्र वर्ष तप तथा योग साधना करी, यह साधन है तब फल प्राप्ति उचित है तो भी फल न मिला यह विचारणीय है ।।३८।।

आभास---ब्रह्मणः कथा यथा तथास्तु, अन्ये तु महिम्नो ज्ञानार्थं ये यतन्ते,

तद्द्वारा च भक्ति प्रार्थयन्ते, ते केवलं भगवन्मायामोहिताः। ते यद्यपि अन्यान्मोहयितुं तथा वदन्ति, तथापि महती भगवन्माया तानपि व्यामोहयतीत्याह---

आभासार्थ—ब्रह्मा की कथा कैसी भी हो दूसरे जो भगवान् की महिमा के ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं और उस (महिमा) के द्वारा भक्ति के लिए प्राथंना करते हैं। उनको तो केवल भगवान् की माया ने मोह में डाला है।

यद्यपि (हालांकि) वे दूसरों को मोह में डालने के लिए यों कहते हैं किन्तु भगवान् की महती माया ऐसी प्रबल है जो उनको भी मोह में डाल देती है—यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक---**अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।**
यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुताऽपरे ? ॥३९॥

श्लोकार्थ---इस कारण से भगवान् की माया, मायावालों को भी मोह में डाल देती है, कारण कि स्वयं (जीव) आत्मा होते हुए भी अपना मार्ग नहीं जानता है तो दूसरे कैसे जानेंगे ॥३९॥

सुबोधिनी—अतो भगवत इति। अतः कारणात्, यस्मात्ते माहात्म्यं ज्ञातुं प्रवृत्ताः इयमेव भगवन्माया, ते संसारं व्यामोहयित्वा मोक्षार्थं प्रवृत्ताः, तानपि व्यामोहयति। ननु भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्ताः कथं व्यामुग्धा भवन्ति ? तत्राऽऽह—**यत्स्वयमिति**। अयमात्मा भगवान् स्वस्याऽपि मार्गं स्वयं न जानाति, किमुताऽपरे ? सहि यावत्करोति तावत्तस्य परोक्षे भवति। न हि कश्चिद्गन्ता दूरे गतः स्वातिक्रान्तं सर्वमेव मार्गं पश्यति, तथा सति न गत एव स्यात्। अतिनिपुणोऽपि पूर्वदिवसे यादृशं कुर्यात्तादृश पुनः कर्तुं ज्ञातुं वा न जानाति। अतः प्रतिक्षणं नूतनानन्तब्रह्माण्डनिर्माणात् पूर्वं येन मार्गेण साम्प्रतं सृष्टिसमर्थो वर्तते, तं मार्गं स्वयमपि **न** जानातीति युक्तम्। **अपरे** पुनस्तत्प्रेर्याः, क्वचिद्ब्रह्माण्डोदुम्बरे मशकवत्स्थिताः, स्वगतिमेव न जानन्ति, कुतो भगवद्गतिम् ? उत्प्रेक्षा त्वप्रमाणम्। अथवा, भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्तः कथं भगवन्मायया मोह्यते, अन्यथा सन्मार्गो व्यर्थः स्यात्। अन्यत्र तस्या मोहकत्वं सिद्धमेव। भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्तावपि यदि मोहयेत्, तदा प्रमाणानि दत्ततिलाञ्जलीनि स्युरित्याशङ्क्य, **स्वायोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः।'** इति न्यायेन मायायाः को दोष इति वदन्, माहात्म्यज्ञानार्थं प्रवृत्तस्य स्वरूपमाह—**यत्स्वयमिति**। स्वयं जीव आत्माऽपि भूत्वा, कोऽहमादिकल्पे स्थितः ? कथमेतावत्पर्यन्तमागतम् ? इति स्वगतिं न वेद। सर्वज्ञा अपि जन्मत्रयं चतुष्टयं वा जानन्ति। अन्योन्यं ज्ञास्यन्तीति दूरकथा। शब्दात् ज्ञानमन्धपरम्परान्यायतुल्यमिति नाऽत्यन्तं प्रमाणम्। तस्मादस्मदुक्तमार्ग एव युक्तः। वस्तुतोऽयमेवार्थः, पूर्वं यद्व्याख्यातं तत्परमतात्। विद्यमानाज्ञानमसार्वज्ञमेव संपादयति। वेदे त्वसन्देहे सन्देहवचनं च, '**यदि वा न वेद**' इति, '**को हि तद्वेद**' इतिवत्। अतो यावत्किञ्चित् स्वकीर्तनोपयोगि तावदावर्तनीयमिति ॥३९॥

व्याख्या—भगवान् की महिमा (माहात्म्य) कितनी है जिन्होंने यह जानना चाहा उनको मोह में पटका, यह ही भगवान् की माया है। यद्यपि वे संसार को व्यामोह में डाल मोक्ष के लिए प्रवृत्त हुए तो भी उनको मोह में डाल दिया। जो भगवान् के माहात्म्य को जानने के लिए प्रवृत्त हुए वे कैसे मोहित होते हैं? इस पर कहते हैं कि 'यत्स्वयं' यह आत्मा भगवान् अपने भी मार्ग को स्वयं नहीं जानते हैं तो दूसरे कैसे जानगे? कारण कि वह जब तक बना के पूरा करता ही है तब तक वह अदृश्य हो जाता है। कोई भी पथिक, दूर जान पर अतिक्रान्त (चल कर आए हुए) सर्वमार्ग को नहीं देख सकता है तो उसने उस मार्ग को अतिक्रान्तही नहीं किया है। बहुत चतुर पुरुष भी पूर्व दिवस में जैसा कार्य करता है वैसाही फिर करने या जानने में असमर्थ होता है अतः प्रतिक्षण अनेक ब्रह्माण्डों की रचना करते हुए पहले जिस मार्ग से (प्रकार से) सृष्टि की अब जब सृष्टि रचना में तैयार होते हैं अर्थात् सृष्टि रचना के लिए तत्पर होते हैं तब उस मार्ग (प्रकार) को आप भी नहीं जानते हैं अतः अन्य प्रकार से कर डालते हैं, यह उचित है।

दूसरे जो उनके सेवक, ब्रह्माण्डरूप उदम्बर वृक्ष में मशक (मच्छर) को तरह रहने वाले अपनी ही गति नहीं जान सकते हैं वे भगवद्भक्ति कैसे जान सकेंगे? उत्प्रेक्षा तो प्रमाण नहीं है अर्थात् मन की कल्पना से भगवन्मार्ग का निर्णय प्रमाण नहीं है अथवा भगवन्माहात्म्य के ज्ञानार्थ प्रवृत्त पुरुष को यदि भगवन्मायामोह करती है तो सत्पुरुषों का मार्ग ही व्यर्थ हो जाता है, जो सत्पुरुष नहीं है उनको माया मोह में डालती है यह प्रसिद्ध ही है। भगवन्माहात्म्य के जानने के लिए प्रवृत्ति (यत्न) करने पर भी यदि माया मोह में डाले तब तो प्रमाणों को तिलाञ्जलि दी गई अर्थात् प्रमाण नष्ट हो गए, ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि 'स्वायोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः' अपनी शक्ति से जो वस्तु न मिलने वाली है उसको प्राप्ति की इच्छा करने वाला पुरुष गिरेगा ही, इसमें संशय नहीं है इस न्यायानुसार माया का इसमें कौन सा दोष है? यों कहते हुए माहात्म्य जानने वाले का स्वरूप बताते हैं 'यतस्वयं' जो स्वय (जीव) आत्मा होते हुए भी, मैं आदि कल्प मे कौन था? यहाँ तक ऐसी दशा को क्यों पहुँचा हूँ? इस प्रकार अपनी गति को नहीं जानता है, जो सर्वज्ञ हैं वे भी तीन वा चार जन्म तक जानते हैं, परस्पर जान लेंगे यह तो दूसरी कथा है। शब्द से ज्ञान हो जाएगा यह ता अन्धपरम्परा न्याय के तुल्य है, इसलिए वह पूर्ण प्रमाण नहीं है, इस कारण से हमारा कहा हुआ मार्ग ही उचित है अतः वास्तविक अर्थ यही है, पहले जो कहा वह दूसरों का मत है। विद्यमान वस्तु का अज्ञान, सर्वज्ञता का अभाव ही प्रतिपादन करता है।

सन्देह रहित वेद में भी सन्देह वचन हैं, जो नहीं जानता हैं यों कहा जावे तो उसको कौन जानता है? अतः जो कुछ अपने लिए भगवत्कीर्त्तन करने में उपयोगी है उसको ही लेकर बार-बार गुणगान करते रहना ॥३६॥

आभाभ---किञ्च, तदप्यशक्यम्, सापेक्षमिति । अतो नमनमेव कर्त्तव्यमित्याह---

आभासार्थ—गुण गान भी अशक्य है क्योंकि वह भी दूसरे की (गुरु की) अपेक्षा रखता है इसलिए भगवान् को ही प्रणाम करना चाहिए जिसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक---**यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह ।**
अहं चाऽन्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥४०॥

श्लोकार्थ---मन सहितवाणी, अहङ्कार और अन्य देव न पहुँचकर लौट आते हैं उस भगवान् को नमस्कार है ॥४०॥

सुबोधिनी—यतोऽप्राप्येति । वाक् मनश्च यं भगवन्तमप्राप्यैव, अर्वागेव, निवर्तते, **अहङ्कारश्च** देवः । **अन्ये च इमे देवा** इन्द्रियाधिष्ठातारस्तमप्राप्यैव निवृत्ताः । **वाचोऽत्र** वेदरूपाः । **मन**स्तेषामपि पूर्वरूपं भगवदीयम् । **यतो वाचो निवर्तन्ते**' इति श्रुतेरप्यय मेवाऽर्थः । तदनु अहङ्कारः । यस्तु श्रुतौ '**अहमित्येवात्मानं वेद भगवान् । सोऽहंनामाभवत्**' इति । सोऽपि जगत्कर्ता स्वयमात्मानं न वेद । **तेन** वा जगन्निर्माणार्थे निरूपितानीमानि तत्त्वानि देवा न विदुः । तस्मान्माहात्म्यज्ञानं दुर्लभमिति तदर्थं प्रयासमकृत्वा, केवलं भगवते नमनं कर्तव्यम् । तदाह—**तस्मै भगवते नम इति । यादृशोऽसि हरे ! कृष्ण ! तादृशाय नमो नमः यादृशोऽस्मि हरे ! कृष्ण ! तादृशं मां हि पालय ।।४०।।**

इति श्री भागवत सुबोधिन्यां श्री लक्ष्मण भट्टात्मज श्री वल्लभदीक्षित विरचितायां
तृतीय स्कन्धे षष्ठाध्याय विवरणम् ।।६।।

व्याख्या—वाणी और मन जिस भगवान् को न पहुँचकर पीछा लौट आता है औंर अहङ्कार देव तथा दूसरे वे इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव भी उसको प्राप्त न कर के ही लौट आते हैं । यहाँ वाणी वेदरूप समझनी चाहिए, उनकी भी भगवत्सम्बन्ध वाली पूर्व स्थिति मन है 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुति का भी यह तात्पर्य है कि वाणी जहां से मन सहित लौट आती है, उसके बाद अहङ्कार 'अहमित्येवात्मानं वेदभगवान्' सोऽहं नामाभवत्' भगवान् ने अपने को 'अहं' इतना ही जाना वह 'अहं' अहङ्कार शब्द से प्रसिद्ध हुआ, यों वर्णन किया गया है, वह जगत्कर्ता स्वयं भी आत्मा को नहीं जानता है और उसको जगत् की रचना में लगाये हुए तत्त्व रूप देव भी नहीं जानते हैं अतः भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान दुर्लभ है उसके लिए प्रयास न कर भगवान् को केवल नमन् ही करना चाहिए । इसलिए कहा है 'तस्मैभगवते नमः, उस भगवान् को नमस्कार है ।

याद्दशोऽसि हरे कृष्ण ताद्दशाय नमो नमः ।
याद्दशोऽस्मि हरे कृष्णः ताद्दशं मां हि पालय ॥४०॥

हे हरे ! हे कृष्ण ! आप जैसे हैं वैसे आपको वांरवार नमस्कार है । हे हरे ! कृष्ण ! मैं जैसा भी हूँ वैसे मुझको पाल ॥४०॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के छठे अध्याय को
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी
(संस्कृत-टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

भगवान् श्री कृष्ण की महिमा

राग सारंग

तुम बिनु साँकरैं को काकौ ।
तुमहि देहु बताइ देव मनि, नाम लेउँ धौं ताकौ ॥
गर्भ परीच्छित रच्छा कीनी, हुतौ नहीं बस मांकौ ।
मेटी पीर परमपुरुषोत्तम, दुख मैंटयौ दुहुँ-घाँ कौ ॥
हा ! करुनामय कुंजर टेरचौ, रह्यौ नहीं बल, वाकौ ।
लागि पुकार तुरत छुटकायौ, काट्यो बन्धन ताकौ ॥
अँबरीष कौं साप देन गयौ, बहुरि पठायौ ताकौं ।
उलटी गाढ़ परी दुर्वासैं, दहत सुदरसन जाकौ ॥
निधरक भए पांडु-सुत डोलत, हुतौ नहीं डर काकौ ।
चारौं वेद चतुर्मुख ब्रह्मा, जस गावत है ताकौ ॥
जरासिँधु कौ जोर उघार्‌यौ, फारि कियो द्वै फाँकौ ।
छोरी बंदि बिदा किए राजा, राजा ह्वै गए राँकौ ॥
सभा माँझ द्रौपदि-पति राखी, पति पानिप कुल ताकौ ।
बसन ओट करि कोट बिसंभर, परन न दीन्हौ झाँकौ ॥
भीर परैं भीषम-पन राख्यौ, अर्जुन कौ रथ हाँकौ ।
रथ तैं उतरि चक्र कर लीन्हौं, भक्त बछल-पन ताकौ ॥
नर-हरि ह्वै हिरणाकुस मारयौ, काम परचौ हो बाँकौ ।
गोपीनाथ सूर के प्रभु कैं, बिरद न लाग्यो टाँकौ ॥

।। श्री कृष्णाय नमः ।।
।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।
।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

तृतीय स्कन्ध

श्री मद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

भगवत्कृत सर्ग (बन्ध सृष्टि) प्रकरण

"अध्याय"—७

—: विदुरजी के प्रश्न :—

कारिका—**हरेरिन्द्रियवर्गस्य मनसः सर्ग उच्यते ।**
संकल्पेन विकल्पेन द्विधा तद्विनिरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थ—इस अध्याय में मन द्वारा हरि की इन्द्रियों का निरूपण है, वह निरूपण सङ्कल्प और विकल्प से दो प्रकार का कहने में आया है ।।१।।

कारिका—**संकल्पो निश्चयः प्रोक्तः स च सन्देहपूर्वकः ।**
अन्यथा ज्ञानमेव स्यात् तदर्थं प्रथमो द्विधा ।।२।।

कारिकार्थ—सन्देह के अनन्तर जो निश्चय होता है उसको यहां सङ्कल्प कहा गया है। यदि यों वैसा सङ्कल्प न होवे तो वह ज्ञान ही कहा जाय, इसलिए सङ्कल्प दो प्रकार का कहा है ।

कारिका—**विकल्पो विविधः पक्षस्ते प्रश्ना इह रूपिताः** ।।२½।।

कारिकार्थ—विकल्प का तात्पर्य है अनेक प्रकार के पक्ष अर्थात् विचार विविध विचार के प्रश्न यहाँ किये गये हैं ।।२½।।

कारिका – **अत्र सर्वाणि कार्याणि पृष्टानि भगवत्कृतिम् ।**
ज्ञातुम्, सा मनसा भाव्या पूर्वं चाऽपि कृतौ मनः ।।३।।

कारिकार्थ—यहाँ भगवत्कृति को जानने के लिए सर्व कार्य पूछे गये हैं वह पहले मन से विचारना चाहिये और फिर उसमें (कृति में) मन को लगाना चाहिये।

श्री शुक[1] उवाच-श्लोक—**एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः ।**
प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ।।१।।

श्लोकार्थ – शुकदेवजी ने कहा–इस प्रकार कहने वाले मैत्रेय को द्वैपायन का ज्ञानी पुत्र विदुर वाणी से मानो प्रसन्न करता हो वैसे कहने लगा ।।१।।

गद्य—एवं पूर्वाध्यायान्ते **'उद्धृत्य पुष्पेभ्यः'** इति प्रश्ने स्वबुध्या यावदुद्धृतं तावन्निरूपितम्, तत्र **'यत्स्वयं चाऽऽत्मवर्त्मात्मा न वेद'** इति वचनात् भगवतोऽलौकिकं सामर्थ्यं प्रायेणाऽस्याऽनभिप्रेतमिति, तदभिप्रायेण जोवे भगवति च सन्दिग्धमर्थद्वयं पृच्छति । तत्र प्रथमं भगवति सन्देहचतुष्टयम्, जीवे च द्वयं पृच्छति –

गद्यार्थ—इस प्रकार पूर्व ६ अध्यायों के अन्त में **'उद्धृत्य पुष्पेभ्य'** : इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहा है कि अपनी बुद्धि से जो भो सार ले सका उतना कहा वहां यह कारण बताया है कि जब आत्मा भी अपना मार्ग नहीं जानता है, इस वचन से भगवान् में अलौकिक सामर्थ्य है। यह बहुत करके इसको (मैत्रेय को) पसन्द नहीं है। इसी अभिप्राय (मैत्रेय के अभिप्राय) के कारण ही जीव एवं भगवान् में सन्देह होने से दो अर्थ (विषय) पूछता है, उसमें पहले भगवान् में चार सन्देह और जीव में दो सन्देह पूछता है ।।१।।

विदुर-उवाच-श्लोक—**ब्रह्मन् ! कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याऽविकारिणः ।**
लीलया चाऽपि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ।।१।।

श्लोकार्थ—विदुरजी ने कहा–हे ब्रह्मन् ! अविकारी और निर्गुण तथा केवल चेतन रूप भगवान् में लीला से भो गुण तथा क्रियाओ का होना कैसे हो सकते हैं ।।१।।

---

[1] —यह श्लोक क्षेपक (पोछे जोड़ा हुआ) सा दीखता है, क्योंकि आचार्य श्री की इस पर टीका ही नहीं है ।

सुबोधिनी—ब्रह्मन्निति। करणादिव्यापारास्त्वया एकविधा निरूपिताः, ते च गुणातीता एवेति वक्तुं न शक्यन्ते। सगुणाश्चेत् कार्यकारणवैलक्षण्यम्। **ब्रह्मन्निति** संबोधनं ज्ञानस्य निश्चितत्व एव ब्रह्मभावो भवतीति। तव निश्चितमेव, किन्तु बोधनार्थं पृच्छ्यत इत्यौद्धत्यसमाधानम्। **कथमिति** प्रकारे प्रश्नः। **भगवतश्चिन्मात्रस्येति**। भगवच्छब्दो न यौगिकः, किन्तु रूढ्या ब्रह्मपरः। तच्च चिन्मात्रमेवेति धर्मशक्तिविशेषस्वरूपाणामभावात्, वाच्यवाचकसंबन्धाद्यभावात्, अनिरूप्यत्वाच्च कथं तादृशस्य जगत्कर्तृत्वम्। कर्तृत्वादयश्च धर्मा विकृता विकारिणो भवन्ति। अतोऽविकारिणो भगवतः प्रयोजनसन्देहपूर्वपक्षाभावेऽपि, निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः कथं भवन्तीति बीजसन्देहप्रश्नः। कार्यं हि बीजप्रयोजनाभ्यां विना न भवति। तत्र प्रयोननं परमानन्दस्य जगति नाऽस्त्येव। **'लोकवत्तु लीला** ……' इतिन्यायेन प्रयोजनाभावेऽपि लीलया करिष्यतीति चेल्लीलाऽपि न संभविष्यतीत्यग्रे वक्ष्यते। अस्तु वा लीला, तथापि जगतो बीजं न भगवान्, विलक्षणत्वात्। जगदचेतनं विकारि नानारूपं च, भगवांस्तु चिन्मात्रमविकारि च। **किञ्च**, जगत्सगुणम्, भगवान्निर्गुणः; अतः कार्यकारणवैलक्षण्यात् न भगवत्कार्यं जगत्। यद्यपि चिन्तामणेः सकाशात्तद्विलक्षणं सकलमेव कार्यमुत्पद्यते, तथापि पूर्वपक्षिणः पक्षे न चिन्तामणिमात्रात् कार्यमुत्पद्यते, अन्यथा सर्वदैवोत्पद्येत। किन्तु कामयितुः सन्निधाने यथा यथा चिन्तोपद्यते, घटाकारेण च; तथा तथा मणिसान्निध्यात् ते पदार्था मनसा भाविताः कायकृता इव भवन्ति। इयमलौकिकी तस्य शक्तिः। भगवतस्तु द्वितीयसान्निध्नाभावान्नाऽनेनाऽपि प्रकारेण कार्योत्पत्तिः सम्भाविता। तदाह—**चिन्मात्रस्येति** ।।१।।

व्याख्या—करणादि (इन्द्रियाँ, देवता और गोलकादि) का व्यापार (जानना, देखना, सुनना आदि) आपने एक प्रकार के ही कहे हैं, वे गुणातीत ही हैं यों नहीं कहा जा सकता है, यदि कहो कि सगुण हैं तो कार्य और कारण की विलक्षणता है, ब्रह्मन् ! यह सम्बोधन इसलिए मैत्रेयजी को दिया है कि निश्चित ज्ञान होने पर ब्रह्म भाव होता है, वह (ज्ञान) आप में निश्चय रूप से है ही, किन्तु मैं ज्ञान प्राप्ति के लिये ही पूछता हूं, उद्धत होकर नहीं पूछता हूं। इस सम्बोधन से विदुरजी ने अपनी नम्रता भी प्रकट की है।

'कथं' पद प्रश्न का प्रकार बताता है। 'भगवतश्चिन्मात्रस्य' यहाँ भगवन् शब्द यौगिक नहीं है, किन्तु रूढ़ि से ब्रह्म पर है और वह चेतन मात्र है। अतः इस स्वरूप में धर्म[1], शक्ति[2], विशेष[3] और स्वरूप[4] का अभाव है। वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) का भी सम्बन्ध नहीं और अवर्णनीय

१—'धर्म' अर्थात् स्वयं असत् जैसा होना मानना।
२—'शक्ति' अर्थात् कालादि रूप माया।
३—'विशेष' अर्थात् आकार आदि दूसरे से भेद बताने वाले खास गुण।
४—'स्वरूप' अर्थात् देह।

हैं। ऐसे चेतनमात्र जगत्कर्ता कैसे होगा ? कर्तृत्व आदिधर्म तो विकारी होते हैं, अतः अविकारी भगवान् में प्रयोजन सम्बन्धी भी कोई सन्देह नहीं है और पूर्वपक्ष का भी अभाव है, ऐसी दशा में निर्गुण में गुण और क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? इस प्रकार बीज में सन्देह है, क्योंकि कार्य' बीज और प्रयोजन के बिना नहीं होता है। इन दोनों में से जगत् में प्रयोजन तो भगवान् का कुछ भी नहीं है, स्वयं स्वतः परमानन्द हैं। 'लोक वस्तुलीला कैवल्यम्' इस न्यायानुसार प्रयोजन न होते हुए भी लीलार्थ किया है। यदि यों कहो तो लीला भी नहीं बन सकती है, यों आगे कहेंगे अथवा लीला होवे तोभी भगवान् जगत् का बीज है यह बन नहीं सकता है, क्योंकि जगत् और भगवान् में विलक्षणता है, जैसे कि जगत् अचेतन (जड़) विकारी और नानारूप वाला है, भगवान् तो चेतन मात्र तथा अविकारी है, और विशेष में जगत् सगुण है और भगवान् निर्गुण है, इसी कारण से कार्य और कारण में विलक्षणता है जिससे जगत् भगवान् का कार्य नहीं है।

यद्यपि (हालांकि) चिन्तामणि से जो कुछ उत्पन्न होता है वह समस्त उससे विलक्षण ही है, तो भी पूर्वपक्षी के मतानुसार केवल चिन्तामणि से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, यदि केवल उससे उत्पन्न होता हो तो सर्वदा ही पैदा होना चाहिये वह नहीं होता है किन्तु जब कोई कामना वाला मन में किसी कामना की जैसी-जैसी चिन्ता करता है घट वा पट आदि की वैसे मणि के सान्निध्य से वे मन से भावित (चाहे हुए) पदार्थ कार्यरूप में आते हैं, यह उसकी अलौकिक शक्ति है। भगवान् के यहां तो अन्यथा सान्निध्य होने से चिन्तामणिवत् कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए कहा है 'चिन्मात्रस्य' कि वह केवल चेतन स्वरूप है ॥१॥

आभास—एवं बीजभावं दूषयित्वा फलभावापन्नां लीलां दूषयति—

आभासार्थ—इस प्रकार बीजभाव को दूषित कर फलभाव को प्राप्त लीला को दूषित करते हैं।

श्लोक—**क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यतः ।**
स्वततृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः ॥२॥

श्लोकार्थ—बालक कामना और अन्य से क्रीड़ा करने की इच्छा करता है, जो स्वतः तृप्त है और सदैव अन्य से निवृत्त है अर्थात् जिसको दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं है उसको खेलने की इच्छा कैसे हुई होगी ॥२॥

सुबोधिनी—क्रीडायामिति । लीला नाम विलासेच्छा, कार्यव्यतिरेकेणैव कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते, जनितमपि कार्यं नाऽभिप्रेतम्; नाऽपि कर्तरि प्रयासं जनयति, किन्त्वन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचि-

दुत्पद्यते, यथा लोके राज्ञः। सा लीला। साऽपि नोपपद्यते। तत्र प्रयोजनाभावेऽपि हेतुरस्ति। स च हेतुर्लोकसिद्ध एव वक्तव्यः, लोकन्यायेन लीलानिरूपणात्। स च लीला बाले प्रसिद्धा। बालस्याऽपि कामेनैव चिक्रीडिषा भवति, अन्यथा सर्वदैव क्रीडितुमिच्छा स्यात्। कामोऽपि सहेतुकः, अन्यथा सर्वदा स्यात्। तदाह—**अर्भस्य क्रीडायामुद्यमः** प्रथमतो भवति। स चाऽर्भस्य प्रथमं कामात्। तत्रैवं वाक्यरचना—प्रथमतोऽर्भस्य कामो वासनया, **'काममय एवाऽयं पुरुषः'** इति श्रुतेः। तदनन्तरं चिक्रीडिषा क्रीडितुमिच्छा अन्यतश्च भवति; अन्यं बालकं निमित्तमाश्रित्य, एकस्य क्रीडाऽसम्भवात्। तदभावे कामेऽपि क्रीडेच्छा निवर्त्तत इति। **कामोऽत्र** क्रीडाज्ञानम्। क्रीडायाः फलरूपत्वात् साधनरूपत्वाञ्च कामप्रयत्नयोरेकविषयत्वम्। यत्र पुनः स्वर्गादौ साधनफलयोर्भेदः, तत्र कामः स्वर्गे, चिकीर्षा यागे। अत्रोऽत्र न पौनरुक्त्यम्। तदनन्तरं क्रीडायामुद्यमो भवति, क्रीडां कुर्तुमुद्युक्तो भवतीत्यर्थः। केचित्तु, 'कामस्यैव विशेषणमुद्यमं वदन्ति। उद्यमयतीत्युद्यमः, काम एव पुरुषमुद्यमयति अन्यतश्चिक्रीडिषा भवति' इति। तच्चिन्त्यम्। एतादृशोऽदि पक्षो भगवति न सम्भवति। स्वतृप्तस्य कामो न सम्भवति। कामो ह्यपूर्णस्यैव, अन्यथा फले जातेऽपि कामः स्यात्। स्वस्यैव सर्वफलरूपत्वात् प्राप्तत्वाच्च तृप्तस्य कामाभावो लोकसिद्धः। प्रकारभेदेनैव कामतृप्तिश्चेदतृप्तो भगवान् स्यात्। ततश्च स्वार्थमेवकुर्यात्। एतादृशी तृप्तिरदूषणमिति चेत् स्वानन्दस्य परिच्छेदः स्यात्। तस्माद्युक्त्या कामो निरूपयितुमशक्य इति **'सोऽकामयत'** इति श्रुतिरन्यपरा भवति। नित्यश्चेत् कामः स्यात्, सर्वदैव कार्यं भवेत्। कार्यपक्षे तु तज्जनकान्तराभावादनुत्पत्तिरापद्येत। कालादिना तदुद्बोधपक्षेऽपि भगवतः कालादिसंबन्धो भवेत्। स च नास्तीत्याह **–निवृत्तस्य सदाऽन्यत इति**। अन्यसंबन्धाभावस्तस्य सर्वदा; अतोबीजप्रयोजनाभावात् भगवतः कार्यपक्षोऽनुपपन्न ॥२॥

व्याख्या—लीला किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं विलास करने की इच्छा को लीला कहते हैं। वह कृति बिना प्रयोजन के की जाती है। ऐसी कृति से बाहर कार्य उत्पन्न नहीं होता है, यदि उत्पन्न भी हो जावे तो वह अभिप्रेत नहीं है। यह कृति (लीला होने से) उत्पन्न होने में कर्त्ता का श्रम नहीं कराती है किन्तु अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द होने पर उसके उल्लास से कार्यं को उत्पन्न करने के समान कोई क्रिया शक्ति उत्पन्न होती है जिसको 'लीला' कहते हैं जैसे लोक में राजा को खेल करने की इच्छा होती है। इस प्रकार की क्रिया होनो भी भगवान् में नहीं बनती है। उसमें प्रयोजन के अभाव होने पर भी कोई कारण है और वह कारण लोक सिद्ध हो ऐसा कहना चाहिए क्योंकि लोकन्याय से लीला का निरूपण करते हो और प्रसिद्ध है कि वह लीला बालक करते हैं, बालक भी तभी रमण करते हैं जब उनको मन में कामना होती है नहीं तो सदैव क्रीड़ा करने की इच्छा होती रहे व सदा क्रीड़ा करते रहें। उस कामना का भी अवश्य कोई हेतु होगा ? नहीं तो कामना सर्वदा होती रहे, उसका वर्णन करते हैं कि, बालक पहले क्रीड़ा का उद्यम करता है, वह उद्यम बालक तब करता है जब उसके मन में क्रीड़ा की कामना उत्पन्न होती है

इस विषय के सम्बन्ध की वाक्य रचना इस प्रकार है। पहले बालक को वासना से कामना उत्पन्न होती है। जैसा कि भगवती श्रुति 'काममयएकाऽयं पुरुषः' कहती है कि यह पुरुष कामना से पूर्ण है। वासना से कामना की उत्पत्ति होने के अनन्तर दूसरे के साथ खेलने की इच्छा करता है। क्योंकि एक (अकेला) क्रीड़ा कर नहीं सकता है। अतः दूसरे बालक को निमित्त बनाकर खेलता है। यदि दूसरा बालक न होवे तो कामना होते हुए भी क्रीड़ा करने की इच्छा पूर्ण नहीं होती है। "कामना" का आशय है कि क्रीड़ा करने का ज्ञान (विचार) उत्पन्न होना, क्रीड़ा फलरूप है तथा साधनरूप भी है, अतः काम और प्रयत्न एक ही विषय हैं, किन्तु स्वर्ग आदि में यों नहीं है। वहां साधन और फल पृथक हैं। जैसाकि कामना स्वर्ग प्राप्ति की होती है वह फल है और उसकी प्राप्ति के लिये यज्ञ करने की कामना होती है, क्योंकि यज्ञ साधन है। बिना साधन करने के स्वर्गरूप फल प्राप्त नहीं होगा। इसलिये यहां पुनरुक्ति (दोहराने) का दोष नहीं है।

उसके बाद क्रीड़ा के लिए उद्यम होता है अर्थात् क्रीड़ा करने के लिए तैयार होता है। कितनेक कहते हैं कि 'उद्यम' काम का हो विशेषण है। जो उद्यम कराता है वह उद्यम है, अर्थात् काम ही उद्यम कराता है। अतः काम ही उद्यम है। जिससे ही दूसरे के साथ खेलने की इच्छा होती है। यह पक्ष विचारणीय है। इस प्रकार का पक्ष (विचार) भगवान् में नहीं बन सकता है। जो स्वतः तृप्त है, उसको किसी की भी कामना नहीं होती है। कामना उसको होती है जो अपूर्ण होता है अर्थात् जो तृप्त नहीं है। नहीं तो फल प्राप्त होते हुए भी काम होना चाहिए। जो सदैव तृप्त हैं, जो सबके लिए स्वयं फलरूप है, जिसको सर्व फल प्राप्त ही हैं, उसको किसी प्रकार की कामना नहीं होती है, यह लोकसिद्ध है। यदि प्रकार भेद से ही भगवान् के काम की तृप्ति होती है तो भगवान् को अतृप्त मानना पड़ेगा, यदि कहो कि भगवान् अपने लिए ही करते हैं। इसलिए इस प्रकार की तृप्ति दूषण नहीं है तो भगवान् का आनन्द सीमित मानना पड़ेगा, जो अनुचित है। इसलिए तर्क से भगवान् के काम का निरूपण करना अशक्य है। 'सोऽकामयत' यह श्रुति अन्य (जीव व सगुण ब्रह्म) के लिए है, न कि निर्गुण परब्रह्म के लिए है। यदि काम नित्य है तो कार्य सदैव होना चाहिये। यदि कहो कि 'कार्य' उत्पन्न होनेवाली वस्तु है, तो उस समय उत्पन्न करने वाला अन्य कोई न होने से उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि कहो कि कालादि भगवान् के काम को जाग्रत करते हैं, तो ऐसा मानने से भगवान् का कालादि से सम्बन्ध मानना पड़ेगा, वह तो है हो नहीं। जैसाकि कहा है, 'निवृत्तस्य सदाऽन्यत इति' सदा अन्य सम्बन्ध से निवृत्त है। अतः बीज के प्रयोजन (सम्बन्ध, न होने से कार्यपक्ष उचित नहीं है ॥२॥

आभास—किञ्च, मायायां स्वीकृतायां यद्यपि पूर्वोक्तसर्वदूषणनिवृत्तिर्भवति, किन्तु तदेव स्वीकर्तुमशक्यम्, भगवतो मायासंबन्धस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्। माया

ह्यज्ञानात्मा, सा ज्ञानाभावे भवति । भगवतस्तु ज्ञानाभावो न सम्भवतीत्याह श्लोकद्वयेन—

आभासार्थ—यद्यपि माया से यह सब हुआ है, इस सिद्धांत के स्वीकार करने से पूर्व कहे हुए सर्वदूषणों की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु वह सिद्धान्त स्वीकार करना भी अशक्य है, क्योंकि भगवान् का माया से सम्बन्ध है, यों निरूपण करना अशक्य है, कारण कि माया अज्ञान रूप है । वह तब होती है जब ज्ञान का अभाव होवे । यहां भगवान् तो स्वयं ज्ञान रूप हैं, यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अस्राक्षीद्भगवान्विश्वं गुणमय्यात्ममायया ।**
तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति ।।३।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने गुणों वाली अपनी माया से इस जगत् को रचा, उससे उसकी स्थापना (रक्षा) करते हैं और फिर लय भी इससे ही करेंगे ।।३।।

सुबोधिनी—अस्राक्षीदिति । चित्संबन्धिनीमेव मायां मन्यमानस्यैष प्रश्नः । भगवानिदं विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया अस्राक्षीत्, तयैव च संस्थापयति, तयैव च भूयः **प्रत्यापिधास्यति** संहरिष्यति ।।३।।

व्याख्या—माया को चैतन्य के सम्बन्धवाली जो मानता है, उसका यह प्रश्न है । भगवान् ने गुणों में पूर्ण अपनी माया से यह विश्व बनाया, उससे ही इसका पालन करते हैं और फिर लय भी उससे ही करेंगे ।

आभास—एवं माययोत्पत्तिस्थितिप्रलया विश्वस्य भगवत्कृता इति पक्षमनूद्य, मायासंबन्ध एव तस्य न घटते, पूर्णज्ञानत्वादित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय माया से की है । इस मत को कहकर अब निम्न श्लोक में कहते हैं कि भगवान् पूर्ण ज्ञान स्वरूप होने से माया से सम्बन्धवाले हो नहीं सकते हैं ।

श्लोक—**देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः ।**
अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताऽजया कथम् ? ।।४।।

श्लोकार्थ—जिस आत्मा का देश से, काल से, अवस्था से, अपने से अथवा

दूसरे से नाश नहीं हो सकता है, उसका माया से सम्बन्ध कैसे होगा ? ।।४।।

सुबोधिनी—देशत इति । ज्ञानस्य नाशः पञ्चधा सम्भवति । भगवांस्तु पञ्चप्रकारेणाऽप्यविलुप्तावबोधात्मा । न विलुप्तोऽवबोधो ज्ञानं यस्य, तादृशश्चासावात्मा च । बोध एवाऽऽत्मावा । **स कथमजया युज्येत ?** तत्र कस्यचिद्बोधो देशेन नश्यति, घटज्ञानं घटेन परिच्छिन्नं पटं न विषयीकरोतीति देशतस्तस्याऽभावः । कालतोऽपि ज्ञानस्य नाशः, कालान्तरे विस्मरणात् । अवस्थातोऽपि नाशः, स्वप्ने जाग्रदवस्थावस्तूनां ज्ञानाभावात् । स्वतोऽपि नाशः, उदासीनज्ञानानां संस्कारानाधायकत्वात् । अन्यतोऽपि नाशः, विरोधिगुणप्रादुर्भावात् । भगवतस्तु ज्ञानं पञ्चविधैरपि दोषैरसंबद्धम् । तत्र सर्वविषयकत्वान्न देशतः परिच्छिन्नम्, नित्यत्वान्न कालतः, भगवतोवस्थाभावान्नाऽवस्थातः, निर्विषयकत्वान्न स्वतः, भगवतो विरोधिगुणाभावान्नाऽन्यतः । अतोऽजया मायया प्रकृत्या वा न युज्येत । तस्मात्स्वतोः वा, मायासंबन्धेन वा, भगवतो जगत्कर्तृत्वं नोपपद्यते ।।४।।

व्याख्या—ज्ञान का नाश पाँच प्रकार से हो सकता है । भगवान् का तो इन पाँच प्रकार से भी ज्ञान, नाश नहीं हो सकता है, क्योंकि भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं जिससे वे पांच, इनके ज्ञान का नाश नहीं कर सकते हैं, अतः ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का माया से सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

१–इस तरह जो ज्ञान के नाशक पाँच प्रकार के हैं, उनमें से किसी का ज्ञान देश सीमित होने से नाश होता है अर्थात् उसका ज्ञान अन्यत्र काम नहीं देता है । जैसा कि घड़े का ज्ञान घड़े से परिच्छिन्न (सीमित) होने से पट (वस्त्र) को जान नहीं सकता है । कारण कि ज्ञान घट (देश) सीमित है । २–काल से भी ज्ञान का नाश होता है, क्योंकि कालान्तर में वह ज्ञान विस्मृत (भूल) हो जाता है । ३–अवस्था से भी ज्ञान का नाश होता है । जैसे कि स्वप्नावस्था में जाग्रतावस्था का ज्ञान नहीं रहता है । ४–ज्ञान का स्वतः भी नाश हो जाता है, कारण कि अनासक्ति से उत्पन्न ज्ञान के संस्कार स्थिर नहीं होते हैं, जिससे वह स्वतः नाश हो जाता है । ५–दूसरे से भी ज्ञान का नाश हो जाता है, जैसा कि विरोधी गुणों के उत्पन्न होने से पहले गुणों का ज्ञान नष्ट हो जाता है ।

भगवान् के ज्ञान को ये पाँच ही दोष स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं, कारण कि भगवान् को सर्व विषयों का ज्ञान है, जिससे वह देश से परिच्छिन्न (सीमित) नहीं हो सकता है । भगवान् का ज्ञान नित्य है, अतः काल से परिच्छिन्न न होने से कालान्तर में नाश नहीं हो सकता है । भगवान् में अवस्था का अभाव है, जिससे अवस्था से भी ज्ञान का नाश नहीं, अविकारी होने से भगवान् का ज्ञान स्वतः भी नष्ट नहीं होता है । भगवान् में विरोधी गुणों का प्रादुर्भाव न होने से उनका ज्ञान दूसरे विरोधी गुणों से नाश नहीं होता है । अतः भगवान् माया व प्रकृति से सम्बन्धित नहीं हो सकते हैं, इस कारण से स्वतः वा माया सम्बन्ध से भगवान् जगत् की रचना करते हैं, यह पक्ष बन नहीं सकता है ।।४।।

आभास—किञ्च जीवोऽपि भगवानेव त्वया निरूपितः तथा सति तदर्थं जगत् सृष्टौ हिताकरणादि दोषा दोषान्तरमप्याह—

आभासार्थ—किन्तु जीव भी भगवान् ही है, यों आपने निरूपण किया है। यदि यों है (जीव भगवान् है) तो उसके लिए यदि जगत् की रचना की है तो उसमें उसका (जीव का) हित न हो, ये ६ दोष होते हैं, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः ।**
अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा जन्मभिः कुतः ? ॥५॥

श्लोकार्थ—यह एक ही भगवान् जो सकल क्षेत्रों (देहों) में रहते हैं, वैसे वा दुर्भगत्व अथवा जन्मों से दुःख कैसे होगा ? ॥५॥

सुबोधिनी—**एक एव भगवान् सर्वक्षेत्रेषु** सर्वदेहेषु **अवस्थितः। सर्वदेहेष्ववस्थित एक एवेति** वा। एतादृशस्य **दुर्भगत्वं वा, जन्मभिः क्लेशी वा** न भवेत्। अनुभवसिद्धत्वाच्च क्लेशस्य। अज्ञानतोऽङ्गीकारेऽपि स एव दोषः। पुनः पुनर्जन्मानि च श्रूयन्ते। तस्माद्भगवतो जीवभावोऽप्यनुपपन्नः, जगत्कर्तृत्वं चाऽनुपपन्नमिति ॥ ५ ॥

व्याख्या—एक ही भगवान् सर्व देहों में रहे हुए हैं अथवा सर्व देहों में रहा हुआ है एक ही है, ऐसे को दुर्भगत्व अथवा जन्मों से क्लेश कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा। क्लेश का होना अनुभव से सिद्ध ही है। यदि दुःख अज्ञान से होता है, यों स्वीकार किया जावे तो भी वह (अज्ञान का सम्बन्ध) ही दोष आता है। भगवान् बार-बार जन्म लेते हैं, यों सुनने में आता है। इससे भगवान् जीव के समान हैं, ऐसा मानना भी अनुचित है और जगत् के कर्ता हैं, यह भी युक्त नहीं है ॥५॥

आभास—एतस्मिन्नर्थे मे मनः खिद्यतीत्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार के अर्थ (विषय) में मेरा मन खेद पाता है। यह इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**एतस्मिन्मे मनो विद्वन् ! खिद्यते ज्ञानसङ्कटे ।**
तन्नः पराणुद विभो ! कश्मलं मानसं महत् ॥६॥

श्लोकार्थ—हे विद्वन् ! इस प्रकार के ज्ञान सङ्कट में (ज्ञान विषयक शङ्काओं की निवृत्ति न होने से) मेरा मन खेद पा रहा है, अतः इस मेरे महान् मानसि के

क्लेश को नाश कीजिए आप इस क्लेश को मिटाने में समर्थ हैं ।।६।।

सुबोधिनी—एतस्मिन्निति । ज्ञानसङ्कटे । ज्ञानस्य शाब्दस्य । युक्तिरूपविशालमार्गाभावात् ज्ञानस्य प्रसरणाशक्तेः, **सङ्कटं** युक्त्यभावः । अन्यथाज्ञानं वा सङ्कटम् । तत्र निर्द्धारार्थे प्रवृत्तं मनः प्रसरणाभावाद्युक्त्यभावेन खिद्यति । तं खेदं नोऽस्माकं हृदये वर्तमानं युक्तिभिः **पराणुद ।** तिष्ठत्वेतदित्याशङ्क्याऽऽह—**कश्मलं मानसं महदिति ।** इदं तु मनसो महत् कश्मलम् । तत्तु महद्भिर्दूरीकर्त्तव्यमेव, अन्यथा अग्रिमं पूर्वोक्तं च-ज्ञानं दुष्टे मनसि न तिष्ठेत् । अतो निरूप्यमाणार्थबोधार्थमिदं पराणुदेत्यर्थः ।। ६ ।।

व्याख्या—'ज्ञान सङ्कट' का तात्पर्य है कि केवल शब्द से जो ज्ञान होता है वह समझने में नहीं आता जिससे मन में खेद हो रहा है, समझने में क्यों नहीं आता है ? क्योंकि अनेक प्रकार के तर्क हैं, जिनका ज्ञान नहीं है जिससे ज्ञान बढ़ नहीं सकता है । यह तर्क का अभाव ही ज्ञान के समझने में सङ्कट है अथवा तर्कादि अभाव से अन्यथा ज्ञान होना सङ्कट है । इस विषय के निर्णय करने में प्रवृत्त मन, तर्काभाव और प्रसाराणाभाव से खेद को प्राप्त होता है, हमारे मन में वर्तमान उस खेद को तर्कों से दूर करो । यदि कहो कि यह खेद भले ही होता रहे, इस पर कहता है कि यह खेद सहन नहीं है, क्योंकि यह महान् मन का खेद है । ऐसे उस महान् खेद को महत्पुरुषों को दूर ही करना चाहिए, जो दूर न किया जायगा तो आगे कहा हुआ ज्ञान और जो अब कहोगे वह ज्ञान इस दुष्ट मन में न रह सकेगा । अतः जो विषय निरूपण करना है उसका ज्ञान हो जावे तदर्थ इस संकट को दूर करिए ।।६।।

प्रकाश—इन ६ श्लोकों में सिद्ध किए अर्थ को कारिकाओं द्वारा कहते हैं—

कारिका **ऐश्वर्यं प्रथमेत्यक्तं द्वितीये वीर्यमेव च ।**
यशःश्रियो तथा द्वाभ्यां वैराग्यं ज्ञानमन्त्ययोः । १।।

कारिकार्थ— प्रथम श्लोक में ऐश्वर्य का त्याग किया, दूसरे श्लोक में वीर्य का त्याग किया, वैसे ही ३-४ इन श्लोकों से यश और श्री का त्याग किया, ५-६ इन दो अन्तिम श्लोकों से वैराग्य और ज्ञान का त्याग किया ।।१।।

कारिका— **स्वयुक्त्या भ्रमसम्पत्त्या भगवत्त्वं निराकृतम् ।**
ततोऽत्र भगवद्वादः सर्गोऽपि विनिराकृतः ।।२।।

कारिकार्थ—विदुर को अपने कल्पित तर्कों से भ्रम उत्पन्न हो गया जिससे भगवत्व का भी खण्डन किया इससे यहाँ सृष्टिप्रकरण मे भी भगवद्वाद का विशेष प्रकार से खण्डन हो गया ।।२।।

कारिका—**तस्मिन्निराकृते प्रश्नो न पूरित इति स्थितम ।**
अतस्तस्योत्तरं वाच्यं स्वोक्तार्थस्थापनायहि ।।३।।

कारिकार्थ –इस प्रकार खण्डन होते हुए भी प्रश्न का उत्तर पूर्णतया न मिला[1] ऐसी स्थिति होने पर अपने कहे हुए अर्थ को सिद्ध करने के लिए, इसका वास्तविक उत्तर कहना ही चाहिए ।।३।।

आभास––स हि मैत्रेयः सर्वनिरपेक्षश्चित्तशुद्धयर्थं यथोक्तं गृहीत्वा, आवर्तनीयमित्युक्त्वा, पूर्वपक्षे कृते किमग्रे वदति नवेति सन्देहं वारयितुम्, शुको वदतीति पक्षं सहेतुकमुपपादयति––

आभासार्थ—जिसको किसी की भी अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है वैसे मैत्रेयजी ने, यह उपदेश दिया कि चित्त की शुद्धि के लिए जो मैंने कहा उसका बार-बार रटन करते रहो, अनन्तर विदुर ने पूर्व पक्ष किया, जिसका उत्तर मैत्रेयजी देंगे कि नहीं, इस सन्देह का निवारण करने के लिए शुकदेवजी को निम्न श्लोक में मैत्रेयजो उत्तर देंगे इस कथन का हेतु सहित प्रतिपादन करते हैं—

श्रीशुक उवाच–श्लोक––**स इत्थं चोदितः क्षत्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः ।**
प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ।।७।।

श्लोकार्थ––श्री शुकदेवजी ने कहा–तत्व को जानने की इच्छा वाले संयमी (विदुरजी) ने इस प्रकार मुनि (मैत्रेयजी) को जब प्रेरणा की तब भगवान् में स्थिर चित्त वाले गर्वरहित मैत्रैयजी जिनको किसी प्रकार भी विदुरजी के प्रश्नों (पूर्वपक्ष) से आश्चर्य न हुआ है वैसे वे (मैत्रैयजी) मुस्कराते हुए उत्तर देने लगे ।।७।।

सुबोधिनी—स इत्थमिति। भगवदीयत्वात् भगवदाज्ञासहकारित्वात् विदुरस्य प्रेरकत्वम्, मैत्रेयस्य कथनेच्छाजनकत्वम्। **क्षत्रेति** स्वतोऽपि प्रेरकत्वम् निपुणत्वात्। तत्राऽपि **तत्त्वजिज्ञासुना** नोद्ग्रहणमात्रम्। अतस्तत्त्वजिज्ञासुं बोधयेदिति किञ्च, मुनिरयं निर्द्धारितं जानाति, भाव्यर्थं च। भगवदाज्ञापरिपालनार्थमाक्षेपो समाधातव्य इति **भगवच्चित्तः** भगवानेव तच्चित्ते निर्द्धारितं बोधयत्विति प्रार्थनार्थं वा। **स्मयन्निवेति।** किमेतैरेतावत्कलं भारतादौ बुद्धमिति हसन्निव। **इवेति**

१–विदुर ने ६ श्लोकों में अपने को ज्ञान नहीं है यों कहा, ५ श्लोकों में भगवान् सर्व देहों में रहते हैं जिससे विदुर के देह में भी भगवान् रहते हैं। अतः इन (भगवान्) को भी ज्ञान नहीं है ऐसा भाव प्रकट होता हैं इस प्रकार ज्ञान का त्याग हुआ। —'प्रकाश'

भगवन्मायाया मोहकत्वात्। गतः स्मयो गर्वो यस्य। अतोऽयं गूढतया निरूपयिष्यति, अनधिकारेणाऽज्ञाने पुनः प्रश्ने वा तूष्णीं स्थातव्यमितिनिबन्ध एवाऽत्र समाधानं स्पष्टतया निरूपितम् ।।७।।

व्याख्या—विदुरजी प्रेरक हुए, क्योंकि एक तो भगवदीय थे दूसरी भगवदाज्ञा भी प्रेरकत्व में सहायक हो गई और मैत्रेयजी भी भगवदीय थे, अतः उसमें भगवदाज्ञा ने उत्तर देने की इच्छा प्रकट की। 'क्षत्रा' पद से यह सूचित किया है कि विदुरजी निपुण होने से उनमें स्वतः भी प्रेरकत्व था एवं विदुरजी तत्त्व जानने की इच्छा वाले थे न कि ऊपर-ऊपर की बातें जानना चाहते थे। अतः ऐसे तत्त्व जिज्ञासु को तत्त्वोपदेश करना ही चाहिए और विशेषता यह है कि मैत्रेयजी मुनि होने से निश्चित् तत्त्व को जानते हैं एवं भावी अर्थ के भी ज्ञाता हैं।

'**भगवच्चितः**' पद देने का आशय यह है कि, भगवदाज्ञा का पूर्णतः पालन तब होगा जब दोषों का भी समाधान किया जायगा। अतः मैत्रेयजी भगवदाज्ञा के पूर्णतया पालन के लिए दोषों का भी समाधान करेंगे अथवा 'भगवचित्तः' पद से यह बताया है कि भगवान् मैत्रेयजी के चित्त में निर्धारित तत्त्व का बोध करावें (करायेंगे) अथवा मैत्रेयजी को कुछ उत्तर देंगे वह पहले भगवान् की प्रार्थना कर पीछे देंगे। 'स्मयन्निव' कहने का भाव यह है कि इतने समय तक भारत आदिशास्त्र सुने-समझे फिर भी ऐसे प्रश्न ? इसलिए उत्तर देने से प्रथम मानो मुस्कराते हुए कहने लगे 'इव' का भाव है। यह मुस्कराहट भगवान् के मायारूप होने से मोहक है, मैत्रेयजी गर्वरहित हैं, अतः यह गूढ़ रीति से कहेंगे क्योंकि विदुरजी तत्त्व सुनने के अधिकारी नहीं हैं इसलिए अज्ञान के कारण फिर प्रश्न करें तो मौन धारण करनी पड़ेगी इस विषय का समाधान निबन्ध में स्पष्ट है। अतः यहाँ वे कारिकाएँ देकर उस अर्थ को कहते हैं—

कारिका—**गुणातीतात् सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते।**
कार्यकारणवैजात्याल्लोकहेतोरभावतः ।।१।।

कारिकार्थ—कार्य (जगत्) और कारण (ब्रह्म) दोनों विलक्षण (पृथक् प्रकार के) हैं और लोक समान हेतु (काम) का भी अभाव है, अतः गुणातीत (निर्गुण) ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्ति सर्वथा नहीं बनती है ।।१।

कारिका—**निरुपाधिकरूपे हि सन्देहद्वयमीरितम् ।**
सोपाधित्वे परिहारस्तदेव न भवेदिति ॥२।
तृतीयो ब्रह्मणः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः ।
मायासंबन्धकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात् ।।३।।

कारिकार्थ—इस प्रकार निरूपाधिकरूप (निर्गुण) ब्रह्म से जगत् होने में दो सन्देह विदुर नें

कहे हैं, उन सन्देहों का परिहार विदुर ने ब्रह्मा को सोपाधिक (उपाधि सहित) कह कर किया है अर्थात् विदुर का कहना है कि सगुण (मायिक) ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानने से ये सन्देह नहीं रहते हैं। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि ब्रह्म सोपाधिक (मायिक) हो नहीं सकता है, मायिक मानने से ब्रह्म में यह तीसरा दोष सिद्ध होता है जिस दोष का परिहार हो नहीं सकता है ।।२३।।

कारिका—**प्रथमस्य परीहारः षष्ठ्या नित्यतयोदितः ।**
भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम् ।।४।।

कारिकार्थ—जीव का ब्रह्म अभेद है अतः उसमें भी वहाँ सन्देह होता है। इस सन्देह का अर्थात् ब्रह्म तथा जीव स्वरूप में माया के सम्बन्ध और माया के कार्य का क्रमशः परिहार करना ही है, प्रथम सन्देह का निरास आठवें श्लोक में छठा विभक्ति से यों कहकर किया है कि माया का ब्रह्म से नित्य सम्बन्ध है ।।४।।

कारिका—**असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसम्भवः ।**
द्वितीयस्य परीहारे विरोधात् कार्यबाधनम् ।।५।।

कारिकार्थ—पाँचवीं कारिका में यदि माया का भगवान् से नित्य सम्बन्ध माना जाएगा तो भगवान् के गुणातीत्व की हानि होगी इस शङ्का का परिहार करते हुए कहते हैं कि यहां भगवान् पद देने से ही कहा है कि नित्य सम्बन्ध होते हुए भी गुणातीत्व का विरोध नहीं होता है, क्योंकि षष्ठी से सम्बन्ध दिखाकर यह सिद्ध किया है कि प्रकृति की महत्ता नहीं है। एवं समास न करने से भगवान् की मुख्यता दिखाई है, तथा इससे यह भी सूचित किया है कि माया भगवान् का गुण नहीं है, किन्तु आज्ञानुसार कार्य करनेवाली एक दासी है, जैसे दासी पृथक् रहकर आज्ञानुवर्त्तिनी हो सर्व कार्य करती है, वैसे माया भी करती है अतः माया किसी प्रकार भगवान् की उपाधि नहीं है। जैसे आकाशस्थ सूर्य का दूर से ही अनेक वर्ण दर्पण, जलादि से सम्बन्ध किरणों द्वारा नाना प्रकार का प्रकाश होता है, वैसे ही ब्रह्म का भी माया से दूर से ही नित्य सम्बन्ध रहने से शुद्ध ब्रह्म द्वारा माया सम्बन्ध स्वविलक्षण जगत् उत्पन्न होता है जिससे शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान होते हुए भी अविकारी रहता है, अतः ब्रह्म मायिक नहीं है इत्यादि का भी परिहार हो गया ।।५।।

कारिका—**विरोधमात्रमाहोस्वित् आद्ये सेयं दर्शितः ।**
द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तु दूषणम् ।।६।।

अब दूसरे सन्देह (ब्रह्मविषयक कर्तृत्व सन्देह और जीव विषयक दुर्भगत्वादि सन्देह) का कैसे परिहार होगा? जिनका उत्तर 'द्वितीयस्य परिहारे' आदि कारिका द्वारा देते हैं—

कारिकार्थ—दूसरे सन्देह का निरास करते हुए पूछते हैं कि विरोध के कारण कार्य नहीं होता है? अथवा केवल विरोध ही है? **प्रथम पक्ष** (कार्य नहीं होता है) यों कहना वृथा है, क्योंकि

वह दुर्भगत्वादि कार्य तो प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। दूसरा पक्ष केवल विरोध है तो वह माया का भूषण है, न कि दूषण है ॥६॥

कारिका—**विरुद्धकार्यसंबन्धस्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते ।**
विरोधोऽपि प्रतीत्यैव न वस्तुनियतो बृहत् ॥७॥ इति ॥७॥

कारिकार्थ—इस कारण से मायाकृत विरुद्ध कार्यों के सम्बन्ध का वर्णन नहीं किया जाता है, यह विरोध भी केवल प्रतीति मात्र है, वस्तु अर्थात् जीव में नहीं है, क्योंकि वह बृहत् (अक्षर ब्रह्म स्वरूप) है ॥७॥

इस प्रकार निबन्ध में ७ कारिकाओं से विदुर के सन्देहों का निराकरण किया गया है।

अवतरणिका—इसी तरह दोनों का आशय निरूपण कर विशेष प्रकार से स्पष्टता न करते हुए कहते हैं कि जब अन्त में ब्रह्मपद से ही सिद्ध हो जाने में ही आत्मवाद सिद्धान्त की रीति से मैत्रेयजी ने विदुर के प्रश्नों का समाधान क्यों नहीं किया ? ऐसी आकांक्षा में उसका तात्पर्य 'अत्र' आदि से कहते हैं—

आभास—अत्र पूर्वपक्षसमाधानं ब्रह्मवादे स्पष्टमेव **'दृश्यते तु...'** इत्यधिकरणेन निरूपितम्। अविकृत एव भगवान् सर्वं करोति तादृशमेव भगवत्स्वरूपम्, श्रुतिप्रामाण्यात्; यादृशे अङ्गीक्रियमाणे सर्वसमाधानं भवति। तस्मात्तत्र न मायादिकल्पना। योऽनुपपत्तिपरिहारो मायया सोऽपि स्वरूपेणैव। एवं सति श्रौतार्थता भवति, अन्यथा त्वप्रामाणिकं स्यात्, स्वकपोलकल्पनात्। स पक्षोऽत्रै वर्णिकाय सर्वथा न वक्तव्य इति **'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः'** **'असुर्यः शुद्रः'** इति श्रुतेः **'मायेत्यसुराः'** इति च। उपक्रमेऽपि—**'अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः'** इति प्रतिज्ञानादत्राऽपि मायायैव समाधानमाह। **सेयं भगवतोमायेति—**

आभासार्थ—इस विषय के पूर्व पक्ष का समाधान ब्रह्मवाद में स्पष्टरीति से 'दृश्यतेतु' (ब्र. सू २-१-६।) में इस अधिकरण द्वारा किया गया है। भगवान् जो कुछ करते हैं वह अविकारी रहते हुए ही करते है, क्योंकि भगवत्स्वरूप ऐसी ही शक्ति वाला है, यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध ही है, श्रुति के अनुसार जैसे हैं ऐसा अङ्गीकार करने से सर्व प्रकार समाधान हो जाता है। इस कारण से भगवान् के सम्बन्ध में मायादि की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

यदि माया द्वारा अनुपपत्ति का परिहार किया जाता है वह भी स्वरूप से ही किया जाता है, यों करने से ही श्रौतार्थता अर्थात् श्रौतसिद्धान्त की सार्थकता होती है, यों न माना जावेगा तो

सिद्धान्त अप्रमाणिक होगा, क्योंकि वह सिद्धान्त अपना कपोल कल्पित (मनघड़न्त) है, यों कहा जायगा।

श्रुतिसिद्ध ब्रह्मवाद सिद्धान्त जो द्विज नहीं है, उसको कभी भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'दैव्यो वैवर्णो ब्राह्मणः' ब्राह्मणवर्ण देव का है 'असुर्यः शूद्रः' इति श्रुतेः, शूद्र आसुरी है 'मायेत्यसुराः' 'मायायै असुर है' अतः ब्रह्मवाद श्रवण के योग्य द्विजेतर (द्विज के सिवाय) नहीं है। प्रारम्भ करने के समय भी मैत्रेयजी ने कहा है कि तुम्हें योगमाया के सम्बन्धवाली लीलाएँ कहूँगा। इसलिये यहाँ भी विदुर के प्रश्नों का समाधान माया से ही करते हैं—'सेयं भगवतो माया' इति।

मैत्रेय उवाच। श्लोक—**सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुद्धयते।**
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥८॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं—यह वही भगवान् की माया है जिससे विमुक्त ईश्वर का कृपणत्व तथा बन्धन होता है, यह कार्य न्याय से विरुद्ध है ॥८॥

कारिका—**कार्यकारणवैजात्यं माययैव समाहितम्।**
क्षणमध्ये तया सर्वमन्यथैवाऽन्यथा भवेत्।
तादृश्येव हि सा शक्तिः स्वीकर्तव्याऽन्यथा न सा ॥१॥

कारिकार्थ—कार्य तथा कारण दोनों विलक्षण हैं इस शङ्का का समाधान माया से ही किया गया है, कारण कि माया में ही शक्ति है जो एक क्षण में ही सर्व को जुदे-जुदे प्रकार में बदल देती है। यह माया शक्ति ऐसी ही शक्तिमती है यों स्वीकार करना चाहिये, वह दूसरे प्रकार की नहीं है ॥१॥

कारिका—**क्रिडासृष्टिस्तथा ज्ञानं ज्ञानेऽप्यज्ञानसम्भवः।**
अभेदेऽपि यथा जीवस्तथा मायैव सा तथा ॥२॥

यदि माया ऐसी न मानी जायेगी तो क्रीड़ार्थ रची हुई सृष्टि[2] तथा ज्ञान और ज्ञान में अज्ञान

---

[1] —जैसे सूर्य की किरणों का सम्बन्ध विविध रंग वाले दर्पणों से जब होता है तब प्रकाश क्षण में बदल जाता है वैसे भगवदंशों का माया के साथ सम्बन्ध होने पर कार्य जुदे-जुदे प्रकार से हो जाते हैं।

[2] —कामना न होते हुए भी भगवान् से क्रीड़ार्थ सृष्टि उत्पन्न हो जाती है जैसे लोह चुम्बक की स्वाभाविक शक्ति से लोह में स्वतः भ्रमण उत्पन्न होता है।

होना नहीं बनेगा, अभेद में अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही हैं यों होने पर भी जैसे जीव वैसे ही माया भी[1] समझनी ।।२।।

सुबोधिनी—इयं भगवतो माया सैव, याऽस्माभि र्जगत्कारणत्वेन निरूपिता। तव वाक्येऽपि सैव। अतो यदस्माभिर्निरूपितम्, तदेव त्वया तस्या विरुद्धधर्मनिरूपणेन निरूपितमिति नाऽत्र किञ्चित्समाधातव्यम्, यतः सा **नयेन** न्यायशास्त्रेण विरुद्धचते । स विरोधस्त्वयैव निरूपिन इति नाऽस्माभिर्बोधनोयः, अस्यैव सिद्धान्तत्वात्। एतत्समाधानसुच्यमानं पूर्वपक्षेणैव मन्तव्यमिति भावः । विरोधमेव स्पष्टयति—**ईश्वरयेति** अयं जीव ईश्वर एव, **'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'विज्ञानमयः'** इति श्रुतेः। अत एवेश्वरस्य सर्वसमर्थस्य संसाराद्विसुक्तस्य **कार्पण्यं** दैन्यम्, अनालोचितयाचकत्वं वा, ऐश्वर्यविरुद्धम् । **बन्धनं च** विमुक्तविरोधि ।। ८ ।।

व्याख्या—यह भगवान् की माया वही है, जिसको हमने जगत् का कारण कहा है हे विदुर ! तुमने भी अपने वाक्यों में यों ही कहा है, अतः हमने जो निरूपण किया वह ही तुमने उसके विरुद्ध धर्म के निरूपण से कहा है, इसलिए इस विषय में कुछ समाधान करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह न्यायशास्त्र से विरुद्ध जाती है, वह विरोध तुमने ही निरूपण किया है, इस कारण से हम तुमको समझावें ऐसी आवश्यकता नही है, कारण कि यह ही सिद्धान्त है वह पूर्व पक्ष की दृष्टि से कहा है।

अब विरोध की स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि 'ईश्वरयेति' यह जीव ईश्वर ही है जिसके प्रमाण 'तत्वमसि' 'अयमात्माब्रह्म' 'विज्ञानमय' आदि श्रुतियाँ हैं इसलिये ही सर्वसमर्थ संसार से विमुक्त ईश्वर का 'दैन्य' बिना विचार के माँगना ऐश्वर्य से विरुद्ध है और उसका बन्धन, विमुक्त विरोधी है ।।२।।

आभास—ननु कथमेवं मायायाः स्वरूपम् ? तथा सति प्रमाणानामप्रामाण्यमेव युक्तं स्यात्, सन्मार्गश्च विरुद्धचेतेति चेत्। सत्यम्, एवमेव। परं सा माया यथा गमिष्यति तथोपायं वक्ष्यामि। तस्या गमनमेव मुख्यं समाधानमिति, तस्यां गतायां न कोऽपि विरोधः स्फुरिष्यतीति, अतो विरोधसमाधानार्थं न यत्नः कर्तव्यः, किन्तु मायानिराकरणार्थमेव प्रयत्नः कर्तव्यः। तस्यां गतायां भगवत्साक्षात्कारे सर्वेऽपि सन्देहा निवर्तन्त इति प्रकारान्तरेण ज्ञानमुपदिष्टं भवति, तदा स्वयमेव ब्रह्म-

---

[1] —जीव ब्रह्म का ही रूपान्तर होते हुए भी ब्रह्म से विरुद्ध अज्ञत्वादिधर्म वाला है वैसे माया भी है अतः माया के स्वरूप तथा स्वभाव बल से ही विरोधों का समाधान होता है। 'प्रकाश'

वादं ज्ञास्यतीति । आसुरत्वे वा गते शूद्रत्वमपि गमिष्यतीति । तस्यां गतायाम्, स्वतो वा, बोधनीय इति भावः । मायादीनामेव रूपतां निद्रादिदृष्टान्तेनाह—

आभासार्थ—माया का स्वरूप इस प्रकार का कैसे होगा ? यदि ऐसा स्वरूप माना जायगा तो प्रमाण अप्रमाण हो जायँगे तथा सत्पुरुषों का मार्ग रुक जायगा यों कहना सत्य है, यों ही है । किन्तु वह माया जैसे हृदय से निकल जाय वैसा उपाय बताऊँगा । उसका जाना ही मुख्य समाधान है, उसके नष्ट होने पर फिर कोई भी विरोध (सन्देह) नहो रहेगा । इसलिए विरोधों के समाधान के लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये किन्तु माया के निराकरण (नष्ट) करने के लिये प्रयत्न करना चाहिए, माया नष्ट होने पर भगवत्साक्षात्कार होगा जिससे सर्व सन्देह स्वतः मिट जायँगे । इस प्रकार रूपान्तर से ज्ञान का उपदेश मिला हुआ समझ में आ जायगा तब स्वयं ब्रह्मवाद समझ में आजायगा अथवा असुरत्व जाने ने शूद्रत्व भी कपूर बन उड़ जायगा । उसके जाने पर स्वतः ज्ञान हो जायगा अथवा मैं उपदेश देकर समझाऊँगा । मायादि के ऐसे रूप हैं । यों निद्रादि दृष्टान्त से निम्नश्लोक में समझाते हैं—

श्लोक—**यदर्थेन विनाऽमुष्य पुँस आत्मविपर्ययः ।**
प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥९॥

श्लोकार्थ—जिस कारण से इसे पास में देखने वाले पुरुष को स्वप्न में बिना बन्धन आदि के भी वन्धन मालूम होता है वह अपना विपरीतपन है इसी प्रकार अपना कटा हुआ शिर आदि देखने में आता है ॥९॥

सुबोधिनी—यदर्थेनेति । यद्यस्मात्कारणात् अमुष्य जीवस्य पुंसः, **अर्थेन** बन्धकादिना विनैव **आत्मविपर्यय** आत्मनोऽन्यथाभावः **प्रतीयत** एव । प्रतीतिमात्रम्, नतु वस्तुतोऽस्ति । यतोऽयमुप समीपे **द्रष्टा**, न स्वयं दृष्यः । व्यापकश्चाऽयं प्रत्यक्-संवेद्यः, परिच्छिन्नं पराक् चाऽन्यत् । यथा दर्पणे सन्निहिते तद्गतत्वेन विपरीततया मुखं दृश्यते, तथा मायासन्निधानेन आत्मा पराक् परिच्छिन्नश्च दृश्यते, इत्यन्यथादर्शने मायैव हेतुः । तत्र यथा स्वप्ने शिरश्छेदः प्रतीयते, न हि द्रष्टुः शिरश्छेदः सम्भवति, न वा द्रष्टुं शक्यते, चक्षुषस्तत्रैव विद्यमानत्वात्; प्रतीतिश्च वर्तते; विरुद्धश्चाऽयमर्थः; युक्तिश्च नास्ति; एवमत्राऽपीति भावः ।९।

व्याख्या—जिस कारण से इस पुरुष जीव को बिना **बन्धन** आदि के अपने शरीर का विपरीतत्व (उल्टापन प्रतीत मालूम) होता है परन्तु केवल ऐसी प्रतीति ही होती है वास्तव में

विपरीतत्व है नहीं, क्योंकि यह समीप में द्रष्टा[1] है न कि यह द्रश्य[2] है वहाँ उस समय कोई दूसरा द्रश्यपदार्थ है ही नहीं फिर यह पुरुष तो व्यापक पूर्णरीति से भीतर से जानने वाला है। दूसरे सब तो परिच्छिन्न[3] बाहिर जानने वाले हैं। जैसे दर्पण में देखने के समय वह आत्मा (शरीर) उलटा[4] देखने में आता है। वैसे ही माया के सान्निध्य होने से आत्मा बाहिर का तथा परिछिन्न दीखता है, यों अन्यथा (उल्टा) देखने में माया ही कारण है, इस विषय को अन्यदृष्टान्त से समझाते हैं कि जैसे स्वप्न में कोई देखता है कि मेरा शिर कट गया है ऐसा उसे प्रतीत होता है किन्तु दृष्टा का शिर कटना बन नहीं सकता है। यदि शिर कट गया तो फिर देखा नहीं जाता है क्योंकि नेत्र तो शिर में हैं, ऐसी केवल प्रतीति होती है, यह अर्थ परस्पर विरुद्ध है और इसमें कोई तर्क नहीं है, इस तरह यहाँ भी माया के सम्बन्ध से ऐसा भासता है ॥९॥

आभास—ननु मायायामयमात्मा प्रविशतीत्यात्मधर्मा मायायां भवितुमर्हन्ति, न तु मायाधर्मा आत्मनि; आत्मनि मायायाः प्रवेशाभावात्, **'तमसः परस्तात्'** इति श्रुतेः। तस्मान्मायाधर्मा बन्धादयः कथमात्मनीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ- शङ्का—यह आत्मा माया में प्रवेश करता है जिससे आत्मा के गुण माया में आते हैं यह उचित है, किन्तु माया के धर्म, आत्मा में प्रवेश नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आत्मा में माया प्रवेश नहीं कर सकती है जैसा कि 'तमसः परस्तात्' श्रुति कहती है, आत्मा तम से परे है, इस कारण से बन्धादि माया के धर्म आत्मा में कैसे? इस शङ्का का निम्न श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—**यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः।**
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुणः ॥१०॥

श्लोकार्थ—जैसे जल में कम्पादि जलकृत गुण जल में ही है न कि चन्द्रमा में कम्पादि है किन्तु चन्द्र में कम्पन की केवल असत् प्रतीति होती है वैसे ही दुष्टात्मा में अनात्मा का गुण न होते हुए भी दीखता (भासता) है ॥१०॥

सुबोधिनी यथा जल इति। यद्यप्यात्मनि माया न प्रविशति, आत्मैव तु प्रविशति; तथापि प्रवेशान्तरं तद्धर्मैः संबध्यते, न त्वप्रविष्टः। प्रवेशोऽपि प्रतीत्यैव। यथा चन्द्रमसो जले

---

[1] - देखने वाला। [2] – जो देखा जाए–नजारा। [3]—सीमा वाले।

[4]—वाम अंग दक्षिण और दक्षिण अंग वाम दीखता है।

प्रतिबिम्बितस्य जलकम्पात्तत्कम्पः, न तु स्वभावतः; तथा असन्नपि धर्म आत्मनि मायासम्बन्धात् प्रतीयते तदाह **दृश्यत इति** । असत्त्वे हेतुः—**द्रष्टुरिति** । आत्मनिरूपितं वैलक्षण्यमिदम् । मायानिरूपितं वैलक्षण्यमाह—**अनात्मनो गुण इति** । **अनात्मनः** प्रकृतेर्देहादेर्वा **गुणो** दृश्यत्वादिः ॥१०॥

व्याख्या—माना कि आत्मा में माया प्रवेश नहीं करती है किन्तु आत्मा ही माया में प्रवेश करती है, तो भी प्रवेश के अनन्तर उसके (माया के) धर्मों से आत्मा सम्बन्धित होती है, जब तक प्रवेश नहीं हुआ है तब तक माया के धर्मों से सम्बन्धित नहीं होती है, जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में जो कम्प दीखता है वह जल का कम्प है, न कि चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब का, प्रतिबिम्ब में तो जलकम्प द्वारा प्रतीति मात्र होती है, वास्तव में उसमें कम्प नहीं है, ऐसे ही आत्मा में धर्म न होते हुए भी माया के सम्बन्ध से प्रतीति मात्र होते हैं। वह 'दृश्यते' से कहते हैं असतपन में कारण 'द्रष्टुः', पद से कहा है। आत्मा शब्द से यह विलक्षणता निरूपित की है, अब माया निरूपित विलक्षणता 'अनात्मनोगुण' पद से कहते हैं, प्रकृति और देह आदि जड़ के दृश्यत्वादि गुण आत्मा में न होते हुए भी दीखते हैं, यह माया निरूपित विलक्षणता है ॥ १० ॥

आभास—अतो मायायां प्रतीत्या सम्बन्धात, तत्सम्बन्धाभावार्थमुपायमाह—

आभासार्थ—माया में जो सम्वन्ध है वह प्रतीति से है। उसका यह सम्बन्ध भी न रहे तदर्थ उपाय कहते हैं—

श्लोक—**स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया ।**
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥११॥

श्लोकार्थ—वह सम्बन्ध निवृत्ति गुण से तथा वासुदेव की कृपा से एवं भगवान् के भक्तियोग से इस जन्म में ही धीरे-धीरे तिरोहित हो जाता है ॥११॥

सुबोधिनी—स वै निवृत्तिधर्मेणेति । स माया सम्बन्धो धर्मत्रयेण निवर्तते । यथा त्रिदोषे पुरुषो म्रियते, तथा धर्मत्रयसम्बन्धे तस्मिन्नेव शरीरे मायासम्बन्धो गच्छति प्रतीत्यात्मा। तान् धर्मानाह — **निवृत्तिधर्मेणेत्यादिपदैः** । तत्र प्रथमं निवृत्तिधर्माः कर्तव्याः, न निवृत्तिमात्रम् । तथासति भगवत्कृपा न स्यात् । ततो भगदनुकम्पा सत्वाकारान्तः करणे स्फुरितस्य भगवतः कृपावलोकनम् । ततो भगवद्भक्तियोगः भगवद्विषयकत्वाद्भक्तेः साधनरूपत्वम् । **योग** इति निरन्तर कृतिः निरन्तरश्रवणादिकं भगवत्कृपाव्यतिरेकेण न भवतीति भगवद्भक्तियोगः पश्चादुक्तः । एवं त्रिभिर्गुणैर्मायासम्बन्धः **शनै**रस्मिन्नेव जन्मनि **तिरोधत्ते** शनैरिति साधनबलानुसारेण ॥११॥

व्याख्या—मैत्रेयजी विदुरजी को इस श्लोक में माया का सम्बन्ध कैसे छूटेगा, वह बताते हैं, जैसे त्रिदोष (वात, पित्त और कफ) के बढ़ जाने से मृत्यु होती है, वैसे ही माया के सम्बन्ध का

इस ही शरीर में नाश तब होता है जब पुरुष तीन धर्मों को धारण करता है। वे तीन धर्म कौनसे हैं ? वे बताते हैं—(१) निवृत्ति धर्म का पालन करना, न कि केवल निवृत्ति करनी, यदि निवृत्ति धर्म का पालन कर केवल निवृत्ति करली तो इससे भगवत्कृपा नहीं होगी, अतः भगवत्कृपा सम्पादन के लिए निवृत्ति धर्म अवश्य पालने चाहिए, जिसकी स्पष्टता कारिकाओं द्वारा करते हैं—

कारिका—**विधानेन परित्यागः पुनस्त्यक्त्वा परिग्रहः ।**
एकाकित्वं तीर्थसेवा मौनं कृष्णानुचिन्तनम् ॥१॥
कालादि प्राप्तदुःखस्य सहनं चाऽप्रतिक्रिया ।
दयासन्तोषात्मजया मुख्या धर्मा निवृत्तितः ॥२॥

कारिकार्थ—पहले शास्त्रानुसार त्याग करना चाहिए, अनन्तर निम्नगुणों का स्वीकार करना अर्थात् ये गुण पालने, एकाकी (अकेला) रहना तीर्थ सेवा (तीर्थों का दर्शन एवं वहाँ रहना) २. मौन धारण करना ३ श्री कृष्ण का चिन्तन करना, ४. कालादि से प्राप्त दुःखों को सहना ५ उनकी प्रति क्रिया नहीं करनी, ६. दया, ७. सन्तोष, ८. अन्तःकरण पर काबू, निवृत्ति अवस्था के ये मुख्य धर्म हैं जिनका पालन अवश्य करना चाहिए ॥१-२॥

व्याख्या—फिर भगवत्कृपा सम्पादन करनी चाहिए, उपरोक्त धर्म पालन से जब अन्तःकरण शुद्ध हो, सत्त्वरूप होता है तब भगवत्कृपा होती है। बाद में कृपा सम्पादित होने पर भगवद्भक्ति योग सिद्ध होता है। भक्ति भगवत्सम्बन्धिनी होने से साधन रूप होती है, 'योग' पद देने का आशय है कि निरन्तर भक्ति करते ही रहना चाहिए, सदैव श्रवणादि बिना भगवत्कृपा के नहीं हो सकता है इसलिए भक्ति न कहकर 'भक्तियोग' कहा है इस प्रकार इन तीन गुणों के धारण से माया का सम्बन्ध धीरे-धीरे इसही जन्म में तिरोहित हो जाता है, 'शनैः' पद देने का आशय है जैसे-जैसे साधन होते जायेंगे वैसे२ माया का सम्बन्ध छूटता जायेगा ॥११॥

आभास—सहसा सर्वक्लेशनाशार्थमुपायमाह—

आभासार्थ—इस श्लोक में बिना देरी के (शीघ्र) ही सर्व प्रकार के क्लेशों के नाश का उपाय कहते हैं—

श्लोक—**यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्टात्मनि परे हरौ ।**
विलयन्ते तथा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥ १२॥

श्लोकार्थ—जब इन्द्रियाँ अपने विषयों से स्वतः ही विराम पाती है, तब हरि

आत्मा में द्रष्टा बनते हैं, उस समय सुषुप्ति अवस्था में जैसे दुःख नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सर्व प्रकार के दुःख दूर हो जाते है ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—यदेन्द्रियोपरामोऽथेति । यदैव सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वत एव स्वविषयेभ्यो निवृत्तिः, **अथ** तदा भिन्नप्रकारेण **आत्मनि द्रष्टा** भवति, द्रष्टृत्वेन आत्मा स्फुरति; प्रकृत्यादिनियामकत्वं च स्फुरति, स्वस्य हरित्वं च । तदा विलीयन्ते सर्वे **क्लेशा** अविद्यादयः । ते पञ्चमस्कन्धे वक्तव्या भवाटव्याम् । निवृत्तेरसम्भावितत्वनिराकरणाय दृष्टान्तमाह — **संसुप्तस्येति** **संसुप्तस्य** आत्मना सहैक्यं प्राप्तस्य । **'यथा स्त्रिया । संपरिष्वक्त एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः शेते'** इति श्रुतेः । **यदेति** वचनात् नाऽस्य साधनस्य सिद्धिकालो नियतः ॥१२॥

व्याख्या—जब ही सब इन्द्रियों की स्वतः ही अपने विषयों से निवृत्ति हो जाती है तब भिन्न प्रकार से आत्मा में द्रष्टा होता है अर्थात् आत्मा द्रष्टापन से स्फुरित होती है और प्रकृति आदि का नियामकपन से स्फुरता है[1] और मैं स्वयं ही हरि हूँ, ऐसी स्फूर्ति होने लगती है, तब अविद्या आदि सर्व प्रकार के क्लेश लुप्त हो जाते हैं, वे पंचम स्कन्ध में भवाटवी प्रसंग में वर्णन किये जायेंगे, विषयों से निवृत्ति होना असम्भव है जिसका दृष्टान्त देकर निराकरण करते हैं 'संसुप्तस्येव वे कृत्स्नशः' सुषुप्ति अवस्था में आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त होने वाले के जैसे सर्व क्लेश कट जाते हैं वैसे निवृत्ति होते ही सर्व अविद्यादि दोष नष्ट हो जाते हैं तथा 'यथा स्त्रियां सम्परिष्वक्त एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तः शेते,' 'श्रुति', जैसे लोक में स्त्री के साथ आलिङ्गन कर मनुष्य आनन्द में सोते हैं वैसे यह शरीर आत्मा (जीव) सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञात्मा से ऐक्य प्राप्त कर सोता है उस समय सर्व क्लेश भूल जाता है, 'यदा' इस पद से यह सूचित किया है कि इस साधन की सिद्धि कब होगी इसके लिए काल नियत (मुक्ररर) नहीं किया है ॥१२॥

आभास—अतो नियतं हेतुमाह–

आभासार्थ—अतः फल प्राप्ति का निश्चत हेतु निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।**
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—मुरारि भगवान् के गुणानुवादों का श्रवण, सकल क्लेशों का नाश करता है तो अपने से प्राप्त की हुई प्रभु के चरणारविन्द की रज की सेवा में रति (प्रीति) उनका नाश करे इसमें कहना ही क्या है ॥ १३ ॥

---

[1] १–प्रकृति आदि के नियमों को भी वश में रखने वाला अपने को मानता है ।

सुबोधिनी अशेषसंक्लेशशमं विधत्त इति। भगवतो माहात्म्यज्ञापकं धर्मानुकीर्त्तनपूर्वकं श्रवणमशेषसंक्लेशशमं विधत्ते । गुणानुवादश्रवणस्य संक्लेशशमस्य च कार्यकारणभावः कारणविद्यमानदशायामेव । तेन यावत्संक्लेशनाशं गुणानुवादश्रवणं कर्तव्यम् । अतो नैकेन श्रवणेन सर्वसंक्लेशाभावो जात इति विरोधो न मन्तव्यः, परं नियतकारणत्वमत्रोच्यते। **मुरारेरिति** विघ्नाभावस्तत्र स्वतः सिद्धः। यदा श्रवणमेवैतद्विधत्ते, तत्र भगवच्चरणारविन्दरतिर्विधत्त इति किं वक्तव्यम्। तदाह—**कुत इति**। किं पुनरिति वक्तव्ये कुत इति वचनम, रतिसाधकश्रवणदशायामेव क्लेशा निवृत्ता इति रतिः कुतो निवर्त्तयिष्यतीति ज्ञापितम् । **चरणारविन्देति** भक्तिमार्गानुसारः। चरणारविन्दस्य परागा पूर्वं निरूपिता गङ्गायां भगवदीयशरीरे च सन्तीति तत्र सेवायाँ रतिः। पराग एव वा मथुरादिस्थित सेव्य इति। चरणसेवा मकरन्द। भजनानन्दः स्वतः पुरुषार्थरूप तत्संबन्धिनी सेवा; तस्यां **रतिः** प्रीतिः । साऽप्यात्मनैव लब्धा, **अकस्मात्प्राप्ता** आत्मनि वा लब्धा। स्वतः पुरुषार्थसेवायां स्वभावतो या रुचिः सा सर्वमेव क्लेशं दूरीकरोतीति। एवं साधनत्रयमुपदिष्टं कर्ममार्गानुसारेण, ज्ञानमार्गानुसारेण, भक्तिमार्गानुसारेण च ॥ १३ ॥

व्याख्या—भगवन्माहात्म्य जताने वाला, गुणों के कोर्तनपूर्वक जो श्रवण किया जाता है, वह सकल क्लेशों का शमन करता है, गुणानुवाद का श्रवण और क्लेशों का शमन दोनों का परस्पर कारण कार्यभाव ऐसा है जैसा दाह और अग्नि का कार्य कारणभाव हैं न कि घट दण्ड जैसा है, अतः जैसे अग्नि कारण होने पर ही दाह (जलना) कार्य होता है वैसे ही गुणानुवाद श्रवण रूप कारण होने पर ही अशेष क्लेषनाश रूप कार्य होता है; इसलिए जब तक सकल अविद्यादि दोषों (क्लेशों) का सम्पूर्ण नाश न हो जाय तब तक गुणानुवाद श्रवण करते ही रहना चाहिए, इससे एक बार श्रवण से सर्व क्लेशों का अभाव नहीं हुआ। इस प्रकार का विरोध नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह श्रवण रूप कारण नियत कारणत्व से कहा गया है इसलिए दृष्टान्त भी अग्नि और दाह का दिया है, जब तक क्लेश नाश नही हुए हैं तब तक श्रवण करते ही रहना चाहिए, इस में यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि बीच में विघ्न पड़ जावे, श्रवण न हो सके तो कार्य कैसे होगा ? इसके उत्तर में 'मुरारो' भगवन्नाम देकर बताया है कि जिसके गुण श्रवण किये जाते है वह मुरारि है जिससे विघ्न स्वतः नष्ट हो जायेंगे ।

जब श्रवण ही क्लेशों का नाश करता है तो भगवान् के चरणारविन्द की रति, इनका नाश करेगी इसमें कहना ही क्या है ? यह उत्तरार्ध से कहते है कि 'पुनः' कहना चाहिए यों न कहकर 'कुतः पुनः' कहा 'कुतः' कहने का भाव प्रकट करते हैं कि रति को सिद्ध करने वाली श्रवण दशा में ही क्लेश निवृत्त हो गये तो फिर 'रति' को कौन निवृत्त करेगा ? अतः रति तो स्थिर ही है, 'चरणारविन्द' पद से यह सूचित किया है कि यह उपाय भक्तिमार्गीय है पूर्व निरूपित चरणारविन्द के रजः कण, गंगा में तथा भगवदीयों के शरीर में रहते हैं इसलिये वहाँ सेवा में रति करनी

चाहिए अर्थात् उनकी सेवा करनी चाहिए अथवा मथुरादि स्थित भगवत्स्वरूपों के चरणारविन्द के रज को सेवा करनो चाहिए, चरण सेवा मकरन्द (रस) है, भजनानन्द स्वतः पुरुषाथ रूप है। उससे सम्बन्ध वाली सेवा में जो रति (प्रीति) है वह भी आप (खुद) ने ही प्राप्त की हो वा अचानक प्राप्त हुई हो अथवा अन्तः करण में स्वतः उत्पन्न हुई हो।

सेवा स्वत पुरुषार्थ रूप है उसमें स्वभाव से जो रुचि होती है वह सर्व ही क्लेश को दूर फेंक देती है, इसी तरह कम मार्ग के अनुसार, ज्ञान मार्ग के अनुसार और भक्ति मार्ग के अनुसार तीन साधन बताये ॥१३॥

आभास—एवं मायापगम एव सर्वसन्देहनिवृत्तिरिति मैत्रेयोक्तं श्रुत्वा, साधनं भगवद्रतिं साधनवाक्येन स्मृत्वा, तस्यामुद्गतायां स्वत एव संशयो गत इति, तदुक्तं फलं जातमिति, स्वहृदये जातसंशयाभावस्तस्याऽग्रेऽनुवदति—

आभासार्थ—माया की निवृत्ति होने पर ही सर्व सन्देहों की स्वतः निवृत्ति हो जायगी यों मैत्रेय का उपदेश सुनकर भगवान् में रति ही साधन है इसका स्मरण होते ही रति उत्पन्न हुई जिससे स्वतः (अपने आप) ही विदुर के संशय निवृत्त हो गये, उसका कहा हुआ फल हुआ विदुर के अपने हृदय में से संशय मिट गये वह निम्न श्लोक में कहता है—

श्लोक—**विदुर उवाच—संच्छिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो!।**
उभयत्राऽपि भगवन्! मनो मे संप्रधावति ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—विदुरजी ने कहा कि हे सर्वसमर्थ! मेरे संशयो के नाशार्थ जो आपने सूक्तिरूप असि (तलवार) कार्यरूप में ली उससे मेरे संशय कट गये, हे भगवन्! मेरा मन दोनों तरफ भगवान् के स्वातन्त्र्य एवं जीवपारतन्त्र्य आदि में दौड़ता रहता है ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—संच्छिन्न इति। अन्यथा सन्देहाभासस्य गुरुशास्त्रप्रतिपाद्यता न स्यात्। मह्यं मदर्थे प्रयुक्तो यस्तव **सूक्तासिरुत्तमवाक्यखड्गः**, तेन **संशयश्छिन्न** न तु युक्त्या मोचितः। वचनं च खड्गरूपम् साधन प्रदर्शनरूपत्वात्। अतः परं च युक्तिर्न वक्तव्या। भगवन्मायां शम्बलत्वेन स्वीकृत्य, तया सह यत्रैव बुद्धिः प्रेर्यते, तत्रैव बुद्धिरप्रतिहता गच्छति, धनुषि योजितः शर इव। तदाह—**उभयत्रापीति**। भगवतः स्वातन्त्र्ये जीव पारतन्त्र्ये वा, जगतो बीजप्रयोजनयोर्वा, ज्ञानमाया सबन्धयोर्वा संशयश्छिन्न इति उभयत्राऽपि मे मनः सम्यक् प्रधावति **भगवन्निति** संबोधनं स्वस्मिंस्तादृशज्ञानजननसामर्थ्यबोधाय। प्रकर्षेण धावनं युक्त्यपेक्षारहितं निष्प्रत्यूहम्। सम्यक्त्वं च प्रयासाभावः ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो इस प्रकार नहीं हुआ हो अर्थात् संशय नष्ट नहीं हुआ हो तो गुरुकथित शास्त्र (उपदेश) द्वारा सन्देहाभाव न बने अर्थात् मेरे सन्देह काटने के लिये जो आपने उत्तमवाक्य (उपदेश। रूप खड्ग (तलवार) तैयार की वह सफल हुई अर्थात् उपदेश से संशय कट गये, न कि युक्ति (तर्क) से सन्देह छुड़ाये आपके वचन खड्ग रूप है, वह खड्ग ही साधन रूप बनो अतः इसके बाद तर्क के देने को आवश्यकता नही है, भगवान् की माया के अंश का बल रूप में स्वीकार कर वह जहाँ भी बुद्धि को ले जाता है वहाँ हो बुद्धि बिना रुकावट के चली जाती है जैसे धनुष में योजितशर (लगा हुआ बाण) जाता है, वह अथ उत्तरार्ध से कहते हैं कि, भगवान् की स्वतन्त्रता में और जीव को परतन्त्रता में एवं भगवान् जगत् का बीज है तथा जगत् की रचना के प्रयोजन सम्बन्ध में अथवा ज्ञान एवं माया के सम्बन्ध होने के विषय में जो संशय थे वे टूट (नष्ट हो) गये इस कारण से दोनों तरफ मेरा मन अब बिना तर्क एवं विघ्न के पहुँच सकता है अर्थात् इन विषयों को समझ सकता हूँ मैत्रेयजी को भगवान् विशेषण देने का यह तात्पर्य है कि इन (मैत्रेयजी) में मेरे (विदुर के) मन में ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति है ।।१४।।

आभास—न केवलं पूर्वप्रश्नेष्वेव मम सन्देहो गतः, किन्त्वन्यत्र सर्वत्रैव कार्यसन्देहो गत इत्याह–

आभासार्थ—उपरोक्त प्रश्न सम्बन्धी ही संशय नष्ट नहीं हुए हैं किन्तु अन्यत्र सर्वत्र ही जो कार्य सम्बन्धी शङ्काएँ हैं वे सब नष्ट हो गई हैं ये निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः ।**
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—हे विद्वन् ! हरि सम्बन्धी जीवों को मोह में डालने वाली माया का रचा हुआ यह निर्मूल जगत् निरर्थक भास रहा है, यों जो आपने कहा वह सत्य है जो विश्व का वास्तविक मूल है वह तो इन बाहर के पदार्थों में नहीं है ।। १५ ।।

सुबोधिनी—**साध्वेतदिति** । एतन्मायानिरूपणवचनं यद्भवता व्याहृतम्, तत्साध्वेव व्याहृतम् । **विद्वन्निति** तवाऽत्राऽनुभवोऽस्तीति विज्ञापितम, न तु शास्त्रदृष्टिमात्रेण । किं निरूपितमित्याकांक्षायामाह—**आत्ममायायनं हरेरिति** । हरेः संबन्धिनो य आत्मानो जीवाः, तेषां या माया व्यामोहिका पूर्वं चतुःश्लोक्यां निरूपिता, तस्या मायाया अयनं स्थानं विषयाकारो ब्रह्म, जडत्वेन आत्मानात्मत्वेन यत् स्फुरति, तदपार्थमेव स्फुरति । मायैव वा अयनं यस्येति । मायाकृतो योऽन्तरासर्गः स तु अपार्थमेवाऽऽभाति । वस्तु दूरीकृत्य निर्विषयकमेव ज्ञानं मायावृतं यत्किञ्चिद्विषयत्वेन भाति । तर्हि सर्वदैव भायात् ? ततश्चाऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याशङ्कयाऽऽह

-निर्मूलमिति । मायातिरिक्तमूलाभावात्, अन्तराभानात्, तलस्पर्शे ब्रह्मावभानात्तदैव गच्छतीति निर्मूलत्वम् । एवमेव हि शुक्तिकायां रजतप्रतीतिरन्तरा भासते, तलस्पर्शे च निवर्त्तत इति । अयमेवाऽर्थो मन्त्रेऽपि निरूपितः, **'न तं विदाथ य इदं जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं भवाति'** इति । जगत्, भगवान्, कर्तृत्वं च श्रुतिसिद्धं सत्यमेव । सृष्टस्य ब्रह्मस्वरूपस्य जगतस्तथात्वप्रतीतौ व्यामोहिकया मायया मध्ये अन्यथैव प्रत्याय्यते । अविकृतं कार्यम्, कारणम् कृतिश्च । युष्माकमिति वचनान्न सर्वेषामयमनुभवः । यत्पुनः प्रमेयाध्याये अविरोधे विलक्षणत्वं समर्थितं पूर्वपक्षे; **'न विलक्षणत्वात्....'** इति **'अस्य तथात्वं च** शब्दात्' इति । **विज्ञातं चाऽविज्ञातं च' इति** । तत्सिद्धान्ते वादिबुद्धिमनुसृत्य ब्रह्मवादस्य वक्तुमयुक्तत्वात् परोक्षतया **'दृश्यते तु'** इत्यनेन परिहृतम् । विलक्षणं दृश्यते, न तु वस्तुत इत्यर्थः । श्रुतिस्तु पूर्वकाण्ड इव लोकसिद्धमनुवदति तलज्ञानार्थम्, यथा ,दहरं **वै सा परा**भ्याम् इति' लौकिकदोहानुवादः । अत एव **'सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत्'** इत्युभयथा प्रतीयमानं सत्यमेव वस्तुतो जातमिति बोधयति । तदप्येतस्य भगवध्द्यानात् तथा स्फुरितमिति तस्याऽनुवादः । मध्यस्थमात्रानुवादो वा, मायावादिवत् । किञ्च, विश्वस्य यन्मूलं तद्बहिर्विषयेषु नास्ति, भगवतो मायातीतत्वात्; किन्तु बुद्धेः सकाशादुद्गता मध्य एव स्फुरति । तस्मादस्मिन् शास्त्रे उभावेव सुखिनौ अज्ञानसङ्कटरहितौ ॥ १५ ॥

व्याख्या – माया का ज्ञान कराने वाला वचन जो आपने वर्णन किया वैसा ही ठीक है । 'विद्वन्' विशेषण से यह सिद्ध किया कि इस सम्बन्ध में आपको पूर्ण अनुभव है, न कि केवल शास्त्र दृष्टि के अनुसार है । आपने क्या निरूपण किया ? इस आकांक्षा पर कहते हैं 'आत्म मायायनं हरे' हरि के सम्बन्धी जो जीव हैं उनको मोह में डालने वाली माया, जिसका पहले चार श्लोकों में वर्णन किया है–उस माया का स्थान विषयाकार ब्रह्म, जो जड़त्व से अथवा जीव तथा जड़ तरीके से स्फुरित होता है, वह झूठा बिना अर्थ वाला है ऐसे जगत् का माया ही स्थान है अर्थात् माया की बनाई हुई यह अन्तरा सृष्टि तो व्यर्थ ही भास रही है, वास्तविक वस्तु को दूरकर, विषय रहित जो ज्ञान हो रहा है वह ज्ञान मायावृत होने से जो नहीं है वह भी दिखा देता है । यदि यों है तो वह सर्वदा भासता रहे, यदि सर्वदा भासे तो मोक्ष ही नहीं होवे, इस प्रकार शङ्का (पूर्वपक्ष) कर उत्तर दिया जाता है कि 'निर्मूल' इस अन्तरासृष्टि का माया के सिवाय कोई मूल नहीं है, केवल मध्य में ही भासती है, जब तलस्पर्श किया जायेगा तब सर्वत्र ब्रह्म का ही भान होने लगेगा और यह मायिक अन्तरासृष्टि स्वतः अदृश्य हो जायगी इस विषय को दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे सीप में रजत (चाँदी) की प्रतीति होती है किन्तु वह सत्य नहीं है क्योंकि जब पूर्ण विचार किया जाता है तब सीप ही दीखती है मध्य में हुआ वह रजत का भ्रम निवृत्त हो जाता है, वसे ही यहाँ भी जब अन्तरासृष्टि की निवृत्ति हो जाती है तब सर्वब्रह्म रूप दीखने में आता है जैसाकि इस मन्त्र में 'न तं विदाथ य इदं जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं भवाति' कहा है ।

भावार्थ—जिसने यह उत्पन्न किया है उसको तुम नही जानते हो, क्योंकि तुम्हारे भीतर

अन्यभास रहा है, वेद से जगत् भगवान् और भगवान् का कर्तापन तीनों सत्यसिद्ध हैं। इस बने हुए ब्रह्मस्वरूप जगत् की ब्रह्म से प्रतीति न होकर जो मध्य में अन्यथा प्रतीति हो रही है वह व्यामोहिका माया का कार्य है। कार्य रूप जगत्, कारणरूप ब्रह्म और कृति तीन ही अविकारी हैं। 'युष्माकं' पद देने का यही आशय है कि सब को ऐसा अनुभव नहीं होता है फिर जो प्रमेयाध्याय (ब्रह्मसूत्र द्वितीयाध्याय) में पूर्वपक्ष द्वारा कार्य और कारण के अविरोध में बिलक्षणपन का समर्थन किया गया है अतः 'न बिलक्षणत्वात्' इस वेद प्रमाणानुसार जड़ जगत् का, चेतन ब्रह्म उपादान कारण कैसे बनेगा ? अर्थात् नहीं बन सकता है इसलिए जड़ जगत् को अविकारी नहीं कहा जा सकता है, तथा 'अस्य तथात्वं च शब्दात्' एवं 'विज्ञातं चऽविज्ञातं च' इन श्रुतियों से जगत् को जड़ तथा चेतन और जड़ दोनों प्रकार का माना है[1]।

वादी की बुद्धि के अनुसार अर्थात् वादी ब्रह्मवाद का अधिकारी नहीं है अतः उसको ब्रह्मवाद सिद्धान्तानुसार कहना मैत्रेयजी को उचित न लगा, इसलिए परोक्षरूप से 'दृश्यते' इस सूत्र से शङ्का (पूर्वपक्ष) का निराकरण किया गया है, हालां कि जगत् ब्रह्म से बिलक्षण (पृथक प्रकार का) देखने में आता है, किन्तु वास्तविक बुद्धि (सात्विक बुद्धि) होने पर विचार किया जायगा तो मालूम हो जायगा कि जुदे प्रकार का जगत् नहीं है किन्तु ब्रह्मरूप ही है।

श्रुति तो पूर्वकाण्ड की तरह तल (तात्पर्य) ज्ञान के लिये लोक प्रसिद्ध अर्थ का ही अनुबाद करती है, जैसे 'दहरं वै सा पराभ्याम्' इस पूर्वकाण्ड की श्रुति में लौकिक दोहनेके[2] कार्य का अनुवाद है।

इसलिए ही 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' सत्य और असत्य रूप से भासमान जगत् वस्तुतः सत्य ही सिद्ध हुआ, यों यह श्रुति जानती है। ऐसा (सत्यब्रह्मरूप) जगत् भी इसको (विदुर को) भगवान् के ध्यान करने से स्फुरित हुआ, इसलिए इसने इस स्फूर्ति का अनुवाद ही किया है अथवा

---

[1] १-चेतन ब्रह्म, जड़जगत् का उपादान कारण नहीं है, क्योंकि लोक में कार्य और कारण एक ही प्रकार के होते हैं जैसे घटरूप कार्य और मृतिकारूप उपादान कारण एकही प्रकार के हैं वैसे ही वस्त्र आदि भी, इसलिए जड़जगत् का चेतन ब्रह्म उपादान कारण मानना तर्क विरुद्ध है यह सिद्धान्त तर्क विरुद्ध होने से वेद भी इसका समर्थन नहीं कर सकता है। प्रकाश

यदि कहो कि तर्क का आधार प्रत्यक्ष पर है और प्रत्यक्ष में भ्रम भी हो सकता है इसलिये हम तर्क को प्रमाणरूप नहीं मानते हैं। इस पर कहा जाता है कि वेद भी जगत् को 'विज्ञातं चाविज्ञातं' श्रुति में चेतन तथा जड़ मानता है, अतः ऐसे जगत् का ज्ञानरूप ब्रह्म उपादान कैसे बनेगा ?

[2] २-पाठभेद देहानुवादः वा देशानुवादः चिन्त्यम्।